3.25.11

Library of the Theological Seminary,

PRINCETON, N. J.

Presented by A. G. Cameron, Ph.D.

Division BS2343

Section B966
V. 1

granger

# ÉTUDES

## ÉLÉMENTAIRES ET PROGRESSIVES

DE

# LA PAROLE DE DIEU

III

PARIS. — TYPOGRAPHIE DE CH. MEYRUEIS ET Cie
RUE DES GRÈS, 11

H. Sandel

# ÉTUDES

## ÉLÉMENTAIRES ET PROGRESSIVES

DE

# LA PAROLE DE DIEU

PAR

L. BURNIER

LIBRARY OF PRINCETON
MAR 25 1911
THEOLOGICAL SEMINARY

---

## NOUVEAU TESTAMENT

PREMIÈRE PARTIE

> Ces choses sont écrites afin que vous croyiez que Jésus est le Christ, le Fils de Dieu, et afin qu'en croyant vous ayez la vie en son nom.
>
> (Jean 20 : 31.)

---

NOUVELLE ÉDITION REVUE ET AUGMENTÉE, AVEC CARTES

PARIS
LIBRAIRIE DE CH. MEYRUEIS ET Cie,
RUE DE RIVOLI, 174

1862

# TABLE

## DES LIVRES, CHAPITRES ET VERSETS DU NOUVEAU TESTAMENT DANS LEUR ORDRE REÇU

### AVEC INDICATION DES PARAGRAPHES OU ILS SONT ÉTUDIÉS (1)

---

## Matthieu.

| | |
|---|---|
| 1 : 1-17 | 2691-2694 |
| 18-25 | 2632-2635 |
| 2 | 2654-2663 |
| 3 | 2669-2687 |
| 4 : 1-11 | 2701-2712 |
| 12-22 | 2808-2810 |
| 23-25 | 2826 |
| 5-7 | 2826-2921 |
| 8 : 1-4 | 2922-2925 |
| 5-13 | 2964-2968 |
| 14-18 | 2815-2818 |
| 18 | 3007 |
| 19-22 | 3115 |
| 22-34 | 3008-3012 |
| 9 : 1 | 3013 |
| 1-17 | 2927-2936 |
| 18-26 | 3014-3017 |
| 27-34 | 3176, 3177 |
| 35-38 | 3019 |
| 10 : 1; 5-27 | 3035-3046 |
| 2-4 | 2950-2953 |
| 26-33 | 2191-2195 |
| 34-36 | 3204 |
| 37-39 | 3223 |
| 40, 41 | 3047 |
| 42 | 3110 |
| 11 : 1 | 3048 |
| 2-19 | 2971-2979 |
| 20-24 | 3164 |
| 25-30 | 3166, 3167 |
| 12 : 1-21 | 2940-2949 |
| 22-37 | 2988-2990 |
| 38 | 3178 |
| 39-42 | 3183 |
| 12 : 43-45 | 3181 |
| 46-50 | 2991 |
| 13 : 1-18 | 2992-2997 |
| 18-23 | 2995, 2996 |
| 24-33 | 2999, 3001 |
| | 3002 |
| 34-36 | 2994 |
| 36-43 | 3000 |
| 44-52 | 3004-3006 |
| 53-58 | 3018 |
| 14 : 1-33 | 3049-3067 |
| 34-36 | 3078 |
| 15-17 | 3079-3106 |
| 18 : 1-5 | 3107, 3108 |
| 6 | 3110 |
| 7 | 3260, 3261 |
| 8-14 | 3111, 3112 |
| 15-35 | 3263-3266 |
| 19 : 1 | 3270 |
| 1, 2 | 3285 |
| 3-15 | 3287-3289 |
| 15 | 3295 |
| 16-30 | 3296-3300 |
| 20 : 1-28 | 3301-3307 |
| 29-34 | 3319 |
| 21 : 1-9 | 3332-3334 |
| 10, 11 | 3336 |
| 12-16 | 3345, 3346 |
| 17 | 3348 |
| 18, 19 | 3344 |
| 20-46 | 3350-3354 |
| 22-25 | 3202; 3355-3386 |
| 26 : 1-5 | 3387 |
| 6-13 | 3328-3330 |
| 26 : 14-19 | 3406, 3407 |
| 20-29 | 3419-3433 |
| 30 | 3437 |
| 30-58 | 3472-3484 |
| 59-63 | 3486 |
| 63-66 | 3489 |
| 67, 68 | 3488 |
| 69-72 | 3483, 3484 |
| 73-75 | 3487 |
| 58-75 | 3491-3495 |
| 27 : 1 | 3490 |
| 2 | 3496 |
| 3-10 | 3513-3515 |
| 11 | 3499 |
| 12-14 | 3501 |
| 15-23 | 3504, 3505 |
| 24-26 | 3509 |
| 27-30 | 3506 |
| 1-31 | 3510-3512 |
| 31, 32 | 3516-3519 |
| 33, 34 | 3522 |
| 35, 36 | 3525 |
| 37 | 3524 |
| 38 | 3521 |
| 39-44 | 3526, 3527 |
| 45-50 | 3529, 3530 |
| 51-56 | 3535, 3536 |
| 57-66 | 3538-3545 |
| 28 : 1-4 | 3548-3550 |
| 5-8 | 3552, 3553 |
| 9, 10 | 3560 |
| 11-15 | 3562 |
| 16-20 | 3590-3600 |
| 20 | 3603 |

(1) Au moyen de cette table, il sera possible de lire de suite et séparément chaque Evangile en faisant marcher de front la lecture des Etudes. De cette manière, il est vrai, on aura plus d'une fois les mêmes explications, mais il se sera passé, entre deux, tout le temps qu'on aura mis à achever un Evangile et à retrouver l'endroit parallèle de l'Evangile suivant.

## Marc.

| | |
|---|---|
| 1 : 1 | 2594 |
| 2-11 | 2669-2690 |
| 12, 13 | 2701-2712 |
| 14, 15 | 2808 |
| 16-22 | 2809, 2810 |
| 23-34 | 2811-2817 |
| 35-39 | 2819 |
| 40-45 | 2923-2926 |
| 2 : 1-22 | 2927-2936 |
| 23-28 | 2940-2944 |
| 3 : 1-19 | 2946-2953 |
| 20-35 | 2987-2991 |
| 4 : 1-25 | 2992-2997 |
| 26-29 | 2999, 3003 |
| 30-32 | 2999, 3001 |
| 33, 34 | 2997 |
| 36-41 | 3008 |
| 5 | 3009-3017 |
| 6 : 1-6 | 3018, 3019 |
| 7-13 | 3035-3045 |
| 14-52 | 3049-3067 |
| 53-56 | 3078 |
| 7, 8 | 3079-3089 |
| 9 : 1 | 3089 |
| 2-51 | 3094-3111 |
| 10 : 1 | 3270, 3285 |
| 10 : 2-16 | 3287-3291 |
| 17 | 3295 |
| 17-27 | 3296, 3299 |
| 28-31 | 3300 |
| 32-45 | 3304-3307 |
| 46 | 3309 |
| 46-52 | 3319 |
| 11 : 1-10 | 3332-3334 |
| 11 | 3342 |
| 12-17 | 3344, 3345 |
| 18-33 | 3348-3351 |
| 12 : 1-12 | 3353, 3354 |
| 13-44 | 3359-3369 |
| 13 | 3370-3375 |
| 14 : 1, 2 | 3387 |
| 3-9 | 3328, 3330 |
| 10-17 | 3406, 3407 |
| 17-25 | 3419-3433 |
| 26 | 3437 |
| 26-50 | 3472-3482 |
| 51-54 | 3483, 3484 |
| 55-61 | 3486 |
| 61-65 | 3488, 3489 |
| 66-69 | 3483, 3484 |
| 70-72 | 3487 |
| 51-72 | 3491-3495 |
| 15 : 1 | 3490, 3496 |
| 2 | 3499 |
| 3-5 | 3501 |
| 6-14 | 3504, 3505 |
| 15 | 3509 |
| 16-19 | 3506 |
| 1-20 | 3510-3512 |
| 20-37 | 3516-3518 |
| 20, 21 | 3519 |
| 22, 23 | 3522 |
| 24 | 3525 |
| 25 | 3516 |
| 26 | 3524 |
| 27, 28 | 3521 |
| 29-32 | 3526, 3527 |
| 33-37 | 3529, 3530 |
| 38-41 | 3535, 3536 |
| 42-47 | 3538-3540 |
| | 3542-3545 |
| 16 : 1 | 3548, 3549 |
| 2-8 | 3552, 3553 |
| 9-11 | 3554-3561 |
| 12 | 3563 |
| 13, 14 | 3571, 3572 |
| 15-19 | 3590-3601 |
| 20 | 3603 |

## Luc.

| | |
|---|---|
| 1 | 2602-2631 |
| 2 : 1-39 | 2636-2654 |
| 39-52 | 2664-2668 |
| 3 | 2669-2692 |
| 4 : 1-13 | 2701-2712 |
| 14-30 | 2799-2807 |
| 31-41 | 2809-2819 |
| 5 : 1-11 | 2820-2825 |
| 12-39 | 2922-2937 |
| 6 : 1-11 | 2938-2948 |
| 12-49 | 2950-2963 |
| 7 | 2964-2984 |
| 8 : 1-3 | 2985, 2986 |
| 4-18 | 2992-2997 |
| 19-21 | 2991 |
| 22-56 | 3007-3017 |
| 9 : 1-6 | 3035 |
| 7-9 | 3049 |
| 10-17 | 3062-3064 |
| 18-27 | 3089-3091 |
| 28-45 | 3094-3105 |
| 46-50 | 3107-3109 |
| 51-62 | 3113-3116 |
| 10 : 1-24 | 3160-3166 |
| 25-42 | 3168-3173 |
| 11 : 1-13 | 3174, 3175 |
| 14-54 | 3177-3190 |
| 12-16 | 3191-3259 |
| 17 : 1-4 | 3260-3262 |
| 5-37 | 3267-3277 |
| 18 . 1-14 | 3278-3281 |
| 15-17 | 3289-3291 |
| 18-30 | 3296-3300 |
| 31-34 | 3304 |
| 35-43 | 3308 |
| 19 : 1-28 | 3309-3318 |
| 28-44 | 3332-3335 |
| 45, 46 | 3345 |
| 47, 48 | 3348 |
| 20 : 1-8 | 3351 |
| 9-19 | 3353, 3354 |
| 20-47 | 3359-3364 |
| 21 : 1-36 | 3369-3375 |
| 37, 38 | 3387 |
| 2 : 1, 2 | 3387 |
| 3-13 | 3388-3407 |
| 22 : 14-38 | 3419-3438 |
| 39-58 | 3472-3484 |
| 59-71 | 3487-3489 |
| | 3491-3495 |
| 23 : 1 | 3496 |
| 2, 3 | 3498, 3499 |
| 4-22 | 3501-3505 |
| 23 | 3507 |
| 24, 25 | 3509 |
| 1-25 | 3510-3512 |
| 26-46 | 3516-3518 |
| 26-32 | 3519-3521 |
| 33-43 | 3523-3527 |
| 44-46 | 3529, 3530 |
| 45 | 3535 |
| 47-49 | 3536 |
| 50-56 | 3538-3540 |
| | 3542-3545 |
| 24 : 1-9 | 3552, 3553 |
| 10, 11 | 3561 |
| 12 | 3551 |
| 13-49 | 3563-3576 |
| 50-53 | 3601-3602 |

## Jean.


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1 : 1-14 | 2695-2700 | 14 | 3408-3418 | 19 : 18 | 3521 |
| 15-51 | 2713-2725 | 15-17 | 3438-3470 | 19-24 | 3524, 3525 |
| 2-4 | 2726-2798 | 18 : 1 | 3472 | 25-27 | 3528 |
| 5 | 3020-3034 | 2-11 | 3473, 3476 | 28-30 | 3530 |
| 6 | 3062-3077 | 1-11 | 3478-3482 | 31-42 | 3537-3539 |
| 7 : 1-10 | 3113 | 12-25 | 3483-3485 | 38-42 | 3542-3545 |
| 11-53 | 3117-3128 | 26, 27 | 3487 | 20 : 1 | 3548, 3549 |
| 8-10 : 21 | 3129-3158 | 12-27 | 3491-3495 | 1-10 | 3550, 3551 |
| 22-42 | 3282-3285 | 28-32 | 3496, 3497 | 11-17 | 3554-3559 |
| 11 : 1-16 | 3292-3294 | 33-38 | 3499-3501 | 18 | 3561 |
| 17-57 | 3320-3327 | 39, 40 | 3504, 3505 | 19-23 | 3571-3574 |
| 12 : 1-19 | 3328-3332 | 19 : 1-15 | 3506-3508 | 24-31 | 3577-3579 |
| 20-43 | 3337-3343 | 16 | 3509 | 21 : 1-23 | 3580-3589 |
| 44-50 | 3347 | 18 : 28-19 : 30 | 3510-3518 | 24, 25 | 3604-3610 |
| 13 | 3388-3405 | 19 : 17 | 3519 | | |


## Actes des apôtres.


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| 1-18 : 18 | 3624-3818 | 18 : 19-20 : 1 | 3868-3878 | 20, 21 : 16 | 4069-4082 |
| | | 21 : 17-28 | 4195-4250 | | |


## Épîtres.


| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| Romains | 4083-4194 | 1 Thessaloniciens | 3819-3855 | Jacques | 4295-4345 |
| 1 Corinthiens | 3950-4016 | 2 Thessaloniciens | 3856-3867 | 1 Pierre | 4251-4294 |
| 2 Corinthiens | 4031-4067 | 1 Timothée | 3914-3949 | 2 Pierre | 4607-4629 |
| Galates | 3879-3913 | 2 Timothée | 4405-4432 | 1 Jean | 4640-4669 |
| Ephésiens | 4346-4404 | Tite | 4017-4030 | 2 Jean | 4670-4673 |
| Philippiens | 4494-4532 | Philémon | 4482-4493 | 3 Jean | 4674-4676 |
| Colossiens | 4433-4481 | Hébreux | 4533-4606 | Jude | 4630-4639 |


## Apocalypse.


4680-4817

# CHRONOLOGIE ET HARMONIE

| | Jean. | Luc. | Marc. | Matthieu. | |
|---|---|---|---|---|---|
| Av. l'ère chrét. | — | — | **1** : 1. | — | (a) |
| 5 | — | **1** : 1-80. | — | — | (b) |
| 4 | — | — | — | **1** : 18-25. | (c) |
| De l'ère chrét. | — | **2** : 1-39. | — | — | (d) |
| | — | — | — | **2** : 1-23. | (e) |
| 8 | — | 39-52. | — | — | (f) |
| 28 | — | **3** : 1-22. | 2-11. | **3** : 1-17. | (g) |
| 29 | — | 23-38. | — | **1** : 1-17. | (h) |
| | **1** : 1-14. | — | — | — | (i) |
| 30 | — | **4** : 1-13. | 12-13. | **4** : 1-11. | (k) |
| 1re Pâque. | 15-**4** : 54. | — | — | — | (l) |
| | — | 14-30. | — | — | (m) |
| | — | — | 14, 15. | 12-17. | (n) |
| | — | 31, 32. | 16-22. | 18-22. | (o) |
| | — | 33-37. | 23-28. | — | (p) |
| | — | 38-41. | 29-34, | **8** : 14-18. | (q) |
| | — | 42-44. | 35-39. | — | (r) |
| | — | **5** : 1-11. | — | — | (s) |
| | — | — | — | **4** : 23-**7** : 29. | (t) |
| | — | 12-14. | 40-45. | **8** : 1-4. | (u) |
| | — | 15, 16. | 45. | — | (v) |
| | — | 17-38. | **2** : 1-22. | **9** : 1-17. | (x) |
| | — | 39. | — | — | (y) |
| 31 | — | **6** : 1-10. | 23-**3** : 5. | **12** : 1-13. | (z) |
| 2e Pâque. | — | 11. | 5, 6. | 14. | (a) |
| (Nisan) Mars. | — | — | 7-12. | 15-21. | (b) |
| | — | 12-16. | 13-19. | **10** : 2-4. | (c) |
| | — | 17-49. | — | — | (d) |
| | — | **7** : 1-10. | — | **8** : 5-13. | (e) |
| | — | 11-17. | — | — | (f) |
| | — | 18-35. | — | **11** : 2-19. | (g) |
| | — | 36-50. | — | — | (h) |
| | — | **8** : 1-3. | — | — | (i) |
| | — | — | 20, 21. | — | (k) |
| | — | — | 22-30. | **12** : 22-32. | (l) |
| | — | — | — | 33-37. | (m) |
| | — | 19-21. | 31-35. | 46-50. | (n) |
| | — | 4-18. | **4** : 1-25. | **13** : 1-23. | (o) |
| | — | — | 26-32. | 24-33. | (p) |
| | — | — | — | 34-43. | (q) |
| | — | — | — | 44-50. | (r) |
| | — | — | 33, 34. | 51, 52. | (s) |
| | — | 22-25. | 35, 36-41. | **8** : 18; 23-27. | (t) |
| | — | 26-39. | **5** : 1-20. | 28-34, | (u) |
| | — | 40 | 21. | **9** : 1. | (v) |
| | — | 41-56. | 22-43. | 18-26. | (x) |
| | — | — | **6** : 1-6. | **13** : 53-58. | (y) |
| | — | — | 6. | **9** : 35-38. | (z) |
| Une fête des | **5** : 1-47. | — | — | — | (a) |
| Juifs. | — | **9** : 1-6. | 7-13. | **10** : 1, 5-27, 40. | (b) |
| | — | — | — | **11** : 1. | (c) |
| | — | 7-9. | 14-29. | **14** : 1-13. | (d) |
| 32 | **6** : 1-21. | 10-17. | 30-52. | 13-33. | (e) |
| 3e Pâque. | 22-71. | — | — | — | (f) |
| | — | — | 53-56. | 34-36. | (g) |

# DES QUATRE ÉVANGILES

(*a*) Titre.
(*b*) Introduction. Zacharie; Marie; naissance de Jean.
(*c*) Songe de Joseph.
(*d*) Naissance et circoncision de Jésus; Siméon; Anne.
(*e*) Les mages; fuite en Egypte; retour à Nazareth.
(*f*) Jésus à l'âge de douze ans.
(*g*) Prédication de Jean-Baptiste; baptême de Jésus.
(*h*) Double généalogie de Jésus, et par Joseph et par Marie.
(*i*) Proclamation de sa divinité et de son incarnation.
(*k*) La tentation.
(*l*) Autre prédic. de Jean; premier disciple; Cana; *prem. voy. à Jérusalem.* Sichar.
(*m*) Prédication à Nazareth.
(*n*) Vue générale du ministère de Jésus à cette époque.
(*o*) Seconde vocation adressée à Pierre, André, Jacques et Jean.
(*p*) Guérison d'un démoniaque.
(*q*) Guérison de la belle-mère de Pierre; divers miracles.
(*r*) Retraite de Jésus et tournée de prédication en Galilée.
(*s*) La pêche miraculeuse; vocation définitive des quatre disciples.
(*t*) Enthousiasme général. Sermon de la montagne.
(*u*) Guérison d'un lépreux.
(*v*) Retraite de Jésus.
(*x*) Guérison d'un paralytique; vocation de Matthieu; le jeûne; parabole sur ce sujet.
(*y*) Quatrième parabole sur le même sujet.
(*z*) Instructions sur le sabbat.
(*a*) Jésus voué à la mort par ses ennemis.
(*b*) Retraite de Jésus vers la mer; une grande foule le suit.
(*c*) Vocation des douze apôtres.
(*d*) Sermon de la plaine.
(*e*) Le centenier de Capernaüm
(*f*) Résurrection du jeune homme de Naïn.
(*g*) Jean-Baptiste en prison et ses doutes.
(*h*) La pécheresse.
(*i*) Les saintes femmes assistant Jésus de leurs dons.
(*k*) Extrême fatigue de Jésus.
(*l*) Guérison d'un démoniaque aveugle et muet; blasphème contre le Saint-Esprit.
(*m*) Les péchés de la langue.
(*n*) La mère et les frères de Jésus.
(*o*) Parabole du semeur.
(*p*) Parabole de l'ivraie, du grain de sénevé, du levain et de l'épi.
(*q*) Explication de la parabole de l'ivraie.
(*r*) Paraboles du trésor, de la perle et du filet.
(*s*) Intention générale du Seigneur.
(*t*) Jésus passe le lac; tempête miraculeusement apaisée.
(*u*) Le démoniaque de Gadara.
(*v*) Retour sur la rive droite du lac.
(*x*) Guérison de l'hémorroïsse et résurrection de la fille de Jaïrus.
(*y*) Jésus à Nazareth; de nouveau méconnu.
(*z*) Prédications dans la contrée.
(*a*) *Second voyage à Jérusalem;* guérison de l'impotent; divinité du Christ.
(*b*) Première mission des apôtres.
(*c*) Prédications dans la Judée propre.
(*d*) Mort de Jean-Baptiste.
(*e*) Multiplication des pains; tempête apaisée.
(*f*) Instructions sur la foi; confession des apôtres.
(*g*) Jésus dans la terre de Génézareth.

| De l'ère chrét. | **Jean.** | **Luc.** | **Marc.** | **Matthieu.** |
|---|---|---|---|---|
| 32 | — | — | **7** : 1-30. | **15** : 1-28. (*a*) |
| | — | — | 31-37. | — (*b*) |
| | — | — | — | 29-31. (*c*) |
| | — | — | **8** : 1-21. | 32-**16** : 1-12. (*d*) |
| | — | — | 22-26. | — (*e*) |
| | — | **9** : 18-43. | 27-**9** : 1-29. | 13-**17** : 1-21. (*f*) |
| | — | 44, 45. | 30-32. | 22, 23. (*g*) |
| | — | — | 33. | 24-27. (*h*) |
| | — | 46-48. | 33-37. | **18** : 1-5. (*i*) |
| | — | 49, 50. | 38-40. | — (*k*) |
| | — | — | 41, 42. | **10** : 42, **18** : 6. (*l*) |
| | — | — | 43-51. | 8, 9, (*m*) |
| | — | — | — | 10-14. (*n*) |
| | **7** : 1-10. | 51. | — | — (*o*) |
| | — | 52-56. | — | — (*p*) |
| | — | 57-60. | — | **8** : 19-22. (*q*) |
| | — | 61, 62. | — | — (*r*) |
| Tisri (sept.) | 11-**10** : 21. | — | — | — (*s*) |
| Tabernacles. | — | **10** : 1-24. | — | **11** : 20-27. (*t*) |
| | — | — | — | 28-30. (*u*) |
| | — | 25-**11** : 13. | — | — (*v*) |
| | — | — | — | **9** : 27-31. (*x*) |
| | — | 14, 15. | — | 32-34. (*y*) |
| | — | 16. | — | **12** : 38. (*z*) |
| | — | 17-23. | — | — (*a*) |
| | — | 24-26. | — | 43-45. (*b*) |
| | — | 27, 28. | — | — (*c*) |
| | — | 29-32. | — | 39-42. (*d*) |
| | — | 33-54. | — | — (*e*) |
| | — | **12** : 1-12. | — | **10** : 26-33. (*f*) |
| | — | 13-34. | — | — (*g*) |
| | — | 35-38. | — | **24** : 42-44. (*h*) |
| | — | 39, 40. | — | — (*i*) |
| | — | 41-46. | — | 45-51. (*k*) |
| | — | 47, 48. | — | — (*l*) |
| | — | 49-57. | — | **10** : 34-36. (*m*) |
| | — | 58, 59 | — | — (*n*) |
| | — | **13, 14** : 1-24. | — | — (*o*) |
| | — | 25-27. | — | 37-39. (*p*) |
| | — | 28-33. | — | — (*q*) |
| | — | **15, 17** : | — | — (*r*) |
| | — | **17** : 1-3. | — | **18** : 7. (*s*) |
| | — | 3, 4. | — | 15-35. (*t*) |
| | — | 5-10. | — | — (*u*) |
| | — | 11. | **10** : 1. | **19** : 1. (*v*) |
| | — | 12-37. | — | — (*x*) |
| | — | **18** : 1-14. | — | — (*y*) |
| Cisleu (Déc.) | **10** : 22-38. | — | — | — (*z*) |
| Fête de la | 39-42. | — | 1. | 1, 2. (*a*) |
| dédicace. | — | — | 2-12. | 3-12. (*b*) |
| | — | 15-17. | 13-16. | 13-15. (*c*) |
| | **11** : 1-16. | — | — | — (*d*) |
| 33 | — | — | 17. | 15. (*e*) |
| | — | 18-30. | 17-31. | 16-30. (*f*) |
| | — | — | — | **20** : 1-16. (*g*) |
| | — | 31-34. | 32-34. | 17-19. (*h*) |
| | — | — | 35-45. | 20-28. (*i*) |
| | — | 35-43. | — | — (*k*) |
| | — | **19** : 1-10. | 46. | — (*l*) |
| | — | 11-28. | — | — (*m*) |
| | — | — | 46-52. | 29-34. (*n*) |
| | **11** : 17-57. | — | — | — (*o*) |

(*a*) Discours contre le formalisme; Jésus en Phénicie; la Cananéenne.
(*b*) Retour en Galilée par la Décapole.
(*c*) Nombreuses guérisons près de la mer de Tibériade.
(*d*) Seconde multiplication des pains; l'hypocrisie.
(*e*) Guérison d'un aveugle; Bethsaïda-Juliade.
(*f*) Confession de foi des apôtres; Jésus prédit sa mort et sa résurr.; la transfiguration.
(*g*) Jésus prédit de nouveau ses souffrances et sa résurrection.
(*h*) Payement des didrachmes; Capernaüm.
(*i*) La vraie grandeur.
(*k*) Leçon de tolérance.
(*l*) L'humilité.
(*m*) Le scandale.
(*n*) Les petits; la brebis perdue et retrouvée.
(*o*) *Troisième voyage à Jérusalem.*
(*p*) Leçon de tolérance.
(*q*) Appels à suivre Jésus, et
(*r*) renoncements auxquels il nous invite.
(*s*) Grands débats à Jérusalem; la femme adultère; le bon berger.
(*t*) Mission des soixante et dix disciples et leur retour.
(*u*) Invitation du Messie aux pécheurs.
(*v*) Parabole du Samaritain; Marthe et Marie; la prière.
(*x*) Guérison de deux aveugles.
(*y*) Guérison d'un muet.
(*z*) Demande d'un signe du ciel.
(*a*) Accusé de chasser les démons par Satan, Jésus se justifie.
(*b*) Parabole sur le faux amendement.
(*c*) Heureux ceux qui écoutent la Parole et qui la gardent.
(*d*) Jésus prédit sa résurrection.
(*e*) Le formalisme des pharisiens et des docteurs.
(*f*) L'hypocrisie; le blasphème contre le Saint-Esprit.
(*g*) L'avarice.
(*h*) La vigilance.
(*i*) Incertitude du jour de la venue du Seigneur.
(*k*) Les ministres de Jésus surtout doivent veiller.
(*l*) La justice de Dieu dans ses jugements.
(*m*) Les signes du temps.
(*n*) La conversion. [du souper.
(*o*) La porte étroite; proph. contre Jérus.; l'humilité; le désintéressement; parab.
(*p*) Les difficultés du salut.
(*q*) Deux paraboles sur ce sujet. [infidèle.
(*r*) Paraboles de la brebis, de la drachme et du fils perdus et retrouvés; l'économe
(*s*) Le scandale.
(*t*) Le pardon des injures; intervention de l'Eglise; parabole du débiteur insolvable.
(*u*) Prière des disciples; le non-mérite des œuvres.
(*v*) Marche du côté de Jérusalem; *quatrième voyage dans cette ville.*
(*x*) Les dix lépreux; la seconde venue du Seigneur.
(*y*) La prière; parabole du pharisien et du péager.
(*z*) Déclaration de la divinité de Jésus-Christ.
(*a*) Jésus de l'autre côté du Jourdain.
(*b*) Le divorce.
(*c*) Jésus impose les mains aux petits enfants; départ pour Jérusalem.
(*d*) Maladie de Lazare et message de ses sœurs à Jésus.
(*e*) Départ pour Béthanie.
(*f*) Le jeune homme riche; gloire promise aux apôtres.
(*g*) Parabole des ouvriers.
(*h*) Nouvelle prédiction de Jésus sur ses souffrances.
(*i*) Prière des fils de Zébédée; leçon d'humilité; l'expiation.
(*k*) Guérison d'un aveugle en entrant à Jéricho.
(*l*) Zachée.
(*m*) Parabole des mines.
(*n*) Guérison d'un ou de deux aveugles, au sortir de Jéricho.
(*o*) Résurrection de Lazare; les Juifs; prophétie de Caïphe.

| De l'ère chrét. | Jean. | Luc. | Marc. | Matthieu. |
|---|---|---|---|---|
| 33 | **12** : 1-8. | — | **14** : 3-9. | **26** : 6-13. (a) |
| Nisan, 8 ou 9 | 9-11. | — | — | — (b) |
| (samedi). | 12-19. | **19** : 28-40. | **11** : 1-10. | **21** : 1-9. (c) |
| 9 ou 10 | — | 41-44. | — | — (d) |
| (dimanche). | — | — | — | 10, 11. (e) |
| | 20-36. | — | — | — (f) |
| | 36. | — | 11. | 17. (g) |
| | 37-43. | — | — | — (h) |
| 10 ou 11 | — | — | 12-14. | 18, 19. (i) |
| (lundi). | — | 45, 46. | 15-17. | 12, 13. (k) |
| | — | — | — | 14-16. (l) |
| | 44-50. | — | — | — (m) |
| | — | 47, 48. | 18, 19. | 17. (n) |
| 11 ou 12 | — | — | 20-26. | 20-22. (o) |
| (mardi). | — | **20** : 1-8. | 27-33. | 23-27. (p) |
| | — | — | — | 28-32. (q) |
| | — | 9-19. | **12** : 1-12. | 33-46. (r) |
| | — | — | — | **22** : 1-14. (s) |
| | — | 20-44. | 13-37. | 15-46. (t) |
| | — | 45-47. | 38-40. | **23** : 1. (u) |
| | — | — | — | 2-39. (v) |
| | — | **21** : 1-4. | 41-44. | — (x) |
| | — | 5-7. | **13** : 1-4. | **24** : 1-3. (y) |
| | — | 8-36. | 5-37. | 4-51. (z) |
| | — | — | — | **25** : (a) |
| | — | 37, 38. | — | — (b) |
| 12 ou 13 | — | **22** : 1, 2. | **14** : 1, 2. | **26** : 1-5. (c) |
| (mercredi). | **13** : 1, 2. | 3. | — | — (d) |
| | 2-38. | — | — | — (e) |
| | — | 3-13. | 10-17. | 14-19. (f) |
| | **14** : 1-31. | — | — | — (g) |
| 13 ou 14 | — | 14-18. | 17-25. | 20-29. (h) |
| (jeudi). | — | 19, 20. | 22-24. | 26-28. (i) |
| 4e Pâque. | — | 21-23. | 18-21. | 21-25. (k) |
| | — | 24-38. | — | — (l) |
| | — | — | 26. | 30. (m) |
| | **15-17** : | — | — | — (n) |
| | — | — | 26-31. | 30-35. (o) |
| 14 ou 15 Nisan | **18** : 1. | 39. | 32. | 36. (p) |
| (vendredi). | — | 40-46. | 33-42. | 37-46. (q) |
| | 2, 3. | 47, 48. | 43-46. | 47-50. (r) |
| | 4-9. | — | — | — (s) |
| | 10, 11. | 49-51. | 47. | 51-54. (t) |
| | — | 52, 53. | 48-50. | 55, 56. (u) |
| | — | 54. | 53. | 57. (v) |
| | — | — | 51, 52. | — (x) |
| | 12-14. | — | — | — (y) |
| | 15-18. | 54-57. | 54; 66-68. | 58; 69, 70. (z) |
| | 19-24. | — | — | — (a) |
| entre 3 et 4 h. | 25. | 58. | 69. | 71, 72. (b) |
| du matin. | — | — | 55-61. | 59-63. (c) |
| entre 4 et 5 h. | 26, 27. | 59-62. | 70-72. | 73-75. (d) |
| | — | 63-65. | 65. | 67, 68. (e) |
| | — | 66-71. | 61-64. | 63-66. (f) |
| environ 6 h. | 28. | **23** : 1. | **15** : 1. | **27** : 1, 2. (g) |
| | 29-32. | — | — | — (h) |
| | — | 2. | — | — (i) |
| | 33-38. | 3, 4. | 2. | 11. (k) |
| | — | 5. | 3-5. | 12-14. (l) |
| | — | 6-16. | — | — (m) |
| | 39, 40. | 17-22. | 6-14. | 15-23. (n) |
| 14 ou 15 Nisan. | **19** : 1-3. | — | 16-19. | 27-30. (o) |

(*a*) Marie embaume Jésus.
(*b*) Conseil tenu par les Juifs contre Jésus.
(*c*) Entrée triomphale à Jérusalem; *cinquième voyage*.
(*d*) Pleurs de Jésus sur Jérusalem, et prophétie contre cette ville.
(*e*) Jésus à Jérusalem au milieu de la foule.
(*f*) Angoisse et gloire anticipées.
(*g*) Le soir venu, retour à Béthanie.
(*h*) Incrédulité des Juifs, selon les prophéties.
(*i*) Malédiction du figuier.
(*k*) Nouvelle purification du temple.
(*l*) Diverses guérisons miraculeuses.
(*m*) Jésus résume ses précédentes prédications.
(*n*) Effets produits sur le peuple.
(*o*) Le figuier desséché; la prière de la foi.
(*p*) On demande à Jésus par quelle autorité il agit.
(*q*) Parabole des deux fils.
(*r*) Parabole des vignerons.
(*s*) Parabole des noces.
(*t*) Complots contre Jésus; questions captieuses.
(*u*) Censures adressées aux pharisiens
(*v*) et prophéties contre Jérusalem.
(*x*) La pite de la veuve.
(*y*) Prophétie contre le temple.
(*z*) Le retour du Seigneur, ruine de Jérusalem, fin du monde.
(*a*) Paraboles des vierges, des talents, des brebis et des boucs.
(*b*) Habitudes de Jésus durant ces jours-là.
(*c*) Conseil tenu par les Juifs.
(*d*) Souper avant celui de la Pâque : Judas a conçu le projet de livrer Jésus.
(*e*) Le lavement des pieds; le traître dénoncé.
(*f*) Judas trahit Jésus; préparation de la Pâque.
(*g*) Consolations, exhortations; promesse du Saint-Esprit.
(*h*) Célébration de la Pâque par Jésus.
(*i*) Institution de la Cène.
(*k*) Nouvelle dénonciation du traître.
(*l*) Dispute de suprématie entre les disciples; sérieux avertissements, à Pierre en [particulier.
(*m*) Chant du cantique.
(*n*) Derniers discours de Jésus à ses disciples; prière sacerdotale.
(*o*) Prédiction de l'abandon des disciples et du reniement de Pierre.
(*p*) Ils vont en Gethsémané.
(*q*) Agonie de Jésus.
(*r*) Judas arrive avec la troupe.
(*s*) Jésus s'offre à ceux qui viennent le saisir.
(*t*) Pierre frappe de l'épée; guérison du blessé.
(*u*) Reproches de Jésus à ceux qui le saisissent; fuite des disciples.
(*v*) Il est conduit au Conseil.
(*x*) Le jeune homme qui le suit enveloppé d'un drap.
(*y*) Jésus chez Anne.
(*z*) Chez Caïphe. Reniement de Pierre.
(*a*) Jésus interrogé sur sa doctrine; souffleté.
(*b*) Second reniement de Pierre.
(*c*) Faux témoignages contre Jésus.
(*d*) Troisième reniement de Pierre.
(*e*) Indignités commises contre la personne de Jésus.
(*f*) Jésus adjuré de dire s'il est le Christ; condamné par le Conseil.
(*g*) Il est résolu qu'on le conduira à Pilate.
(*h*) Jésus dénoncé comme malfaiteur;
(*i*) accusé d'exciter le peuple à la révolte;
(*k*) interrogé par Pilate s'il est le roi des Juifs.
(*l*) Nouvelles accusations.
(*m* Renvoi de Jésus à Hérode.
(*n*) Barrabas est préféré à Jésus.
(*o*) Jésus, flagellé, est livré aux outrages des soldats.

| De l'ère chrét. | Jean. | Luc. | Marc. | Matthieu. | |
|---|---|---|---|---|---|
| 33 | **19** : 4-15. | **23** : 23. | — | — | (a) |
| 14 ou 15 Nisan | 16. | 24, 25. | **15** : 15. | **27** : 24-26. | (b) |
| avant midi | — | — | 20. | 31. | (c) |
| | — | — | — | 3-10. | (d) |
| | 17. | — | — | — | (e) |
| | — | 26. | 21. | 32. | (f) |
| | — | 27-31. | — | — | (g) |
| | 18. | 32, 33. | 27, 28. | 38. | (h) |
| | — | — | 22, 23. | 33, 34. | (i) |
| | — | 34 com. | — | — | (k) |
| | 19-22. | 38. | 26. | 37. | (l) |
| | 23, 24. | 34 fin. | 24. | 35, 36. | (m) |
| | — | 35-37. | 29-32. | 39-43. | (n) |
| | — | 39. | 32. | 44. | (o) |
| | — | 40-43. | — | — | (p) |
| | 25-27. | — | — | — | (q) |
| De midi à 3 h. | — | 44, 45. | 33, | 45. | (r) |
| | — | — | 34, 35. | 46, 47. | (s) |
| | 28, 29. | — | 36. | 48, 49. | (t) |
| | 30 com. | — | — | — | (u) |
| | 30 fin. | 46. | 37. | 50. | (v) |
| | — | 45. | 38. | 51-53. | (x) |
| | — | 47-49. | 39-41. | 54-56. | (y) |
| | 31-37. | — | — | — | (z) |
| | 38-42. | 50-54. | 42-46. | 57-60. | (a) |
| | — | 55, 56. | 47. | 61. | (b) |
| Vendredi soir. | — | — | — | 62-66. | (c) |
| 16 ou 17 Nisan. | **20** : 1. | — | **16** : 1. | **28** : 1, | (d) |
| Dimanche. | 1, 2. | — | — | 2-4. | (e) |
| | 3-10. | **24** : 12. | — | — | (f) |
| | — | 1-9. | 2-8. | 5-8. | (g) |
| | 11-17. | — | 9. | — | (h) |
| | — | — | — | 9, 10. | (i) |
| | 18. | 10, 11. | 10, 11. | — | (k) |
| | — | — | — | 11-15. | (l) |
| | — | 13-32. | 12. | — | (m) |
| | 19-23. | 33-49. | 13, 14. | — | (n) |
| | 24-29. | — | — | — | (o) |
| 2e dimanche. | 30, 31. | — | — | — | (p) |
| | **21** : 1-23. | — | — | — | (q) |
| | — | — | 15-18. | 16-20. | (r) |
| | (Première Epître aux Corinthiens, chap. | | | **25** : v. 7.) | (s) |
| 40 jours après | — | 50-53. | 19. | — | (t) |
| la résurrection. | 24, 25. | — | 20. | 20. | (u) |

(*a*) Accusé de s'être dit Fils de Dieu.
(*b*) Il est livré par Pilate.
(*c*) On l'emmène pour le crucifier.
(*d*) Désespoir de Judas.
(*e*) Jésus, portant sa croix, marche vers Golgotha.
(*f*) Simon de Cyrène.
(*g*) Avertissement aux femmes qui suivaient Jésus en pleurant.
(*h*) Jésus crucifié entre deux malfaiteurs.
(*i*) On lui offre une liqueur enivrante.
(*k*) Il prie pour ses bourreaux : 1re parole.
(*l*) Inscription sur la croix.
(*m*) Les soldats se partagent ses vêtements.
(*n*) Il est insulté par la multitude et par les magistrats ;
(*o*) insulté aussi par les malfaiteurs.
(*p*) Conversion de l'un d'eux : 2e parole de Jésus.
(*q*) Marie et Jean : 3e parole.
(*r*) Ténèbres miraculeuses.
(*s*) Jésus dans la détresse. 4e parole.
(*t*) Il demande à boire. 5e parole.
(*u*) Tout est accompli. 6e parole.
(*v*) Jésus expire. 7e parole.
(*x*) Merveilles qui accompagnent sa mort.
(*y*) Effets produits sur les assistants.
(*z*) Précautions prises pour s'assurer de la mort de Jésus.
(*a*) Sa sépulture.
(*b*) Les saintes femmes.
(*c*) Précautions prises pour la garde du sépulcre.
(*d*) Les femmes se préparent à embaumer le corps de Jésus.
(*e*) Les deux Marie au sépulcre.
(*f*) Pierre et Jean au sépulcre.
(*g*) La résurrection annoncée aux femmes par un ange.
(*h*) Marie de Magdala. 1re apparition de Jésus.
(*i*) Les femmes. 2e apparition.
(*k*) Incrédulité des disciples.
(*l*) Incrédulité du monde.
(*m*) Les disciples d'Emmaüs. 3e apparition.
(*n*) Assemblée de Jérusalem (Pierre). 4e et 5e apparitions.
(*o*) Thomas, les disciples étant assemblés. 6e apparition.
(*p*) Pourquoi ces choses sont écrites.
(*q*) Sec. pêche mirac. ; réintégr. de Pierre. 7e apparition.
(*r*) Sur la montagne ; le baptême ; promesses. 8e apparition.
(*s*) Jacques. 9e apparition.
(*t*) Ascension de Jésus-Christ. 10e apparition.
(*u*) Conclusion des Evangiles.

# ÉTUDES

SUR

# LE NOUVEAU TESTAMENT

## PREMIÈRE PARTIE

---

## LES ÉVANGILES.

### CXCVIII. — Introduction.

2593. Sans revenir sur ce qui a été dit, au début de cet ouvrage [4, 6, 8, 9], nous rappellerons que le Nouveau Testament se compose de vingt-sept livres ou écrits différents. De ces écrits, cinq sont historiques : les quatre Evangiles et les Actes des apôtres; vingt et un sont d'instruction et d'édification proprement dites, savoir quatorze épîtres de Paul, une de Jacques, deux de Pierre, trois de Jean et une de Jude; le vingt-septième enfin est le livre prophétique de saint Jean, appelé l'Apocalypse.

2594. C'est avec raison qu'on a placé les Evangiles en tête des autres livres, car non-seulement l'un d'eux au moins fut écrit avant la plupart des épîtres, mais encore ils servent de base au Nouveau Testament, comme les livres de Moïse à l'Ancien, puisqu'ils nous racontent la vie, la mort et la résurrection de notre Seigneur Jésus-Christ, fondement de notre foi et de nos espérances. Le mot Evangile signifie *bonne nouvelle*, ou *message de paix* [2222]. Bien que les titres des livres de la Bible ne leur aient pas été donnés par les écrivains sacrés [13], ce sont toutefois ces écrivains qui en ont fourni quelques-

uns et les plus importants; par exemple, celui de Bible [2] et celui de Testament [5]. Il en est ainsi du mot Evangile ou Bonne Nouvelle, pour désigner l'histoire de notre Seigneur : il est employé par l'Evangile lui-même (Marc 1 : 1).

2595. Pendant les années qui suivirent immédiatement la résurrection de notre Sauveur, les hommes qui l'avaient accompagné de lieu en lieu et avec lesquels il demeura par le Saint-Esprit, même après les avoir quittés, durent raconter mille fois les choses qui concernaient leur divin Maître, et les raconter telles qu'ils les avaient vues et entendues, ou plutôt telles que le Saint-Esprit les leur remettait en mémoire (Jean 14 : 26). Ainsi se forma un Evangile primitif qui, sans être écrit, suffisait amplement aux besoins des premiers temps. Mais bientôt le Seigneur pourvut à ce que cette histoire s'ajoutât aux livres dont se composait son ancienne Révélation, en sorte qu'elle parvînt aux générations futures dans sa pleine vérité. Deux de ses disciples, auxquels, sous le nom d'apôtres ou d'envoyés, il confia la mission particulière de lui servir de témoins dans le monde, Matthieu et Jean (Matth. 10 : 3); puis, un compagnon d'œuvre des apôtres Paul et Pierre, surtout de ce dernier, à ce qu'on croit généralement, Jean, surnommé Marc (Actes 12 : 12); enfin, Luc, païen converti par la prédication de saint Paul (Coloss. 4 : 14), écrivirent, chacun de son côté, un Evangile qui, pour le fond et bien souvent pour la forme, ne fut sans doute que la reproduction de l'Evangile primitif dont je viens de parler.

2596. A l'égal de Moïse et des anciens prophètes, ils furent d'ailleurs conduits et inspirés par le Saint-Esprit dans ce travail de rédaction, comme l'avaient été ceux d'entre eux qui, d'abord, s'étaient bornés à exposer oralement la vie de notre Seigneur. Nous devons donc lire leurs livres, non comme une parole d'homme, mais, ainsi qu'ils le sont véritablement, comme la Parole de Dieu. Les récits qu'ils contiennent sont doublement vrais : vrais, en ce qu'ils ont eu pour auteurs des gens bien informés et véridiques; vrais surtout, en ce que ces auteurs furent, sous l'inspiration divine, les secrétaires aussi bien que les témoins du Seigneur. L'homme s'y efface tellement que, dans les occasions où tout autre historien n'eût pu s'empêcher de donner certaines explications, ou de communiquer ses réflexions personnelles, ceux-ci se bornent à raconter purement et simplement les choses comme elles se sont passées, et nul d'entre eux n'a mis son nom à son Evangile.

2597. Cependant, les évangélistes, non plus que les anciens pro-

phètes, ne furent pas de simples machines entre les mains puissantes du Seigneur. Il leur a été donné de diriger leur volonté dans le sens de la volonté de Dieu, et Dieu, de son côté, a fait rentrer dans l'exécution de ses plans les délibérations de leur volonté propre. Il résulte de là que les évangélistes ne se sont pas tous proposé le même objet particulier. Tous ont voulu rendre témoignage des choses qu'ils avaient vues, entendues, ou reçues de bonne source; et leur témoignage, à chacun, est complet, en ce sens, qu'à ne prendre qu'un seul d'entre eux, le premier venu, on est clairement informé de ce qu'est Jésus-Christ et de ce qu'il a fait pour nous sauver. Mais il est généralement admis que Matthieu écrivit son Evangile essentiellement en vue des Juifs non convertis, et Luc en vue des païens qui avaient embrassé la foi; tandis que Jean, venant après les deux autres, aurait eu pour principale intention de mettre un frein aux hérésies qui commençaient à se manifester dans l'Eglise. Pour ce qui est de Marc, antérieur à Jean, comme Luc et Matthieu, il écrivit, dit-on, son Evangile à la requête des fidèles de Rome. Quant à ne voir en lui qu'un abréviateur de Matthieu, selon l'opinion de quelques-uns, c'est ce qu'un examen attentif ne permet pas d'admettre.

2598. En conséquence de ce qui vient d'être dit, il ne faudra pas nous étonner si, à côté de passages en apparence copiés et qui sont la reproduction littérale de l'Evangile oral et primitif, nous trouvons d'assez grandes différences entre les évangélistes. Il est des faits et des discours qui sont rapportés par tous les quatre, d'autres par trois ou par deux seulement; il en est même d'assez considérables qui ne sont donnés que par un seul. Puis, quand ils racontent un même fait ou un même discours, les évangélistes ne le font pas toujours en termes exactement pareils; ici, certaine circonstance se trouve omise; là, elle est présentée sous une de ses faces seulement; tandis qu'ailleurs le Saint-Esprit nous la montre sous un autre aspect. De là résultent des contradictions apparentes, qui attestent que ces écrivains ne se sont pas copiés et qui rendent ainsi leur témoignage d'autant plus digne de créance.

2599. Admirons ici la sagesse de Dieu. Il eût été bien suffisant, au fond, que l'histoire de notre rédemption eût été écrite par un seul prophète, comme celle de la création l'a été par le seul Moïse. Ou bien il eût été facile à Dieu de faire que les récits des quatre évangélistes fussent identiques. Mais, cette merveille opérée, autant valait n'avoir qu'une seule histoire, racontée par un seul historien. Or, vu l'importance suprême de l'Evangile, Dieu a voulu fermer la bouche aux incré-

dules, qui auraient pu facilement accuser d'imposture des récits émanant d'un seul témoin. Ainsi, des témoignages tellement divers qu'ils *semblent* quelquefois se contredire, surtout si on les étudie à la légère, et néanmoins des témoignages parfaitement concordants quand on les confronte de près, voilà ce que, par une admirable disposition de la sagesse divine, nous avons dans les quatre Evangiles. C'est ce que le cours de nos Etudes vous montrera, j'espère, avec évidence.

2600. Tout mon désir, en effet, est de vous rendre sensibles la sagesse et la bonté du Dieu qui se révèle à nous dans les Evangiles. Or c'est une grande et belle chose déjà, que cette harmonieuse diversité qui fait le caractère des livres fondamentaux de la Révélation. Nous n'étudierons pas les quatre Evangiles successivement, mais nous les ferons marcher de front, les complétant les uns par les autres et les mettant en regard là où ils tiennent le même langage. Pour atteindre ce but, c'est-à-dire pour présenter les Evangiles dans leur harmonie, il faut en établir avec soin la chronologie, ce qui n'est pas toujours facile. Il est un ordre général que tous suivent également; mais quand on entre dans le détail, on s'aperçoit que Matthieu aspire plutôt à rassembler les faits et les discours de même nature, ou ceux qui ont eu pour théâtre la même localité, bien qu'en des temps différents, tandis que Luc et Marc, le premier surtout, donnent d'une manière plus exacte la suite des faits. Quant à Jean, moins complet que les autres, il les complète toutefois, et c'est lui qui marque le plus nettement les grands traits de la chronologie des Evangiles. C'est ce dont il est facile de s'assurer par la simple inspection des Tables qui sont en tête de ce volume et que je recommande à l'attention de mes lecteurs. En prenant les Evangiles de Jean et de Luc pour fils directeurs, on arrive à une parfaite harmonie avec celui de Marc, et il ne se trouve d'intervertissements sensibles que dans l'Evangile de Matthieu, entre les chapitres **8** et **18**; tandis que, si l'on part de saint Matthieu, comme cela se fait généralement, on se voit obligé de bouleverser Marc et Luc, sans qu'il soit facile d'y faire accorder saint Jean, même en modifiant çà et là l'ordre suivi par Matthieu.

2601. Il suit de là que nous prendrons pour texte principal de nos Etudes l'histoire écrite par Luc, en empruntant aux autres récits les endroits correspondants. Puis, nous intercalerons dans notre exposé les faits ou les discours sur lesquels Luc a gardé le silence et qui se trouvent ailleurs. De cette manière nous aurons étudié les quatre Evangiles, sans en omettre un seul verset, et plaise au Seigneur que nous n'ayons pas travaillé en vain. Il faut pour cela que mes lecteurs

(**Luc 1** : 1-4; 5.)

lui demandent l'assistance de son Saint-Esprit, comme je le fais moi-même en traçant ces lignes.

2602. (Luc 1 : 1-4.) Ce Luc, dont l'Evangile va donc, avec celui de saint Jean, nous servir de fil directeur, s'adresse à un nommé Théophile, qu'on croit avoir été citoyen de Rome, bien que son nom soit un nom grec. Nous verrons plus tard comment Luc avait pu faire sa connaissance. A en juger par le titre de « très puissant » qui lui est donné, il paraît que c'était un homme de distinction. Au moment où cet Evangile fut écrit, la foi chrétienne commençait donc à se répandre dans les diverses classes de la société. Des petits et des pauvres, elle s'était communiquée à quelques riches et à quelques puissants. Riche ou pauvre, n'importe, il nous semble qu'en faisant adresser l'Evangile à un homme, à un particulier, Dieu a voulu nous engager à l'envisager comme s'il avait été écrit pour chaque âme séparément. L'Evangile, en effet, a moins pour but d'agir sur les masses que de convertir et de sauver les individus.

2603. Ce que Luc va raconter était déjà connu dans les Eglises; car, depuis vingt-cinq ans peut-être, la bonne nouvelle du salut y avait été prêchée sans relâche par ceux qui, témoins de la vie et de la mort de Jésus, avaient été faits par lui « ministres, » c'est-à-dire serviteurs de la Parole. Plusieurs personnes même en avaient dressé des mémoires : Matthieu et Marc parmi les principaux disciples; puis d'autres encore qui, sans y avoir, comme ceux-ci, une vocation divine, s'en étaient acquittés de leur mieux dans des écrits que les Eglises n'ont pas conservés. Luc, à son tour, mais avec la certitude que donne le Saint-Esprit, veut les raconter *par ordre* et suivant les récits qui lui en furent faits de la bouche des Apôtres. Tel est le préambule de notre évangéliste, et maintenant, avec lui, entrons en matière.

—

## DE LA VISION DE ZACHARIE JUSQU'AU MINISTÈRE DE JEAN-BAPTISTE.

### CXCIX. — La naissance de Jean-Baptiste est annoncée à Zacharie.

2604. (Luc 1 : 5.) Hérode le Grand régnait sur toute la Palestine depuis à peu près trente-quatre ans. Bien que l'ancienne alliance approchât de son terme, elle subsistait encore dans toute sa force, lorsqu'un sacrificateur, nommé Zacharie, eut la célèbre vision qui nous est

rapportée en cet endroit. Il était du « rang, » ou du tour de service d'Abija, c'est-à-dire qu'il était de la huitième classe des sacrificateurs (1 Chron. 24 : 10) ; et si le service de chaque classe ne durait que huit jours, si d'ailleurs, ce qui est probable, le premier ordre commençait après la Pâque, Zacharie aurait été de service vers la fin de mai ou deux mois plus tard, supposé que le service de chaque classe durât quinze jours.

2605. (6, 7.) Zacharie et sa femme Elisabeth, l'un et l'autre de la famille d'Aaron, se faisaient remarquer par leur piété et par la sainteté de leur vie. Ils étaient « justes devant Dieu, » et comme il n'y a qu'une manière pour le pécheur d'être juste *devant Dieu* [291, 1651, 2313], nous pouvons dire avec assurance que ces heureux époux vivaient dans la foi d'Abraham et des prophètes, attendant de tout leur cœur le Messie promis. Leur foi, d'ailleurs, se montrait par leurs œuvres, car ils marchaient (Ps. 1 : 1) fidèlement dans l'obéissance due à l'Eternel, respectant à la fois les lois morales et les ordonnances cérémonielles de leur religion, sans en négliger volontairement aucune; en sorte que leur vie était vraiment exemplaire. Cependant ils connaissaient aussi l'épreuve, car Dieu leur avait refusé des enfants, et l'un et l'autre étaient âgés. Cela ne veut pas dire qu'ils eussent atteint la vieillesse toute blanche, puisque, arrivés à la cinquantaine, les sacrificateurs étaient déchargés de leur service (Nombr. 8 : 25), mais du moins, il y avait fort longtemps que Zacharie et Elisabeth étaient mariés.

2606. (8-13.) Deux fois par jour, le matin et le soir, on brûlait de l'encens sur l'autel des parfums (Exode 30 : 7, 8). Pendant ce temps, la multitude, invitée à la prière par cet acte même [854], se tenait dans les vastes cours du temple. Comme Zacharie se livrait à cette sainte fonction, nul autre que lui ne pouvant se trouver en ce moment dans le sanctuaire, il vit tout d'un coup, de l'autre côté de l'autel, un personnage dont l'aspect avait quelque chose de surhumain. Zacharie le vit, mais non pas le peuple, car la vision n'avait lieu que pour lui seul [1968]. C'était un ange de l'Eternel; or Zacharie éprouva le même sentiment de frayeur que nous avons vu précédemment, et par les mêmes causes, chez d'autres serviteurs de Dieu [632, 1272, 2158]. Mais à Zacharie aussi l'ange dit, comme à Moïse, comme à Esaïe, et comme à tous les fidèles, mais non pas aux cœurs inconvertis : « Ne crains point ! » Quelle douce parole, quand c'est vraiment le Seigneur qui nous l'adresse !

(Luc 1 : 13; 13-17; 18-20.)

2607. (13.) Il est permis de demander à Dieu toutes les choses qui ne sont pas contre sa volonté. Zacharie avait donc souvent prié le Seigneur de bénir son union avec Elisabeth, en leur donnant des enfants. Il est probable toutefois que depuis assez longtemps il ne faisait plus cette prière, car lorsque nous voyons que Dieu n'exauce pas nos demandes, même les plus légitimes (sauf en ce qui tient au salut de notre âme), nous devons peu à peu cesser de les lui présenter; mais voyez quelle bonté de Dieu, et en même temps quelle sagesse! Il sait mieux que nous le moment convenable, et il peut arriver qu'il exauce une prière, longtemps après l'époque où nous la lui faisions avec le plus d'ardeur. Du reste, cet enfant dont la naissance allait réjouir Zacharie d'une manière si inattendue, était destiné à quelque chose de plus qu'à devenir son bâton de vieillesse; c'est ce que montre chacune des paroles de l'ange.

2608 (13-17). Il sera appelé Jean, en hébreu Johanan, c'est-à-dire la *Grâce* ou la *Miséricorde de Jéhovah*. La joie que Zacharie aura de sa naissance sera partagée par un grand nombre de personnes. « Il sera grand, » non d'une grandeur humaine, mais d'une grandeur divine. Consacré à Dieu comme l'étaient les Nazaréens [925, 1267], il lui arrivera ce qui n'arriva jamais à personne; c'est que le Saint-Esprit sera en lui, même avant qu'il voie le jour. Converti de la sorte, il deviendra lui-même un instrument de conversion pour beaucoup d'âmes en Israël. Il précédera le Seigneur leur Dieu, c'est-à-dire notre Sauveur Jésus-Christ, exerçant un ministère fatigant et austère, remplissant une mission solennelle comme celle d'Elie, prophète dont il aura l'Esprit et la force, sens du mot *vertu* employé par nos versions. Telle fut la parole prophétique de l'ange. Or, si vous comparez la fin de son discours avec les derniers mots du prophète Malachie (3 : 1 ; 4 : 5, 6), vous verrez qu'il a plu à Dieu de renouer expressément le fil de la prophétie, interrompu par les quatre siècles qui s'écoulèrent entre Malachie et la naissance de Jean. Il ne pouvait mieux montrer que le Vieux et le Nouveau Testament ne sont qu'un, ni mieux préparer nos esprits à voir dans le Nouveau l'accomplissement des prophéties contenues dans l'Ancien.

2609. (18-20). Zacharie devait assez connaître la Parole de Dieu pour savoir que ce qui lui arrivait n'était pas sans exemple, témoin Abraham, Manoah, Elkana; mais il éprouvait une émotion qui lui ôtait, faut-il dire, l'usage de la pensée, et c'est dans ces occasions que les penchants de notre mauvais cœur se montrent le plus ouver-

tement. Or il existe en tout homme une incrédulité naturelle qui ne reparaît que trop souvent chez les croyants eux-mêmes, et que nous devons voir sans étonnement chez le respectable Zacharie. Nous ne saurions nous étonner non plus de la censure que lui fit l'ange et du châtiment qui lui fut infligé par le Seigneur; car enfin, les péchés des fidèles sont toujours des péchés. Mais quel amour Dieu ne manifeste-t-il pas envers ses enfants dans la manière même dont il les châtie! Zacharie n'a pas cru, en conséquence il ne pourra parler. Cependant, son infirmité même et la délivrance qu'il obtiendra plus tard, ne serviront qu'à affermir sa foi et à rendre plus vive sa reconnaissance.

2610. En attendant, l'ange emploie un moyen bien simple pour ramener Zacharie à plus de confiance. Il se nomme, et ce nom de GABRIEL dut rappeler au pieux sacrificateur la prophétie contenue au chapitre 9 de Daniel. Cet antique oracle faisait, alors surtout, l'espoir des enfants de Dieu; il allait s'accomplir en ce temps même, et il renfermait implicitement l'annonce de Jean et de son ministère.

2611. (21-25.) Le peuple, cependant, ne comprenait pas pourquoi Zacharie ne sortait pas du temple. On voyait bien qu'il ne jetait plus d'encens sur l'autel; mais on ne pouvait se rendre compte de ce qu'il faisait ni de l'espèce d'extase dans laquelle il demeurait plongé. Il sortit enfin, et comme il avait la langue empêchée, il fit comprendre par signes, et du mieux qu'il put, ce qui s'était passé. Après quoi il retourna dans sa maison, au pays des montagnes de Juda, et bientôt Elisabeth eut l'espoir de devenir mère. Pour ne pas s'exposer à une vaine curiosité, si ce n'est aux moqueries des incrédules, tout comme pour méditer dans le recueillement sur la miséricorde de l'Eternel envers elle et envers son peuple, cette sainte femme demeura cinq mois dans sa maison sans en sortir; toutefois, elle était joyeuse et reconnaissante de ce que Dieu avait enlevé son opprobre. Nous avons eu déjà l'occasion de dire comment et par quelles raisons, la privation d'enfants semblait aux Juifs une malédiction de Dieu [1295]. C'était, pour eux, comme s'ils n'avaient point de part à la promesse faite à Abraham, et en conséquence une sorte de malédiction.

### CC. — La naissance de Jésus-Christ annoncée à Marie.

2612. (1 : 26-38.) Six mois après, le même ange du Seigneur, ce Gabriel qu'on pourrait appeler le céleste prophète du Messie, vint de la part de Dieu, dans une ville de Galilée, nommée Nazareth. Là

(**Luc 1** : 26-38.)

demeurait une jeune fille, orpheline selon toute apparence et fiancée à Joseph son plus proche parent. Ils étaient l'un et l'autre de la tribu de Juda et de la maison de David. Mais, bien qu'appartenant à l'ancienne famille royale, ils occupaient une condition obscure et ils gagnaient leur vie du travail de leurs mains. Il s'était écoulé dix siècles depuis que David avait obtenu le trône, et cinq cents ans depuis que le pouvoir et les richesses avaient passé ailleurs; mais, tandis que bien des familles en Israël avaient dû s'éteindre, celle de David subsistait encore, et il ne pouvait en être autrement, puisque d'elle devait sortir le Christ de l'Eternel.

2613. Marie, ou selon le nom hébreu qu'a conservé le texte sacré, Mariam, était une jeune fille en qui, sans aucun doute, brillèrent de très bonne heure toutes les qualités d'un enfant de Dieu; c'est-à-dire que l'Esprit de Dieu ne manqua pas de préparer son âme aux merveilles de miséricorde dont elle devait être l'humble instrument. Il l'avait reçue en grâce; il l'avait, dès l'éternité, bénie entre toutes les femmes; aussi la destinait-il à être la mère du Messie.

2614. Le miracle qui s'accomplit dans la naissance de notre Seigneur avait été annoncé par les anciennes prophéties, en des termes qui pouvaient sembler obscurs, mais que l'événement du moins s'est chargé d'éclaircir. Rappelez-vous la promesse faite à Adam (Gen. 3 : 15), rappelez-vous aussi la célèbre prophétie d'Esaïe (7 : 14). L'une et l'autre annonçaient que le Rédempteur naîtrait comme un petit enfant, et les deux réunies, qu'une fille d'Eve lui donnerait le jour par la puissance immédiate de Dieu.

2615. Il y a certainement dans cette naissance de notre Seigneur un profond mystère; mais le mystère, à mon avis, n'est pas où il semble d'abord. Ce qu'il y a d'admirable et de divin dans l'existence et dans la production d'un être quelconque, montre à tous les yeux la main puissante du Créateur. Or, que ce même Créateur ait formé dans le sein de la vierge Marie l'humanité du Sauveur, comme de la poudre de la terre il forma le premier homme, et comme du premier homme il tira la première femme, ce n'est pas là proprement qu'est le mystère. Aussi quand saint Paul dit (1 Tim. 3 : 16) : « De l'aveu de tous, le mystère de la piété est grand... » il n'ajoute pas : « Jésus, né d'une vierge, » mais « Dieu manifesté en chair. »

2616. Ainsi, la manifestation de Dieu en chair, ou l'incarnation du Fils de Dieu, voilà le grand mystère que nous présente la naissance de Jésus-Christ et que l'ange Gabriel venait annoncer à Marie. Mys-

tère insondable, qui nous est toutefois clairement révélé et dont on comprend sans trop de peine la haute raison.

2617. Pour nous sauver, il fallait que le Christ souffrît et mourût; il fallait de plus que nous pussions voir dans sa mort et dans ses souffrances un sacrifice vraiment offert à notre place; il fallait donc qu'il fût un homme parfaitement semblable à nous, revêtu, non d'une apparence humaine, comme dans les temps anciens [322, 2391], mais de notre vraie humanité. Il fallait, d'autre part, qu'il n'héritât pas du péché et de la condamnation d'Adam, car alors il n'eût pu, victime sainte, expier nos péchés. Or ces deux conditions se trouvent remplies en notre Seigneur, par la manière même dont son humanité fut formée. C'est la puissance du Saint-Esprit qui le tira de la substance même de Marie; il a donc été, comme nous, fils d'Adam par Marie. Mais, né de Dieu, ainsi que le premier Adam, il a paru au monde sans apporter en lui la souillure du péché.

2618. (28.) Après ces considérations générales, il nous suffira de quelques notes sur l'entretien de l'ange et de Marie. D'abord il la salue, et l'original grec nous dit en quels termes : « Joie te soit! » C'était une salutation fort usitée, mais, dans la bouche d'un messager céleste, elle prend un caractère de sérieux et de vérité qu'il est facile de comprendre.

2619. (29, 30.) « Toi qui as été reçue en grâce! » Les catholiques-romains traduisent : « pleine de grâce, » inexactitude par laquelle ils essayent de justifier le culte qu'ils rendent à Marie, comme à la source de toutes les grâces de Dieu; tandis qu'au contraire ces paroles et les paroles analogues du verset 30 montrent que Marie, encore que fort pieuse, avait eu besoin, elle aussi, du pardon ou de la grâce divine. Hélas! le trouble même qu'elle ressentit et l'obligation où fut l'ange de la rassurer, prouvent assez qu'elle n'était pas d'une autre nature que nous; car comment imaginer qu'une créature parfaitement sainte puisse jamais avoir peur de la parole et de la présence de son Dieu! Lors donc que les catholiques-romains prétendent que la vierge Marie était pure de tout péché, ils sont dans une grande ignorance des Ecritures; et quand ils se sont avisés d'appuyer cette erreur sur une fable, selon laquelle la vierge Marie serait née elle-même d'une manière analogue à celle de Jésus-Christ, ils ont fait pis que d'ignorer les enseignements de la Bible.

2620. (31.) Le nom de Jésus, que Marie devait donner à son fils, n'était pas inconnu jusque-là. Mais le premier homme qui le porta

(**Luc 1** : 32; 34, 35; 36-38.)

l'avait reçu en sa qualité de type du Messie, et ce nom de Jésus veut dire *Sauveur* [943]. C'est la manière d'écrire en latin le mot *Iêsous*, et ce dernier mot est celui par lequel les Septante [2569], ont rendu le mot hébreu *Jéhosçhua* ou Josué (*l'Eternel sauve*).

2621. (32.) Qu'a-t-il donc fait, ce nouveau Josué, pour justifier son nom de Jésus ou de Sauveur? C'est une question à laquelle répondra chacune de nos Etudes subséquentes, tout comme nous y verrons ce que signifiait cette parole prophétique de l'ange : « Il sera Grand. » La grandeur de Jésus est au-dessus de toutes les grandeurs du ciel et de la terre; car il est le Fils du Très-Haut, et non pas seulement le fils de Marie, titre que la Bible ne lui donne jamais. Au lieu de cela, il est appelé le fils de David; et, par un effet de cette double relation qu'il a, soit avec Dieu par sa nature divine, soit avec David par sa nature humaine, il doit régner, dit l'ange, régner sur les fidèles, la vraie famille de Jacob, et par conséquent sur les Juifs quand ils se convertiront, régner en son humanité et en sa divinité réunies, régner jusqu'à la fin des siècles.

2622. (34, 35.) Marie comprit que ce qui la concernait dans le discours de l'ange, devait se réaliser immédiatement; mais elle n'avait pas saisi ce qu'il y aurait de surnaturel et de divin dans la formation de l'humanité du Sauveur en elle; c'est pourquoi nous l'entendons exprimer, avec une admirable candeur l'étonnement dans lequel de telles paroles la jetaient. Bien que fiancée à Joseph, elle était pure de toutes relations coupables avec lui et son mariage probablement ne devait point encore s'effectuer; circonstance qu'elle exprime par ces mots pleins de décence : « Je ne connais point d'homme. » Ce fut alors que l'ange lui annonça ce que j'ai dit tout à l'heure, mais par anticipation, savoir que le fils qui naîtrait d'elle serait formé par le Saint-Esprit, que ce serait donc un Etre saint, et que, sous tous les rapports, il aurait pour vrai nom celui de Fils de Dieu.

2623. (36-38.) Puis, toujours plein de bonté envers ses enfants, le Seigneur donne à Marie, par la bouche de l'ange, une nouvelle bien propre à affermir sa foi; c'était la grâce inespérée qui avait été faite à sa cousine Elisabeth. Il lui rappelle aussi un mot que Marie devait connaître et qui avait été prononcé dans une circonstance analogue : « Aucune chose n'est impossible à Dieu » (Gen. **18** : 14). Ces paroles divines, accompagnées de la grâce d'en haut, produisirent dans l'âme de Marie une foi obéissante qu'on ne saurait trop admirer. Quelque simple et naïve qu'elle fût, il n'y avait pas moyen qu'elle se fît illu-

sion sur les odieux soupçons qui la menaçaient, soit de la part du monde, soit de la part de son fiancé ; mais elle s'en remit entièrement à Dieu, et nous verrons comment Dieu vint au-devant de ses craintes.

2624. En attendant, remarquons qu'il existe entre ce que nous venons de lire et ce qui arrive tous les jours, plus de rapports qu'il ne semble à première vue. Pour que les pécheurs soient sauvés, il faut qu'ils croient en Jésus-Christ et qu'ainsi Jésus-Christ soit formé spirituellement au dedans de leur cœur. Cela ne peut se faire sans une immense opposition de la part du monde. Souvent toutes sortes de mépris et de persécutions en sont la suite. N'importe : ceux que le Seigneur attire à lui par sa grâce, disent comme Marie, avec une humble confiance : « Voici l'esclave du Seigneur ; qu'il m'arrive selon ta parole. »

2625. (39-55.) Aussitôt après avoir entendu l'ange de l'Eternel, Marie se mit en route, seule peut-être et sûrement à pied, pour aller de Nazareth où elle était, chez sa cousine Elisabeth, dans les montagnes de Juda. C'était un voyage de plusieurs journées, mais Marie avait compris que Dieu l'y appelait. Rien, en effet, n'est plus admirable ni plus rempli de la présence du Seigneur que l'entrevue de ces deux saintes femmes, dont l'une toute jeune et l'autre parvenue à la vieillesse, portaient en leur sein le Rédempteur des hommes et son illustre précurseur. Aussi le Saint-Esprit leur inspira-t-il leurs premières paroles, tout comme il sanctifia plus tard leurs entretiens.

2626. La prophétie qui s'était éteinte avec Malachie quatre siècles auparavant, venait de se rallumer par le ministère de l'ange Gabriel, et voilà maintenant le fils d'Elisabeth, dès le sein de sa mère (1 : 15), voilà Elisabeth, voilà Marie, qui, tour à tour, prophétisent par le Saint-Esprit. Quant au petit enfant, il est clair qu'il n'eut aucune perception de ce qui lui arrivait, mais il n'en fut pas de même d'Elisabeth et de Marie. Il leur fut donné de lire avec une grande clarté les desseins du Très-Haut. Marie surtout s'exprime dans le langage prophétique de l'Ancien Testament et son cantique rappelle celui d'Anne, la mère de Samuel (1 Sam. 2 : 1-10). Bienheureuse Marie ! Heureuse comme le dit Elisabeth, d'avoir été choisie entre les femmes pour devenir la mère de notre Seigneur, plus heureuse encore d'avoir cru en la Parole de Dieu, son Sauveur, ainsi qu'elle le nomme elle-même !

(**Luc 1** : 56-63 ; 64-66 ; 67-75.)

## CCI. — Naissance de Jean.

2627. (56-63.) Marie étant demeurée environ trois mois auprès d'Elisabeth, elle la quitta comme le terme de sa cousine approchait. Zacharie eut donc un fils, à sa grande joie et à celle de tous ses alentours. Quand le jour de circoncire le petit enfant fut arrivé, il s'agissait de lui imposer un nom et les assistants n'en trouvaient pas de plus convenable que celui de Zacharie, car c'était donner à l'enfant le nom de son père ; ce mot d'ailleurs signifie : *l'Eternel s'est souvenu.* Mais Zacharie était parvenu à instruire sa femme du nom que devait porter leur fils et elle se hâta de le déclarer à l'assemblée. On y faisait cependant quelques objections, lorsque Zacharie prit des tablettes, et, comme il y traçait le mot JEAN, sa bouche fut déliée. Or il est probable que durant le temps qu'il fut muet, il n'avait pas pu écrire non plus.

2628. (64-66.) Le premier usage qu'il fit de la noble faculté que le Seigneur venait de lui rendre, fut d'éclater en actions de grâces; et tous ceux qui étaient présents se sentirent remplis à la fois d'admiration et d'une secrète frayeur, car il n'y avait pas moyen de méconnaître la main de Dieu dans ces événements. Bientôt le récit en courut de bouche en bouche, et les montagnards se demandaient ce que deviendrait ce petit enfant. Dans leur ignorance, plusieurs peut-être pensaient que le Messie serait manifesté en sa personne ; mais le Messie ne devait pas sortir de la famille d'Aaron. Quoi qu'il en soit, il est dit que la main du Seigneur était avec Jean ; c'est-à-dire qu'il ressentit, dès son enfance et durant toute son éducation, les précieuses influences de l'Esprit dont il avait subi l'action, même avant de venir au monde. C'est une grâce qui, dans cette mesure, ne fut faite à aucun des fils d'Adam; mais il est pourtant nombre d'enfants qui ont été de bonne heure sous l'éducation de l'Esprit de Dieu, faveur inestimable que des parents chrétiens ne sauraient assez solliciter, ni mes jeunes lecteurs demander avec trop d'instances.

2629. (67-75.) Zacharie, avons-nous dit, n'eut pas plutôt recouvré l'usage de la parole qu'il s'en servit pour bénir Dieu. Nous avons ici le cantique prophétique qui sortit de sa bouche sous la dictée du Saint-Esprit. Il se divise en deux parties. Dans la première, Zacharie oublie en quelque sorte son propre fils, pour ne penser qu'au fils de David qui devait naître dans peu, comme l'Esprit l'avait révélé à Marie

et à Elisabeth, puis à lui-même. Il parle du grand salut qu'il venait procurer à son peuple (le peuple élu), et, pour bien établir que c'était vraiment le salut promis à leurs pères, il s'exprime en des termes tout semblables à ceux des anciens prophètes. Ce qu'il y a de plus remarquable, c'est ce qu'il indique comme le but final de la venue du Sauveur. Ce Sauveur nous est donné « afin que nous rendions à Dieu notre culte (vraie traduction) *sans crainte, en piété, en justice, devant lui, tous les jours* de notre vie. » On peut dire en effet que tout revient au culte, et si vous reprenez l'un après l'autre les six mots que j'ai soulignés, vous reconnaîtrez que rien ne manque à un culte qui a de tels caractères. Après quoi, l'étude entière du Nouveau Testament vous montrera que c'est bien ainsi que les rachetés de Jésus servent le Seigneur. Je me borne pour le moment à ces indications.

2630. (76-79.) Dans la seconde partie de son cantique, Zacharie porte enfin ses regards sur son fils, mais c'est encore une fois pour ne parler que du salut et du Sauveur. Placé sur les confins des deux alliances, il s'exprime tour à tour dans le langage de l'Ancien Testament et dans celui du Nouveau. Prêtons-lui l'attention la plus sérieuse, car voici une de ces admirables portions de l'Ecriture où l'œuvre de la grâce de Dieu se trouve décrite avec une brièveté et une beauté vraiment incomparables. D'abord, Jean ne sera que le prophète du Très-Haut, tandis que Celui devant lequel il marchera est le Seigneur, l'Eternel; car, dans le Nouveau Testament, le dernier de ces mots est constamment remplacé par celui de Seigneur. Prophète, il préparera les cœurs à recevoir le Christ, son Seigneur, en donnant au peuple qui lui appartient, non pas le salut proprement, mais la connaissance du salut. Il fera comprendre aux âmes que la base de ce salut est dans le pardon des péchés, que la source en est dans l'infinie miséricorde de l'Eternel (*notre Dieu*, disent les rachetés) [485]; que l'auteur de ce salut est Celui que Malachie appelait le soleil de la justice (Malach. 4 : 2); qu'il est envoyé pour retirer de leurs ténèbres et de leur mort les pécheurs, même les plus grands; que le résultat enfin de cette œuvre de miséricorde, est de faire marcher les fidèles dans la paix de Dieu, c'est-à-dire aussi dans la paix de l'âme, dans la paix avec tous les hommes et dans l'amour de toute paix.

2631. (80.) Ainsi se termine l'histoire de la naissance de Jean; et vous y voyez, sans surprise, que le Nouveau Testament, comme l'Ancien, fait tout converger vers Jésus-Christ. Vous remarquerez aussi

(**Matthieu 1** : 18, 19; 20, 21; 22, 23.)

que, dans ces récits, Dieu n'accorde rien à une vaine curiosité. Peut-être eussions-nous désiré quelques détails sur la jeunesse du fils de Zacharie; mais tout ce que nous savons, c'est que le petit enfant se développait, qu'il était fortifié spirituellement et que, plus tard, il vécut d'une vie très retirée, jusqu'au moment où il entra dans son ministère. Heureux les jeunes gens qui, semblables à lui, font de bonne heure l'apprentissage de ce qu'il y a de sérieux dans la vie!

## CCII. — Naissance de Jésus.

2632. (Matth. 1 : 18, 19.) Nous avons vu que Marie était restée environ trois mois chez sa cousine Elisabeth. Ce fut à son retour sans doute et de sa propre bouche, que Joseph apprit l'auguste et profond mystère de sa prochaine maternité. Mais, bien que disposé à croire Dieu et malgré son affection pour Marie, il ne put se garder de soupçons dont on ne saurait lui faire un crime. Trop honnête, après cela, pour épouser une femme sur la pureté de laquelle il avait des doutes, trop compatissant aussi pour la livrer au châtiment que son crime supposé méritait (Deut. 22 : 23, 24), il se résolut à rompre sans éclat leurs engagements, en lui laissant le soin de cacher sa honte du mieux qu'elle pourrait. Mais combien le cœur de cet homme de Dieu devait souffrir! Ces pensées le poursuivaient jusque dans le sommeil, et ce fut là que le Seigneur vint le tirer de son angoisse et entourer Marie de sa sainte protection.

2633. (20, 21.) Un ange apparaît en songe à Joseph; il l'invite à prendre Marie pour sa femme; il lui annonce la divine incarnation du Fils de Dieu; il lui dit, à lui aussi, quel nom devrait porter l'enfant; il l'autorise de la sorte à remplir envers lui les devoirs d'un père; puis l'ange explique à Joseph pourquoi son fils adoptif recevrait le nom de Jésus : c'est qu'il sauverait *son* peuple de la peine et de l'esclavage du péché. Nous verrons plus amplement par la suite en quoi consiste le salut et comment il s'est opéré : deux mots seulement à ce sujet. La base du salut est le pardon des péchés [2630], mais il renferme aussi la sanctification du cœur et de la vie. Or, le moyen du salut c'est la foi en Christ. Par elle les pécheurs s'approprient l'expiation qu'il a faite de nos péchés, et de cette expiation même découlent pour les fidèles les grâces sanctifiantes du Saint-Esprit.

2634. (22, 23.) Saint Matthieu, qui écrivait essentiellement pour les Juifs [2597], rappelle la prophétie d'Esaïe (7 : 14) que nous avons citée

(**Matthieu 1** : 24, 25. **Luc 2** : 1-5.)

plus haut; et ce qu'il y a de remarquable, ici comme ailleurs, c'est qu'il attribue la prophétie directement à Dieu, entre les mains de qui le prophète n'a été qu'un instrument. Le Seigneur l'a déclaré par le moyen du prophète, disant : « Voici, etc. » Quel beau nom que celui d'EMMANUEL, *Dieu avec nous!* et puisque Jésus a dit avant de quitter ses disciples : « Je suis toujours avec vous jusqu'à la fin du monde » (Matth. **28** : 20), il est donc aujourd'hui comme alors notre *Emmanuel,* si toutefois nous faisons partie de son peuple fidèle.

2635. (24, 25.) On se demande comment des paroles d'ange, entendues dans un songe, purent dissiper l'incrédulité de Joseph, mieux que ne l'avaient fait les discours de Marie et ses propres réflexions; comment, après avoir pu soupçonner la pieuse Marie de lui en imposer par une fable si hardie et si coupable, il ne se soupçonna pas lui-même de s'être forgé une chimère pendant les rêves de la nuit? La réponse est simplement qu'il plut à Dieu d'accompagner de la puissante efficace du Saint-Esprit la révélation qu'il avait jugé bon d'adresser lui-même à son serviteur. C'est encore de cette façon que la Bible agit sur les consciences. Non-seulement il est des âmes qui, après avoir résisté aux paroles les plus persuasives des prédicateurs de l'Evangile, sont vaincues par la force des vérités que leur présente la lecture des saints Livres; mais encore l'Ecriture elle-même n'a d'action sur les cœurs que si la lecture en est accompagnée de l'influence secrète du Saint-Esprit. Quoi qu'il en soit, Joseph, une fois convaincu, montra la même obéissance que Marie [2624]. Il la prit chez lui sans retard; mais, plein de respect pour elle, il n'en fit point sa femme qu'elle n'eût mis au monde son fils premier-né.

2636. (Luc **2** : 1-5.) Il y avait vingt-cinq ans environ que le sceptre d'Auguste s'étendait sur la presque totalité des territoires qu'avaient occupés les anciens empires des Macédoniens, des Perses et des Babyloniens; avec lui régnait la paix sur la terre; les sciences et les arts fleurissaient; de nombreuses communications s'étaient établies entre l'Asie, l'Europe et l'Afrique soumises à son pouvoir : on était dans un des plus beaux siècles de l'antiquité, lorsque naquit Celui qui devait fonder un royaume d'une tout autre nature, et commencer une ère qui s'étendra jusqu'au siècle des siècles (Dan. **2** : 44).

2637. Bien que Joseph et Marie demeurassent à Nazareth, dans le nord de Canaan, ce ne fut point là qu'eut lieu la naissance de notre divin Rédempteur. Où qu'il fût né, Bethléhem eût été son lieu d'origine, puisque c'était le berceau de la famille de David [1392]; mais

(Luc 2 : 1-5; 6, 7.)

afin de rendre plus frappant l'accomplissement des prophéties (Michée 5 : 2), l'Eternel voulut que Jésus naquît dans les lieux mêmes où le roi-prophète avait vu le jour. Puis, chose vraiment digne d'admiration, ce fut l'empereur César Auguste qui, de son palais à Rome, détermina le voyage de Joseph et de Marie. Comme bien d'autres princes, il ne se doutait pas que les mesures de son administration entrassent si bien dans les plans du gouvernement de Dieu!

2638. (2.) Le dénombrement auquel le pays entier fut soumis à cette époque ne doit pas se confondre avec un autre dénombrement qui se fit au moins dix ans plus tard, sous la direction d'un nommé Cyrénius ou Quirinus. Ce dénombrement-ci fut compté comme le premier, parce que le précédent peut-être ne s'acheva pas, circonstance qui ne rend que plus remarquable l'accomplissement de l'oracle, puisque Joseph et Marie allèrent à Bethléhem en vertu d'un ordre dont l'exécution fut suspendue pour être reprise beaucoup plus tard. Voici donc comment il faut lire le verset 2 : « Le premier enregistrement même, » c'est-à-dire celui qu'on regarde avec raison comme le premier, « se fit pendant que Cyrénius, etc.; » et alors on met ceci en parenthèse. Il est permis aussi de traduire : « Ce dénombrement se fit avant que Cyrénius fût, etc. »

2639. Quoi qu'il en soit, on ne peut douter que Joseph et Marie ne se soient en effet rendus à Bethléhem, la ville de leurs pères, pour s'y faire enregistrer. Là se trouvait, comme de nos jours encore dans tout l'Orient, une hôtellerie, soit caravansérail, où les passants s'établissaient avec leurs bêtes de somme, vivant, chacun à sa manière, des provisions qu'ils avaient apportées avec eux. Ces bâtiments, ordinairement assez vastes, ont au rez-de-chaussée un grand hangar qui sert d'étable, de remise et de gîte pour les chameliers et les conducteurs de caravanes. A l'étage sont les logements proprements dits. Ce fut là que Joseph et Marie ne trouvèrent pas de place, en sorte qu'ils durent s'établir dans le bas. S'ils eussent été des gens riches, il est probable qu'on aurait eu pitié de l'état où se trouvait la mère de notre Seigneur; mais tout cela était conduit par l'infinie sagesse du Très-Haut.

2640. (6, 7.) Il résulta de ces circonstances que Marie dut déposer dans la crèche même de l'écurie, au milieu de tout ce mouvement et de tout ce bruit, le petit enfant qu'elle mit alors au monde et qui était le Saint d'Israël, le Seigneur des seigneurs de la terre. Quel abaissement inconcevable! Le Fils de Dieu qui devient fils de l'homme, qui participe à la chair et au sang comme les enfants, qui arrive ici-bas

(**Luc 2** : 8; 9, 10; 11.)

en cet état de faible commencement où le corps et l'âme sont privés de toute force, qui naît dans une étable et fait son premier sommeil au fond d'une crèche! Oh! comme on comprend bien que la raison humaine se refuse à croire de pareilles impossibilités et que notre cœur égoïste ne conçoive pas un tel dévouement! Nous verrons toutefois ce dévouement de notre Seigneur aller plus loin encore et le mystère de son abaissement devenir de plus en plus profond; mais après avoir entendu ses discours, vu ses miracles, assisté à sa résurrection, nous dirons : Oui, ce petit enfant, né dans ce pauvre état, la vingt-sixième année de l'empereur Auguste, cet obscur enfant était vraiment plus grand que tous les monarques du monde, car c'était le Fils de Dieu.

2641. (8.) Cependant, il ne se pouvait qu'une telle naissance passât inaperçue. Au sein même de cet abîme d'abaissement, il devait y avoir quelque manifestation de la majesté divine. Il y en eut plus d'une en effet; car c'est ici que vient l'histoire des bergers, de Siméon, d'Anne la prophétesse et celle des Mages d'Orient. Ces bergers étaient sans doute des hommes pieux, auxquels il plut à Dieu de faire annoncer la naissance de notre Seigneur pendant qu'ils gardaient leurs troupeaux durant les veilles de la nuit. Ce n'était pas en hiver, comme on le pense communément. Bien que la plupart des Eglises célèbrent la mémoire de ce fait le 25 de décembre, il n'est point prouvé qu'il appartienne à cette époque, et d'après le moment où Zacharie doit avoir eu sa vision dans le temple [2604], la naissance de notre Seigneur aurait eu lieu au plus tard vers le mois de septembre. Du reste, la chose importe assez peu, et c'est pour cela que l'Ecriture la passe entièrement sous silence.

2642. (9, 10.) Ce qui importe bien plus assurément, c'est la manière dont l'Eternel révéla sa miséricorde aux bergers de Bethléhem. Un ange se présenta devant eux. Sous quelle forme? nous l'ignorons; mais nous lisons que la gloire du Seigneur, c'est-à-dire probablement une vive lumière qui éclairait à leurs yeux le monde invisible, resplendit autour d'eux. Saisis de crainte à ce magnifique spectacle, comme l'avaient été Zacharie et Marie, ils entendirent aussi, comme eux, cette douce Parole du Père céleste à ses enfants : « Ne craignez point; » mais plutôt réjouissez-vous, car voici une bonne nouvelle pour tout le peuple de Dieu.

2643. (11.) Cette bonne nouvelle, ou cet *évangile* [2594], c'était la naissance du fils de Marie. Pour faire sentir aux bergers tout ce qu'il

(**Luc 2** : 12; 13, 14.)

y avait là d'heureux et d'admirable, l'ange leur dit en premier lieu que cet événement venait de se réaliser dans la ville de David, ce qui était leur rappeler de qui le Christ devait descendre selon la chair. Puis ce fils de David leur est annoncé comme Sauveur, comme Christ ou Oint, enfin comme Seigneur. Tout l'Evangile se trouve renfermé dans ces quatre mots. Croyons du fond de nos cœurs que Jésus s'est fait réellement homme, qu'il a accompli tout ce qu'il fallait pour le salut des pécheurs, qu'à cet effet il a été oint sacrificateur, prophète et roi, qu'il est le Seigneur, l'Eternel : oui, croyons du cœur à ces choses et nous avons la vie éternelle.

2644. (12.) Mais où donc les bergers trouveront-ils le petit enfant? Dans quelque palais sans doute, s'il en existe à Bethléhem! A quels signes le reconnaîtront-ils? A l'éclatante lumière, à la gloire céleste qui environne sûrement son berceau; à quelque signe non moins merveilleux que l'apparition même de l'ange dont ils entendent la voix! Non, mes chers lecteurs, le temps de la gloire n'était pas encore venu pour Celui qui est digne de l'adoration des anges, mais qui entrait alors dans une carrière d'humiliation et de souffrances. C'est, enveloppé de langes comme l'enfant le plus ordinaire; c'est, couché dans la crèche commune d'un caravansérail, que les bergers vont trouver le fils de David, le Sauveur, le Christ, le Seigneur! Quelle secousse ne dut pas recevoir leur foi à l'ouïe de ces étonnantes paroles! Aussi le Seigneur leur donna-t-il promptement une nouvelle preuve que c'était bien lui qui leur parlait par la bouche du messager céleste.

2645. (13, 14.) Pour chanter la venue du Rédempteur des hommes, une multitude d'anges joignirent leur voix à celle de leur compagnon de service, et leur cantique, plus court que ceux de Zacharie et de Marie, les surpasse toutefois en magnificence. Là, c'était le Saint-Esprit se servant d'organes humains; ici, c'est le ciel même descendant sur la terre. Aussi, voyez ce que disent les anges dans leur hymne. Ils célèbrent la venue du Christ comme le moyen par lequel la gloire de Dieu sera magnifiée au plus haut des cieux; et c'est, en effet, par lui et par son œuvre que les anges ont pu connaître la miséricorde de l'Eternel. Ils disent que le Christ vient dans le monde pour y apporter la paix; et c'est en effet par lui que l'homme pécheur est réconcilié avec Dieu. Ils annoncent enfin que le Christ apprendrait aux humains ce que c'est que la vraie bienveillance; et c'est de Jésus, en effet, de la foi en son salut, que découle la charité. Apprendre aux

hommes à s'aimer; commencer pour cela par les réconcilier avec Dieu; procurer et avancer par l'une et l'autre de ces voies la gloire de Jéhovah sur la terre et dans les cieux, tel est le but de la venue de notre Seigneur; voilà ce que proclamèrent les anges, pour la joie des bergers de Bethléhem et de tous ceux qui reçoivent la Parole de Dieu.

2646. (15-20) Ce qui suit est facile à comprendre. Les bergers coururent à Bethléhem. S'ils avaient pu croire un moment que leur vision n'était qu'un beau rêve, tous leurs doutes furent dissipés en voyant le petit enfant couché dans la crèche. Alors ils racontent à ceux qui étaient là ce qui venait de leur arriver; on s'étonne, on admire, et Marie aurait pu donner un nouvel élan à cette admiration, si elle avait révélé ce que l'ange de l'Eternel lui avait dit à elle-même; mais ce n'en était pas encore le moment, en sorte qu'elle gardait ces choses dans le fond de son cœur. Quant aux bergers, ils s'en retournèrent glorifiant et louant Dieu. Plusieurs d'entre eux peut-être moururent avant que Jésus entrât dans son ministère; mais ils avaient été des premiers à croire en lui, et c'en était assez pour l'éternel repos de leurs âmes.

## CCIII. — Siméon; Anne la prophétesse; les Mages d'Orient.

2647. (Luc 2 : 21-24.) Il fallait, on le conçoit, que notre Seigneur fût à tous égards irréprochable et que ses concitoyens n'eussent aucun prétexte plausible pour le rejeter; il dut par conséquent être circoncis le huitième jour, en vrai fils d'Abraham, et se plier, dès ce moment, aux diverses exigences de la loi de Moïse, comme tous les descendants d'Israël. Bethléhem n'étant qu'à deux lieues de Jérusalem, il fut facile à Joseph et à Marie de transporter Jésus dans le lieu saint pour y accomplir la consécration de ce premier-né, autre cérémonie ordonnée par la loi [693, 694]. Après cela vint la purification de Marie, qui était aussi d'ordonnance divine. Par l'offrande que fit la mère de Jésus, nous avons la certitude qu'elle était réellement pauvre (Lév. 12 : 8); en sorte que notre Seigneur, dont les richesses sont incompréhensibles, ne connut de la vie humaine que ses privations. Ce qu'il y a dans tout cela de plus digne de remarque, c'est qu'on célébra sur la personne de Jésus-Christ, ou à son occasion, des rites qui, tous les trois, étaient figuratifs du péché et de la délivrance. Mais, comme le dit saint Paul, à peu près en ces termes : « Celui qui n'a pas

(**Luc 2** : 25-28; 29-32.)

connu le péché, Dieu l'a traité, comme s'il eût été le péché même, afin que nous devinssions justes devant Dieu par lui » (2 Cor. 5 : 21).

2648. (25-28.) Ce fut alors que Dieu fit rendre un nouvel hommage à la gloire de notre Seigneur. L'instrument dont il se servit cette fois, fut un homme vénérable par sa piété, un fidèle qui attendait la consolation d'Israël, c'est-à-dire le salut qu'Esaïe avait prophétisé par ces belles paroles : « Consolez, consolez mon peuple, dira votre Dieu » (40 : 1). Siméon était juste comme le sont tous ceux qui croient. Il avait été averti par le Saint-Esprit « qu'avant de *voir* la mort, il verrait l'Oint du Seigneur » ou de l'Eternel; car, je le répète, le Nouveau Testament se sert du mot Seigneur comme l'équivalent de celui de Jéhovah qui se lit si fréquemment dans les anciennes Ecritures. Puis, à l'instant même où l'enfant Jésus venait d'être amené dans le lieu saint, Siméon y fut conduit par l'impulsion de l'Esprit, et ce prophète du Seigneur prit l'enfant dans ses bras et, à son tour, il en célébra la naissance par un très beau cantique.

2649. (29-32.) C'est le quatrième que nous rencontrons depuis que nous avons ouvert l'Evangile, et ce fait me rappelle l'observation fondamentale que j'ai présentée à mes lecteurs, à l'occasion du premier cantique mentionné dans la Bible [711]. Le cantique suppose la délivrance, et la délivrance suppose un libérateur. Rien donc n'est plus naturel que cette effusion d'hymnes et de chants de joie à l'occasion de l'entrée de Jésus dans le monde. Rien non plus ne convient autant que de les faire abonder dans le culte chrétien, mais il faut y apporter des dispositions semblables à celles de Siméon. Zacharie avait dit que le Sauveur venait diriger les pas de son peuple dans le chemin de la *paix* (Luc 1 : 79), les anges célébrèrent sa venue en disant : *Paix* sur la terre! (Luc 2 : 14.) Siméon bénit à son tour le Souverain des cieux et de la terre, de ce qu'il laisse aller son esclave en *paix*, après lui avoir manifesté le salut découlant de sa grâce. Vous voyez l'unité qui existe dans les inspirations divines et, en même temps, vous apprenez de tout ceci à considérer la paix comme le premier et le plus beau fruit de la foi. Après cela, Siméon rappelle que le salut de Dieu, gloire particulière d'Israël, devait être annoncé à tous les peuples, pour révéler ou manifester les élus du Seigneur parmi les nations. Je dis qu'il le rappelle, vu qu'une foule d'anciennes prophéties avaient annoncé la même miséricorde. Toujours est-il que si le pieux Siméon la proclame de nouveau, c'est par une nouvelle révélation du Saint-Esprit; car nous verrons plus tard que les Juifs n'avaient point

compris le mystère de la vocation des peuples demeurés jusqu'alors étrangers à l'alliance divine.

2650. (33-35.) Ils n'avaient pas mieux saisi ce que les prophètes avaient annoncé relativement à l'opposition violente que le Messie rencontrerait de la part de son propre peuple, en sorte que Siméon ne se montre pas moins inspiré par le Saint-Esprit, quand il prophétise que Jésus, envoyé pour le relèvement de beaucoup d'âmes, serait aussi pour un grand nombre une occasion de chute; qu'il aurait à essuyer toutes sortes de contradictions; qu'on verrait alors clairement l'impiété cachée dans une foule de cœurs, et qu'il souffrirait des maux si affreux, que l'âme de sa mère en serait comme transpercée. Cette dernière parole se réalisa, notamment lorsque Marie vit notre Seigneur expirant sur la croix; quant aux autres traits de la prophétie, non-seulement ils se sont accomplis du vivant de Jésus-Christ, mais ils s'accomplissent encore de nos jours.

2651. Partout en effet où l'Evangile est prêché purement et fidèlement, on voit des hommes se convertir; mais on en voit aussi qui, ayant passé jusque-là pour honnêtes, même pour religieux, se tournent quelquefois avec une grande violence contre le Seigneur. Or, comme ils ne peuvent le persécuter lui-même, leur colère se décharge sur ceux qui font profession de lui appartenir et qui, en quelque mesure, le représentent ici-bas. C'est ainsi que Jésus est un signe auquel on contredit; une occasion de blasphèmes et de ruine pour beaucoup d'âmes.

2652. (33.) En entendant les paroles du saint vieillard, Joseph et la mère de Jésus avaient ressenti une vive admiration. Non pas de l'étonnement, comme dit une version française, à moins qu'on n'entende un sentiment semblable à celui que nous font éprouver les grandes scènes de la nature. Nous nous y attendons; elles nous sont familières, et toutefois elles ne laissent pas de nous pénétrer d'une sorte de saisissement. Peut-être aussi qu'à l'ouïe des paroles de Siméon, Joseph et Marie reçurent du Saint-Esprit une intelligence toute nouvelle des anciennes prophéties, et qu'il leur arriva comme aux fidèles qui, découvrant dans la Bible de nouvelles harmonies, en sont remplis d'admiration et pour ainsi dire d'étonnement, bien que de telles découvertes soient au fond toutes naturelles.

2653. (36-38.) Autre sujet de joie pour Joseph et pour Marie. Il y avait à Jérusalem une femme pieuse nommée Anne. Agée de quatre vingt-quatre ans et veuve depuis fort longtemps, elle s'était consacrée

(**Luc 2** : 39. **Matthieu 2** : 1, 2.)

au service particulier de l'Eternel dans le lieu saint; c'est même là qu'elle demeurait, se livrant à de constants exercices de piété. L'écrivain sacré lui donne le titre de prophétesse, soit que son mari eût exercé le ministère de la Parole en Israël, soit qu'elle-même se fût vouée, depuis sa viduité, à l'enseignement religieux de la jeunesse, ou bien simplement parce qu'il lui fut donné de célébrer avec Siméon la venue du Sauveur. Toujours est-il que cette descendante d'Ascer vint, en quelque sorte au nom des dix tribus dispersées, saluer à son tour l'enfant Jésus, et qu'elle eut le bonheur de pouvoir, dans les derniers jours de sa longue vie, parler du Christ à tous ceux de Jérusalem qui l'attendaient avec foi.

2654. (39.) Lorsque Joseph et Marie eurent accompli ce qu'ordonnait la loi de Moïse, ils retournèrent en Galilée, nous dit saint Luc. Mais ce ne fut pas immédiatement; car on voit par le chapitre **2** de saint Matthieu (1, 2), que d'abord ils regagnèrent Bethléhem, d'où ils durent fuir en Egypte. Ce fut après cela qu'ils retournèrent à Nazareth. Aucun des évangélistes, avons-nous dit [2595], n'a eu l'intention de nous donner une histoire complète de notre Seigneur. C'est donc à saint Matthieu que nous allons demander le récit des faits que Luc n'a pas racontés, comme nous avons pris dans Luc ceux que ni Matthieu ni les autres n'eurent mandat d'enregistrer.

2655. (Matth. **2** : 1, 2.) Ainsi que je l'ai déjà remarqué [2641], un événement tel que la naissance de notre Seigneur ne pouvait avoir lieu sans qu'il fût entouré d'un certain éclat. C'est pourquoi nous avons vu Dieu le faire annoncer et célébrer par des anges, par des bergers, par Siméon et par Anne la prophétesse. Ce n'était pas suffisant : il fallait encore que la révélation en fût adressée à des hommes nés au sein des nations étrangères et que ces hommes se missent à prêcher aussi la venue du Christ. La tradition en fait trois rois dont elle indique même les noms; mais d'après le texte sacré, il est impossible de déterminer leur nombre, et rien n'autorise à voir en eux des grands de la terre. C'étaient des Mages, tels que ceux dont il est parlé plus d'une fois dans l'Ancien Testament. A en juger par les offrandes qu'ils apportèrent au Messie, on conjecture qu'ils habitaient l'Arabie et peut-être le pays même d'où était venue la reine illustre qui visita jadis Salomon (Esaïe **60** : 6).

2656. Ces hommes, bien que païens de naissance, pouvaient partager l'espoir, alors si généralement répandu, au sujet d'un envoyé de Dieu; et, comme ils s'occupaient beaucoup d'astrologie, ce fut par ce

(**Matthieu 2** : 3; 4-8; 9-11.)

moyen qu'il plut au Seigneur de les amener à ses pieds. Il leur fit voir une étoile qu'ils n'avaient point encore observée. Cet astre nouveau ou ce météore tout semblable à une étoile, mû par la main de l'Eternel, avait une marche fort extraordinaire; mais pour que les mages comprissent la valeur de ce signe céleste, il fallut sans doute que l'Esprit de Dieu leur en donnât miraculeusement l'intelligence.

2657. (3.) Pleins de foi en la révélation dont ils sont favorisés, les mages se rendent à Jérusalem; ils s'informent du roi qui vient de naître; ils le demandent à la cour d'Hérode, où l'on ignorait parfaitement ce qui s'était passé dans le temple entre Joseph, Marie, Siméon, Anne et quelques fidèles, et voilà le roi Hérode et tous ses partisans qui se sentent émus d'une secrète frayeur. Malgré sa puissance et celle des Romains, dont il tenait son autorité, le fils d'Antipater l'Iduméen sentait bien qu'il ne lui appartenait point d'être assis sur le trône de David, et il n'ignorait pas que certaines prophéties (Esaïe **11** : 1-4) annonçaient la venue d'un Prince du sang royal, d'un rejeton du tronc d'Isaï, concurrent fort redoutable pour lui et les siens, pensait-il. C'est pourquoi cet homme, aussi rusé que cruel [2586], eut bientôt formé son plan.

2658. (4-8.) Il assemble ceux des sacrificateurs et des scribes qui formaient le grand conseil des Juifs, leur demandant où le Christ *était né*, car il ne doutait pas qu'il ne fût né en effet et qu'ils ne dussent le savoir. Puis quand ils lui eurent rapporté la prophétie si remarquable de Michée (**5** : 2), il manda secrètement les mages et s'informa d'eux de l'époque exacte où ils avaient vu l'étoile en Orient. Alors, feignant un grand désir de rendre hommage au roi céleste qu'ils venaient eux-mêmes adorer, il les pria de lui faire savoir le lieu où ils le trouveraient.

2659. (9-11.) C'était la nuit à ce qu'il paraît; et lorsque les mages eurent quitté le roi, ils revirent avec une joie inexprimable l'étoile qui leur était apparue en leur pays. Elle marchait dans la direction du nord au sud ou à peu près, et quand ils furent à Bethléhem l'étoile s'arrêta. Serait-ce de là qu'est venue une manière de parler assez usitée dans le monde? Je l'ignore. Toujours est-il que les mages furent bien réellement conduits à Jésus par une bonne étoile, puisque cette étoile ne fut qu'un intermédiaire entre eux et le Dieu de toute grâce. Quant à nous, mes chers lecteurs, nous avons pour guide assuré la sainte Parole que nous méditons. Là est notre étoile, et nous ne devons pas en consulter d'autre. Elle nous enseigne que Jésus est

(**Matthieu 2** : 12-18; 19-23.)

le Christ; elle nous invite à l'adorer et à lui offrir tout ce que nous avons de plus précieux. Faisons ainsi, et nous n'aurons rien à envier ni aux mages, ni à Siméon, ni aux bergers de Bethléhem : nous aussi, nous pourrons dire que nous avons vu le salut de Dieu.

## CCIV. — Fuite en Égypte. — Jésus à l'âge de douze ans.

2660. (Matth. 2 : 12-18.) Le sinistre projet d'Hérode fut déjoué par une volonté plus puissante que la sienne. L'Eternel avertit les mages de ne pas retourner à Jérusalem et, dans le même temps, il ordonnait à Joseph de passer en Egypte, avec Marie et l'enfant Jésus. Quant à Hérode, furieux de l'affront qui lui était fait par les mages, il envoya ses sicaires à Bethléhem, leur enjoignant d'égorger tous les enfants âgés de moins de deux ans. Dans une localité si peu considérable, il ne devait pas se trouver beaucoup d'enfants de cet âge; plusieurs sans doute furent mis à l'abri des coups de leurs bourreaux; toujours est-il que le sang coula, que d'innocentes créatures furent immolées, comme pour attester la corruption et la misère du monde que Jésus est venu sauver.

2661. (19-23.) Quant aux fugitifs, ils eurent à faire cinq ou six journées de marche avant d'atteindre l'Egypte, et, bien que ce pays renfermât beaucoup de Juifs [2377, 2567], ils n'en devaient pas moins ressentir une vive douleur de se voir chassés ainsi par la persécution sur une terre étrangère. S'ils s'étaient fait des illusions sur le genre de grâce dont l'Eternel les avait honorés en leur confiant l'enfance du Christ, ils pouvaient maintenant se détromper. Déjà la prophétie de Siméon s'accomplissait, et le petit enfant se trouvait de bonne heure en butte à la contradiction des pécheurs. Cependant leur épreuve ne fut pas de longue durée. Une année environ après leur fuite, le cruel Hérode mourut à l'âge de soixante-dix ans, dans les douleurs d'une horrible maladie et dans des dispositions morales plus horribles encore. On raconte qu'il assembla les principaux du peuple à Jéricho, donnant ordre de les massacrer au moment même où il expirerait; c'était, dit-il, afin que sa mort fît verser des larmes. On conçoit qu'un ordre si détestable ne fut pas exécuté; mais on y retrouve toute la méchanceté de l'homme qui avait massacré les petits enfants de Bethléhem, après avoir été le meurtrier d'une grande partie des membres de sa propre famille.

2662. Joseph, divinement averti de la mort d'Hérode, repartit aus-

(**Luc 2** : 39, 40.)

sitôt pour le pays d'Israël. Il aurait voulu se fixer dans la ville de David; mais Archélaüs, un des fils d'Hérode, avait reçu en partage le gouvernement de la Judée proprement dite, et comme ce prince cruel marchait sur les traces de son père, Joseph résolut de regagner Nazareth, ville de la Galilée jusque-là si obscure, que l'Ancien Testament n'en fait pas mention une seule fois. Ce fut pourtant ainsi que s'accomplit une prophétie dont la réalisation est d'autant plus remarquable qu'elle est une des moins claires, parmi celles qui se rapportent au Messie. Jésus a été appelé le Nazaréen par terme de mépris, et il se trouve que le mot (*Nètzer*) dont se sert Esaïe (**11** : 1), et qui est traduit par *rejeton* paraît être le même d'où dérivait le nom de la ville de Nazareth. Il est une opinion plus généralement répandue, c'est que l'évangéliste fait allusion au vœu du Nazaréat et peut-être à la prédiction de Jacob contenue dans la Genèse [596, 597]; mais alors Nazaréen ou plutôt Natsaréen, serait là pour Nazarien.

2663. Remarquons à cette occasion les deux autres prophéties que saint Matthieu rapporte comme s'étant accomplies en ce même temps. La première (15) est tirée d'Osée (**11** : 1). Elle avait sans doute pour objet prochain le peuple d'Israël; mais le Saint-Esprit nous apprend ici par la bouche de saint Matthieu, qu'en inspirant ces paroles à Osée, il avait pareillement en vue Jésus-Christ. On peut faire la même observation sur la seconde (18), qui se lit en Jérémie (**31** : 15). Ces deux exemples montrent toujours mieux comment les anciennes Ecritures se rapportent tout entières à notre Seigneur.

2664. (Luc **2** : 39, 40.) Ce fut donc à leur retour d'Egypte que Joseph et Marie regagnèrent Nazareth avec l'enfant Jésus, qui y passa toute sa jeunesse, « croissant et se fortifiant en esprit, dit saint Luc, « étant rempli de sagesse, et la grâce de Dieu était sur lui! » La *grâce de Dieu*, c'est-à-dire l'amour de Dieu et toutes sortes de saintes affections. Ce fut par cela seulement que les premières années de notre Seigneur eurent quelque chose de remarquable; car il entrait dans les vues de Dieu que son existence fût tout unie et sans rien de miraculeux, jusqu'au moment où il se manifesterait devant le peuple, pour montrer le Messie en son auguste personne. Celui donc qui, par son origine, était le Saint de Dieu (**1** : 35), eut, comme tout autre enfant, un développement graduel, mais parfait à chaque instant; son corps, son intelligence et son cœur faisaient des progrès qu'aucune faiblesse et qu'aucun péché n'arrêtèrent jamais ; car, « la grâce de Dieu était sur lui. »

**(Luc 2 : 41-52.)**

2665. (41-52.) Il y eut cependant une circonstance où Dieu voulut faire briller aux yeux des hommes la divine sagesse de Jésus, avant même qu'elle éclatât dans tout son lustre. Il avait atteint l'âge de douze ans, et ce devait être l'an 8 de l'ère chrétienne [2590]. Joseph et Marie s'étant rendus à Jérusalem, selon leur coutume, pour la fête de Pâques, avaient pris l'enfant avec eux ; c'était peut-être la première fois qu'il les accompagnait. Alors donc allaient s'accomplir d'une manière encore plus sensible que douze ans auparavant, les paroles d'Aggée et de Malachie dont on se souvient sans doute (Ag. 2 : 9 ; Malachie 3 : 1). Quand la fête fut achevée, et que les nombreuses bandes venues de la Galilée et d'ailleurs se mirent en route pour regagner leurs foyers, Jésus demeura seul en arrière, de propos délibéré. Ses parents, auxquels il n'avait jamais fait aucune peine ni donné la moindre inquiétude, pensèrent sans doute qu'il était avec une partie de la caravane où se trouvaient de leurs proches et de leurs connaissances, et ils continuèrent leur route en toute sécurité. Mais lorsqu'on fut arrivé à la halte du soir, Jésus ne se trouva point, et, dès le lendemain, Joseph et Marie rebroussèrent chemin vers Jérusalem, où ils arrivèrent le soir du second jour.

2666. Aussitôt ils se mettent en perquisition, le cherchant partout, avant de songer aux salles et aux portiques du temple où s'assemblaient les docteurs. Ce fut là pourtant qu'ils le trouvèrent enfin. Or, quel ne fut par leur étonnement de le voir assis au milieu des rabbins et s'entretenant avec eux d'un ton à commander le respect et à exciter l'admiration de tous. Il semble qu'en voyant cela, Joseph et Marie auraient dû s'asseoir aussi et écouter. Mais qu'on se mette à leur place. La divinité proprement dite de notre Sauveur ne s'était point encore manifestée par des actes personnels ; d'où l'on comprend qu'à ce moment une seule pensée ait dû occuper leur cœur : « Comment se peut-il que cet enfant admirable (Esaïe 9 : 5), qu'un enfant, jusqu'à cette heure si attentif et si soumis, nous ait jetés dans une telle inquiétude ? »

2667. Ce fut là ce que lui dit Marie, avec un reproche tout pénétré de douleur. Et Jésus, sérieux et grave comme on ne l'est ordinairement que dans l'âge mûr, répondit à ses parents en la chair : « Quoi ! « vous me cherchiez ! Ne saviez-vous pas qu'il me faut être aux affaires « de mon Père ? » Eh ! non, ils ne le savaient pas encore comme il fallait le savoir et comme ils le comprirent plus tard. Ce qu'ils connaissaient, c'était l'origine divine de Jésus, c'était le but général de son existence humaine (Matth. 1 : 21) ; mais que sera-t-il finalement ?

(**Luc 3** : 1-22. **Matthieu 3** : 1-17. **Marc 1** : 2-11.)

que fera-t-il? que deviendra-t-il? tout cela leur était caché et le leur fut longtemps encore; car après cet éclair, Jésus rentra dans son obscurité. Il redescendit à Nazareth avec sa mère et Joseph, pour leur rendre comme du passé la plus parfaite obéissance. Cependant Marie ne traita pas légèrement ce qu'elle avait vu et entendu : elle le repassait en son cœur; ce que nous devons faire nous-mêmes, pour nous étudier à la soumission envers nos supérieurs et tout à la fois au service de notre Père céleste. Quant à Jésus, afin de montrer qu'il fut aussi réellement fils de l'homme que Fils de Dieu, l'Evangile nous dit, pour la seconde fois, qu'il continuait à faire des progrès en sagesse, en taille et en grâce devant Dieu et devant les hommes, saint et divin modèle que tout enfant doit avoir sans cesse devant les yeux.

2668. Il est à remarquer que cette douzième année de notre Seigneur fut l'année même où Archélaüs fut déposé par l'empereur Auguste, qui nomma président de Syrie ce même Quirinus ou Cyrénius, sous lequel se fit le grand dénombrement [2638]. Dès ce moment, la Judée fut entièrement soumise à l'administration romaine; les Juifs perdirent le droit d'infliger la peine de mort en matière civile; ils eurent pour souverains sacrificateurs les hommes qu'il plut aux Romains de leur donner, et ils se virent chargés d'énormes impôts qui furent l'occasion de divers soulèvements. Ainsi s'accomplit d'une manière admirable la célèbre prophétie de Jacob (Gen. **49** : 10). En effet, c'est au moment où la Judée voit s'évanouir les derniers restes de son indépendance, que notre Seigneur fait le premier acte personnel destiné à le signaler comme le Silo ou le Christ de l'Eternel; et ce qu'il y a de bien frappant, c'est qu'à cette même époque, la Galilée et les autres provinces du pays de Canaan demeurèrent sous la domination des fils d'Hérode. La seule terre de Juda se trouvait directement sous le joug étranger. O profondeur de la sagesse et de la connaissance de Dieu! (Rom. **11** : 33.)

—

## DEPUIS L'ENTRÉE DE JEAN DANS SON MINISTÈRE JUSQU'A LA PREMIÈRE PAQUE APRÈS LE BAPTÊME DE NOTRE SEIGNEUR.

### CCV. — Ministère de Jean.

2669. (L. **3** : 1-22; M. **3** : 1-17; Mc. **1** : 2-11.) Depuis la courte apparition de notre Seigneur dans le temple de Jérusalem, dix-huit ans au moins s'écoulèrent durant lesquels il n'arriva rien dont il ait

(**Luc 3** : 2-6. **Marc 1** : 2. **Matthieu 3** : 4.)

plu à Dieu de nous donner connaissance, pas même de la mort de Joseph, survenue très probablement dans cet intervalle, puisqu'il n'est plus fait aucune mention de lui. Les Evangiles passent donc à la prédication de Jean, le fils de Zacharie, qu'ils appellent le baptiste ou le baptiseur, à cause de la cérémonie à laquelle il soumettait ceux qui devenaient ses disciples. Quant à l'époque où il commença, Luc la marque avec assez d'exactitude (Luc **3** : 1, 2). Tibère César était depuis bientôt quinze ans à la tête des affaires, parce qu'Auguste, son beau-père, l'avait, deux ans avant sa mort, associé au trône; Pontius Pilatus, chevalier romain, administrait la Judée, sous le titre de procurateur; Hérode Antipas, fils d'Hérode le Grand, gouvernait la Galilée, et recevait tantôt le titre de roi, tantôt celui de tétrarque; il en était de même de son frère Philippe qui gouvernait les provinces voisines de la Galilée. L'Abilène, territoire voisin, était sous la conduite d'un nommé Lysanias. Quant à la Judée proprement dite, elle ne possédait plus de prince, ainsi que je l'ai fait remarquer à la fin de l'Etude précédente, et, pour que les souverains sacrificateurs ne pussent pas y reprendre leur ancienne autorité, les Romains avaient soin de les remplacer fréquemment [2580 et suiv.]; il arrivait même qu'ils en instituaient deux en même temps, malgré les prescriptions de la loi de Moïse. Dans ce moment, c'était Anne ou Annas et son beau-fils Caïphe qui exerçaient la souveraine sacrificature.

2670. (Luc **3** : 2-6.) A cette époque donc la Parole de Dieu, ou le Saint-Esprit, auteur de cette Parole, s'empara de Jean, qui, sous cette puissante impulsion, se mit à parcourir le pays et à prêcher le baptême de conversion en rémission des péchés. Il invitait les pécheurs à se tourner vers Dieu, puis à recevoir le baptême comme symbole de renouvellement ou de grâce. C'est ainsi qu'il accomplissait l'oracle d'Esaïe (**40** : 3-5) et qu'il préparait les hommes de toute chair à embrasser le salut de Dieu, ou, comme dit le prophète, à voir la gloire de l'Eternel; car la gloire de l'Eternel, telle qu'il l'a manifestée en notre Seigneur Jésus-Christ, consiste essentiellement dans le salut qu'il est venu apporter aux pécheurs.

2671. (Marc **1** : 2.) Ce fut aussi de cette manière que s'accomplit la parole du prophète Malachie rappelée par saint Marc et que nous avons étudiée en son temps (Mal. **3** : 1). Plus nous avançons, plus nous voyons qu'à la venue du Christ toutes choses arrivèrent comme l'Eternel les avait résolues et prédites.

2672. (Matth. **3** : 4.) Jusque-là, Jean avait passé sa vie dans la re-

traite, et maintenant encore il se faisait remarquer par des habitudes d'une grande austérité. Il s'habillait et se nourrissait comme le font, de nos jours même, bien des Orientaux quand la nécessité les y contraint; mais lui, c'était volontairement; c'était pour qu'il y eût parfaite harmonie entre sa personne et le sérieux ministère qu'il remplissait auprès des pécheurs.

2673. (Matth. 3 : 2.) Tout en proclamant la nécessité de se convertir, Jean annonçait que le royaume des cieux était proche, et par cette expression l'on entendait, selon les prophètes, le règne du Messie ou l'économie évangélique, la nouvelle alliance (Dan. 2 : 44). Le souvenir des merveilles de la naissance de Jean, merveilles qui avaient été très publiques, le respect que lui valait sa qualité de sacrificateur, l'austérité de sa vie tout entière, la puissance de sa parole, l'attrait involontaire que les masses éprouvent pour ce qui remue fortement la conscience; tout cela explique pourquoi le peuple se portait en foule aux prédications de Jean. A sa voix donc, chacun se reconnaissait pécheur et se faisait plonger dans le Jourdain (6), car c'est ainsi que s'administrait le baptême. Vêtus de grandes robes de laine, et sous un climat si chaud, hommes et femmes pouvaient, sans inconvénient, entrer et sortir de l'eau du fleuve; et, célébré de cette manière, le baptême exprimait l'entière purification dont l'homme a besoin, purification qui est en même temps le retour à une vie nouvelle.

2674. (7.) Représentez-vous donc ce que dut ressentir le messager du Seigneur lorsqu'il vit arriver à son baptême des pharisiens et des saducéens [2582, 2570]. Les premiers s'estimaient justes par leurs œuvres, et les seconds ne croyaient pas à une autre vie. Qu'est-ce donc qui les poussait auprès de Jean? Sa réputation de sainteté sans doute, la crainte de perdre leur crédit auprès du peuple; mais pardessus tout, le désir d'avoir une bonne part dans les faveurs du Messie, qu'ils attendaient comme un libérateur temporel, comme un prince, fils de David, destiné à monter sur le trône laissé vacant par Archélaüs et à chasser les Romains du pays de Canaan. C'était donc par des motifs tout charnels que ces hypocrites allaient à Jean. On conçoit dès lors que le Saint-Esprit ait mis en sa bouche les paroles sévères avec lesquelles il accueille, ou plutôt repousse ces profanateurs, leur donnant à entendre qu'ils étaient des enfants de Satan et non pas de Dieu.

2675. (M. 3 : 7-9; L. 3 : 7, 8.) Bien que toute la foule ne fût pas

(**Matthieu 3** : 10. **Luc 3** : 9; 10, 11.)

composée de pharisiens et de saducéens proprement dits, il ne s'y trouvait, hélas! que trop de gens auxquels convenait l'apostrophe du fils de Zacharie. Alors, comme de nos jours, on croyait assez généralement que l'observation des formes du culte suffit pour être sauvé. C'est contre une telle erreur que Jean proteste. Si vous croyez, semble-t-il dire, qu'il y a une colère à venir, un jugement auquel il s'agit d'échapper, de qui l'avez-vous appris? Et si vous l'avez appris de Dieu, comment pouvez-vous penser que de vaines apparences de religion vous puissent mettre à l'abri de vos craintes? Il faut vous convertir; c'est-à-dire, il faut que vos cœurs se tournent vers Dieu, et que votre repentance se manifeste au dehors par un vrai changement de vie. Et vous, qui lisez ces lignes, n'allez pas vous confier dans votre nom de chrétien, comme les Juifs se confiaient en leur descendance d'Abraham. Des êtres les plus vils à notre estime, de gens dont le cœur est plus dur que les pierres, Dieu peut se susciter des enfants meilleurs que nous; et il l'a bien fait voir, en appelant à lui les Gentils, quand les Juifs eurent rejeté le Seigneur.

2676. (M. 3: 10; L. 3 : 9.) C'est pourquoi tremblez, dit Jean-Baptiste. Tout homme est semblable à un arbre qu'on a planté pour y recueillir du fruit; or, l'arbre qui ne porte pas de bon fruit ne peut servir qu'à allumer du feu. Si donc nos œuvres ne sont pas bonnes (il ne suffit pas qu'elles ne soient pas mauvaises), si, dis-je, elles ne sont pas bonnes, bonnes selon Dieu, bonnes à ses yeux, bonnes en tout et toujours, nous ne méritons pas autre chose que la condamnation. Peut-être qu'en parlant de la hache déjà mise à la racine des arbres, Jean désignait la ruine qui devait fondre quarante ans plus tard sur la Judée, et dont ces malheureux fils d'Abraham auraient dû avoir le pressentiment, en voyant la hache des Romains, dès cette époque, levée sur leurs têtes. Nous aussi, nous avons en perspective la destruction de notre corps, et déjà le principe en est au dedans de nous, comme la cognée prête à frapper la racine d'un arbre.

2677. (Luc 3 : 10, 11.) L'Evangile ne rapporte pas tous les discours de Jean; mais nous pouvons juger par celui-ci du ton habituel de sa prédication. Accompagnée de la grâce de Dieu, elle devait produire de grands effets. Aussi voyons-nous en saint Luc que la foule lui dit un jour : « Que ferons-nous donc? » Heureux symptôme de conversion! ces hommes comprirent qu'il ne s'agit pas de s'en tenir à une douleur stérile, ni à une vaine agitation de la conscience. Il faut porter des fruits. Il faut, par exemple, que celui qui a deux tuniques

(Luc 3 : 12, 13, 14; 15-17.)

en donne à celui qui n'en a point, et que celui qui a des aliments fasse de même. C'est beaucoup exiger, semble-t-il; mais non. La tunique était la partie la plus indispensable du vêtement, et, à l'époque de Jean, il y avait souvent des hommes si misérables, qu'ils manquaient de tout moyen de se vêtir, comme il y en avait aussi qui périssaient de faim. Hélas! c'est ce qu'on voit encore dans les pays où la charité de l'Evangile n'a pas pénétré. Quant à nous, il est sûr que nous devons donner à nos frères plus et mieux qu'une tunique et un morceau de pain; et n'eussions-nous que deux seuls habits, il est des cas où nous devrions savoir nous dépouiller de l'un d'eux en faveur de nos frères.

2678. (12, 13.) Des péagers, c'est-à-dire des hommes odieux au peuple parce qu'ils étaient païens pour la plupart, et que, établis par l'empereur, ils avaient charge de lever les impôts en son nom [2668], des péagers s'adressant à Jean comme à un maître qui enseignait la vérité, lui demandèrent aussi ce qu'ils devaient faire. « Ne faites rien au delà de ce qui vous est ordonné, » leur répondit Jean; ou en d'autres termes, n'outrepassez pas votre compétence, n'abusez pas de votre position pour rançonner le peuple. Il dit enfin à des soldats qui lui faisaient la même question : « N'usez envers personne de violence ni de tromperie, et contentez-vous de votre solde » (14).

2679. Il est une remarque à faire sur ces trois réponses de Jean. Elles nous apprennent que le premier effet de la conversion, c'est, avant toutes choses, de nous rendre attentifs à nos devoirs les plus simples, les plus près de nous, à ceux qu'on appelle à cause de cela les *devoirs prochains*. Le devoir prochain d'une mère est le soin de sa famille, celui d'un enfant c'est d'obéir à ses parents, d'un malade c'est de souffrir avec patience, d'un riche c'est d'être généreux, d'un domestique c'est de servir ses maîtres, d'un ministre de Jésus-Christ c'est de prêcher fidèlement la Parole de Dieu. Une âme vraiment convertie désire de remplir tous ses devoirs, et, marchant avec simplicité dans cette voie, elle ne cherche pas l'extraordinaire. Elle comprend que le meilleur moyen de glorifier Dieu, c'est de le servir dans la position même où il nous a placés, en observant d'ailleurs pardesssus tout les prescriptions de la justice et de la bienfaisance, selon la parole de Jean-Baptiste.

2680. (15-17.) En voyant la foule immense qui se pressait autour de Jean, en contemplant cet homme extraordinaire et pénétrés d'ad-

(**Matthieu 3** : 11, 12. **Luc 3** : 15-17; 18; 19, 20.)

miration pour les enseignements de ce fils d'Aaron, plusieurs se demandèrent s'il n'était point le Christ qu'on attendait, et bientôt cette pensée fut accueillie par tout le peuple. Il y avait là une grande ignorance des Ecritures, puisque, selon les prophéties, le Christ devait naître de David; mais cette erreur même fournit à Jean l'occasion de diriger l'attention du peuple sur celui dont il préparait les voies.

2681. (M. 3 : 11, 12; L. 3 : 15-17.) Il dit en particulier combien grande serait sa puissance. A côté d'elle, la sienne était moins que rien; car Jean se déclare indigne d'être le dernier de ses esclaves. S'il a baptisé dans l'eau, le Christ baptisera dans l'Esprit-Saint et dans le feu; c'est-à-dire que l'Esprit-Saint éclaire, réchauffe, réjouit, vivifie, comme fait le feu; sans compter qu'il consume le péché dans le cœur des fidèles. Cela pourrait signifier aussi que ceux qui n'auront pas été plongés dans le feu divin et sanctifiant de l'Esprit de grâce, seront plongés une fois dans l'étang ardent de feu et de soufre, comme semblerait l'indiquer la suite du discours; ou bien enfin que le baptême du Saint-Esprit est ordinairement suivi du feu de la persécution.

2682. Quoi qu'il en soit, quelle n'est pas la grandeur de Celui qui, disposant de l'Esprit-Saint comme Jean disposait de l'eau du Jourdain, jugera le monde au dernier jour! En cette grande journée, le Seigneur Jésus-Christ, semblable à un homme vigoureux qui vanne son froment, séparera les infidèles d'avec les fidèles. Ceux-ci lui appartiennent; car tout est à lui : *son* van, *son* aire, *son* blé, *son* grenier, tout, excepté la paille, c'est-à-dire les pécheurs non convertis, qui s'en vont à la perdition et à une perdition éternelle, car c'est un feu qui ne s'éteint point. Oh! que ces paroles sont sérieuses!

2683. (Luc 3 : 18.) Ainsi prêchait le fils de Zacharie; ainsi se réveillait l'Esprit d'Elie le Tisçbite (Malach. 4 : 5). Toute sévère et menaçante qu'était cette prédication, elle ne laissait pas d'introduire l'Evangile, ou la bonne nouvelle, dans le monde; car non-seulement elle invitait à la conversion, sans laquelle il n'y a pas de salut possible, mais encore elle parlait de Celui en qui se trouve le salut, et du Saint-Esprit par qui les âmes sont converties. Nous verrons avant peu que les discours de Jean au sujet de la bonne nouvelle devinrent toujours plus clairs et plus complets.

2684. (19, 20.) Quant à ce qui est dit ici de son emprisonnement, c'est par anticipation; puisque le récit du baptême de Jésus vient aussitôt après. Mais comme Luc voulait dès ce moment prendre l'his-

(**Luc 3** : 21, 22. **Matthieu 3** : 13-17. **Marc 1** : 9-11.)

toire de notre Seigneur pour ne plus la quitter, il raconte d'avance ce qui mit fin au ministère de Jean. Nous aurons à revenir là-dessus en temps opportun.

### CCVI. — Baptême de notre Seigneur; sa double généalogie. Déclaration de sa divinité.

2685. (L. 3 : 21, 22; M. 3 : 13-17; Mc. 1 : 9-11.) Jean prêchait et baptisait depuis quelques mois, ou depuis plus longtemps, on l'ignore, lorsque Jésus, quittant Nazareth et la Galilée, se rendit auprès de lui sur les bords du Jourdain. Il fallait, pour l'accomplissement des prophéties, que Jésus fût introduit par Jean dans son ministère, que Jésus rendît témoignage à la divine mission de Jean, et que Jean rendît témoignage à celle de Jésus. Tout cela était juste et bon. Aussi lorsque notre Seigneur, se faisant connaître au fils de Zacharie comme le Christ, s'approcha de lui pour être baptisé, et que celui-ci, plein d'humilité, le repoussait en quelque sorte, Jésus lui dit avec ce ton grave que nous retrouverons toujours dans sa bouche: « Laisse faire maintenant, car il nous est convenable d'accomplir toute justice, » parole qui doit être comme le mot d'ordre de chaque chrétien, ne fût-ce que par la solennité du moment où Jésus la prononça.

2686. C'était une vraie humilité que celle de Jean. S'il commence par dire à Jésus : Tu veux que je te baptise et c'est moi, pauvre pécheur, qui ai besoin d'être baptisé par toi, voyez comme il se garde d'insister, comme il fait céder ses répugnances devant la volonté du Seigneur. Tu es le maître, semble-t-il lui dire; « et il le laissa faire. » Bel exemple du respect et de l'obéissance que nous devons à Dieu, dans les choses même où peut-être nous ne comprenons pas d'abord toute sa pensée.

2687. Ce fut ainsi que Jésus reçut le baptême de Jean, bien qu'il n'eût certes besoin ni de repentance ni de pardon. Et comment en douter, après ce qui se passa quand il sortit de l'eau et qu'il était en prières. Au-dessus de sa tête, il se fit comme une déchirure dans le ciel; le Saint-Esprit, l'Esprit de Dieu descendit sur lui, et l'on entendit une voix qui disait à Jésus : « Tu es mon Fils bien-aimé en qui j'ai mis ma bienveillance » (Luc 3 : 21, 22), et à ceux qui étaient là : « Celui-ci est mon Fils bien-aimé, » etc. (Matth. 3 : 17). Pendant ce temps une colombe, symbole de la pureté et des tendres affections,

(**Luc 3** : 21, 22; 23. **Matthieu 3** : 13-17. **Marc 1** : 9-11.)

voltigeait au-dessus de notre Sauveur. C'était un signe de la présence du Saint-Esprit, comme plus tard les langues de feu sur la tête des apôtres.

2688. Voilà de quelle manière Jésus devint le Messie, ou le Christ de Dieu. Oint du Saint-Esprit, et non d'huile à la manière d'Aaron, de David et d'Elisée, il fut déclaré sacrificateur, roi et prophète d'un ordre bien supérieur. — En disant qu'il avait alors environ trente ans (Luc 3 : 23), Luc rappelle d'une manière générale l'âge fixé pour exercer la sacrificature (Nombr. 4 : 3). Ce devait être l'an 30 de l'ère chrétienne. Or, nous avons fait observer que Jésus naquit trois ou quatre ans avant le commencement de l'ère [2590]. Dans tous les cas, c'était au terme des semaines prédites par Daniel, et l'accomplissement ne pouvait être plus précis [2456, 2495]. Dès cet instant notre Seigneur entra dans son ministère.

2689. Il y entra d'une manière à la fois humble et glorieuse : humble, car il se fit baptiser par Jean comme s'il avait eu besoin de cette purification; glorieuse, car il reçut immédiatement non pas un baptême d'esprit saint, mais le Saint-Esprit lui-même, cet Esprit qui est un avec le Fils, ainsi qu'avec le Père. C'est ce qui n'arriva jamais à aucun prophète. Nul d'entre eux n'obtint, en sa consécration, le témoignage que le Père rendit à Jésus; parce que Jésus est plus qu'un fidèle et qu'un enfant de Dieu, plus qu'un prophète, plus que le plus grand des prophètes, plus qu'un ange : il est le Fils par excellence, le Fils bien-aimé, Dieu par sa nature, et le vrai centre de l'amour divin; si bien que c'est en Jésus-Christ seul que nous pouvons être aimés du Père.

2690. Nous avons donc ici (et rien certes n'est plus digne de notre attention), nous avons, dis-je, la pleine manifestation d'une vérité qui nous est déjà révélée dans l'Ancien Testament, mais qui se montre en cet endroit avec plus d'évidence; savoir la doctrine de la pluralité dans l'unité divine [22, 37, 41, 1007, 2160], ou autrement de la divinité essentielle du Père, du Fils et du Saint-Esprit, un seul Dieu béni éternellement; doctrine qui nous sera toujours plus clairement enseignée, à mesure aussi que celle de notre salut prendra son développement. Car ce salut consiste en définitive à ce que nous devenions enfants du Tout-Puissant par la foi au Fils de Dieu; or, cette foi, c'est le Saint-Esprit qui la produit dans les cœurs; c'est lui qui nous fait être enfants de Dieu, ou, en d'autres termes, qui nous donne Dieu même pour Père, dans l'amour et la communication de son Fils,

(**Luc 3** : 23-38. **Matthieu 1** : 1-17.)

2691. (Luc 3 : 23-38 ; Matth. 1 : 1-17.) Avant de commencer l'histoire proprement dite du ministère de notre Seigneur, Luc s'interrompt pour donner la généalogie du fils de Marie, et c'est par là que Matthieu commence son Evangile. En comparant ces deux généalogies, vous verrez que celle de Matthieu part du patriarche Abraham, pour descendre de génération en génération jusqu'à un nommé Jacob, père de Joseph, l'époux de Marie ; tandis que celle de Luc va, en remontant, de ce même Joseph jusqu'à Adam, ou plutôt jusqu'à Dieu. Mais en faisant cette comparaison, vous remarquerez que, si, dans la première, Joseph est dit le fils de Jacob, dans la seconde, son père se nomme Héli. Or Héli et Jacob ne sauraient être le même personnage sous deux noms différents (ce qui arrive pourtant quelquefois) ; car en prenant dans saint Luc la généalogie d'Héli jusqu'à David, puis, dans Matthieu, celle de David jusqu'à Jacob, père de Joseph, on voit que ce sont deux branches fort distinctes, sortant l'une de David par Nathan, et l'autre, de ce même David par Salomon. Il est donc absolument impossible que ces deux généalogies soient également vraies relativement à Joseph.

2692. Il est tout aussi impossible d'un autre côté que Luc ou Matthieu se soit trompé sur un fait si facile à vérifier, dans un temps où les Juifs de Juda conservaient encore leurs généalogies en très bon ordre ; et comme Luc avait sûrement connaissance de l'Evangile de Matthieu quand il écrivit le sien, il faut qu'il ait eu de bonnes raisons, ou plutôt l'Esprit-Saint qui conduisait ses pensées et sa plume, pour donner une généalogie différente. Voici donc comment la chose s'explique. Aux yeux de la multitude et devant la loi, Jésus avait Joseph pour père. Partant de là, saint Matthieu a transcrit des registres publics la généalogie de Joseph, par laquelle il est évident que si Jésus était son fils, d'une manière quelconque, il avait donc aussi David pour père. Mais comme il paraît que Joseph était, à ce moment, le seul rejeton mâle de la branche royale par Salomon, il en résultait que Jésus, fils adoptif de Joseph et son fils aîné selon la loi, était le véritable héritier du trône de Juda. Or il n'y avait pas d'autre manière pour que le Christ, Fils de Dieu et né d'une femme, accomplît en sa personne les anciennes prophéties relatives à ce point important [1506]. Marie aussi descendait de David, bien que dans une autre branche. C'est par elle que Jésus fut tout à la fois le fils de David et le Fils de Dieu. En conséquence, Luc nous donne la généalogie de Marie. Il ne la nomme pas, il est vrai, parce que le nom des femmes n'entrait

(**Jean 1** : 1-14.)

jamais dans les généalogies, si ce n'est qu'il accompagnât celui de leur époux; mais il n'en est pas moins vrai que c'était Marie qui était fille d'Héli. Elle n'avait probablement pas de frère, en sorte que, selon la loi, Joseph était devenu par son mariage fils d'Héli [1000]. Il suit de là que Jésus, dans son humanité, descendait réellement de David par Nathan, le troisième des fils que ce prince eut à Jérusalem (2 Sam. 5 : 14).

2693. Avant de passer outre, nous remarquerons la manière dont les Juifs arrangeaient quelquefois leurs généalogies. Il paraît que ceux qui avaient dressé celle de Joseph eurent l'idée de l'ordonner en trois séries, chacune de deux fois sept générations, sept passant pour un nombre sacré, à cause des sept jours de la création. Pour cela, ils avaient dû supprimer quelques noms, omission sans conséquence, puisque ces noms se lisaient dans l'Ancien Testament. Ainsi au verset 8, entre Joram et Hosias, il faut suppléer Achazias, Joas et Amasia. Mais cela ne change pas la descendance, et nous avons vu qu'il se fit peut-être jadis quelque chose de semblable pour la généalogie de David [1219].

2694. Enfin, il est digne d'observation que l'évangéliste mentionne en passant quatre femmes au nombre des ancêtres de Joseph et de Marie : Thamar, Rahab, Ruth et Bathscébah. Rappelez-vous ce qui a été dit de chacune d'elles [518, 1104, 1209, 1521], et vous comprendrez pourquoi il en est fait mention dans l'Evangile. Thamar incestueuse, Rahab cananéenne, Ruth moabite, Bathscébah victime d'une passion adultère ! Comme il est bien vrai de dire que notre Seigneur a été mis au rang des méchants (Es. 53 : 12). Au reste, de quelque famille humaine qu'il fût né, il aurait eu pour ancêtres des pécheurs et, parmi eux sans doute, de grands criminels : or voilà ce qu'il est venu chercher et sauver !

2695 (Jean 1 : 1-14.) Mais pour sentir à quel point notre Seigneur Jésus-Christ s'est abaissé, il ne faut pas perdre de vue ce qu'il était auparavant, je veux parler de sa nature divine. C'est la considération où ramènent les paroles que l'apôtre saint Jean a écrites en tête de son Evangile et qui nous paraissent devoir trouver leur place en ce lieu-ci.

2696. Jean, l'évangéliste, débute comme Moïse dans la Genèse [15]. Toutes choses ont un commencement, toutes excepté Dieu (1). Or, au commencement, c'est-à-dire avant qu'il existât quoi que ce soit, hors Dieu, la PAROLE existait (2). Cette *Parole*, ou ce *Verbe* de Dieu, n'est

pas autre que Jésus-Christ, envisagé dans sa nature divine et en sa qualité de Fils de Dieu par excellence [2689]. Il fut de tout temps auprès de Dieu le Père, et lui-même il était Dieu, avec le Père et le Saint-Esprit. Quand l'Eternel créa les cieux et la terre, il DIT [21], il parla (Ps. **33** : 6, 9), et ainsi toutes choses furent faites par sa Parole; toutes choses, sans en excepter aucune, si bien que cette Parole elle-même n'est pas une des choses que Dieu a faites; elle ne s'est pas non plus faite elle-même assurément : elle est donc éternelle (3). Source de toute vie et de toute lumière, elle est la souveraine Sagesse dont parle Salomon [1816], et nul homme ne vit et ne s'éclaire que par elle (4). Aussi, depuis que le monde existe, ou plutôt depuis que, par le péché, il s'est trouvé plongé dans les ténèbres, toute vraie lumière est procédée de lui, notre unique et éternel Médiateur. Mais les hommes méchants et décidés à ne pas se convertir l'ont sans cesse repoussé : témoins soient Caïn, Esaü, Saül et tant d'autres, dans les anciens temps, puis les pharisiens et la masse des Juifs qui rejetèrent et crucifièrent le Sauveur (5).

2697. Lorsque la Parole vint dans le monde pour y être traitée, hélas! comme elle le fut toujours, il y eut de la part de Dieu un homme, Jean, fils de Zacharie, qui eut pour mission de rendre témoignage à cette divine lumière, afin d'amener les âmes à la foi (6,7). Jean lui-même n'était pas la lumière; il ne possédait que celle qu'il recevait du soleil de la justice, mais il lui rendait témoignage (8) : telles étaient ses fonctions et nous venons de le voir tout à l'heure [2681, 2685].

2698. Quant à Jésus, auquel il faut toujours revenir, il est la véritable lumière, et s'il a paru dans le monde, c'est pour éclairer tout homme qui reçoit le témoignage de Jean et le sien propre (9). Mais qu'est-il arrivé, dit l'évangéliste? Ce monde, créé par la Parole, ce monde au milieu duquel il est venu, ce monde méchant a méconnu Dieu dans la personne du Christ (10). Et non-seulement le monde, mais encore les siens, le peuple juif, ses frères selon la chair, ne l'ont pas reçu (11). Voilà qui est vrai généralement, mais non pas absolument, car il était impossible que le travail du Seigneur restât sans fruit. Aussi y a-t-il eu dans le monde et chez les siens, des âmes qui ont reçu Jésus-Christ (12), c'est-à-dire qui ont cru en lui, en son nom de Jésus ou de Sauveur, et en son nom de Christ ou d'Oint de l'Eternel, tout ensemble sacrificateur, prophète et roi, parce qu'il est le Fils éternel du Père. Mais cette foi, elle ne se transmet pas avec le sang,

(**Luc 4** : 1-13. **Matthieu 4** : 1-11. **Marc 1** : 12, 13.)

elle ne sort pas naturellement de notre cœur charnel, l'homme ne saurait l'inspirer à l'homme; elle est le fruit d'un réengendrement, ou d'une nouvelle naissance qui a Dieu pour auteur (13); et quand on est l'objet d'une telle grâce, on devient enfant de Dieu, on a dès ce moment le droit de l'appeler son Père ; droit donné et non pas acquis, ou plutôt c'est Christ qui en a payé le prix, car c'est de la Parole qu'il est dit : « Elle leur a donné le droit de devenir enfants de Dieu » (12).

2699. (14.) En effet, c'est pour nous valoir cette immense faveur que la Parole a été faite chair, ou autrement que le Fils de Dieu est devenu le Fils de l'homme et qu'il a habité parmi les hommes plein de grâce et de vérité. Oui, plein de grâce, c'est-à-dire de miséricorde et de pardon, mais aussi plein de vérité, c'est-à-dire de justice et de sainteté. Il console les pécheurs sans endormir leur conscience, il proclame hautement l'obligation d'obéir et l'horreur du péché, sans jeter le désespoir dans les âmes. C'est déjà ce qu'avaient annoncé les prophètes en d'autres termes [2489]. Or qui est-ce qui vient maintenant ajouter son témoignage au leur? C'est l'auteur de l'Evangile où se trouvent ces belles paroles ; c'est un disciple de Jésus qui dit, tant en son nom qu'au nom de ses frères : « Et nous avons contemplé sa gloire, gloire comme du Fils unique de la part du Père. »

2700. Cette magnifique introduction de l'Evangile selon saint Jean contient toute la doctrine du salut, il est facile de le voir; et c'est précisément pour cela que je me borne à la courte exposition que je viens d'en faire. La suite de nos Etudes devra prolonger et développer des traits qui ne sont ici qu'indiqués. Voici pourtant une question que j'adresse dès à présent à mes lecteurs : Avez-vous reçu le Christ? Le recevez-vous comme Celui qui est la Parole éternelle du Père? Cette Parole habite-t-elle en vous pleine de grâce et de vérité? y produit-elle une sainte paix? Questions de vie ou de mort pour votre âme.

## CCVII. — La tentation.

2701. (L. **4** : 1-13; M. **4** : 1-11 ; Mc. **1** : 12, 13.) Nous entrons dans un des récits les plus mystérieux de la Bible. Les faits dont il se compose appartiennent à un ordre de choses tout à fait en dehors de nos connaissances naturelles; mais ce n'est pas à dire qu'ils soient moins

(**Luc 4** : 1-13. **Matthieu 4** : 1-11. **Marc 1** : 12, 13.)

dignes de notre créance, puisqu'ils nous sont rapportés par le Livre de Dieu. D'ailleurs, nos précédentes études peuvent nous y avoir préparés [74-83, 1056-1058, 1960], et bientôt nous verrons les étroits rapports qui existent, quant au salut de nos âmes, entre ces faits et tout l'ensemble de la révélation.

2702. Jésus venait d'être baptisé par Jean, lorsque l'Esprit-Saint qui était en lui le conduisit dans un désert où il demeura quarante jours, au milieu des bêtes sauvages, seul avec elles, comme Adam avant sa chute, sans qu'elles lui fissent aucun mal. Jésus passa tout ce temps dans le jeûne, soutenu par sa force divine, mais non cependant sans ressentir la privation de nourriture, car « finalement il eut faim. » Il paraît aussi que, durant ce temps, il fut exposé à diverses tentations de l'Adversaire ou du Calomniateur (en hébreu le Satan, et en grec le Diable), et que ces tentations devinrent de plus en plus extraordinaires, jusqu'aux trois dernières dont les Evangiles nous donnent le détail.

2703. Cette retraite, par laquelle notre Seigneur dut commencer son œuvre, avait eu pour type celles de Moïse (Exode **24** : 18) et d'Elie (1 Rois **19** : 8), deux grands prophètes des anciens temps. Pour en comprendre la nécessité, il faut se rappeler que Jésus a été homme, aussi véritablement qu'il est le Seigneur; or de même qu'il n'a pu expier nos péchés sans souffrir, il n'a pu, sans combattre, se maintenir exempt de péché. Il n'eut pas assurément, comme nous, à lutter contre les passions déréglées d'un mauvais cœur; mais, destiné à vivre avec un monde qui est plongé dans le mal et que les malices de l'enfer dirigent si manifestement, il fallut que Jésus, homme, employât, pour demeurer pur de toute souillure, les moyens qu'il nous recommande à nous-mêmes; savoir la vigilance, la prière, le jeûne, la retraite.

2704. Ainsi donc, Jésus dans le désert, Jésus s'imposant un long jeûne, Jésus plein d'Esprit-Saint, était, on n'en saurait douter, dans la situation même où le voulait le Père, et là, encore, « il accomplissait toute justice. » Ce fut néanmoins dans ces circonstances qu'il eut à essuyer les premiers assauts de Satan, cet ennemi de Dieu et de tout ce qui appartient à Dieu. D'où il est permis de conclure que les fidèles ont constamment à redouter ses embûches, même lorsqu'ils sont tout entiers à leur œuvre et qu'ils s'occupent le plus immédiatement de Dieu et de leur âme. Il est vrai qu'en marchant dans la ligne du devoir on peut compter sur le secours d'en haut, témoin l'histoire

(**Luc 4** : 1-13. **Matthieu 4** : 1-11. **Marc 1** : 12, 13.)

de Joseph [523]; tandis que celle de David nous montre à quoi l'on s'expose, si, par négligence, on se livre aux attaques de l'ennemi [1519, 1520].

2705. Jésus fut entièrement gardé parce qu'il était le Fils de Dieu, le bien-aimé du Père, et qu'il avait en sa personne une force plus grande que celle de Satan. Cet être méchant et rusé savait bien que Jésus est le Seigneur, mais il savait aussi qu'il était véritablement devenu fils d'Adam, et, en cette qualité, il le jugeait capable de tomber dans le péché, non moins que le premier homme [85]. Il crut donc pouvoir l'entraîner au mécontentement, c'est-à-dire à la révolte, comme il y avait entraîné celui et celle de qui Jésus descendait selon la chair [80]. Jésus avait faim et Satan lui dit : « Si tu es, » ou « puisque tu es le Fils de Dieu, » montre ta puissance en faisant de ces pierres le pain que réclame ta vie. C'était indirectement l'inviter à répudier l'œuvre pour laquelle il était au monde, œuvre de souffrances et de renoncements, œuvre qui eût été anéantie si le Seigneur avait fait des miracles pour n'éprouver ni la faim, ni la fatigue, ni l'angoisse, ni la mort. Aussi Jésus répondit-il en citant, du Deutéronome (**8** : 3), un passage dont le sens, appliqué à la circonstance, revenait à ceci : « Ma nourriture est de faire la volonté de mon Père; or sa volonté est que je porte en mon corps et en mon âme la douleur et la peine. » Ainsi pensait le Saint et le Juste. Ah! plût à Dieu que ses disciples affligés et souffrants parlassent tous de cette manière, au lieu de murmurer dans leurs épreuves, et d'employer quelquefois pour en sortir des moyens que Satan seul peut suggérer.

2706. Ce fut par une sorte de prestige que Satan fit voir à notre Seigneur, en un clin d'œil, tous les royaumes de la terre; à moins qu'il ne faille entendre par là simplement que, du haut d'une montagne d'où la vue s'étendait au loin, il se mit à lui parler de la puissance et de la gloire de l'empire romain, qui embrassait alors presque tous les royaumes des peuples civilisés. Quant à cette gloire et à cette puissance, il est bien vrai, dans un certain sens, que c'est le Diable qui les donne, puisqu'elles s'acquièrent et se conservent si souvent au moyen de crimes horribles; toutefois il demeure certain que c'est par l'Eternel que les rois règnent, et que c'est lui qui élève et qui abaisse (1 Sam. **2** : 7, 8); en sorte qu'il y avait dans la parole de Satan du vrai et du faux, comme de coutume : assez de vérité pour faire accepter le mensonge, et assez de mensonge pour que ce ne soit

(**Luc 4** : 1-13. **Matthieu 4** : 1-11. **Marc 1** : 12, 13.)

plus la vérité; nouveau trait de ressemblance avec la manière dont il s'y prit pour tenter Eve : il lui avait dit qu'Adam et elle seraient comme des dieux, connaissant le bien et le mal! [81, 82.]

2707. « Si tu m'adores, » dit le tentateur. Hélas! il n'est que trop manifeste qu'écouter la parole de Satan au mépris de celle de Dieu, c'est transporter à l'ange des ténèbres l'adoration qui appartient à l'Eternel. Aussi voyons-nous Jésus repousser le trait de l'adversaire en lui citant cette autre parole du Deutéronome : « Tu adoreras le Seigneur ton Dieu et tu le serviras lui seul » (Deut. **6** : **13**). Voilà ce qui vaut mieux que tous les royaumes du monde. — Et comme Jésus fit précéder cette citation de l'apostrophe que vous avez sûrement remarquée : « Arrière de moi, Satan! » il est permis de penser qu'il eut l'intention de faire sentir à l'ennemi tout le crime qu'il commettait en s'attaquant à son Seigneur, à celui qu'il n'aurait pas dû cesser d'adorer, de concert avec la sainte famille des anges (Hébr. **1** : 6), et contre lequel toutefois il s'était révolté depuis si longtemps (Jude, 6) [76].

2708. Après cela, Satan transporta Jésus sur l'une des terrasses les plus élevées du temple de Jérusalem, et il lui dit de se précipitêr de là en se confiant à la protection de son Père céleste, comme il avait dit à Eve : « Vous ne mourrez nullement. » Et puis, dans son impie audace, il emprunte lui-même à la Bible un passage dont il se fait une arme contre le Christ (Ps. **91**, **11**), tactique à laquelle il n'a point renoncé de nos jours, car souvent il se déguise en ange de lumière (2 Cor. **11** : **14**), et, abusant des Ecritures, il répand de funestes erreurs dans le monde, en s'appuyant sur des passages dont il fait de fausses applications.

2709. Cette fois comme les deux autres, le Seigneur répondit avec des textes de la sainte Parole : « Tu ne tenteras point le Seigneur ton Dieu, » dit-il au tentateur; ce qui peut s'entendre dans ce sens, qu'en s'attaquant à notre Seigneur, Satan oubliait qu'il avait affaire à Celui qui est le Maître et le Seigneur de toutes choses. Mais on explique plus ordinairement la réponse de Jésus d'une autre manière. C'est comme s'il avait dit à son adversaire : « Il est vrai que je serai gardé de Dieu; mais, avant tout, Dieu me gardera même de feindre un crime tel que le suicide. Compter sur le secours de Dieu pour des choses où il ne l'a pas promis, rendre ce secours nécessaire en se jetant volontairement dans une voie de péché, c'est tenter Dieu; c'est en quelque sorte vouloir qu'il trempe dans nos fautes et l'inciter au

(**Luc 4** : 1-13. **Matthieu 4** : 1-11. **Marc 1** : 12, 13.)

mal, considération que tout chrétien doit peser sérieusement » [730, 2376].

2710. Telle est l'histoire de la tentation de notre Seigneur. Sur quoi, il est à remarquer que Satan ne lui tendit pas d'autres piéges au fond que ceux qu'il nous dresse encore tous les jours, et qu'ils furent de plus en plus subtils. Les besoins et les jouissances physiques, la vanité et les biens du monde, les promesses mêmes et les priviléges de la piété, sont tout autant de moyens dont il se sert pour séduire les âmes. D'un autre côté, il est à observer que la Bible fournit à notre Sauveur toutes ses réponses, parce qu'en effet il n'est pas une tentation de Satan contre laquelle l'Ecriture ne nous pourvoie de préservatifs infaillibles. Ce qui, d'ailleurs, est, dans tous les cas, le plus simple et le plus sûr quand nous sommes tentés d'une manière subite et inattendue, soit du dehors, soit par nos propres passions, c'est de dire comme Jésus et avec lui : « Arrière de moi, Satan! »

2711. Après ces réflexions générales, il en est une surtout qu'il importe de présenter. On ne saurait mettre en doute que cette tentation n'ait eu lieu par une permission expresse du Seigneur, et même qu'il n'ait été donné à Satan de déployer en cette conjoncture extraordinaire un pouvoir qu'il n'a pas habituellement. Or le but que Dieu s'est proposé ne me paraît pas trop difficile à découvrir. Il suffit pour cela de bien comprendre l'œuvre que Jésus-Christ est venu faire ici-bas. Il a voulu réhabiliter en sa personne les élus de Dieu, tous renfermés dans le péché d'Adam. Tombés en Adam et par lui, ils devaient être relevés en Christ et par Christ. C'est pourquoi notre divin Sauveur a voulu être tenté comme l'avait été le premier homme, et, par son triomphe, commencer la réparation du mal qui fut la suite de la chute de nos premiers parents. En sorte que cette tentation mystérieuse se rattache, par un nœud très simple, à tout le mystère de notre rédemption.

2712. Remarquons enfin que le combat de notre Seigneur contre l'auteur de la révolte du genre humain, combat qui se termine ici par la retraite de l'ennemi et par la glorieuse intervention des anges, recommença plus tard sous diverses formes, jusqu'à ce qu'enfin, selon les termes de la prophétie [102], le serpent eût écrasé le talon de Celui qui est, par excellence, la postérité de la femme ; car Luc nous dit que le diable se retira de Jésus « pour un temps. »

(**Jean 1** : 15; 16; 17; 18.)

## CCVIII. — Suite du ministère de Jean. Premiers disciples de Jésus.

2713. (Jean 1 : 15.) Le ministère de Jean-Baptiste ne se termina pas au baptême de Jésus-Christ; c'est ce que nous voyons par le premier chapitre de saint Jean, à l'endroit où nous l'avons quitté [2699]. Le Précurseur continua de rendre témoignage au Messie, en déclarant qu'après lui-même venait quelqu'un qui était de beaucoup son supérieur, car il existait avant lui. Or cela ne peut s'entendre que de la divinité de Jésus-Christ, puisque le fils de Marie était né six mois après celui d'Elisabeth.

2714. Quant aux paroles qui suivent (16-18), on ne sait pas au juste si elles sont une réflexion de l'évangéliste, ou une citation des discours du Précurseur. Dans tous les cas, elles viennent du Saint-Esprit et elles nous déclarent qu'en Jésus habitait la plénitude, ou l'entière perfection de Dieu (16); que de cette plénitude ou de cette source inépuisable découlent toute lumière et toute foi; que, pour mettre le comble à ses grâces, le Seigneur se plaît à les multiplier dans la mesure même des grâces précédemment accordées, produisant en nous le bien et le récompensant par de nouvelles faveurs; que ceux enfin qu'il enrichit de la sorte sont les pécheurs qui, nés de Dieu (1 : 12, 13), peuvent unir leur voix à celle de Jean et des apôtres en disant : « Nous, nous tous, nous avons reçu, et tout reçu de lui. »

2715. (17.) Jusqu'à Jésus-Christ c'est la loi qui régnait, la loi donnée à Israël par le canal de Moïse. Déjà, sous cette économie, il y y avait accès à la grâce de Dieu par la promesse, ou autrement par Jésus-Christ [1107, 1130, 2231, 2272]; toutefois, la grâce proprement n'a régné que depuis la venue de notre Sauveur, en qui se sont réalisés les types et les promesses de l'ancienne alliance. Ici le mot *vérité* est l'équivalent de *réalité*.

2716. (18.) Ce n'est pas à dire que le Fils de Dieu, avant de venir ici-bas pour le salut de son peuple, ne se fût jamais manifesté. Car, dans un grand nombre de cas, l'Eternel se montra jadis aux siens. Souvenez-vous entre autres d'Abraham, de Jacob, de Moïse, de Josué, de Gédéon, de Salomon, d'Esaïe, d'Ezéchiel. Or l'Ecriture nous déclare, ici comme ailleurs, que, depuis la chute de l'homme, c'est constamment dans la personne du Fils et par son intermédiaire que Dieu s'est révélé au monde; en sorte que jamais personne ne connut Dieu que par le Fils.

(**Jean 1** : 19-21; 22-28.)

**2717.** (19-21.) Dès le commencement du ministère de Jean, plusieurs, avons-nous vu [2680], s'étaient imaginé que peut-être il était le Christ. Malgré ses dénégations, le bruit en parvint à Jérusalem, d'où les Juifs (nom que saint Jean donne en particulier aux habitants de cette ville et de la Judée proprement dite), envoyèrent au fils de Zacharie des sacrificateurs et des Lévites, tous gens de sa tribu, afin de l'interroger sur ce sujet. Quand il eut encore protesté qu'il n'était point le Christ, ils lui demandèrent si donc il était Elie. Comme ce prophète avait été enlevé au ciel sans passer par la mort et qu'il y avait une prédiction qui annonçait son retour, ou quelque chose de pareil (Mal. **4** : 5, 6), on conçoit très bien leur idée. A cette nouvelle question, Jean répondit encore négativement, quoiqu'il fût réellement le prophète que Malachie avait annoncé sous le nom d'Elie. Mais il jugea convenable de se placer à leur point de vue, ne voulant pas attirer sur sa personne une attention qui devait se porter tout entière sur Jésus. — A cette question enfin : « Es-tu le prophète? » il répondit non, parce qu'en effet il n'était pas le grand prophète annoncé par Moïse, prophète qui n'était autre que le Messie lui-même, quoique les interlocuteurs de Jean parussent l'entendre autrement (Deut. **18** : 18, 19).

**2718.** (22-28.) Qui es-tu donc? lui dirent ces sacrificateurs et ces scribes, qui d'ailleurs appartenaient à la secte des pharisiens et dont plusieurs peut-être gardaient un amer souvenir de l'apostrophe sévère que Jean avait adressée à quelques-uns d'entre eux [2674]; qui es-tu? « Je suis une voix, dit Jean, une simple voix, comme l'a dit Esaïe (**40** : 3) et je n'ai pas d'autre charge que de préparer les chemins du Seigneur. — Pourquoi donc baptises-tu, et te fais-tu des disciples, à la manière de nos docteurs? — Il est vrai que je baptise d'eau comme vous le faites vous-mêmes (car ce n'était point un nouvel usage chez les Juifs); mais ce n'est pas pour moi que je fais des disciples, c'est pour un homme qui est maintenant au milieu de vous et que vous ne connaissez pas encore. Cet homme, répète Jean, est tellement au-dessus de moi, que je ne suis pas digne d'être le dernier de ses esclaves. » — Voilà ce qui se passait sur la rive gauche du Jourdain, où Jean prêchait et baptisait. Quant à vous, mes lecteurs, que vous soyez destinés à baptiser des pécheurs et à leur prêcher l'Evangile, ou simplement à répandre votre foi tout autour de vous, devoir de chaque chrétien, dites-vous bien, que vous non plus, vous ne devez pas aspirer à vous faire des disciples : tout votre désir doit

être d'amener des âmes à Jésus-Christ, comme le faisait Jean-Baptiste, et vous allez voir que ses appels ne demeurèrent pas stériles.

2719. (29-34.) Le lendemain de ce même jour, Jésus revenant du désert où il avait remporté sa première victoire contre Satan, parut au milieu de la multitude qui écoutait Jean, et celui-ci, portant ses regards sur le Seigneur, que rien ne distinguait au dehors (Esaïe 53:2), prononça cette belle parole : « Voici l'Agneau de Dieu qui se charge du péché du monde » ou « qui ôte le péché du monde. » Par là quatre grandes vérités étaient à la fois proclamées : que Jésus serait immolé comme l'agneau du sacrifice, qu'il le serait de la part de Dieu, qu'il expierait ainsi les péchés, enfin que cette expiation n'était pas destinée aux fils d'Abraham seulement, mais aux croyants de toute la terre. Puis Jean se hâte de déclarer que ce saint Agneau était précisément celui dont il avait annoncé l'infinie grandeur. Par la volonté de Dieu, ces deux hommes s'étaient trouvés en des circonstances qui les avaient tenus éloignés l'un de l'autre. Jusqu'à ce moment aussi le fils de Zacharie n'avait connu qu'imparfaitement le mystère du Messie ; mais depuis qu'il avait vu le Saint-Esprit descendre et demeurer sur Jésus, il savait, par le témoignage même du Père, que c'est lui qui baptise d'Esprit-Saint, parce qu'il est le Fils de Dieu. Et nous, ne conclurons-nous pas de tout cela, que ce qui caractérise essentiellement la nouvelle économie, c'est le baptême de l'Esprit, ce baptême que Jésus-Christ nous a mérité par sa mort. La question : « Es-tu chrétien, » revient donc à celle-ci : « As-tu été baptisé du Saint-Esprit ? »

2720. (35-39.) Le jour suivant, Jean ayant auprès de lui deux de ses disciples, leur montra de nouveau Jésus, dont il semble qu'on craignît de s'approcher. Pour les déterminer à le faire, il leur redit une parole qui doit aussi toucher notre cœur : « Voici l'Agneau de Dieu, » le doux, le bon, l'aimable sauveur de nos âmes. Alors les deux disciples cédant à l'appel de la grâce divine, s'attachèrent aux pas de Jésus. Mais le Seigneur entend que nous nous rendions compte de nos pensées, de nos motifs, de nos intentions, car il ne sait pas gré de ce qu'on fait par entraînement et sans conviction. Il leur dit donc : « Que voulez-vous ? » — Demeurer avec toi et ouïr ce que tu as à nous dire ; te prendre pour notre docteur et nous pénétrer de tes leçons : c'est à cela que revient leur courte réponse. Ce n'était pas encore toute la foi qui devait les animer plus tard, mais c'était pourtant déjà quelques gouttes du baptême de l'Esprit. La grâce du Seigneur agissait dans leur âme. Ils allèrent et virent ; et ces heureux disciples

(**Jean 1** : 40-42; 43-52.)

demeurèrent avec Jésus jusqu'à la fin du jour. Or il était la dixième heure ou quatre heures du soir, attendu que les Juifs comptaient leurs heures depuis le lever du soleil, six avant midi et six après.

2721. (40-42.) De ces deux disciples de Jean-Baptiste, l'un s'appelait André; l'autre, on le pense, était Jean l'évangéliste, qui, par modestie, ne se serait pas nommé. André ayant rencontré son frère Simon, ou Siméon, bientôt surnommé Pierre, lui dit : « Nous avons trouvé le Messie, » et l'évangéliste explique à cette occasion que ce mot hébreu se rend en grec par le *Christ;* comme celui-ci, dans notre langue, se traduirait par l'*Oint*. Les entretiens d'André avec Jésus avaient donc porté leur fruit; car non-seulement il le reconnaît pour le Messie promis, mais encore il s'empresse d'amener des âmes à sa connaissance et, avant tout, ses propres parents. Simon, qui devait être lui-même entre les mains du Seigneur un instrument de bénédiction pour tant de pécheurs, Simon alla sans se faire presser, et, sitôt que Jésus le vit, il lui annonça qu'outre son nom de Simon, il porterait plus tard celui de Céphas, mot hébreu qui signifie un *roc*, ou une *pierre*, prophétisant ainsi la fermeté de sa foi, sans parler d'une autre raison que nous verrons en son temps.

2722. (43-52.) Le lendemain, Jésus voulut s'en aller en Galilée, province où il avait été élevé et qu'il destinait à devenir, avec Jérusalem, le siége principal de son œuvre. La Galilée formait la partie septentrionale de l'ancien pays de Canaan. Là vivaient jadis les tribus d'Issachar, de Zabulon, de Nephthali, d'Ascer et une partie de celle de Manassé [1165] ; là se trouvaient quelques lieux célèbres dans l'histoire du peuple juif, tels que la plaine de Jisréel et le mont Carmel; mais pour les rendre vraiment illustres, il a fallu l'habitation prolongée que Jésus y a faite durant les jours de sa chair. C'est depuis ce moment que le lac de Génézareth, que les cités et les villages baignés par ses eaux, que le Thabor, et des bourgades telles que Nazareth, Cana et Naïn, ont acquis une célébrité qui durera aussi longtemps que le monde. Nazareth était à cinq ou six lieues à l'ouest du lac. — Le lac lui-même voyait fleurir sur sa rive occidentale, Capernaüm, Betsaïda, Magdala, Tibériade, tandis que sur la rive orientale, à peu près en face de Capernaüm se trouvait Chorazin, et plus au midi, en face de Tibériade, Dalmanutha, sans parler d'une autre Betsaïda qui était au nord-est du lac, et qu'on distinguait de la précédente par le surnom de Juliade.

2723. André et Pierre étaient de la première Betsaïda, sur les rives

(**Jean 1** : 43-52.)

du lac de Génésareth, appelé aussi le lac de Tibériade, ou la mer de Galilée. Là vivait un Juif, nommé Philippe, qu'il plut au Seigneur d'appeler à lui, comme il avait appelé Pierre par le moyen d'André, et André par le moyen de Jean-Baptiste. Philippe ayant suivi Jésus, rencontra, peu après, un fils d'Abraham dont le nom était Nathanaël. Celui-ci n'avait point encore vu le Seigneur, mais il était, avec bien d'autres, dans l'attente du Messie. « Nous l'avons trouvé, » lui dit Philippe, « celui que Moïse et les prophètes ont annoncé et si bien décrit dans la loi, » c'est-à-dire dans les Ecritures; « c'est Jésus, le fils de Joseph, de Nazareth. » Mais Nazareth était une bourgade sans importance, qui même avait un pauvre renom, et Nathanaël ne pouvait croire qu'un personnage tel que le Messie pût venir de là. Si du moins ceux qui ont le tort de se laisser prévenir contre les personnes et contre les choses, avaient tous la bonne foi de l'honnête Nathanaël! Quand Philippe lui eut dit : « Viens et vois, » il ne s'entêta pas dans ses préjugés et il se rendit auprès de Jésus.

2724. En le voyant approcher, le Seigneur dit de cet homme : « Voici vraiment un Israélite en qui il n'y a point de fraude; » c'est-à-dire un homme droit, qui a pu pécher par ignorance, mais qui est disposé à se laisser éclairer et dont le cœur est sincèrement à Dieu (Ps. **32** : 2). « Et d'où me connais-tu? lui dit l'Israélite! — Avant que Philippe t'appelât, quand tu étais sous le figuier je te voyais. » Qu'est-ce que Nathanaël faisait sous ce figuier, ou plutôt à quoi son esprit et son cœur s'y occupaient-ils? C'est ce que nous ignorons; mais il est positif que Dieu seul pouvait savoir, non pas que Nathanaël avait été assis sous son figuier, mais qu'il s'y était passé des choses, qu'après Dieu, Nathanaël seul devait connaître. Peut-être que dans sa prière matinale, il avait demandé à Dieu de lui manifester si ce Jésus dont on commençait à parler était le Christ. Or voilà sa prière exaucée au delà même de ce qu'il pouvait espérer. Il vient d'entendre la voix de celui qui connaît toutes choses; aussi n'hésite-t-il pas à le saluer, non pas seulement comme un simple docteur, mais comme le Fils de Dieu, le roi d'Israël, selon les paroles des prophètes (Ps. **2** : 2, 6, 7).

2725. Quelque vive que fût la lumière dont il plut au Seigneur d'éclairer ce nouveau disciple, il lui annonça qu'il verrait plus tard bien d'autres choses et qu'il comprendrait toujours mieux le sens des paroles mêmes qu'il venait de prononcer. C'est quand le Seigneur paraîtra dans la gloire des cieux, dans cette gloire qu'il fut donné à

(**Jean 2** : 1, 2; 3.)

Jacob d'entrevoir lorsqu'il dormait à Béthel, c'est alors surtout que Nathanaël et tous les fidèles l'adoreront comme le Fils de Dieu, le roi d'Israël; et toutefois, même à cette glorieuse époque, il paraîtra revêtu de son humanité. C'est ce que notre Seigneur a voulu dire, en se donnant ici le titre de *Fils de l'homme*. Il constate par là son abaissement volontaire et son entière incarnation, déclarant du même coup que c'est dans l'intérêt de l'homme déchu, qu'il doit, en sa qualité de Fils de l'homme, entrer un jour dans la gloire. Heureux les André, les Jean, les Simon, les Philippe, les Nathanaël! Ils ne furent pas tous appelés au salut de la même manière, mais tous ils écoutèrent les appels de la grâce, et ils verront la gloire du Seigneur au grand jour de sa venue!

## CCIX. — Les noces de Cana.

2726. (Jean **2** : 1, 2.) Entre Betsaïda, la ville des disciples, et Nazareth, celle du Seigneur, se trouvait un bourg nommé Cana. Ce fut là que Jésus se rendit le troisième jour, ou deux jours après la vocation de Nathanaël. On y célébrait une noce chez des parents, ou tout au moins chez des amis de Marie. Notre Seigneur y avait été invité avec ses disciples et il savait qu'il y trouverait sa mère. Quant à Joseph, comme il n'en est plus fait aucune mention depuis que Jésus entra dans son ministère, on pense généralement, comme je l'ai dit ailleurs [2669], qu'il avait été recueilli vers ses pères.

2727. (3.) Il est des peintres qui ont voulu représenter les noces de Cana et qui l'ont fait d'une manière bien absurde, pour ne pas dire impie. Leur pinceau, prodigue d'or, de draperies et de colonnades, a créé une fête, telle qu'on en voit quelquefois dans les palais des riches et des puissants de ce monde! Mais, non; Jésus, pauvre comme sa mère et ses frères, n'avait pas de relations parmi les heureux du siècle; et, bien que la société des noces de Cana fût, à ce qu'il paraît, très nombreuse et que, selon la coutume, la fête ait duré plusieurs jours, si la famille des époux avait été dans l'opulence, le vin ne serait pas venu à manquer.

2728. On se demande comment il entra dans l'esprit de Marie que Jésus suppléerait à la pauvreté de leurs hôtes, car il n'avait fait encore aucun miracle. Mais les explications les plus simples sont généralement les meilleures. Peut-être qu'en voyant arriver Jésus avec un plus grand nombre de disciples qu'on n'en attendait, Marie lui

(**Jean 2** : 4; 5-8; 9, 10.)

exprima la crainte que la compagnie ne fût trop considérable pour leurs hôtes; à quoi Jésus aurait répondu qu'il se chargeait d'y pourvoir. Ce serait en conséquence de cela que Marie, attentive à ce qui se passait et voyant les provisions s'épuiser, s'approcha du Seigneur et lui dit : « Ils n'ont plus de vin, » ce qui était jusqu'à un certain point lui dicter ce qu'il avait à faire, ou du moins lui en fixer l'*heure*, ou le moment.

2729. (4.) Ceci, à son tour, explique l'apparence de dureté que présente la réponse de Jésus. Il lui importait de bien établir que les relations qui existaient entre lui, le Christ, et Marie, la femme de laquelle il est issu selon la promesse [103], étaient des relations dont elle ne pouvait s'autoriser pour le diriger dans son ministère. C'est parce qu'il est le Fils de Dieu qu'il a pu changer l'eau en vin, et non pas parce qu'il est le fils de Marie. Il le lui avait donné à entendre vingt ans auparavant [2667], mais il fallait le lui rappeler à l'instant où il allait opérer un miracle et faire ainsi les œuvres de son Père. Il fallait aussi rendre inexcusable l'erreur qui fait de Marie une puissante médiatrice, aux prières de laquelle Jésus-Christ n'a rien à refuser : c'est, comme nos lecteurs le savent, une des principales superstitions de l'Eglise romaine.

2730. (5-8.) Marie comprit la pensée du Seigneur et, donnant l'exemple de la soumission, elle invita ceux qui servaient la table à faire exactement tout ce qui leur serait dit par Jésus, quand son heure serait venue, c'est-à-dire quand il le jugerait à propos. Lors donc qu'il fut bien démontré qu'il n'y avait plus de vin, le Seigneur ordonna de remplir d'eau six vases de pierre d'une assez grande contenance ; après quoi, il y fit plonger la coupe qui devait circuler entre les convives, et on la porta à celui des parents ou des amis qui, selon l'usage, avait été institué chef de la table, et non pas maître d'hôtel, comme disent nos traductions ordinaires.

2731. (9, 10.) Tout cela s'était passé au milieu du bruit et du mouvement inévitables en des réunions de ce genre, même les plus modestes ; en sorte que le chef de la table ne s'était aperçu de rien. Aussi lorsqu'il eut goûté du vin qu'on lui apporta, il ne put retenir l'expression de son étonnement sur la qualité, si différente de celle du précédent. La coutume des Juifs, beaucoup plus favorable à la sobriété que la nôtre, était d'offrir le meilleur vin au commencement du repas, lorsqu'il y avait toutefois plus d'une sorte de vin à offrir. Si le Seigneur en agit autrement, c'est, on le conçoit, parce qu'il fallait

que ce nouveau vin fût très différent du premier, pour que le miracle en fût d'autant plus sensible; c'est d'ailleurs parce que des mains de Dieu il ne peut rien sortir que de bon.

2732. Il est à remarquer que les termes généraux dont se sert le chef de la table, expriment une coutume, plutôt que l'état des convives au milieu desquels se trouvait Jésus. Qui oserait jamais penser que notre Seigneur eût voulu favoriser l'intempérance? Comment croire même qu'il se fût rendu à cette fête, s'il n'avait connu la maison, comme une maison où régnaient la piété et l'attente du Messie? Chez les Juifs, au surplus, les fêtes nuptiales et en général les repas de famille étaient accompagnés de sacrifices d'actions de grâce, ce qui leur imprimait le caractère d'une solennité religieuse. On ne saurait donc les assimiler entièrement à ce qui se passe de nos jours dans ces mêmes circonstances, et encore moins aux fêtes mondaines qui ont le plaisir seul pour objet. C'est pourquoi il serait faux de prétendre, comme quelques-uns n'ont pas eu honte de le faire, qu'en allant aux noces de Cana, notre Seigneur ait légitimé toute espèce de festins et de réunions d'amusement.

2733. D'un autre côté, l'on ne saurait méconnaître l'intention qu'il a eue de condamner par avance les exagérations qui se sont accréditées sous son nom. Il est une austérité chrétienne dont nous ne pouvons trop nous pénétrer; mais il y a des austérités superstitieuses et conventionnelles qui ne sont point dans l'esprit de l'Evangile. Par exemple, nous verrons plus tard que le chrétien peut avoir de bonnes raisons pour demeurer dans le célibat, mais le christianisme n'en fait une obligation à personne, et surtout il ne présente pas le mariage comme une condition voisine de la souillure et qui n'est sanctifiée qu'à grand'peine. De même le chrétien peut avoir de bonnes raisons pour rechercher la solitude et pour s'abstenir entièrement de l'usage du vin; mais le christianisme ne présente pas comme un péché, toute réunion sociale ni l'usage modéré « du fruit de la vigne. » C'est ce que nous atteste la présence du Seigneur aux noces de Cana; mais elle nous dit aussi que, soit que nous mangions, soit que nous buvions, il faut qu'il soit avec nous. Quant au mariage en particulier, il n'y a d'union sainte que celle qui s'est faite sous son regard et qui a reçu sa bénédiction.

2734. (11.) Relativement au miracle que fit Jésus, il faut le considérer en lui-même, puis dans sa signification, enfin dans ses résultats. En lui-même, c'est l'exercice de la puissance créatrice de l'Eternel,

rien de moins. L'eau changée en vin, c'est le vin substitué à l'eau; c'est l'eau anéantie et le vin créé. Or, qui est-ce qui peut créer ce qui n'existait pas, et anéantir ce qui existait? Personne que Dieu. Créer du vin n'est pas plus difficile après tout que créer la vigne. Celui qui a fait l'un peut faire l'autre; mais bien certainement, il n'y a que lui qui le puisse.

2735. Plusieurs mots, dans l'original, servent à désigner ces œuvres extraordinaires du Christ, lequel est la Parole créatrice [2696] : ceux de *prodiges* ou de *merveilles*, d'*actes de puissance* et de *signes*. C'est le dernier de ces mots que saint Jean emploie ici et ailleurs. D'habitude nous les renfermons tous dans le terme générique de *miracles*, mot qui veut dire simplement une chose étonnante. Pour ne parler que de celui qui se fit à Cana et qui fut le premier miracle de notre Seigneur, il est dit que ce fut ainsi qu'il « manifesta sa gloire. » *Sa* gloire, remarquez-le bien, et non pas la gloire de Dieu, comme le Saint-Esprit l'aurait dit sans aucun doute, si Jésus n'avait pas été réellement le Christ, le Fils de Dieu, Emmanuel, Dieu avec nous.

2736. Sa gloire! c'est-à-dire sa puissance, sa bienveillance, sa divinité, que dérobait aux yeux l'extérieur humble et simple sous lequel il se voilait, mais qui devait se « manifester » aux siens. Or, si le Seigneur a eu et n'a pu avoir en vue que sa gloire, il est clair que nous devons, nous aussi, le glorifier en toutes choses. Il s'agit de montrer ouvertement que nous connaissons sa puissance et son amour; que nous le tenons pour notre Sauveur et notre Dieu.

2737. Mais puisque le miracle de notre Seigneur est appelé un *signe*, nous avons à nous demander ce que *signifiait* donc ce changement de l'eau en vin? Sans doute qu'il fut le signe de la présence de Dieu parmi les hommes, ainsi que nous venons de le dire; mais il était destiné à figurer en outre l'œuvre essentielle que Jésus est venu faire ici-bas. Ce n'est pas pour étaler aux yeux sa puissance, car la majesté divine éclate suffisamment dans les œuvres de la création; mais c'est pour sauver nos âmes, que le Christ a paru sur la terre. Or, ce salut, quant à ce qui s'effectue au dedans de nous, consiste principalement dans le changement du cœur. Il faut que le cœur mauvais et inutile devienne bon et propre à la gloire de Dieu. Ce vin donc que le Seigneur créa dans les vases « servant à la purification des Juifs, » est l'image du renouvellement intérieur que doivent subir les siens et que lui seul peut opérer. C'est même, par rapport à nous, le commencement de l'œuvre du salut, et voilà pourquoi ceci est le premier mi-

racle qu'ait fait notre Sauveur. Oh! que ceux dont les pensées et les affections se laissent absorber par le monde, comme une eau qui va se perdre dans l'Océan ou dans les profondeurs de la terre, demandent donc avec instances à Celui qui baptise d'Esprit-Saint, la purification et le renouvellement de leur cœur! Qu'ils le demandent avec une pleine confiance, en se souvenant du miracle de Cana.

2738. Ce miracle eut pour effet moral d'affermir la foi des disciples et de l'éclairer. Ils croyaient déjà; mais la foi est susceptible de degrés et nous le verrons bien dans la suite. Nous verrons aussi que ce ne sont pas les miracles qui donnent la foi; mais ces manifestations de la puissance et de l'amour de Dieu ne laissent pas d'affermir l'âme du fidèle.

—

## DEPUIS LA PREMIÈRE PAQUE DE NOTRE SEIGNEUR JUSQU'A LA SECONDE.

### CCX. — Première Pâque; purification du temple; première prophétie; la foi.

2739. (Jean 2 : 12.) Quand les jours consacrés aux solennités de la noce furent achevés, Jésus se rendit à Capernaüm accompagné de sa mère, de ses frères et de ses disciples. — Capernaüm, mot qui signifie *village de consolation* ou *beau village*, était situé à l'extrémité nord-ouest du lac de Génézareth, à une lieue de l'embouchure du Jourdain et au nord d'une plaine charmante, extrêmement fertile. Sa position sur la grande route qui unissait Damas à la Phénicie, en faisait une place importante; c'est pourquoi les Romains y avaient des douanes et une garnison. Autant Nazareth était un bourg isolé et obscur, autant Capernaüm se faisait remarquer par le nombre, l'activité et la variété de ses habitants; aussi fut-il le lieu que notre Seigneur choisit comme son principal séjour.

2740. (13.) Cette première fois, il n'y demeura que peu de temps, parce que la Pâque des Juifs était proche, et que, pour « accomplir toute justice » [2647, 2685] il voulait aussi monter à Jérusalem. On disait, monter à Jérusalem, par la raison que cette illustre et sainte cité était située dans les montagnes. Il y avait de 25 à 30 lieues entre Capernaüm et Jérusalem. Jésus franchit cette distance, marchant avec ses disciples d'étape en étape, selon la coutume des nombreuses cara-

vanes qui, à cette époque de l'année, suivaient le même chemin. On était au printemps [681].

2741. (14-17.) Le premier acte par lequel le Seigneur manifesta sa présence dans *son* temple (Malachie 3 : 1), fut un acte d'autorité et de purification. Il y avait là, non pas dans le temple proprement dit, mais, selon l'original, dans le lieu sacré, c'est-à-dire dans les cours et sous les portiques dépendant du temple [1781], des gens qui vendaient des bœufs, des brebis et des colombes, d'autres qui faisaient métier de changer les monnaies. Ces industries assurément avaient leur utilité; car les Israélites qui venaient des pays lointains où ils étaient établis depuis la dispersion, ne pouvaient amener avec eux les victimes qu'ils se proposaient d'offrir sur l'autel du Seigneur; puis, comme ils apportaient des monnaies étrangères, il était bon qu'ils pussent les changer contre celles du pays. Mais, poussés par l'esprit du gain, ces marchands et ces changeurs abusaient de la nécessité de leurs frères pour réaliser des profits exorbitants, et d'ailleurs était-ce bien dans les avenues et dans les bâtiments du lieu saint qu'on devait établir un tel marché?

2742. On ne sait depuis quand régnait cet abus scandaleux, abus qui n'est que trop imité par l'Eglise romaine dans les localités où certaines dévotions attirent de nombreux pèlerins; mais on comprend qu'il dut exciter la sainte colère de notre Sauveur. S'armant d'un fouet de cordelettes, symbole de la justice divine, il en menaça tous ces profanateurs; et ceux-ci, vaincus par la majesté de sa personne et de ses paroles, s'enfuirent devant lui, comme s'évanouiront au jour du jugement, ceux qui auront porté le mépris de la religion jusqu'à en faire métier et marchandise. Les vendeurs de colombes hésitaient à se retirer, apparemment parce qu'ils vendaient surtout aux pauvres (Lév. 5 : 7) et qu'ils se croyaient par là moins coupables; mais le Seigneur leur dit, à eux également : « Emportez ces choses d'ici, et ne faites pas de la maison de mon Père une maison de marché. »

2743. Par là s'accomplit, nous dit l'évangéliste (17) un mot du psaume 69 : 9; mais ce qu'il y a de plus remarquable, c'est que les disciples en firent d'eux-mêmes l'application à leur Maître, et nous verrons qu'ils furent loin d'avoir toujours ce même discernement.

2744. (18.) L'acte de notre Seigneur était si convenable, il l'avait exécuté d'une manière si rapide et si solennelle, que personne n'eut l'idée de s'y opposer. Cependant les Juifs, c'est-à-dire les habitants de Jérusalem qui étaient là, ne purent s'empêcher de lui demander

(**Jean 2** : 19-22; 23-25.)

de quel droit il corrigeait des abus sur lesquels leurs chefs fermaient les yeux. Ils sentaient que Jésus venait d'agir en prophète, comme aurait pu le faire un Moïse, un Elie, un Esdras, un Néhémie, et ils lui dirent : « Quel signe nous montres-tu pour justifier l'autorité que tu t'arroges? » Ce fut alors que notre Seigneur prononça la parole prophétique qui est comme le pivot sur lequel tourne toute son œuvre.

2745. (19-22.) « Renversez ce temple, leur dit-il, et en trois jours je le relèverai. » Semblable à beaucoup d'autres prophéties, celle-ci fut exprimée en termes, non pas équivoques, mais figurés, et par cela même obscurs, afin que l'accomplissement seul pût en donner la clef. « Si vous étiez assez impies pour abattre ce temple, comme vous l'êtes pour y souffrir de telles profanations, j'aurais la puissance de le relever en trois jours; » toutefois c'était du temple de son corps que Jésus parlait. Il voulait dire que les Juifs, ces mêmes Juifs de Jérusalem, le feraient mourir, mais qu'il reprendrait la vie le troisième jour; et si notre Seigneur appelle son corps un temple, c'est qu'en effet toute « la plénitude de la divinité habite en lui corporellement » (Coloss. **2** : 9), sans compter que le temple lui-même de Jérusalem était un type de sa personne [1790].

2746. Les Juifs crurent ou feignirent de croire que Jésus parlait du temple qu'Hérode avait commencé à restaurer quarante-six ans auparavant [2590]; quant aux disciples, saint Jean avoue naïvement qu'ils n'en eurent pas l'intelligence avant que leur Maître se fût relevé d'entre les morts. Ils avaient très bien saisi le rapport qui existait entre la prophétie du Ps. **69** et l'expulsion des profanateurs du saint lieu; mais quand Jésus annonce sa résurrection, ils n'y entendent rien! nouvelle preuve, après tant d'autres, que l'interprétation des prophéties non accomplies est d'une extrême difficulté.

2747. (23-25.) Pendant que Jésus était à la fête, il fit plusieurs miracles qui attirèrent une foule de gens auprès de lui. Il est dit que tous ces gens-là croyaient en son nom, d'où l'on pourrait conclure qu'ils étaient tous nés de Dieu, ou vraiment convertis (**1** : 12-14); mais il est dit aussi que Jésus ne se fiait point à eux, parce qu'il lisait dans leur cœur beaucoup d'incrédulité sous les apparences de la foi. D'où il suit que le mot *croire,* signifie ici *faire profession de croire,* se ranger parmi ceux qui croient et aller avec eux. Il y a donc deux sortes de foi : la foi aux miracles, comme on s'exprime [2738], ou, si l'on veut, la foi historique et de l'esprit, puis la foi du cœur. Appeler Jésus, son Seigneur et son Sauveur, c'est une espèce de foi; mais

cette foi peut n'être qu'extérieure et toute de paroles. La vraie foi est un sentiment et non pas une idée, un sentiment saint et profond et non pas une simple admiration de la puissance et de l'amour de Dieu; or Dieu regarde au cœur.

2748. C'est ce que le Saint-Esprit déclare ici par la bouche de Jean, au sujet de Jésus-Christ, après avoir fait cette même déclaration, dans l'Ancien Testament, quant à l'Eternel (1 Sam. 16 : 7). Nulle part il n'est dit rien de pareil relativement à Moïse ou à quelque autre prophète, parce qu'en effet il n'y a que celui qui a créé l'homme, qui puisse savoir toujours et à coup sûr ce qui se cache dans les profondeurs de la pensée. Voici donc un de ces nombreux passages de nos saints livres où la divinité du Sauveur nous est enseignée d'une manière d'autant plus forte qu'elle est indirecte. C'est comme lorsqu'il nous est dit que, par le changement de l'eau en vin, il manifesta *sa* propre gloire (11).

## CCXI. — Jésus et Nicodème.

2749. (Jean 3 : 1.) Voici maintenant un homme qui n'était, ni du petit nombre de ceux qui commençaient à croire du cœur en Jésus, ni de cette foule qui, poussée par une foi stérile, le suivait machinalement. Il était simplement attiré; mais la grâce de Dieu le destinait à marcher, dans la suite, parmi les plus résolus. Il s'appelait Nicodème, appartenait à la secte des pharisiens, et, docteur en Israël, il y exerçait une magistrature.

2750. (2). A ce moment du ministère de notre Seignenr, les pharisiens et les principaux du peuple avaient déjà pressenti que, s'il était le Christ, ils n'avaient pas à espérer de son avénement ce que leurs passions s'en étaient promis. Aussi fallait-il quelque courage chez ceux qui occupaient une position éminente, pour se joindre aux disciples. Ce courage, Nicodème ne le possédait pas encore, car il alla de nuit vers Jésus. Cependant il ne contestait point la réalité de ses miracles; il en concluait sa mission divine; il venait à lui comme à un docteur inspiré d'en haut, et peut-être pensait-il qu'il n'en fallait pas davantage.

2751. (3.) Mais combien Nicodème se trompait! Il ne comprenait rien encore aux choses du royaume de Dieu, parce qu'il n'avait pas subi la grande transformation qui est auparavant nécessaire (1 : 13). C'est ce que notre Seigneur voulut lui faire sentir dès les premiers

mots, en lui disant : « Amen, amen, si quelqu'un n'est engendré d'en « haut, il ne peut voir le royaume de Dieu. » Ce mot *amen*, qui est hébreu [1614], et qu'on a traduit par *en vérité*, s'est offert au chapitre 1, verset 52, sans que nous l'ayons observé. En cet endroit-là, comme ici, il s'agissait d'une grande parole sur laquelle le Seigneur voulait attirer fortement l'attention, et nous verrons qu'il en est toujours de même partout où cette formule se rencontre.

2752. Qu'est-ce donc que Jésus déclare avec tant de solennité au pharisien Nicodème? Lui parlant du royaume de Dieu qu'avait prêché Jean-Baptiste (Matth. 3 : 2), il lui dit qu'il y a une nouvelle naissance ; que toute âme doit l'expérimenter avant de pouvoir discerner les choses qui appartiennent à ce royaume, et en conséquence avant d'y être introduite ; il lui dit enfin que cette nouvelle naissance est le fruit d'une génération divine, ou une sorte de création qui vient d'en haut. En effet, c'est du ciel seulement que peut nous venir la lumière qui, éclairant les choses du ciel, est destinée à nous les faire voir, apprécier et accueillir.

2753. (4-6.) Par cela même que Nicodème n'était point né de nouveau, il ne put comprendre ce discours. Il crut ou fit semblant de croire qu'il s'agissait de recommencer, par quelque miracle de la puissance divine, toute une carrière terrestre. Mais Jésus, reprenant la parole avec la même solennité : « Amen, amen, je te dis, si quel- « qu'un n'est engendré d'eau et d'Esprit il ne peut entrer dans le « royaume de Dieu. » L'eau n'est ici qu'une image, comme ailleurs c'était le feu (M. 3 : 11 ; L. 3 : 15-17). Ce « je te dis » a une force qui sûrement n'échappe pas à mes lecteurs, et, bien qu'il y en ait probablement parmi eux qui ne sont pas encore nés de Dieu, peut-être qu'instruits des doctrines de l'Evangile dès leur enfance, ils comprendront la Parole du Seigneur mieux que ne le fit Nicodème.

2754. Il ne s'agit pas ici d'une nouvelle naissance semblable à la première ; mais il s'agit d'être engendré d'eau, symbole de la grâce de Dieu, et d'Esprit, source et dispensateur de cette grâce. Jean avait baptisé d'eau, en signe de repentance ; Jésus baptise du Saint-Esprit, auteur et source de la foi ; or, pour être né de Dieu, il ne suffit pas d'avoir reçu le premier baptême ; tandis que ceux que le Saint-Esprit a baptisés sont réellement de nouvelles créatures. Leurs croyances, leurs sentiments, leurs affections, leurs espérances, leurs craintes, leur genre de vie, tout est devenu nouveau, tout a reçu d'en haut une direction et une empreinte de sainteté.

(**Jean 3** : 6; 7-9; 10, 11; 12.)

2755. (6.) A quoi servirait-il d'ailleurs de rentrer dans le sein de sa mère pour naître une seconde fois? « Ce qui est né de la chair est chair. » L'homme pécheur n'engendre que des pécheurs, le mal ne saurait produire que le mal; mais ce qui est engendré de l'Esprit est esprit. L'Esprit reproduit dans le pécheur la vie spirituelle qui était en Adam avant sa chute. Ainsi, tout homme qui n'est pas né de nouveau ou engendré d'en haut, est charnel; mais celui qui est né de Dieu est spirituel. Quelles grandes doctrines que celles qui sont annoncées en ces termes au pharisien Nicodème! Comme on conçoit bien que le Saint-Esprit nous ait conservé ce sublime entretien!

2756. (7-9.) Nicodème continuant à s'étonner, Jésus compare ce qui se passe dans un homme né de l'Esprit aux effets du vent qui souffle où il veut et dont on entend la voix, sans qu'on sache ni d'où il vient, ni où il va. Rien n'est puissant et libre comme l'action du vent; telle est celle du Saint-Esprit. Il fait ce qu'il veut et comme il le veut; on ressent ses influences à n'en pouvoir douter; mais que cet Esprit sache pénétrer l'esprit de l'homme et s'en rendre maître, tout en lui laissant ses traits propres et sa responsabilité, c'est ce qu'on ne saurait s'expliquer par le raisonnement. Si au lieu de « vent » on dit « l'Esprit, » traduction plus exacte, on ne change pas le sens fondamental, et l'on se trouve en présence du même mystère. Aussi Nicodème répond-il à Jésus : « Comment se peuvent faire ces choses? »

2757. (10, 11.) Sans dire qu'elles soient parfaitement à notre portée, le Seigneur fait pourtant remarquer à son interlocuteur qu'il avait tort de s'étonner, comme s'il se fût agi d'une doctrine entièrement nouvelle. L'Ancien Testament la supposait déjà (Deut. 30 : 6; Ps. 51 : 7, 12; Jér. 31 : 33; Ezéch. 11 : 19; 36 : 26, 27). En tout cas, celui avec lequel parlait Nicodème était parfaitement à croire, car ce qu'il annonçait des mystères de la vie spirituelle, il le connaissait comme on connaît ce qu'on a vu de ses propres yeux. S'il dit *nous*, et non pas *je*, c'est que ses apôtres et tous les vrais chrétiens après eux, n'ont cessé d'ajouter là-dessus, au témoignage de Jésus, celui de leur propre expérience.

2758. (12.) Car, après tout, cette doctrine de la régénération ou de la nouvelle naissance est une doctrine terrestre, relativement à celles dont notre Seigneur allait entretenir Nicodème. Il y a de plus grands mystères. Celui-ci se rattache à des faits où l'humain est mélangé avec le divin; mais en voici qui sont purement célestes et par conséquent d'une nature encore plus profonde.

(**Jean 3** : 13; 14, 15; 16; 17.)

2759. (13.) D'abord, c'est que Jésus, le Fils de l'homme, après être monté au ciel, en est redescendu, sans cesser toutefois d'être dans le ciel; énigme qui s'explique par les apparitions du Seigneur au temps jadis, et par la divinité de sa personne. Manoah, par exemple [1270], le vit bien réellement monter au ciel, et pendant que Jésus, dans son humanité, parlait avec Nicodème, il était tout aussi réellement avec le Père, en sa divinité. Voilà ce qu'il nous donne lui-même comme un mystère, et un mystère plus étonnant que celui du réengendrement par le Saint-Esprit.

2760. (14, 15.) Autre mystère. Ce Fils de l'homme qui habitait tout à la fois la terre en tant qu'homme, et le ciel en tant que Dieu, devait être élevé sur une croix, comme le serpent d'airain le fut au haut d'une perche [967], afin que les pécheurs qui croiraient en lui, ou qui regarderaient vers lui, fussent sauvés de la condamnation qu'ils méritent, et reçussent une éternelle félicité qu'ils ne méritent pas! Qui pourra jamais comprendre un pareil dévouement; qui pourra sonder la source d'où procèdent de telles merveilles?

2761. (16.) Voyez en effet l'idée que le Seigneur nous donne ici de l'amour de Dieu, auteur de ce grand salut. Qui a-t-il aimé? le monde, car toute âme avant d'être convertie est du monde; or le monde est par nature ennemi de Dieu! Qu'a-t-il fait pour ce monde coupable? Il lui a livré, abandonné son propre Fils, pour que les méchants en fissent ce qu'ils voudraient! son Fils, son unique, celui qu'il aime, comme Abraham! Et dans quel but? Afin de retirer de la perdition et d'enrichir de la vie éternelle tout homme qui, simplement, croit, selon ce qu'il avait dit par la bouche d'un prophète : « Voici tous les bouts de la terre, regardez vers moi et soyez sauvés » (Esaïe **45** : 22). Ainsi, quiconque croit en lui (remarquez bien ce mot *quiconque*), quiconque croit en lui, petits et grands, pauvres et riches, jeunes et vieux, ignorants et savants, les pécheurs invétérés aussi bien que les autres; tous sont appelés à la gloire céleste par l'amour incompréhensible de Dieu!

2762. (17). Quand un prince, armé de toute sa puissance, arriverait brusquement dans une de ses provinces révoltées, qui ne penserait qu'il vient pour exercer une juste vengeance sur les rebelles? et que dirions-nous de lui, s'il était démontré qu'il n'est descendu de son trône que pour leur porter des paroles de grâce? Tel a été notre Jésus; il est venu non pour juger le monde, mais pour le sauver; et

(Jean 3 ; 18; 19-21; 22-24; 25, 26.)

encore à présent, s'il nous adresse sa parole, c'est en conséquence du rachat qu'il a fait de nos âmes.

2763. (18.) Ce n'est pas à dire néanmoins que tous indistinctement seront sauvés. Celui qui croit en lui ne sera pas jugé ou pas condamné, ce qui revient au même, puisque des coupables tels que nous ne sauraient paraître en jugement sans y recevoir leur condamnation; mais celui qui ne croit pas est déjà jugé. Né dans le péché et coupable d'une multitude de transgressions, il a été jugé dès le commencement du monde en Adam, et ce qui met à sa condamnation un sceau irrévocable, c'est son incrédulité.

2764. (19.) L'incrédulité, en effet, n'est pas une simple erreur; elle est de plus un vrai crime. Car lorsqu'on repousse la grâce de Dieu qui est en Jésus-Christ, cela vient toujours, ou de ce qu'on ne veut pas avouer ses péchés passés, et c'est en quelque sorte les commettre de nouveau, ou de ce qu'on a des habitudes mauvaises qu'on se refuse à délaisser. C'est ainsi que le pécheur obstiné préfère les ténèbres à la lumière. S'il s'approchait de Christ, il verrait tout le mal que recèle son âme, il devrait le détester et l'abandonner; or c'est ce qu'il ne veut à aucun prix (20). Mais l'homme sincère et droit, tel que Nathanaël [2724], l'homme surtout qui a appris du Seigneur à marcher dans la vérité, celui-là s'approche toujours plus de la lumière, parce que sa vie tout entière est selon Dieu; il pense, parle et agit en la présence du Seigneur et il n'a rien de caché pour lui (21).

## CCXII. — Nouveaux traits de la prédication de Jean-Baptiste.

2765. (Jean 3 : 22-24.) Quelques jours s'étant ainsi passés, pendant lesquels notre Seigneur eut sans doute avec plusieurs personnes des conversations semblables à celle que nous venons d'étudier, il quitta Jérusalem pour séjourner quelque temps, avec ses disciples, dans la contrée méridionale du pays de Canaan, qu'on appelait plus particulièrement la Judée, parce que c'était essentiellement l'ancien territoire de la tribu de Juda [1162]. Le fils de Zacharie se trouvait également dans ces quartiers, mais plus au nord; il continuait à prêcher le royaume de Dieu et à baptiser en signe de repentance et de purification. Les Juifs qui venaient à Jésus et qui se rangeaient au nombre de ses disciples étaient aussi baptisés.

2766. (25, 26.) Ce double baptême devint bientôt un sujet de dis-

cussion entre les disciples de Jean et les Juifs. Ceux-là peut-être estimaient qu'après le baptême de Jean l'on ne devait pas en recevoir un autre; ou bien, qu'avant de recevoir celui de Jésus, il fallait passer par celui de Jean. Quoi qu'il en soit, ils coururent à leur maître, lui racontant que tout le monde se tournait du côté de Jésus, et cherchant à exciter sa jalousie contre un homme qui menaçait de lui ravir ses disciples. Ces gens étaient bien charnels, mais leur conduite ne rend que plus admirable celle de Jean-Baptiste.

2767. (27.) « Un homme, leur dit-il, ne peut rien recevoir, à moins « qu'il ne lui soit donné du ciel. » — Si j'ai eu des disciples, c'est Dieu qui me les a donnés : il peut donc me les reprendre; et si mes disciples vont à Jésus, c'est Dieu qui les lui donne. Il est beau de voir cet entier abandon à la volonté de Dieu, d'entendre ce pieux langage chez un homme qui avait eu tant de succès dans sa prédication et qui en rapporte toute la gloire à l'Eternel!

2768. (28, 29.) Jean avait dit assez nettement qu'il n'était pas le Christ. Pourquoi donc ses disciples s'étonnent-ils qu'on se porte de lui à Jésus; de la voix qui criait : Convertissez-vous, à l'Agneau qui se charge du péché du monde! C'est que la passion oublie ce qu'elle veut; c'est que les disciples de Jean, dont il s'agit ici, avaient déjà fait de son baptême toute leur religion; c'est qu'ils n'éprouvaient pas le besoin d'un Sauveur; c'est que leur âme, en conséquence, ne se sentait nullement pressée de recevoir celui à qui l'épouse appartient. L'épouse, dans le langage même des prophètes [1892], c'est l'Eglise des rachetés; l'époux, c'est Jésus, le Fils de Dieu, l'Eternel des armées [2249]; l'ami de l'époux, c'est Jean. Bien loin donc qu'il s'afflige de ce que les âmes s'approchent du Seigneur, il en ressent au contraire une parfaite joie.

2769. (30.) L'œuvre de Jean n'était d'ailleurs qu'une œuvre temporaire, tandis que celle de Jésus est permanente; l'une devait aller en diminuant, l'autre toujours croissant. Le nombre des disciples de Jean, immense dès le premier instant, devenait moindre à chaque heure; celui des disciples de Jésus, d'abord si faible, arriverait un jour à ne pouvoir pas mieux se compter que les étoiles (Gen. **15** : 5). En somme, la gloire de Jean, si éclatante à l'origine, devait s'effacer devant celle de Jésus : « Il faut qu'il croisse et moi que je diminue. » — Cette parole a un autre sens qui, bien qu'indirect, ne laisse pas d'être d'une grande vérité. Si nous sommes à Christ, son image se dévelop-

pera de plus en plus au dedans de nous, et notre mauvaise nature ira s'affaiblissant à proportion.

2770. (31-33.) La raison pour laquelle le Christ devait, en toutes choses, dépasser son précurseur, c'est que celui-ci, malgré l'excellence des dons reçus, n'était que de la terre, tandis que le Christ est du ciel. Or « celui qui vient du ciel est au-dessus de tous ; » il dit ce qu'il a vu [2757] ; et si tant de gens le rejettent, cela n'ôte rien à la vérité de son témoignage. Ceux qui croient sa parole ont en eux-mêmes la certitude ou le sceau que c'est Dieu qu'ils ont ouï ; tout comme leur foi et ses heureux effets mettent un sceau à la réalité de ses grâces.

2771. (34, 35.) Jésus, plus que nul prophète avant lui, est l'organe du ciel auprès des hommes, puisqu'il est la Parole même de Dieu (1 : 1), et il a reçu le Saint-Esprit d'une tout autre manière que les prophètes. Ceux-ci ne furent qu'en partie éclairés et pénétrés de cet Esprit, tandis que Jésus l'a reçu dans sa plénitude. Le Saint-Esprit, descendu sur lui, y est demeuré (1 : 32, 33), par cela même qu'il est le Fils de Dieu, celui que le Père aime jusqu'à lui remettre toutes choses entre les mains. Or, remarquez en passant que cette parole de Jean-Baptiste : « Le Père a mis toutes choses dans la main du Fils, » suppose à la fois son humanité et sa divinité : son humanité, car c'est l'homme qui ne possède que ce qu'il a reçu ; sa divinité, car c'est Dieu et non pas l'homme qui peut avoir *toutes choses* entre ses mains.

2772. (36.) Tel étant Jésus, qui croit en lui croit en Dieu, et il a la vie éternelle. Il *l'a* et non pas seulement il l'aura : dès le moment qu'il croit, la vie éternelle lui appartient. Mais si Jésus est ce que nous venons de dire, l'incrédulité devient une véritable révolte, la révolte d'une orgueilleuse raison contre la sagesse éternelle de Dieu ; et si la foi en Jésus a pour effet de donner la vie éternelle, ne pas croire en Lui, c'est se priver à toujours de la vie. Il y a sur tout homme une colère de Dieu, à cause du péché ; or, par l'incrédulité, le pécheur demeure volontairement sous le poids de cette redoutable colère.

2773. C'est par ces mots que l'Evangile termine ce qui nous est raconté du ministère de Jean-Baptiste, jusqu'à ce qu'il nous le montre en prison et qu'il nous fasse le triste récit de sa mort prématurée. Or, si vous rapprochez ce qui, dans nos Etudes précédentes et dans celle-ci se rapporte à ce grand serviteur de Dieu, vous admirerez, non-seulement l'énergie de ses prédications, mais bien plus encore

l'abondance des lumières évangéliques dont le Saint-Esprit l'avait enrichi. Dans un moment où si peu de gens encore savaient qui était Jésus, où nul peut-être ne comprenait bien le but de sa mission et l'œuvre qu'il venait accomplir, vous voyez le fils de Zacharie le proclamer Fils de Dieu et Sauveur du monde, révéler le mystère de sa double nature et, tout en invitant les pécheurs à la repentance et aux bonnes œuvres, déclarer que c'est par la foi seule qu'on peut obtenir la vie éternelle. Jean n'a été qu'une « Voix » (1 : 23); mais quelle voix noble et pure; c'est la voix même de Dieu. Heureux ceux qui l'écoutent et la mettent dans leur cœur! Comme André et Jean (1 : 35), ils ne sauraient manquer d'aller à Jésus et de trouver en lui, dès à présent, le pardon et la vie!

## CCXIII. — Jésus et la Samaritaine.

2774. (Jean 4 : 1-3.) Après être demeuré quelque temps dans les contrées voisines de Jérusalem, notre Seigneur prit la résolution de retourner en Galilée, par le motif que les pharisiens commençaient à comploter contre sa personne. En voyant la foule se porter de Jean vers lui, ils comprirent que le mouvement devenait sérieux, et comme Jésus annonçait des doctrines qui ne pouvaient leur plaire, ils se mirent dès ce moment à l'honorer de leur injuste haine.

2775. (2.) Jésus ne baptisait pas lui-même : ses disciples le faisaient de sa part. Peut-être voulut-il éviter des disputes de prééminence entre ceux qui auraient reçu le baptême de ses propres mains et ceux qui, plus tard, ne le recevraient que de la main de ses disciples. D'ailleurs notre Sauveur est venu pour sauver et non pour baptiser; ou plutôt le baptême qu'il administre, c'est celui du Saint-Esprit, et à cette époque il ne s'agissait encore que du baptême d'eau.

2776. (4.) L'ancien pays de Canaan était alors divisé en quatre provinces principales : la Pérée, à l'orient du Jourdain, territoire occupé jadis par les tribus de Ruben, de Gad et de Manassé [1158]; la Judée, à l'ouest du Jourdain et de la mer Morte; la Galilée, au nord [1160], et la Samarie, au centre. De la Judée, il y avait deux manières de se rendre en Galilée : ou par la Pérée, qui était le chemin le plus long, ou par la Samarie. Ce fut cette dernière route que choisit notre Seigneur, voulant, dès l'entrée de son ministère, montrer qu'il était venu sauver les Samaritains aussi bien que les Juifs [2579].

2777. (5, 6.) La ville de Sichar, près de laquelle notre Seigneur

arriva et dont il se proposait de faire le théâtre d'une des plus grandes merveilles de la grâce, était l'ancienne Sichem de la Genèse [485], aujourd'hui Naplouse. Située au pied du mont Garizim, elle appartenait jadis à la tribu d'Ephraïm, l'un des fils de Joseph [1164]. Là se trouvait et se trouve encore de nos jours, un puits profond de 105 pieds, mais avec cinq pieds d'eau seulement. C'était le patriarche Jacob qui avait fait creuser ce puits, environ 1,740 ans avant la naissance de notre Seigneur. Il paraît qu'on l'avait soigneusement entretenu, moins encore par la raison qu'on le devait au petit-fils d'Abraham, qu'en vue de son utilité. Jésus y arriva vers midi. C'était déjà la saison chaude ; il avait fait probablement une assez longue traite ; il était fatigué, car il a connu toutes les infirmités de la vie humaine, moins le péché ; et, tandis que ses disciples allaient acheter des vivres dans la ville voisine, il s'assit au frais, sur le bord du puits.

2778. (7-9.) Pendant qu'il était là, une femme que sa prescience attendait, bien qu'il ne l'eût point fait appeler, vint à la fontaine pour puiser de l'eau. Aussitôt Jésus lui demande à boire, car il avait réellement soif, et de plus il voulait lier avec elle une sainte conversation, dont l'issue devait être tout à la gloire de Dieu. La femme est étonnée qu'un Juif réclame d'elle, même ce léger service, car c'est bien un Juif qui lui parle : son langage, peut-être ses vêtements, le côté d'où il paraît venir, tout le trahit; et puis la femme avait sans doute rencontré les disciples allant à la ville. Or les Juifs n'entraient pas volontiers en relation avec les Samaritains. Depuis longtemps une ligne profonde de démarcation les séparait les uns des autres [2103, 2476, 2518], et des faits plus récents n'avaient fait qu'envenimer la querelle [2571, 2579, 2581].

2779. (10.) Ah! lui dit Jésus, si tu connaissais le don, ou la grâce que Dieu te fait dans ce moment; si tu savais qui est ce Juif qui te parle, non-seulement tu t'empresserais de le servir, mais encore tu lui demanderais toi-même de l'eau, et il te donnerait non pas de celle qu'on extrait péniblement du fond d'un puits et qui n'est que trop semblable aux tentatives de l'homme pour se sauver lui-même, mais une eau de source vivante et jaillissante, comme celle du rocher de Moïse [729], image de la grâce vivifiante du Saint-Esprit. Voilà ce que notre Seigneur dit à la Samaritaine en langage figuré; mais elle ne le comprit pas mieux que ne l'avait fait le docteur Nicodème, et cela ne doit pas nous étonner de sa part.

2780. (11-14.) Puis, de même que Nicodème avait demandé com-

ment un homme pouvait naître de nouveau quand il était vieux, la Samaritaine, incapable de discerner les choses spirituelles, ne sut voir dans le discours de Jésus que le côté par lequel il pouvait lui paraître absurde. S'il y avait auprès de là, pensa-t-elle, une eau de source jaillissante, Jacob n'aurait pas pris la peine de creuser un puits et l'on n'aurait pas manqué de la découvrir plus tôt ! Selon la chair, c'était bien raisonner ; toujours est-il que c'était un raisonnement d'où l'Esprit était absent. Pour le faire sentir à son interlocutrice, Jésus lui dit qu'il s'agissait d'une eau tout autre que celle qui désaltère le palais, et encore qui ne désaltère que momentanément. L'eau qu'il donne, au contraire, satisfait la soif de bonheur qui travaille toute âme d'homme, et lorsqu'on en a bu, l'on a en soi une source inépuisable de grâces, grâces qui ont pour dernier terme la vie éternelle.

2781. (15.) Il semble qu'à ces paroles la Samaritaine aurait dû saisir la pensée du Sauveur. Il n'est pas bien sûr qu'elle ne l'ait au moins entrevue ; mais son cœur, tout au monde, repousse encore la vérité, et, d'un ton auquel elle s'efforce de donner l'apparence de la conviction mais où perce une certaine moquerie et beaucoup de légèreté ; eh bien, dit-elle à Jésus : « Donne-moi aussi de cette eau, afin que je n'aie plus besoin d'en venir puiser ici. »

2782. Peut-être quelques-uns de mes lecteurs s'étonnent-ils que notre Seigneur, au lieu d'emprunter des choses ordinaires de la vie ce langage figuré, n'ait pas tout de suite parlé à la femme en termes directs, et de son âme et du salut dont elle avait besoin. Mais son âme ! y avait-elle seulement jamais songé ? Le salut ! ce mot aurait-il réveillé en elle la moindre idée ? Combien la méthode suivie par notre Seigneur n'est-elle pas plus sage ! Si la femme ne comprend pas encore, la voilà du moins rendue attentive, et ce discours énigmatique n'y a pas contribué faiblement.

2783. (16-19.) Il fallait cependant quelque chose de plus pour vaincre sa légèreté, et ce qu'il faut, le Seigneur ne manque jamais de le faire. La femme de Sichar avait tenu jusque-là une conduite fort répréhensible. Ses mœurs étaient telles que ses compatriotes ne pouvaient guère les ignorer complétement ; mais personne ne connaissait à fond les honteux mystères de sa vie. Elle-même en avait peut-être oublié les principales circonstances, car l'homme parvient assez aisément à chasser de son souvenir ce qui l'importune. Aussi, quand elle entendit cet étranger se montrer tellement au fait de ce

(**Jean 4** : 20; 21-24; 25, 26; 28-30.)

qui la concernait, et le lui révéler d'une manière à la fois si grave et si poignante, il lui arriva comme à Nathanaël, non pas de dire : « Tu es le Fils de Dieu, le roi d'Israël » (1 : 50), elle n'en était pas encore là; mais de s'écrier : « Seigneur, je vois que tu es un prophète. »

2784. (20.) Tout autre aurait aussitôt demandé ce qu'une pécheresse comme elle devait faire pour être sauvée, mais l'œuvre de la grâce de Dieu se développait lentement dans le cœur de la Samaritaine. On la voit donc cherchant encore à se distraire d'elle-même et, pour toute question, s'informer de Jésus qui avaient raison, des Samaritains ou des Juifs, relativement au lieu dans lequel on devait adorer l'Eternel [2579]. C'est le tort dont se rend coupable quiconque néglige ses intérêts spirituels pour certaines questions religieuses qui, importantes sans doute, appartiennent toutefois à l'ordre extérieur. On peut, en faisant ainsi, montrer du zèle et de la foi; mais souvent c'est un signe équivoque.

2785. (21-24.) Jésus, cependant, voulait amener à lui cette pauvre âme. Il continua donc l'entretien, en répondant que le moment était venu où l'Eternel cesserait d'être exclusivement le Dieu des Juifs. Sans doute que les Samaritains soutenaient une erreur. C'était bien de Sion et non de Garizim, que, selon les prophètes, le salut devait se répandre parmi les nations (Esaïe 2 : 3); toujours est-il que Juifs et Samaritains avaient à apprendre en quoi consiste le culte spirituel et vrai qui allait enfin s'établir en tout lieu. Un culte plus indépendant que nul autre de toute forme; un culte dont la valeur résulte essentiellement des dispositions qu'on y apporte : voilà ce qu'il était donné à Jésus-Christ de réaliser, en faisant de chaque fidèle un temple du Dieu qui est Esprit [2629].

2786. (25, 26.) Rendue décidément sérieuse par ces paroles, la Samaritaine exprima l'espoir que le Messie attendu par les gens de sa nation, non moins que par les Juifs, que ce Messie dont quelques-uns parlaient comme étant maintenant arrivé et que tous désignaient par cette épithète : « Celui qui vient » [2542], que le Messie, dis-je, leur annoncerait tout ce qu'il fallait savoir, non seulement au sujet du culte, mais encore sur tant d'autres choses dont elle sentait maintenant le besoin pour son âme. Ce fut alors que Jésus daigna se révéler à cette pauvre pécheresse, en termes plus explicites qu'il ne l'avait fait jusque-là devant la multitude : « Je suis le Christ, moi qui te parle. »

2787. (28-30.) Il n'est pas trop malaisé de se figurer le trouble dans

(**Jean 4** : 27; 31-38.)

lequel ces simples mots jetèrent la Samaritaine. Femme à vives impressions, elle oublie ce qu'elle était venue chercher au puits de Jacob, comme Jésus avait oublié sa soif en s'occupant de cette âme; elle laisse sa cruche et, première missionnaire, elle court dire aux gens de sa ville : « Venez voir quelqu'un qui m'a dit tout ce que j'ai fait. Celui-ci n'est-il point le Christ? » Sur quoi vous remarquerez qu'elle ne put s'exprimer ainsi, sans risquer qu'on lui demandât ce que donc elle avait fait? Et puis, avec quel ton modeste elle cherche à propager ses nouvelles convictions ! Comme Philippe, elle dit : Venez et voyez; mais qui est-elle pour oser dire avec la même affirmation : « J'ai trouvé le Christ? » Bénies d'en haut, ses instances engagèrent beaucoup de Sichémites à se rendre vers Jésus. Elle les avait probablement trouvés à la porte de la ville. C'est là qu'était la place publique, et l'on y voyait toujours un assez grand nombre d'hommes réunis.

2788. (27; 31-38.) Cependant les disciples étaient de retour lors du brusque départ de la Samaritaine. Ils furent très étonnés de ce que Jésus s'entretenait avec une femme, tandis que les docteurs juifs ne jugeaient pas ce sexe digne de leurs enseignements. Mais ils furent plus surpris encore, quand ils virent que leur maître ne partageait point le repas qu'ils s'étaient procuré par son ordre. Et pourtant, pensaient-ils, il doit avoir faim ! En conséquence, ils le pressaient de manger. Mais l'âme et le cœur de Jésus étaient trop occupés ailleurs, pour qu'il songeât à son appétit. C'est ce qu'il voulut leur faire sentir en leur disant : « J'ai à manger d'une nourriture que vous ne savez pas ! » Hélas, les disciples étaient encore bien charnels ! Moins que Nicodème peut-être et surtout moins que la Samaritaine ; toujours est-il qu'ils se prirent à conjecturer qu'en leur absence, quelqu'un avait apporté à Jésus de quoi satisfaire sa faim.

2789. Il fallut donc que le Seigneur leur expliquât ce qu'il envisageait comme son véritable aliment. C'était de faire l'œuvre pour laquelle il avait été envoyé, œuvre immense et urgente, semblable à de vastes moissons dorées par un ardent soleil. A la saison de l'année où l'on se trouvait, les campagnes devaient montrer en effet leurs épis mûrissants (Deut. **16** : 1), et c'est pour cela que Jésus leur dit : « Levez vos yeux et regardez les campagnes, elles sont déjà blanches pour la moisson. » Quant à ces mots : « Il est encore quatre mois et la moisson vient, » c'était un proverbe dont le sens équivaut à celui du proverbe français : « Tout vient à point, à qui peut attendre ! » Des semailles à la moisson l'on comptait, en Canaan, quatre mois. De là,

pour exprimer qu'une chose peut être certaine, bien qu'elle se fasse attendre, on disait : « Encore quatre mois et la moisson vient. » Mais dans le cas actuel, la moisson allait suivre de près les semailles, une moisson d'âmes recueillies pour la vie éternelle. Voilà ce que le Seigneur veut faire entendre à ses disciples. Après quoi il leur annonce qu'ils seront ouvriers avec lui dans la grande moisson spirituelle, et, pour les encourager, il leur parle des fruits admirables qui couronneront leurs travaux.

2790. (39-42.) Or, quel fruit magnifique déjà que celui des semailles jetées par Jésus dans le cœur de la Samaritaine, cette autre Rahab! Avant même d'avoir vu le Seigneur, beaucoup de ses concitoyens furent touchés du témoignage qu'elle lui avait rendu et dont tout en elle confirmait la vérité. Ils prièrent Jésus de demeurer avec eux et il passa deux jours dans cette ville. Ce furent de beaux jours, n'est-ce pas, pour les heureux Sichémites! Peut-être ne furent-ils témoins d'aucun miracle; mais la puissance du Saint-Esprit en fit un très grand dans leur âme, et ils obtinrent la certitude intime que Jésus était vraiment le Christ, le Sauveur du monde. C'est ce qui arrive à toute personne dont la foi ne repose pas seulement sur les instructions des ministres de la Parole, mais qui s'est nourrie de la Parole même de Dieu et en qui cette parole est devenue vivante par le Saint-Esprit. Que mes lecteurs ne se bornent donc pas à méditer ces Etudes. Qu'ils lisent et relisent leur chère Bible; puis, qu'ils prient beaucoup, afin que le Seigneur se révèle à eux comme il daigna se révéler aux hommes de Sichar.

## CCXIV. — Second miracle à Cana. Prédication à Nazareth.

2791. (Jean 4 : 43-45.) Quand notre Seigneur eut passé deux jours à Sichar, il continua sa route vers la Galilée, en s'éloignant ainsi de la Judée, le vrai berceau de ses pères, car il s'y était appliqué le proverbe que « nul prophète n'est honoré dans sa patrie. » La Galilée était également son pays, puisqu'il y avait été élevé et que d'ailleurs elle appartenait au territoire des douze tribus d'Israël; aussi verrons-nous qu'il ne manqua pas d'y rencontrer une vive opposition. Cependant les Galiléens qui, après avoir été témoins des miracles opérés à Jérusalem par Jésus, avaient regagné leurs foyers plus tôt que lui, furent joyeux de le voir de retour et lui firent généralement un très bon

(**Jean 4** : 46-48; 49, 50; 51-53.)

accueil, ce qui n'emporte pas qu'ils eussent une foi égale à celle des Sichémites.

2792. (46-48.) Ce ne fut pas à Nazareth que Jésus se rendit d'abord, mais chez ses amis de Cana. C'est là qu'il était lorsqu'on vit arriver un homme de la cour d'Hérode, qui demeurait à Capernaüm. Notre Seigneur avait déjà paru dans cette ville [2739], et sa renommée commençait à y être dans toutes les bouches. Or cet homme avait un fils malade à la mort, et il venait prier Jésus de le guérir. C'était de sa part une certaine foi, car le Seigneur n'avait pas encore rempli la contrée de sa puissance, comme il le fit plus tard. Il lut néanmoins dans le cœur de cet homme qu'il venait plutôt s'assurer si Jésus pouvait opérer une telle merveille, que la lui demander comme une chose qui fût certainement en son pouvoir. C'est pour cette raison sans doute qu'il lui fit ce reproche : « Si vous ne voyez des signes et des miracles vous ne croirez point. »

2793. Beaucoup de gens en effet demandent des miracles pour croire. Il est certain toutefois qu'on peut croire sans avoir vu des miracles, témoin les Samaritains de tout à l'heure. Puis, on peut voir bien des miracles sans croire, témoin tant d'Israélites aux jours de Moïse et des prophètes, pour ne rien dire de ceux qui rejetèrent Jésus malgré les merveilles qu'il avait opérées sous leurs yeux.

2794. (49, 50.) Le reproche de notre Seigneur toucha, paraît-il, le cœur du courtisan ; car sa réplique revient à ceci : « Non, ce n'est pas le miracle que je demande, c'est la guérison de mon fils, et je l'attends de ta grâce. » Sur quoi Jésus lui dit : « Va, ton fils vit. » — L'homme crut cette parole et bientôt, descendant les collines qui bordaient le lac de Génézareth, il repartit pour Capernaüm, ne doutant nullement de la véracité du Seigneur. Telle fut la foi d'Abraham, telle doit être la nôtre.

2795. (51-53.) Capernaüm n'était qu'à cinq lieues au plus de Cana. On se demande en conséquence comment il se fit que cet homme ne rencontrât ses esclaves que le lendemain du jour où Jésus lui avait dit : « Ton fils vit. » Il y a deux manières d'expliquer la chose. Ou bien il était demeuré avec Jésus le reste du jour, ce qui montrerait le calme et la fermeté de sa foi ; ou bien son entretien ayant eu lieu avec Jésus à une heure après midi, ses esclaves le rencontrèrent après le coucher du soleil, c'est-à-dire lorsqu'un nouveau jour commençait, selon la manière de compter des Juifs [2720]. Quoi qu'il en soit, l'essentiel

(**Jean 4** : 54. **Luc 4** : 14, 15.)

est de remarquer ici la puissance du Seigneur, la fidélité avec laquelle il tient sa parole et les effets de sa grâce sur les âmes.

2796. Cet enfant, fils unique selon toute apparence, s'en allait mourir; on n'en attendait plus rien, et, à l'heure même où Jésus l'a voulu, sans avoir vu le malade, sans l'avoir touché, il le rappelle à la vie! Qui ne reconnaîtrait ici le pouvoir même du Créateur des cieux et de la terre? [2696.] Qui hésiterait à mettre sa confiance en Celui dont la parole est d'une telle efficace? Qui pourrait enfin ne pas désirer pour soi et pour sa maison la foi qui, dès ce moment, remplit le cœur du Capernaïte et des siens? Cette dernière grâce fut plus grande encore et plus précieuse que la guérison du malade.

2797. Nous avons d'ailleurs ici une nouvelle preuve que la foi est susceptible de progrès [2738]. Le père du malade avait un commencement de foi lorsqu'il prit le parti de s'adresser à Jésus; puis, quand le Seigneur lui dit : « Ton fils vit, » il crut la parole; enfin, lorsqu'il fut de retour chez lui, il crut, nous dit l'évangéliste, lui et toute sa maison, c'est-à-dire que sa foi s'affermit et qu'elle devint expansive, car sa famille ne crut pas sans qu'il l'y eût exhortée. Je conclus de là que nous devons chercher à croître dans la foi comme dans toutes les autres grâces de Dieu, et que le moyen d'y faire des progrès, c'est de sentir toujours plus le besoin que nous avons de Jésus-Christ (49), puis de méditer beaucoup sa Parole (50), enfin de considérer attentivement les effets de sa grâce sur nous et sur les autres (53).

2798. (54.) La guérison de ce jeune homme fut le second miracle que Jésus fit en Galilée, ou peut-être seulement à Cana. Comme le changement de l'eau en vin, il était destiné non-seulement à signaler la puissance du Seigneur, mais encore à figurer l'œuvre qu'il est venu faire. Ceux qui en furent les témoins n'y virent probablement que la première de ces deux choses, mais il en doit être autrement de nous. Il y a là une grande prédication. Par le péché, nous sommes tous malades à la mort, et Jésus seul peut nous délivrer de cette affreuse maladie. Nous devons donc nous tourner vers lui et nous écrier avec David : « O Seigneur, rends-moi la vie selon ta Parole » (Ps. **119** : 25).

2799. (Luc **4** : 14, 15.) Luc ne nous raconte ni les noces de Cana, ni le voyage de Jésus à Jérusalem, ni, par conséquent, son retour par la Samarie, ni enfin l'histoire du courtisan et de son fils. Il avait conduit Jésus en Galilée d'abord après la tentation, comme effectivement il ne tarda pas à s'y rendre; mais pour retourner de Jean à Luc sans couper le fil du récit et sans en intervertir les circonstances, nous

(**Luc 4** : 16; 17-21.)

n'avons autre chose à faire qu'à reprendre Luc où nous l'avons laissé [2712], tant il y a d'accord entre ces évangélistes, qui, à plusieurs égards, sont d'ailleurs si différents. Luc aussi nous dit qu'à ce moment notre Seigneur était généralement honoré de tous ceux qui l'approchaient. Voici toutefois une occasion où il n'en alla pas de même.

2800. (16.) Il paraît, d'après ce qui précède, que, depuis son baptême, le Seigneur avait évité de retourner à Nazareth, à cause des préventions qu'on y nourrissait contre sa personne. Avouons-le, ces gens au milieu desquels il avait passé plus de trente ans dans une obscurité profonde et qui étaient habitués à ne voir en lui que le fils du charpentier Joseph, étaient plus mal placés que beaucoup d'autres pour reconnaître la divinité de sa mission. Cependant il n'était pas possible que Jésus n'eût pas soin des siens (Jean **1** : 11). Aussi le voyons-nous enfin dans sa ville, et même un jour de sabbat, afin de pouvoir d'autant mieux parler à ses concitoyens, qui ne manquaient pas, ce jour-là, de se rendre à leur synagogue ou congrégation.

2801. On appelait ainsi les assemblées qui, depuis le temps d'Esdras, pense-t-on, se tenaient chaque sabbat pour lire les Ecritures et entendre les explications des docteurs. On donnait ce même nom au local où avaient lieu les assemblées. C'était une salle plus ou moins vaste, au fond de laquelle était une estrade ou tribune, place destinée aux anciens et aux ministres ou serviteurs de la synagogue ; là sans doute se trouvait aussi un banc pour les docteurs. Sur le devant de l'estrade il y avait une arche, un coffre dans lequel on déposait les rouleaux ou volumes de Moïse, et à côté ceux des prophètes. Puis, en face, était l'auditoire lui-même, les femmes occupant une tribune fermée où il était difficile de les voir, si ce n'est peut-être de l'estrade.

2802. (17-21.) Jésus étant là, siégeant sans doute au milieu des docteurs ou *rabbins*, il se leva pour lire, et quand on lui eut donné le livre du prophète Esaïe, il l'ouvrit à l'endroit marqué dans nos Bibles, ch. **61** : 1, et il y ajouta, paraît-il, le passage du ch. **42** : 7. La lecture faite, il s'assit, suivant l'usage, et il se mit à parler. Il dit que cette prophétie le concernait et que ses auditeurs en avaient dans cet instant même le parfait accomplissement, car il était la personne prédite par Esaïe et il faisait l'œuvre que le Saint-Esprit avait si exactement dépeinte à l'avance.

2803. Sans répéter ce que j'ai dit ailleurs [2261, 2228], voyez en effet comme cette prophétie s'est bien accomplie. L'Esprit du Sei-

(**Luc 4** : 22; 23; 24-28.)

gneur, ou de l'Eternel [2630], n'est-il pas descendu sur Jésus à son baptême et, de cette manière, n'a-t-il pas été réellement Oint, ou fait Christ? N'est-ce pas une bonne nouvelle qu'il est venu annoncer; et à qui cette bonne nouvelle, cet Evangile est-il destiné, si ce n'est aux pauvres, aux chétifs, aux pécheurs? N'est-il pas vrai qu'il console les cœurs affligés, ceux surtout que brise le sentiment de leurs fautes? (Ps. **51** : 17.) N'est-ce pas nous qui sommes ces captifs, ces aveugles, ces opprimés que Jésus veut sortir de la prison où Satan les retient, éclairer de sa divine lumière, affranchir de l'oppression du péché? Enfin ne dira-t-on pas agréé par le Seigneur et plein de grâce, le temps où il est venu lui-même accomplir ces merveilles?

2804. (22.) Voilà ce que notre Seigneur expliquait aux habitants de Nazareth en des termes que nous ne chercherons pas à rétablir. Nous comprenons très bien toutefois l'admiration que ses paroles, pleines de miséricorde, causèrent chez ceux qui les entendirent. Mais admirer, ce n'est pas encore croire, et le cœur humain est tellement incrédule, que souvent il s'étonne là où il devrait simplement adorer; ou, s'il faut le dire d'une autre manière, il est habile à trouver des prétextes pour ne pas croire, alors même qu'il est le plus subjugué. Dans le but d'affaiblir les impressions que Jésus produisait sur eux, ces pauvres Nazaréens s'excitaient à mépriser le docteur céleste en se rappelant l'obscurité de son origine.

2805. (23.) Jésus, qui connaissait leurs pensées, vit qu'ils ne lui pardonnaient pas d'être demeuré si longtemps loin d'eux et d'avoir fait à Capernaüm, ville à moitié païenne, des œuvres dont il aurait dû, pensaient-ils, honorer surtout les siens. Ces miracles, que les gens de Nazareth reprochaient à Jésus d'avoir faits à Capernaüm, c'était peut-être uniquement la guérison dont nous nous sommes occupés tout à l'heure, à moins, ce qui est possible, que le Seigneur n'eût fait dès lors un second voyage dans cette ville; car il ne paraît pas qu'au premier [2739], il y eût déployé sa puissance miraculeuse. Après cela, les concitoyens de Jésus s'étonnaient que celui qui s'annonçait avec tant d'emphase comme le libérateur des pauvres et des opprimés, restât lui-même dans l'indigence et sous l'oppression du pouvoir romain. C'est pour cela qu'il mit dans leur bouche une parabole ou proverbe [1776] qui n'exprimait point mal leur pensée : « Médecin, guéris-toi toi-même. »

2806. (24-28.) Là-dessus, notre Seigneur ayant appliqué à Nazareth, le lieu où il fut élevé, ce qu'il avait dit précédemment de la

(**Luc 4** : 29, 30. **Matthieu 4** : 12-17. **Marc 1** : 14, 15.)

Judée [2791], justifia toute sa conduite en faisant allusion à deux traits de l'Ancien Testament qui sont bien connus de mes lecteurs [1926, 1982]. Comme Naaman et la veuve de Sarepta avaient été l'un et l'autre des païens, les paroles de Jésus signifiaient qu'il distribue ses grâces selon son bon plaisir, et que les Nazaréens avaient beau lui appartenir de très près, ce fait ne leur donnait nul droit sur sa personne, ni sur aucune de ses faveurs; c'était même leur dire qu'ils s'exposaient, par leur incrédulité, à se voir privés des bienfaits de son règne.

2807. (29, 30.) Si la passion aveugle, on peut dire aussi qu'elle rend clairvoyant. Tel qui refuse de comprendre les choses les plus simples, quand il ne lui plaît pas de les saisir, entend à demi-mot ce qui correspond avec ses sentiments, bons ou mauvais. Les compatriotes de Jésus sentirent très bien la portée d'un discours où la souveraineté de Dieu, ce dogme si méconnu, était proclamée avec tant d'évidence. Il n'en fallut pas davantage pour exciter chez eux une violente colère, et, nouvelle preuve que celui qui hait son frère est un meurtrier (rappelons-nous Caïn, Esaü, les frères de Joseph, Joab le neveu de David et bien d'autres), ces misérables entraînèrent Jésus hors de la ville pour le précipiter du haut d'un rocher. Mais ce n'est pas ainsi, ni sitôt, qu'il devait donner sa vie pour nous; et, soit par une espèce de miracle semblable à celui qui préserva les anges à Sodome, soit que quelques personnes peut-être le prissent sous leur protection, il s'échappa de leurs mains et il s'en alla. De cette façon les Nazaréens ne purent consommer leur crime, mais chacun doit sentir qu'ils ne l'avaient pas moins commis dans leur cœur. Hélas! que dirons-nous de tant de gens qui, de nos jours, insultent le Seigneur Jésus par leurs blasphèmes, ne pouvant le précipiter du trône de sa gloire?

2808. (M. **4** : 12-17; Mc. **1** : 14, 15.) Avant d'aller plus loin, j'invite mes lecteurs à porter leurs regards sur deux passages où ils verront que si Matthieu et Marc ne racontent pas les faits dont nous nous occupons depuis quelque temps, ils y donnent indirectement leur témoignage. L'Evangile de Matthieu est surtout remarquable par une citation d'Esaïe (Es. **8** : 23; **9** : 1), et celui de Marc, par le résumé succinct des prédications de notre Sauveur en ces temps-là. Elles ressemblaient beaucoup à celles de Jean-Baptiste. Le temps marqué par les prophètes pour la venue du Messie est accompli (Dan. **9**); son règne va commencer (Dan. **2** : 44) : il s'agit de se convertir et de croire à la bonne nouvelle du salut (Es. **40** : 9). Enfin, l'un et l'autre, nous apprennent que Jean-Baptiste se trouvait alors privé de la liberté. Nous

(**Luc 4** : 31, 32; 33-37. **Matth. 4** : 18-22. **Marc 1** : 16-22; 23-28.)

verrons plus tard comment son courage lui avait attiré cette persécution.

## CCXV. — Divers miracles. Pierre, André, Jacques et Jean.

2809. (L. 4 : 31, 32; M. 4 : 18-22; Mc. 1 : 16-22.) De Nazareth, Jésus descendit pour la seconde ou la troisième fois à Capernaüm, ville où il transporta sa demeure et qui eut ainsi le bonheur d'entendre ses enseignements plus qu'aucune autre localité. D'abord ce fut dans la synagogue ou congrégation qu'il exposa sa doctrine, et tous étaient frappés non-seulement de ce qu'elle avait de si élevé, mais encore du ton d'autorité qu'il y mettait. « Amen, amen, je vous dis... » A entendre ses paroles, on sentait bien que ce n'étaient pas celles d'un docteur ordinaire, ni même d'un simple prophète. On le comprenait mieux à la vue de ses miracles.

2810. Mais pour arriver de Nazareth à Capernaüm, Jésus avait dû atteindre la mer de Tibériade et en longer la côte occidentale. Passant par Bethsaïda, il y retrouva quatre hommes, pêcheurs de leur métier, dont trois, du moins, après avoir demeuré quelque temps avec lui [2723], étaient retournés à leur gagne-pain, ou que, par ménagement peut-être, il n'avait pas voulu mener à Nazareth. C'étaient les deux fils de Jonas, Pierre et André, puis Jean, fils de Zébédée, avec Jacques son frère. Invités par Jésus à le suivre, ils allèrent à lui tout joyeux. Il est vrai que le Seigneur leur promettait de les faire devenir pêcheurs d'hommes. Mais saisirent-ils alors le sens de cette parole? Il est permis d'en douter. Quoi qu'il en soit, l'appel du Seigneur était catégorique, et ils eurent bien raison de ne pas se laisser arrêter par ce qu'il y avait d'obscur dans la promesse du Seigneur. Jacques et Jean avaient avec eux leur père, Zébédée, vieillard sans doute, que Jésus ne jugea pas à propos de mener avec lui; mais voyez à son occasion, comment les Evangiles coïncident dans les moindres détails. Si Marc ne dit pas comme Matthieu, que Zébédée était dans la nacelle avec ses fils, il dit que ceux-ci le laissèrent avec des ouvriers dont, à son tour, Matthieu n'avait pas fait mention. Pour être indirecte la coïncidence n'est que plus frappante. Il en est beaucoup de cette sorte dans les Evangiles; mais je ne m'arrêterai pas toujours à les signaler.

2811. (L. 4 : 33-37; Mc. 1 : 23-28.) Arrivés à Capernaüm, et comme

(**Luc 4** : 33-37. **Marc 1** : 23-28.)

ils étaient dans la synagogue, il y vint un homme qui avait un esprit de démon impur. Puisque ce malheureux était admis en ce lieu, il ne paraît pas que sa maladie eût aucun rapport avec la folie; peut-être ne s'agit-il ici que de dispositions morales tellement rebelles à toute correction, qu'elles accusaient la présence même de Satan dans le cœur. Cependant, comme il est parlé autre part de maladies mentales et physiques, effets de la puissance mystérieuse et terrible de Satan, ce vieil ennemi de Dieu et de l'homme, je pense devoir en dire ici quelques mots, en me référant d'ailleurs à de précédentes Etudes [73 et suiv.; 1056-1058; 2701 et suiv.]

2812. La puissance de Satan sur les âmes pour les inciter au mal, ne saurait être contestée; mais qu'il habite réellement dans tous les cœurs non convertis de manière à les posséder, c'est ce qui ne se déduit pas nécessairement de l'Ecriture. On y voit que des fidèles même peuvent, dans l'occasion, céder aux suggestions de Satan [1591]; que certains hommes furent de vrais suppôts de l'Ange déchu [1248, 1570]; enfin que le péché qui est dans le monde, vient primitivement du Serpent ancien : d'où il suit que tout homme qui n'est pas converti n'a en lui aucune garantie contre les assauts du Malin, et que celui qui vit dans le péché fait décidément les œuvres du diable; voilà sur ce point la doctrine de l'Ecriture.

2813. D'un autre côté, les maux de la vie étant l'effet et la peine du péché, on peut dire qu'ils viennent indirectement de Satan; il est même des maladies qui ont un caractère tel, qu'il semble permis d'y voir une action positive de cet auteur du mal. On contesterait ce point, quant à nos temps actuels, qu'on devrait toutefois le tenir pour vrai relativement à l'époque où vivait notre Sauveur; car les écrivains sacrés nous disent expressément que les maladies des démoniaques avaient pour cause l'action de Satan, qui était en possession du corps et de l'âme des malheureux ainsi tourmentés. Puis, dans la plupart des récits de l'Evangile, on voit qu'en guérissant les démoniaques, notre Seigneur avait à faire, non pas avec les malades seulement, mais avec quelqu'un de plus fort et de plus méchant qu'eux. Or, que Dieu ait, en ce temps-là surtout, permis ce déploiement de la puissance du prince des ténèbres, cela s'explique par le but même de la venue du Sauveur. Il devait briser la tête du serpent, et quand il chassait Satan et ses anges des corps et des âmes qu'ils tenaient en leur pouvoir, c'était hautement proclamer l'autorité qu'il exerce sur eux, les coups mortels qu'il est venu porter à leur empire, et la confiance

(**Luc 4** : 33-36; 38, 39; 40, 41. **Matth. 8** : 14, 15; 16-18. **Marc 1** : 29-31; 32-34.
avec laquelle ses disciples doivent attendre de lui l'entière délivrance du péché et de ses suites.

2814. (Luc 4 : 33-36.) Il est facile d'appliquer au récit que nous avons sous les yeux les observations précédentes. On y voit entre autres, avec quelle plénitude de force notre Seigneur fit du démoniaque un homme tellement renouvelé, que ceux qui étaient là furent frappés de stupeur. Ils s'étonnaient des effets d'une simple parole de Jésus; mais cette parole c'est la Parole de Dieu (Jean 1 : 1). Bien que Jésus eût déjà fait plusieurs miracles, nul autre, paraît-il, n'avait produit une pareille sensation (37).

2815. (L. 4 : 38, 39; M. 8 : 14, 15; Mc. 1 : 29-31.) De la congrégation, Jésus passa dans la maison de la belle-mère de Simon, de celui qui, plusieurs mois auparavant, l'avait reconnu pour le Messie et qui marchait avec lui [2721, 2810]. La malade était mère de la femme de Simon et non pas la seconde femme de son père; le mot grec l'exprime positivement. Nous ne ferions pas cette remarque s'il n'importait d'établir, à cause des erreurs catholiques, que ce futur apôtre et ce prétendu premier pape, fut marié. Plus tard même nous verrons que sa femme continua d'être sa compagne dans les travaux de son apostolat. Or, la belle-mère de Simon avait une grosse fièvre. A la requête de ses disciples, Jésus parla à la fièvre, comme il avait parlé au démon, et cette femme fut si promptement et si complétement guérie, que, s'étant levée sur-le-champ, elle se mit à servir ceux qui étaient là, savoir Jésus et, avec lui, Simon, André, Jean et Jacques, comme on le voit par le récit de saint Marc.

2816. Quelque grave que pût être la fièvre qui dévorait cette femme, il en est une plus funeste encore : c'est la fièvre des passions. La morale humaine enseigne divers moyens pour calmer cette fièvre; mais ces moyens ne sauraient la guérir complétement, et s'ils parviennent quelquefois à la couper, ils laissent l'âme dans toute sa faiblesse. Il n'y a que Jésus et sa grâce, la pensée de Jésus et l'action de son Esprit, la prière à Jésus et la foi en lui, qui puissent arrêter la passion dans la violence de son cœur, et la remplacer aussitôt par un entier retour au service de Dieu. C'est ce que tout chrétien connaît par expérience.

2817. (L. 4 : 40, 41; M. 8 : 16-18; Mc. 1 : 32-34.) A peine Jésus eut-il pris quelques moments de repos, qu'il dut reparaître devant la multitude. Le soir était venu, et on lui apportait un grand nombre de malades afin qu'il les guérît, ce qu'il faisait en posant la main sur

(**Luc 4** : 42-44. **5** : 1-5; 6-8. **Marc 1** : 35-39.)

eux, pour signifier l'influence mystérieuse qui sortait de lui et leur communiquait la santé. Parmi ces malades se trouvaient des démoniaques, et, comme les démons criaient qu'il était le Christ, le Fils de Dieu, Jésus leur imposa silence, ne voulant recevoir d'eux aucun témoignage; car si le Seigneur se plaît dans l'honneur qui lui est rendu par ses rachetés, il ne saurait accepter les hommages involontaires que la frayeur arrache quelquefois de la bouche des méchants.

2818. Toutes ces guérisons, nous dit saint Matthieu (**8** : **17**), servaient d'ailleurs à accomplir la prophétie d'Esaïe : (**53** : 4), prophétie conçue en ces termes : « Il a pris nos infirmités et il a porté nos maladies. » Pourtant notre Seigneur ne prenait pas sur lui proprement les maladies qu'il guérissait; mais la maladie est l'effet du péché, et de plus toutes ces guérisons figuraient la guérison qu'il est venu apporter à nos âmes; tel était le sens de cette prophétie [2246]. C'est là ce qui nous autorise à voir, par exemple, dans le rétablissement de la belle-mère de Simon une image de la santé spirituelle que la grâce du Seigneur rend à une âme dévorée par la fièvre des passions, et dorénavant nous n'oublierons jamais ce genre d'enseignement.

2819. (L. **4** : 42-44; Mc. **1** : 35-39.) Le lendemain, Jésus se leva qu'il faisait encore obscur, et dès que le jour parut il se retira dans un lieu désert ou écarté, afin d'être seul et de se recueillir dans le sein de son Père; grand exemple pour ceux mêmes dont les occupations ont le plus de rapport avec celles de notre Seigneur. Comme il était là, Simon et les autres vinrent lui annoncer que la foule le cherchait. Bientôt elle arriva sur les pas des disciples; mais, malgré leurs instances, Jésus, qui se devait à tous, quitta Capernaüm pour faire une tournée de prédication dans les autres villes et bourgades de la Galilée, et il alla seul, paraît-il.

2820. (Luc **5** : 1-5.) Pendant ce temps, les disciples étaient retournés à leurs occupations ordinaires. Mais bientôt, celui qui avait sur eux des desseins pleins de miséricorde ne tarda pas à les rejoindre près de leur beau lac, afin de leur adresser une vocation définitive [2723, 2810]. A peine arrivé, une grande foule se réunit autour de lui, et, pour être mieux entendu, il monta sur la barque qui appartenait à Simon et à ses associés, Jacques et Jean, fils de Zébédée. Après avoir pêché toute la nuit, ils étaient à raccommoder leurs filets, quand le Seigneur parut sur le rivage auquel ils avaient amarré leurs deux barques.

2821. (6-8.) Jésus ayant achevé le discours qu'il tenait au peuple

(**Luc 5** ; 9-11.)

réuni sur la rive, invita Simon à pousser sa barque en avant et à jeter ses filets. Tentative bien inutile, pensa le fils de Jonas (Jean 1 : 43), car ils avaient pêché toute la nuit sans rien prendre, et chacun sait que la nuit est le moment le plus favorable pour la pêche. Cependant, telle était déjà sa confiance en Jésus que, sur sa parole, ils jetèrent le filet. Heureux ceux qui font et croient sans hésiter ce que dit la sainte Parole du Dieu fort!

2822. Rien ne donne une idée de la multitude de poissons que renferme un lac poissonneux comme l'était celui de Génézareth. Le Seigneur, qui dispose à son gré de toutes choses [718], fit venir dans le filet de Simon une telle pêche, que les mailles se rompaient et que les barques semblaient vouloir enfoncer; je dis les barques, car Simon et André avaient fait signe à Jacques et à Jean de venir à leur aide. Mais quand Simon eut vu cela, lui dont les impressions étaient vives et promptes, il se jeta aux genoux de Jésus en s'écriant : « Retire-toi de moi, parce que je suis un homme pécheur. »

2823. Ce n'était pas le premier miracle dont il fût témoin; mais celui-ci, relatif au métier qu'il faisait dès sa jeunesse, avait pour lui quelque chose de particulièrement impressif. Aussi, à l'aspect de cet acte de la puissance divine, Simon éprouve un effroi comme celui de Moïse et de bien d'autres en de telles circonstances [2606]; puis, de même qu'Esaïe, il n'a qu'une pensée et un sentiment, c'est le sentiment de ses péchés et la pensée du jugement de Dieu [2158]. S'il avait mieux connu Jésus et l'œuvre qu'il était venu faire, il ne lui aurait pas dit : « Retire-toi de moi, » mais au contraire : « Reçois-moi et me sauve; » toujours est-il qu'il est bon de se reconnaître pécheur devant Dieu : c'est l'œuvre de la grâce divine dans son principe.

2824. (9-11.) L'émotion de Simon se communiqua bientôt à ses associés; mais Jésus leur fit entendre la parole encourageante que Moïse, Gédéon, Esaïe, Zacharie, Marie, les bergers de Bethléhem avaient précédemment ouïe de sa bouche ou de sa part : « Ne craignez point. » Puis il dit pour la seconde fois à Simon : « Dès maintenant tu seras preneur d'hommes vivants » [2810].

2825. C'est dans cette prophétie du Seigneur que nous devons voir le vrai sens du miracle. Certes, ce n'était pas pour enrichir les fils de Jonas et de Zébédée qu'il leur avait procuré cette merveilleuse pêche, tout au plus était-ce pour leur montrer qu'il avait le pouvoir de leur donner mieux que ce qu'ils laisseraient; car, obéissant à son appel,

(**Matthieu 4** : 23-25. **5** : 1, 2; 3-12.)

ils quittèrent tout, selon son ordre, et voilà ces nouveaux Elisées qui vont être les serviteurs d'un prophète plus grand qu'Elie [1944]. Il est grand, en effet, Celui qui, non-seulement prédit ainsi l'avenir, mais qui tient cet avenir en sa main. « *Je vous ferai* devenir....,» comme lorsqu'il disait à Abraham : « *Je multiplierai* très abondamment ta postérité » (Gen. **22** : 17). Notre Seigneur voulait donc faire de ces pauvres pêcheurs de Bethsaïda des messagers de la bonne nouvelle, et, de trois d'entre eux surtout, de Simon, de Jacques et de Jean, les principaux témoins de ses souffrances et de sa gloire. C'est pour cela qu'il les prend à lui d'une manière qui devait tout à la fois frapper leur esprit et déterminer leur volonté, en leur annonçant la nature et les succès de leur noble ministère. La prédication qu'ils feront de l'Evangile sera semblable à un filet où Dieu réunira par la puissance de sa grâce une foule innombrable d'hommes. Il n'en sera pas de ceux-ci toutefois comme des poissons arrachés de l'élément où ils vivent, pour être transportés dans celui où ils ne peuvent que mourir : au contraire, c'est de la mort à la vie que passeront les âmes qui seront recueillies dans leur filet! Voilà ce que signifient la pêche miraculeuse et la parole prononcée alors par Jésus-Christ, nouvelle preuve que les miracles de notre Seigneur ont tous une voix qu'il faut savoir entendre et discerner.

## CCXVI. — Le sermon de la montagne.

2826. (Matth. **4** : 23-25; **5** : 1, 2.) Saint Matthieu nous dit l'enthousiasme général qu'excitaient en ce temps la présence du Seigneur et la manifestation de sa puissance. Pour se soustraire à la foule, il monta sur une montagne. Là, s'étant assis au milieu de ses disciples, il leur adressa l'admirable discours qui est connu sous le nom de « Sermon de la Montagne. »

2827. (3-12.) Rien n'était plus propre à saisir l'attention de ses auditeurs que la manière dont notre Seigneur commença. Non-seulement il donne à ses maximes cette forme paradoxale qui plaît à l'esprit humain [1875], mais encore il fait vibrer, dès l'entrée, une corde dont le son résonne de même dans tous les cœurs. Qui ne désire en effet d'être heureux! L'homme créé primitivement pour le bonheur, ne saurait renoncer à l'espoir de le posséder tôt ou tard, d'une manière ou d'une autre; mais par une conséquence naturelle de la chute, il lui est impossible d'être heureux ici-bas, et même de découvrir où

(**Matthieu 5** : 3; 4; 5.)

se trouve la vraie félicité. Le Seigneur seul, lui qui est le Dieu bienheureux, peut nous en faire connaître le chemin. Avec quel sérieux ne devons-nous donc pas écouter ce qu'il va nous dire?

2828. (3.) « Bienheureux, d'abord, sont les pauvres en esprit » ou les pauvres, au sens spirituel de ce mot; c'est-à-dire les pécheurs qui sentent leur misère, qui, humiliés et suppliants, vont à Dieu comme un indigent s'approche de l'homme riche duquel il attend une aumône. Bienheureux sont ces pauvres-là, « car le royaume des cieux est à eux. » Le royaume annoncé par les prophètes et entre autres par Daniel, prêché par Jean et par Jésus lui-même [2808], le royaume que le Seigneur allait constituer, ce royaume spirituel et céleste, Dieu le donne aux humbles et aux petits.

2829. (4.) « Bienheureux ceux qui sont dans le deuil! » Avec le péché, les larmes sont venues sur la terre. L'homme donc étant pécheur, l'affliction lui vaut mieux que la joie, car l'une est plus réellement en harmonie avec son état que l'autre. Cependant, on ne saurait dire d'une manière absolue que tous ceux qui pleurent seront tôt ou tard consolés, puisqu'il y a aussi dans la vie à venir des pleurs et des grincements de dents, et que ces horribles douleurs ne sont pas réservées seulement aux heureux du siècle. Quels sont donc les affligés qui seront très certainement consolés, selon la parole immuable du Seigneur? Ce ne peut être que ces mêmes « pauvres » auxquels le royaume des cieux appartient (3); savoir, les fils et les filles d'Adam que le sentiment de leurs péchés met dans le deuil, et pour lesquels, en conséquence, les maux de la vie sont réellement salutaires. C'est à eux et à eux seuls qu'appartiennent les consolations de l'Evangile (Esaïe **40** : 1).

2830. (5.) « Bienheureux ceux qui sont doux, » ou débonnaires. Il y a une douceur, une bonté naturelle, dont les défectuosités se trahissent par la faiblesse de caractère et l'indolence : telle fut la trop grande bonté du sacrificateur Héli [1307]. Il est, d'autre part, une douceur et une débonnaireté, compagnes de la force et de la résolution; c'est un des plus beaux fruits de la grâce de Dieu, car cette débonnaireté a toujours pour principe chez un homme le sentiment vrai de sa misère et de la présence habituelle du Seigneur : ce fut le noble caractère d'Abraham [281] et de son arrière-petit-fils Joseph [549]. L'un et l'autre héritèrent de la terre; car, quoi qu'on en dise, ce ne sont pas les gens les plus hardis, les plus tenaces, les plus difficultueux, qui réussissent le mieux ici-bas. Si les débonnaires sont quel-

quefois victimes de leur charité, en général on les respecte d'autant plus qu'ils exigent moins de la part de leurs frères, et le bonheur vient en quelque sorte au-devant d'eux comme un héritage. Mais, dans la bouche de notre Seigneur, la terre signifie quelque chose de mieux que la terre maudite sur laquelle nous vivons un petit nombre d'années. Il y a une nouvelle terre, une autre Canaan qui nous est promise (2 Pierre 3 : 13) ; c'est là surtout qu'est assurée la portion des chrétiens débonnaires.

2831. (6.) Dans ce séjour du repos qu'attendent les croyants, la justice seule habite ; aussi notre Seigneur déclare-t-il « bienheureux ceux qui ont faim et soif de la justice. » Ce dernier mot peut s'entendre de plusieurs façons. D'abord il est synonyme de *sainteté*, et il est vrai que c'est une bonne chose que de désirer d'être saint, pourvu qu'on désire de l'être à la manière de Dieu et non à la manière des hommes ; pourvu qu'on aspire à la plus haute sainteté possible, et non pas à une sainteté moyenne ; pourvu que ce désir soit semblable à la faim et à la soif, besoins qu'on ne saurait satisfaire en se payant de vaines apparences. Ah ! si quelqu'un désire la justice, comme il désire du pain quand il a faim, et de l'eau quand il a soif, ce désir-là lui aura sûrement été inspiré par le Saint-Esprit, et tôt ou tard il sera satisfait. Or voici comment :

2832. Chaque effort, chaque pas vers la sainteté parfaite, nous montre combien elle est de difficile accès. C'est pourquoi, de plus en plus pauvre à sa propre estime [2828], de plus en plus affligé [2829], de plus en plus doux et humble, on cherche auprès de Jésus la *justice* de la foi, à laquelle toute l'Ecriture rend témoignage (Gen. 15 : 6 ; Habac. 2 : 4) ; l'âme a faim et soif de Dieu (Ps. 42 : 3), et l'on finit par acheter sans argent et sans aucun prix du vin et du lait (Esaïe 55 : 1). Ainsi donc « bienheureux sont ceux qui, sans se lasser, désirent le pardon de leurs péchés et toutes les grâces du Seigneur Jésus ; ils entrent ainsi dans la voie de la sainteté et de la justice, pour y marcher d'un pas à la fois sûr et rapide. En vertu même de la grâce qui les réconcilie avec Dieu, « ils seront rassasiés. »

2833. (7.) Celui qui croit en Jésus, comme Sauveur, a déjà reçu miséricorde [2772], mais c'est au dernier jour proprement que la grâce qui lui est faite sera pleinement manifestée. D'ailleurs, ici-bas même, il ne cesse d'avoir besoin que la miséricorde divine le garde, le fortifie, le soutienne et le console, sans parler du support et des pardons qu'il a si souvent à solliciter de la part de ses frères. « Bien-

(**Matthieu 5** : 8; 9; 10-12.)

heureux donc sont les miséricordieux, car miséricorde leur sera faite. » De tous les signes auxquels on peut le plus sûrement reconnaître qu'on a été reçu en grâce et qu'on a part à la miséricorde éternelle du Père, il n'en est pas de plus caractéristique; et, si nous sommes miséricordieux, compatissants, prompts à pardonner, ne doutons pas que nous ne trouvions auprès de Dieu et de nos frères toute l'indulgence que réclame notre misère.

2834. (8.) Y a-t-il quelqu'un ici-bas qui puisse dire : « J'ai purifié mon cœur et je suis net de mon péché? » (Prov. **20** : 9.) Non, sans doute, mais il est une purification intérieure qui vient de Dieu par le Saint-Esprit et dont la foi est le point de départ [2754]. Il y a donc, par la grâce du Seigneur, des pécheurs qui sont purifiés, dont le cœur se remplit ainsi de droiture, d'intégrité, de saintes intentions [2724], et chez qui les pensées et les affections spirituelles luttent sans relâche contre les mauvaises convoitises [524]. C'est de tels hommes que Jésus est le Sauveur, et il déclare qu'ils verront Dieu dans son royaume céleste.

2835. (9.) Il ne doit pas suffire à l'enfant de Dieu de vivre en paix avec tout le monde; il faut encore qu'il s'efforce de faire régner la paix sur la terre. Tandis que les fils de ce siècle semblent quelquefois prendre à tâche de semer les divisions et d'exciter les querelles; ceux qui sont humbles, doux, miséricordieux et purs font tout ce qui dépend d'eux pour calmer et rapprocher les cœurs aigris et divisés. Et puis, ils savent où est la source de toute vraie paix; ils savent que celui qui jouit de la paix d'en haut ne saurait se plaire dans la haine et dans les querelles; c'est pourquoi leurs vœux et leurs efforts tendent surtout à réconcilier les âmes avec Dieu. Or Jésus, le grand pacificateur, est appelé le Fils de Dieu; on doit donc envisager comme fils et filles du Très-Haut ceux qui, de tout leur cœur, font une œuvre semblable à la sienne.

2836. (10-12.) Etre persécuté, ce n'est pas seulement subir l'amende ou la prison, se voir bannir de son pays ou conduire à l'échafaud : la haine, le mépris, les outrages, la privation d'un droit quelconque, quand c'est pour cause de religion, tout cela est de la persécution. Or, notre Seigneur, prédisant à ses disciples qu'ils seront persécutés, déclare en même temps que leur récompense sera d'autant plus grande dans le ciel. Il exprime de quatre manières différentes le bonheur de ceux qui souffrent persécution : le royaume des cieux est à eux; ils ont dans ce fait même de quoi se réjouir; un

(Matthieu 5 : 10-12.)

grand salaire leur est assuré; leurs souffrances les assimilent aux prophètes des anciens temps. Rappelez-vous entre autres Jérémie, Daniel, Moïse.

2837. Mais remarquez les précautions que prend notre Seigneur pour que ceux qui sont victimes de la persécution ne voient pas trop aisément dans leurs maux la garantie du bonheur céleste. Il le fait sous trois formes différentes. Vous serez bienheureux, dit-il, si vous souffrez réellement pour la justice; si c'est bien à cause de moi qu'on vous outrage; si enfin c'est en mentant qu'on dit du mal de vous. Supposez, par exemple, un chrétien qui aurait encore un attachement trop vif pour les biens du monde; s'il s'attire le mépris des hommes par son avarice, on ne pourra pas dire que c'est en mentant qu'on dit du mal de lui, et il n'aura pas lieu de se réjouir du mépris dont il est légitimement l'objet. Bien que cet homme fasse profession d'appartenir à Jésus, ce n'est pas pour le nom de Jésus qu'il souffre, ni pour la justice qui vient du Ciel.

2838. Du reste, je dois le dire, encore que ces déclarations et ces promesses s'adressent à tous les vrais chrétiens, elles concernent particulièrement ceux qui, de manière ou d'autre, continuent, au milieu de ce monde méchant, l'œuvre sainte des anciens prophètes. Nul n'est menacé plus qu'eux de la persécution et nul plus qu'eux n'a le droit de la bénir. Mais quand on pense de quelles passions les meilleurs d'entre les hommes souillent leurs plus belles œuvres; par combien de vanité, d'attachement à son propre sens, d'esprit de parti, de paroles peu charitables, on compromet si souvent la cause de l'Evangile, il faut avouer que ceux mêmes qui souffrent le plus manifestement à cause du témoignage qu'ils rendent au Seigneur, ont mille sujets de s'humilier. Ce n'est pas toujours en mentant qu'on dit du mal d'eux, ni toujours de la justice de Christ qu'ils défendent les intérêts, lorsqu'ils défendent leur personne et leurs actes.

2839. Si maintenant nous jetons un coup d'œil sur l'ensemble de ces béatitudes, nous les admirerons toujours davantage. On peut en extraire un tableau complet de l'homme que Dieu aime et du bonheur qu'il lui accorde. L'homme aimé de Dieu est celui qui est humble, qui pleure sur ses fautes, qui est doux et débonnaire, qui désire ardemment et recherche sans se lasser la vraie justice, qui compatit, supporte et pardonne, qui nourrit en son cœur des affections pures et de pieuses pensées, qui est ici-bas un messager de paix, et qui, remplissant de son mieux ce plus saint des devoirs, se voit néanmoins

en butte aux persécutions des méchants. Puis, le bonheur de l'homme que Dieu aime, s'exprime en ces termes magnifiques : « Le royaume des cieux est à lui, il sera consolé, il héritera de la terre, il sera rassasié, il lui sera fait miséricorde, il verra Dieu, il sera appelé fils de Dieu, enfin, il a un grand salaire dans le ciel ! » Pesez, méditez ces promesses, et voyez si elles n'ont pas de quoi gagner vos cœurs à Celui qui les a faites et qui les veut certainement accomplir.

2840. (13-16.) Le Seigneur, continuant de s'adresser directement à ses disciples : « Vous êtes le sel de la terre, leur dit-il, la lumière du monde, une ville située sur le haut d'une montagne. » Ces trois images ont un sens qui n'est pas difficile à saisir. Comme le sel relève le goût des aliments et préserve les viandes de la putréfaction, ainsi les chrétiens donnent à ce monde sa saveur et empêchent qu'il ne se corrompe tout à fait. C'est du reste une vérité de tous les temps. Notre globe aurait été mille fois détruit par les jugements de Dieu, si le Saint-Esprit n'avait pas constamment préservé quelques hommes de la contagion du mal, et maintenu par eux un peu de piété parmi les fils d'Adam.

2841. Le moyen surtout par lequel les fidèles sont une bénédiction pour le monde, c'est la foi qu'ils professent et les saintes doctrines qu'ils répandent. Il leur est donné de réfléchir quelques rayons de la lumière du soleil de justice [2697], et c'est ce qui les met en évidence, qu'ils le veuillent ou non. De tout cela résultent pour eux de graves obligations. D'abord, malheur au sel si, par impossible, il perdait sa saveur ! Un chrétien qui tombe dans le désordre, ne fût-ce que momentanément, s'expose plus que personne au juste mépris des hommes ; « il n'est bon qu'à être jeté dehors et foulé aux pieds » [1529]. Puis, si nous sommes vraiment éclairés d'en haut, nous comprendrons que nous ne devons pas garder pour nous seuls notre lumière ; car si l'on allume une lampe, ce n'est pas pour qu'elle s'éclaire elle-même, encore moins pour qu'on la mette sous un boisseau, ou, comme nous dirions, dans une armoire, mais c'est afin qu'elle illumine tout l'appartement. Il faut donc que notre foi brille devant les hommes, non en paroles uniquement, mais en bonnes œuvres. De cette manière nous ferons honneur à Celui que Jésus-Christ appelle ici notre Père, et auquel nous ne saurions donner ce titre, si nous n'avons pas la foi et la vie de ses enfants.

2842. (17.) Si, après cela, vous voulez savoir ce que le Seigneur entend par les bonnes œuvres, suivez son discours jusqu'au bout.

(**Matthieu 5** : 18, 19.)

Vous y verrez d'abord une déclaration qui pouvait sembler inutile, mais dont l'expérience n'a que trop démontré la nécessité. Parce que Jésus s'est élevé contre les traditions des scribes et les ordonnances humaines en matière de religion, parce qu'il est venu remplacer l'économie légale par celle de la grâce (Jean 1 : 17); c'est-à-dire, au fond, parce qu'il nous a sauvés de la malédiction de la loi et affranchis du joug des ordonnances cérémonielles, il est des gens qui ont parlé et agi comme s'il n'y avait plus de loi pour les rachetés de Jésus-Christ; ce sont eux qu'on appelle les *Antinomiens*. Ce n'est donc pas sans utilité que notre Seigneur a déclaré qu'il n'est venu abolir, ni la loi ni les prophètes; c'est-à-dire aucune partie de l'Ancien Testament.

2843. L'œuvre de Jésus-Christ a été une œuvre d'accomplissement et non de destruction; il a bien plutôt édifié que démoli. Il est vrai qu'il a rendu inutiles les anciennes cérémonies, mais c'est que les types se sont tous réalisés en lui. Bien plus, parmi ces types, il en est dont le sens n'est pas épuisé et qui demeurent comme prophéties des temps à venir. Quant à la loi morale, notre Seigneur l'a certainement accomplie, et par son obéissance et par sa mort, ainsi que nous le verrons. Comme nous le verrons également, il lui a ôté tout ce par quoi elle ne peut que nous perdre; mais elle n'en subsiste pas moins dans sa force et dans sa beauté pour servir de règle à notre conduite. La loi de Dieu est immuable par essence, et la Bible entière, inspirée de Dieu, demeurera vraie jusqu'à la fin des temps, non pas dans ses grands traits seulement, mais dans ses moindres détails, jusqu'à un iota (la plus petite lettre de l'alphabeth, notre i), et même à un accent (18). Le monde matériel passera, car son existence n'est nécessaire, ni à Dieu, ni au bonheur de ses créatures intelligentes; quant à la loi au contraire, expression de ce que Dieu est, condition indispensable de tout ordre moral, elle ne cessera de proclamer, dans le ciel comme sur la terre, l'obligation d'aimer Dieu de tout son cœur et son prochain comme soi-même [1007, 900].

2844. (19.) S'il en est ainsi, tout docteur qui aura construit le système évangélique de manière à affaiblir (vrai sens du mot qu'on a traduit par *violer*), à affaiblir, dis-je, le sentiment de l'obligation morale, à diminuer l'autorité et l'importance de la loi, sera petit dans le royaume des cieux. Il est possible que ses erreurs ne soient pas assez graves pour le priver du salut; toujours est-il que, dans le règne de la grâce, il occupe un rang inférieur aux prédicateurs de l'Evangile qui, tout en prêchant le salut gratuit, maintiennent la majesté de la

loi de Dieu. Il faudrait peut-être ici quelques exemples, mais ils se présenteront d'eux-mêmes dans la suite de ces Etudes.

2845. (20.) Au reste, voici déjà ce que nous cherchons. Les scribes et les pharisiens estimaient que l'homme peut et doit se faire juste par ses œuvres, la justice consistant, à leurs yeux, dans l'observation des commandements. Par là, ils semblaient glorifier hautement la loi de Dieu; mais, au contraire, leur doctrine tendait à l'affaiblir. Comme il n'y a pas moyen, après tout, qu'on s'élève jamais, par ses efforts, jusqu'à la sainteté parfaite de la loi, on est obligé, pour se mettre de niveau avec elle, de la rabaisser jusqu'à soi. On arrange les commandements du Seigneur de manière à pouvoir se persuader qu'on les a parfaitement accomplis, et voilà comment on parvient à établir sa propre justice. Mais cette justice n'est pas la vraie, et, par cette raison, Jésus dit à ses disciples : « Si votre justice ne surpasse celle des scribes et des pharisiens, vous n'entrerez pas dans le royaume de Dieu. »

2846. Au nombre de ces hommes, il y en avait d'honnêtes, de moraux; plusieurs ne manquaient pas d'une certaine piété; mais, en définitive, leur justice était une justice humaine, et, pour pouvoir entrer dans le royaume des cieux, il faut une justice divine. Rien ne saurait plaire à Dieu que ce qui vient de lui et qui lui ressemble. C'est pourquoi, la justice supérieure à celle des scribes et des pharisiens, c'est la justice de la foi [2605]. En nous unissant à Christ, cette foi nous fait avoir part à son sacrifice; par ce sacrifice, nos péchés sont expiés et nous recevons l'Esprit de sanctification. Or cet Esprit donne l'intelligence de la vérité, il répand l'amour de Dieu dans les cœurs, il enseigne la parfaite obéissance, et, conduits par lui, les rachetés du Sauveur gardent ses commandements, qu'ils ne trouvent point pénibles (1 Jean 5 : 3). Il se peut très bien que ceci ne fût pas compris de la sorte par les auditeurs de Jésus-Christ, mais plus tard, comme vous le verrez, ses disciples ne purent pas douter que telle n'eût été sa pensée.

## CCXVII. — **Le sermon de la montagne.** (Suite.)

2847. (5 : 21, 22.) Pour prouver tout à la fois, et qu'il n'était point venu abolir la loi, et que la justice qu'il donne est supérieure à celle des scribes et des pharisiens, notre Seigneur va passer en revue quel-

(**Matthieu 5** : 23-26.)

ques-uns des commandements de Dieu et nous dire comment il les faut entendre et pratiquer.

2848. D'abord c'est le sixième (Exode **20** : 13). Les docteurs juifs pensaient qu'il suffisait de n'avoir jamais tué pour qu'on eût observé cette loi. Mais notre Seigneur nous enseigne que la colère, l'outrage et l'insulte sont, au sens spirituel, des péchés de meurtre. Il y a sans doute une sainte colère [449, 838, 991, 2742], mais il en est une qui est passionnée, émotion violente d'une âme qui, ne se possédant plus, s'emporte loin de Dieu; haine d'un moment, si l'on veut, mais qui ne laisse pas quelquefois de pousser jusqu'au crime. Un même tribunal punira les hommes colères et les meurtriers. Quant à celui qui traite son frère d'homme de rien, sens du mot *raca*, il comparaîtra devant un juge supérieur aux tribunaux ordinaires. Enfin la géhenne du feu est préparée pour celui qui insulte son prochain, même dans les termes les moins offensants en apparence, tant ils sont devenus familiers aux lèvres d'un monde dépourvu de charité. Pour le dire en passant, le mot *géhenne* paraît formé de deux mots, l'un grec, l'autre hébreu. Il signifie *la terre*, ou *la vallée de Hinnom*, endroit fameux par les horribles boucheries de sang humain qui s'y firent au temps de l'impie Manassé (2 Chron. **33** : 6; 2 Rois **21** : 16). C'est l'expression dont le Seigneur se sert fréquemment pour désigner les peines du siècle à venir.

2849. Voyez donc à quoi l'on s'expose en transgressant la loi de Dieu dans une mesure quelconque. La moindre transgression porte d'une manière ou d'une autre sur un grand commandement. Que de gens, hélas ! qui ont réellement versé le sang de leur prochain ! mais qui comptera tous ceux qui seront jugés comme meurtriers? Est-il exagéré de dire qu'au dernier jour, il n'y aura pas un seul des réprouvés qui ne demeure convaincu en sa conscience d'avoir violé le sixième commandement, sinon dans sa lettre, du moins dans son esprit? Et vous qui lisez ces lignes, ne direz-vous pas avec David : « O Dieu, délivre-moi de tant de sang? » (Ps. **51** : 14.) Ne sentirez-vous pas le besoin que vous avez d'une expiation ; et si déjà vous avez saisi par la foi le salut dont Jésus-Christ est l'auteur, ce salut ne vous deviendra-t-il pas tous les jours plus précieux?

2850. (23-26.) Cependant nous n'avons pas encore le sens complet du sixième commandement. Il ne suffit pas d'être innocent de meurtre, de colère, d'outrages et d'insultes; il ne suffit même pas d'avoir le cœur pur de toute haine : le chrétien éprouve de plus le besoin que

(**Matthieu 5** : 27, 28; 29, 30.)

nul ne conserve de mauvais sentiments à son égard. Si donc nous nous apercevons qu'un de nos frères se croit offensé par nous, n'importe de quelle manière, nous nous hâterons de lui tendre une main de réconciliation. Tant que nous ne l'aurons pas fait, il ne nous est pas permis de porter nos prières devant le trône de la grâce. Ah! voilà certes un précepte bien oublié, et une extension de la loi de Dieu à laquelle ils ne pensent guère, ceux qui se croient purs de tout péché.

2851. Et s'il se trouve que nous nous soyons réellement rendus coupables de quelque tort envers notre prochain, il s'agit de le reconnaître au plus tôt, d'en obtenir le pardon de la part du frère que nous avons offensé; autrement le juge vers lequel nous marchons tous exigera jusqu'à notre dernier sou le payement de la dette. Quand nous manquons à nos frères, c'est Dieu même que nous offensons. Si notre frère nous pardonne, il ne s'ensuit pas nécessairement que Dieu nous pardonne aussi; mais il est clair que si nous ne faisons rien pour réparer nos torts envers le prochain, nous ne saurions nous attendre qu'à un juste jugement de la part du Seigneur. Tel me paraît être le sens de cet enseignement, bien qu'on doive, en partie du moins, l'envisager comme une parabole, ainsi que nous le remarquerons plus tard.

2852. (27, 28.) Du sixième commandement, notre Seigneur passe au septième (Exode **20** : 14). Après avoir déclaré que celui qui hait est meurtrier, il déclare pareillement que celui qui convoite une femme est adultère, car il ne lui manque que les moyens et l'occasion [1528]; et si cela est vrai de l'homme, ce l'est plus encore de la femme, intérieurement perdue sitôt qu'elle cesse d'être chaste et modeste dans ses pensées.

2853. (29, 30.) Mais comment ferons-nous pour que de mauvais désirs ne s'élèvent pas dans nos cœurs et n'y jettent pas leurs souillures? Notre Seigneur nous le dit en des termes figurés qui sont d'une grande force. Il faut, à tout prix, nous séparer de ce qui nous excite au mal. Quelque attrait qu'aient pour vous certains livres si entraînants, certaines localités si favorables à la rêverie, certaines sociétés si amusantes, certaines habitudes si flatteuses pour les sens, jetez, fuyez, rompez tout cela. Sans doute, vous auriez beau vous arracher les yeux et vous couper les mains, vous n'ôteriez pas ainsi de vos cœurs toute convoitise; par conséquent la Parole du Seigneur ne doit pas être prise à la lettre. Et pourtant elle est vraie; car il y a des per-

(**Matthieu 5** : 31, 32; 33-37.)

sonnes et des choses qui peuvent vous être chères comme la prunelle de vos yeux, précieuses comme votre main droite, et qu'il s'agit toutefois de ne pas épargner si elles vous entraînent au mal.

2854. Puis, voyez si l'on peut imaginer quelque chose de plus propre à inspirer l'horreur du péché et des peines terribles dont Dieu le menace. Celui qui pratique l'iniquité se fait plus de mal que s'il s'arrachait un œil ou se coupait la main droite. Etre aveugle ou manchot n'est rien, en comparaison de la misère des réprouvés et des ardeurs de la géhenne [2848]. Après de telles déclarations, livrez-vous, sans scrupule, aux pensées impures de votre mauvais cœur, à vos convoitises charnelles, à vos penchants déréglés! Mais, si vous le faites, ne dites pas que votre âme ait la moindre crainte de Dieu.

2855. (31, 32.) A ceci se rattachent les devoirs du mariage, de cette sainte union que rien ne peut dissoudre, si ce n'est la mort ou l'inconduite des époux. Sous l'ancienne loi, l'Eternel avait permis le divorce pour éviter de plus grands maux, mais c'était une loi civile. La loi proprement religieuse est celle que notre Seigneur rappelle. Nous le verrons plus tard revenir sur ce sujet. Il se borne, cette fois, à déclarer qu'une femme ne saurait être répudiée par son mari, sauf pour cause d'adultère, et que si, étant renvoyée par d'autres motifs, elle se donne à un nouvel époux, ils se rendent l'un et l'autre coupables de ce crime, attendu que, selon Dieu, cette femme n'a pas cessé d'appartenir à son premier mari. C'est pourquoi, des époux chrétiens ne sauraient d'aucune sorte songer à la possibilité d'un divorce. Il est des pays où la loi des hommes permet la séparation du mari et de la femme, avec ou sans divorce, alors même que Dieu ne l'a point autorisée; mais, dans aucun cas, le disciple de Jésus-Christ ne se prévaudra de lois qui n'existeraient pas si le monde entier pouvait être chrétien.

2856. (33-37.) La loi de Moïse avait institué le serment (Ex. **22** : 11; Deut. **6** : 13; **10** : 20) et elle avait mis, avec raison, au nombre des crimes, le parjure ou la violation de la foi jurée (Lévit. **19** : 12; Nombr. **30** : 3; Exode **20** : 7). Sans citer des textes exprès, notre Seigneur fait allusion à ces deux circonstances, et voici maintenant ce qu'il ajoute, ou plutôt de quelle manière il exprime la pensée de la loi.

2857. D'abord, ce qu'il condamne, ce n'est pas le serment lui-même, acte de culte parfaitement légitime, et qui est pour l'homme sincèrement pieux une occasion de professer publiquement sa foi. Il

(**Matthieu 5** : 33-37.)

est vrai que, dans la plupart des pays, on a prodigué d'une façon scandaleuse l'usage du serment et que, de cette manière, il est une foule d'individus qu'on tente au parjure; mais ce n'est pas de quoi notre Seigneur a voulu parler. S'il en avait eu l'intention, il aurait pu dire : « Vous avez entendu qu'il a été dit aux anciens : Tu jureras par le nom de l'Eternel; mais moi je vous dis de ne pas jurer du tout, ni par le ciel, ni par la terre, encore moins par le nom de l'Eternel.» Je pense donc que les quakers, et d'autres avec eux, se trompent quand ils prétendent qu'il y a du péché dans toute espèce de serment; mais il serait à désirer que des chrétiens ne tombassent jamais en des erreurs plus fâcheuses; car, quoi qu'il en soit, mieux vaut cet excès de scrupules que la profane légèreté des mondains.

2858. Il s'agit donc ici de ce qu'on appelle les jurements. Ceux dont les Juifs se rendaient coupables étaient bien innocents, en comparaison des profanations impies et des épouvantables imprécations que se permettent de prétendus chrétiens. Ils ne juraient ni le nom de Dieu ni le nom du diable; et toutefois notre Seigneur condamne leurs jurements, en montrant que tout serment, au fond, se rapporte à Dieu, et que ces habitudes impies viennent de Satan. Ne comprenez-vous pas en effet que celui qui, à tout propos, dit « mon Dieu, » ou « ma foi, » traite Dieu et sa foi comme des choses vaines et sans valeur? Et s'il remplace le nom de Dieu par celui de *Père;* s'il prononce *par Di* au lieu de *par Dieu;* de quelque manière qu'il dissimule le jurement, ne se rend-il pas coupable du même péché? Or ce péché est grave assurément, car il en existe peu qui montrent plus à découvert notre abominable penchant à offenser Dieu. Tous les autres s'expliquent par la satisfaction qu'ils procurent à quelqu'une de nos dispositions naturelles; tandis qu'on cherche vainement de quelle passion celui-ci procède, si ce n'est de la passion de pécher pour pécher, ce qui est le cachet même de Satan. La seule excuse tant soit peu plausible, c'est qu'on jure par mégarde; mais c'est dire que le mal est devenu une habitude et que le cœur est vide de Dieu et de foi. Alors on prononce les paroles les plus saintes et en même temps les plus impies, sans y attacher aucune idée, sans réveiller en soi le souvenir de l'Etre qu'on offense avec tant de mépris!

2859. En résumé donc, le chrétien doit se borner à dire oui ou non, suivant qu'il veut affirmer ou nier. Il faut que ses discours soient toujours tellement marqués au coin de la vérité, que personne ne songe seulement à attendre de lui autre chose qu'un oui ou un

(**Matthieu 5** : 38-42; 43-47.)

non. Ce n'est pas qu'il ne puisse, suivant les cas, affirmer ou nier avec force; mais, bien loin que les jurements ajoutent quelque valeur à la parole du jureur, ils devraient avoir plutôt pour effet d'exciter des doutes sur sa véracité.

2860. (38-42.) « Œil pour œil, » « dent pour dent; » cette parole se trouve en effet dans la loi de Moïse (Exode **21** : 23-25); mais elle appartenait à la loi civile, et les Juifs avaient eu l'immense tort d'en faire une règle de conduite entre les particuliers, comme s'il avait été permis de rendre le mal pour le mal. Afin de combattre une erreur si grave, notre Seigneur emploie un moyen qui devait frapper l'esprit de ses auditeurs. Plutôt que de nous venger, nous devons nous livrer sans défense aux attaques des méchants, à leurs injustices et à leurs vexations. La violence avec laquelle nous défendons nos intérêts et nos droits vient de pur égoïsme et d'attachement excessif aux choses de la terre. Cédons, donnons, prêtons de bon cœur. Peut-être qu'en faisant ainsi nous essuierons quelques pertes, mais heureux sont les débonnaires et ceux qui souffrent pour la justice. Depuis Abel jusqu'à nos jours, les fidèles ont été généralement victimes de la méchanceté des hommes, et nul finalement ne s'en est mal trouvé. D'ailleurs, il n'est pas sûr qu'en suivant avec foi cette marche, ils s'attirent plus de mal que s'ils étaient sans cesse à lutter et à disputer. On a vu des chrétiens qui, par une conscience à mon avis mal éclairée, ont porté jusqu'à ses dernières limites l'observation stricte et littérale de ces divines directions. Le Seigneur n'a pas laissé de les honorer d'une protection spéciale, comme autrefois les Réchabites [2335], parce que, en définitive, c'était dans la simplicité de leur cœur et par la foi qu'ils agissaient.

2861. (43-47.) Jusqu'ici notre Seigneur a réellement cité des paroles de la loi, mais en voici une où il n'est pas possible de reconnaître Dieu. Oui bien dans ces mots : « Tu aimeras ton prochain » (Lév. **19** : 18), mais non pas dans ceux qu'on y ajoutait : « Et tu haïras ton ennemi! » C'est en vain que vous les chercheriez dans la Bible. Vous y lirez, il est vrai, l'ordre donné aux Israélites de châtier les ennemis de Dieu et de détester leurs mauvaises œuvres (Deut **7** : 2, 3); mais on comprend que ce n'était pas les inviter à les haïr d'une haine personnelle, comme les anciens docteurs avaient osé le dire. Il était arrivé de ceci à peu près de même qu'au sujet de la loi « œil pour œil, dent pour dent. » Les Juifs se persuadaient que les étrangers n'étaient pas leur prochain, et qu'il y avait permission, ordre

même de les haïr; nouvelle erreur que notre Seigneur réfute en termes dont il n'y a personne qui n'ait senti la beauté.

2862. Le chrétien est exposé à l'animadversion du monde. Par cela même qu'il est chrétien et que le monde ne l'est pas, celui-ci le maudit, l'outrage, le persécute. Or, comment le chrétien répondra-t-il au monde? En l'aimant, en le bénissant, en lui faisant du bien et en priant pour lui. Admirez la gradation. Si nous aimons nos ennemis, nous les bénirons; si c'est du cœur que nous les bénissons, nous le montrerons en leur faisant du bien; si enfin c'est par un véritable amour que nous leur faisons du bien, nous prierons pour eux. Ce dernier acte est, dans tous les cas, la plus sûre marque de l'intérêt qu'ils nous inspirent; comme aussi, la plupart du temps, l'unique moyen que nous ayons de leur être utiles. L'orgueil trouve quelquefois son compte dans le bien qu'on fait à ses ennemis. Souvent ils prendraient pour une insulte nos bénédictions et nos bons procédés. Souvent encore, ils sont trop nombreux ou trop loin de notre portée pour que nos bienfaits puissent les atteindre; mais nous avons du moins la ressource de les recommander au Dieu des miséricordes.

2863. Notre Seigneur nous présente deux motifs principaux dans le but de nous engager à la pratique de ce grand devoir, accompli déjà d'une manière si admirable par plusieurs saints de l'ancienne alliance, notamment par Joseph, Moïse, David, Jérémie. Le premier, c'est l'exemple de Dieu. Rien d'étonnant comme la patience dont il use envers les méchants et l'abondance de biens qu'il répand sur eux, malgré leur ingratitude. Si donc nous voulons être vraiment les fils et les filles de ce bon Dieu et pouvoir à juste titre le nommer notre Père, soyons, comme lui, pleins de compassion envers ceux mêmes qui ne nous aiment pas.

2864. Et puis, qu'est-ce qu'aimer seulement ceux qui nous aiment, et faire accueil à ceux qui nous font accueil? Qu'y a-t-il là d'extraordinaire? En agir autrement serait un crime; ne faire que cela, ce n'est pas dépasser la vertu des péagers et des païens. Or il faut que notre justice soit plus grande que la leur; le Seigneur ne nous a pas parlé, il ne nous a pas sauvés pour que nous ne fissions rien de plus que ceux qui le méconnaissent. A ce point de vue, le devoir qui nous occupe est donc, parmi les devoirs chrétiens, un des plus élémentaires. Toujours est-il qu'il n'est ni facile, ni commun d'aimer véritablement ses ennemis; il faut, pour le pouvoir, un cœur renouvelé par la grâce de Dieu; ou, en d'autres termes, il n'y a que le vrai

(**Matthieu 5** : 48. **6** : 1-18.)

chrétien qui soit en état de remplir chrétiennement les saintes obligations de la loi.

2865. (48.) Parvenu à ce point de son discours et avant d'entamer un autre ordre d'idées, notre Seigneur se résume dans ces mots si graves : « Vous serez donc parfaits comme votre Père qui est dans les cieux est parfait. » Il est clair qu'il s'agit ici, non d'égalité, mais de ressemblance. Toujours est-il que cette déclaration élève bien haut la doctrine morale de l'Evangile, ou plutôt la morale de la Bible, car ce principe était déjà nettement formulé par l'Ancien Testament (Lév. **19** : 2). La parfaite sainteté, tel est donc le terme vers lequel nous devons aspirer, et, pour savoir en quoi elle consiste, nous n'avons qu'à relire avec sérieux la portion de l'Ecriture qui vient de nous occuper.

## CCXVIII. — **Le sermon de la montagne.** (Suite.)

2866. (Matth. **6** : 1-18.) C'est un seul et même enseignement que notre Seigneur donne ici, bien qu'il semble traiter de trois sujets différents : l'*aumône*, la *prière* et le *jeûne*. Pour faire tomber la chose sous les sens, il suffit de placer en regard les paroles de Jésus.

| | | |
|---|---|---|
| Prenez garde de ne pas faire votre aumône devant les hommes pour en être remarqués; autrement vous n'avez point de salaire auprès de votre père qui est dans les cieux (1). Quand donc tu fais l'aumône, ne sonne pas la trompette devant toi, comme font les hypocrites dans les congrégations et dans les rues pour être honorés des hommes (2). | Et lorsque tu pries ne fais pas comme les hypocrites; car ils aiment à prier en se tenant debout dans les congrégations et au coin des rues, pour être vus des hommes (5). | Et lorsque vous jeûnez ne vous faites pas un air triste comme les hypocrites; car ils se rendent le visage abattu, afin qu'il paraisse aux hommes qu'ils jeûnent (16). |
| Amen, je vous dis, ils reçoivent leur salaire (2). | Amen, je vous dis qu'ils reçoivent leur salaire (5). | Amen, je vous dis qu'ils reçoivent leur salaire (16). |
| Mais quand tu fais l'aumône, que ta gauche ne sache pas ce que fait ta droite (3); afin que ton aumône soit dans le secret, et ton Père, qui voit dans le secret, te récompensera lui-même en public (4). | Mais toi, lorsque tu pries, entre dans ton cabinet, et ayant fermé ta porte, prie ton Père qui est dans le secret; et ton Père qui est dans le secret te récompensera en public (6). | Mais toi, quand tu jeûnes, oins ta tête, et lave ton visage (17), afin que tu ne paraisses pas aux hommes jeûner, mais à ton Père qui est dans le secret; et ton Père qui voit dans le secret te récompensera en public (18). |

(**Matthieu 6** : 1, 2; 3, 4.)

2867. Ce rapprochement nous conduit à penser qu'il s'agit ici de trois actes d'un même devoir. En effet, l'aumône, la prière et le jeûne appartiennent tous trois au culte que nous devons à Dieu. L'aumône nous est déjà présentée sous ce point de vue par l'Ancien Testament (Deut. **14** : 22-29; Prov. **19** : 17), et nous verrons que Jésus-Christ et ses apôtres ne lui donnent pas un autre caractère. L'aumône est un hommage de reconnaissance, rendu à Dieu dans la personne des indigents. C'est un sacrifice auquel il prend plaisir (Héb. **13** : 16); mais il faut pour cela que celui qui donne, donne de bon cœur, qu'il donne réellement à Dieu.

2868. (1, 2.) Or si nous faisons des aumônes en vue des hommes, pour en être remarqués et nous attirer leurs éloges, nous aurons fait sans doute envers les pauvres une bonne œuvre; mais nous nous tromperions étrangement quand nous prétendrions que cette œuvre possède en outre une valeur religieuse. L'aumône ainsi faite est un culte hypocrite. Au fond, l'on a voulu s'honorer soi-même, et par conséquent on n'a point honoré Dieu. En agissant de la sorte on parvient à se faire une réputation de bienfaisance et de piété, mais c'est tout le salaire qu'on recevra; car ce n'est pas à l'Eternel qu'on a donné; c'est à soi-même, je le répète, et en se couvrant, par-dessus, du masque de la dévotion et de la charité.

2869. (3, 4.) La véritable aumône est donc celle qu'on fait en secret et sans songer à y rattacher le moindre mérite, selon cette parole du Seigneur : « Que ta main gauche ne sache pas ce que fait la droite. » Donnons aux pauvres par amour pour Celui de qui nous tenons toutes choses, et non pas pour qu'il nous accorde de nouvelles faveurs; que ce soit à lui-même que nous fassions notre offrande, bien plus qu'au pauvre qui nous tend la main; en un mot, agissons par reconnaissance et non par intérêt, c'est ainsi que l'aumône devient un vrai culte.

2870. Est-il donc interdit de placer son nom au bas d'une souscription de bienfaisance, ou même de ne faire aucune aumône en public, par exemple dans les saintes assemblées ou ailleurs, sous les yeux de quelques personnes? En réponse à cette question, observez que le Seigneur ne condamne pas toute aumône *vue*, mais toute aumône *faite pour être vue*. Réfléchissez ensuite qu'on peut donner publiquement, sans songer à se faire un mérite de sa charité, tout comme on peut, bien qu'en s'entourant du plus grand secret, se féliciter en soi-même de sa bienfaisance. Cela vous explique pourquoi l'Eglise chrétienne a pu avoir, dès les premiers temps, des aumônes publi-

(**Matthieu 6** : 5; 6; 7-15; 16-18.)

ques. Toujours est-il que, lorsque nous y versons nos contributions, nous devons surveiller avec soin notre cœur, de peur que nous ne pensions à ceux qui nous voient, plus qu'à celui que nous ne voyons point. Et puis, tenons comme une chose certaine que, si nous ne savons faire l'aumône qu'en public, nous ne savons pas la faire du tout comme le Seigneur le veut.

2871. (5.) L'instruction sur la prière a la même portée. Il n'est pas défendu de prier dans les assemblées, ni même, selon l'occasion, hors de son cabinet comme Isaac (Gen. 24 : 63) ; mais malheur à nous si nous prions « pour être vus des hommes ; » si nous nous rendons à des assemblées religieuses par des considérations humaines ; si nous y affectons un grand air de recueillement, afin d'acquérir un renom de piété ! Il n'y a rien là pour Dieu et par conséquent ce n'est que de l'hypocrisie. De telles prières peuvent nous valoir une certaine estime de la part des hommes, parce qu'ils ne lisent pas au fond du cœur, mais c'est là tout ce qu'il est permis d'attendre en récompense.

2872. (6.) La vraie prière est donc celle du cabinet, celle du cœur, celle qui est une conversation intime avec le Seigneur. C'est cette prière-là qui, au jour de Christ, doit recevoir une récompense publique, par cela même qu'elle est l'œuvre du Saint-Esprit dans notre âme et le canal de toutes les grâces de Dieu. En conséquence, je dis ici comme pour l'aumône, que l'homme qui n'a jamais prié, sinon dans les assemblées publiques des chrétiens ou même dans le culte domestique ; que celui qui ne connaît pas la prière individuelle et secrète ; que celui-là n'a jamais prié véritablement. C'est le cas de tant de gens qui, réduits à une vague religiosité, ne connaissent ni la douceur de la communion avec Dieu, ni son influence sanctifiante.

2873. (7-15.) Avant d'aborder le sujet du jeûne, notre Seigneur prolonge ses enseignements sur la prière ; mais, à raison de leur importance, nous les reprendrons séparément.

2874. (16-18.) Passer une journée entière dans l'abstinence et dans l'humiliation sans qu'il en paraisse quoi que ce soit au dehors, ne fût-ce qu'un plus grand sérieux dans la physionomie, c'est, à la vérité, ce qui serait assez difficile. Mais ici, comme pour l'aumône et pour la prière, la question est de savoir ce qu'on cherche. Jeûne-t-on pour être vu des hommes ? On a des jours régulièrement destinés à cette dévotion ; l'on s'efforce de leur imprimer et de s'imprimer à soi-même un aspect lugubre ; on fait parade d'un acte religieux qui s'y prête moins que nul autre : c'est là ce que faisaient les pharisiens. Au con-

traire, a-t-on résolu en son cœur de consacrer un jour à la prière et à de saintes méditations, et, pour pouvoir s'y livrer tout entier, a-t-on pris le parti de se priver de ses repas ordinaires? On évitera tout ce qui pourrait ébruiter cette détermination; rien, à l'extérieur, ne dira qu'on jeûne; c'est un temps qu'on veut donner plus complétement à Dieu et pendant lequel il n'y a pas de pensées pour le monde : tel doit être le jeûne du chrétien, jeûne individuel et secret par-dessus toutes choses.

2875. Veux-je dire par là que les Eglises ne puissent pas proclamer des jours de jeûne? N'y aura-t-il pas des jeûnes collectifs, comme il y a des prières et des aumônes collectives? Je le pense tout à fait. Seulement il est sûr que celui qui n'a jamais jeûné qu'avec son Eglise n'a point encore jeûné comme le Seigneur l'entend. Ensuite, lorsqu'une Eglise jeûne, il n'est nullement nécessaire que le monde le sache; il vaut mieux plutôt l'éviter. Enfin, les jeûnes de l'Eglise n'ont de valeur que par la piété de chacun de ses membres, et il ne faudra pas qu'on croie avoir jeûné, soi, parce que l'Eglise aura consacré occasionnellement un jour à cet exercice de piété.

2876. En dernière analyse, ces instructions sur l'aumône, la prière et le jeûne me paraissent compléter admirablement la parole de Jésus à la Samaritaine (Jean 4 : 24). Le culte spirituel et vrai est essentiellement un culte d'intimité avec Dieu. S'il faut pour la gloire du Seigneur et pour l'édification de son Eglise, que ce culte revête quelquefois le caractère de l'association et de la publicité, encore est-il que, dans tous les cas, sa véritable valeur, aux yeux de Dieu, résulte de la piété qu'y apporte chaque chrétien. Ce sont là des idées fort simples; il a fallu toutefois qu'elles nous fussent révélées par la Bible, tant le cœur naturel de l'homme est porté à matérialiser les choses même les plus spirituelles.

## CCXIX. — Le sermon de la montagne. (Suite.)

2877. (6 : 7-15.) Pour mettre en saillie les rapports que notre Seigneur établit entre l'aumône, la prière et le jeûne, j'ai laissé de côté l'espèce de digression contenue dans les versets 7-15, et j'y reviens maintenant. Ces instructions supplémentaires sur la prière, et sur la prière seule, nous avertissent de l'extrême importance du sujet. La prière n'est pas toute la religion sans doute, mais on ne comprend

**(Matthieu 6** : 7; 8; 9.)

pas la religion sans la prière; aussi, les païens eux-mêmes invoquent-ils leurs faux dieux.

2878. (7.) Ces prières des Gentils ou des nations (car c'est le vrai sens du mot *gentil*), sont loin de nous offrir quelque modèle à suivre. Rien d'absurde et de puéril comme les mots et les phrases qu'ils entassent à satiété, et l'on dirait que, sentant le vide de leurs invocations, ils s'efforcent de leur donner quelque valeur en les prolongeant outre mesure. C'est pourtant à leur exemple, semble-t-il, qu'on voit, chez les catholiques-romains, des dévôts répéter et répéter sans cesse des centaines d'*Ave Maria* et de *Pater noster*, espérant que, par ce grand nombre de paroles, ils parviendront à se faire entendre.

2879. Remarquez-le cependant, notre Seigneur ne condamne que les *vaines* répétitions. Si la reproduction de la même pensée ou des mêmes paroles, correspond au besoin qu'éprouve l'âme d'insister sur le même sentiment, et si on le fait avec une chaleur croissante, il n'y a pas là de « vaine redite. » Tout comme on ne doit pas croire que de longues prières soient nécessairement de mauvaises prières. Heureux plutôt ceux qui ont beaucoup de choses à dire au Seigneur et qui peuvent, sans fatigue et sans distractions, prolonger avec lui leurs pieux entretiens! Il n'est pas à craindre qu'ils comptent sur la longueur de leurs prières pour être exaucés.

2880. (8.) Mais il est des gens qui trouvent que les plus courtes prières sont encore trop longues. Dieu, disent-ils, n'a pas besoin que nous lui fassions connaître nos pensées et nos désirs. Ne sait-il pas mieux que nous ce qu'il nous faut? Nos prières lui feront-elles vouloir autre chose que ce qu'il veut? Ainsi raisonne le philosophe, mais voici comment raisonne le Seigneur : « Votre Père sait de quoi vous avez besoin avant que vous le lui demandiez; vous *donc* priez ainsi. » Oui, sans doute, il y a en Dieu une volonté déterminée, mais sa volonté est que nous lui adressions des prières et des supplications; si nous ne le faisons pas, nous n'avons rien à attendre de lui, parce que nous aurons méprisé son commandement.

2881. (9.) Encore est-il que Dieu n'exauce pas toute espèce de prières. C'est pourquoi il importe infiniment d'étudier avec soin celle que nous enseigne le Sauveur. On l'appelle l'*Oraison dominicale*, du mot latin *dominus*, qui veut dire Seigneur. Quelques-uns pensent, avec les catholiques-romains, que c'est, au fond, la seule prière des chrétiens, parce que Jésus-Christ a dit : « Vous donc, priez ainsi. » Beaucoup de protestants encore croiraient n'avoir pas bien prié s'ils ne

finissaient leurs prières en la récitant ; et d'un autre côté, il en est qui ne la prononcent jamais. Pour nous, persuadé que notre Seigneur n'a pu vouloir nous donner un formulaire qu'il n'y avait qu'à dire et à répéter invariablement; convaincu, par l'expérience, qu'il n'est pas de prière qui puisse, plus que celle-ci, dégénérer en vaine redite, par cela même qu'on la sait par cœur dès son enfance et qu'on en vient très vite à la réciter machinalement, nous y voyons surtout un modèle à suivre. Mais, par cela même que c'est une prière modèle, nous ne comprendrions pas qu'on ne la prononçât jamais elle-même. Au reste, de quelque manière qu'on l'envisage, il est sûr qu'il importe infiniment d'en avoir une claire intelligence.

2882. *Notre Père qui es aux cieux.* Ces paroles d'introduction sont destinées à faire naître en nous les vrais sentiments de la prière; et d'abord, la confiance et l'adoration. Si Dieu est à la fois *notre* Père et le Dieu Tout-Puissant, avec quel abandon, avec quelle ferme espérance ne lui adresserons-nous pas nos requêtes? En même temps, quel respect ne ressentirons-nous pas pour lui? Bien que les fidèles de l'ancienne alliance ne connussent pas Jéhovah sous ce doux nom de Père, le Saint-Esprit leur dicta néanmoins des prières tout empreintes de sentiments convenables à des enfants de Dieu, et il s'en faut que tous ceux qui s'appellent chrétiens sachent prier comme Moïse, David, Esaïe et tant d'autres.

2883. *Ton nom soit sanctifié...* Rappelons-nous que le mot *sanctifier* signifie, mettre à part, tenir pour sacré [47, 741] (Ex. 20 : 8) ; rappelons-nous également ce qu'est le nom de l'Eternel [636], et nous comprendrons aisément la pensée du Seigneur. Pour que le nom de Dieu nous soit un nom saint, un nom vénéré, il faut que nous connaissions Dieu lui-même, et que nous l'adorions en nos cœurs. Par cette première demande de l'Oraison dominicale, nous exprimons donc le désir que tous vénèrent et servent Dieu, que tous se consacrent à son service.

2884. (10.) Il faut à cet effet que Jésus-Christ établisse son empire dans les cœurs. Lui seul, par la prédication de l'Evangile, peut faire tomber les idoles des faux dieux et couvrir la terre de la connaissance de l'Eternel; or, nous demandons qu'il en soit ainsi, lorsque nous disons : « *Que ton règne,* » ou ton royaume « *vienne.* » Il s'agit ici du même royaume dont Jean-Baptiste avait annoncé l'approche (Matth. 3 : 2) et que Jésus aussi proclamait (Matth. 4 : 17). Vous savez comment il déclarait à Nicodème que personne n'y peut entrer ou le voir, s'il ne naît de nouveau (Jean 3 : 3, 5) ; vous savez de plus que cette nouvelle

(**Matthieu 6 : 11; 12.**)

naissance c'est le Saint-Esprit qui la donne. Aussi longtemps que le Saint-Esprit n'aura pas été répandu sur toute chair et que le Seigneur Jésus n'aura pas été révélé dans sa gloire, nous aurons à dire : « Que ton règne vienne ! »

2885. *Ta volonté soit faite sur la terre comme au ciel.* Il y a une volonté de Dieu qui se fait, soit que nous le voulions, soit que nous ne le voulions pas. Mais Dieu a donné aux anges et aux hommes d'avoir une volonté propre [85]. Les habitants du ciel ne veulent que ce que Dieu veut, tandis que ceux de la terre luttent sans cesse contre les injonctions de la loi sainte du Seigneur. Or ce que nous lui demandons ici, c'est qu'il incline les cœurs à vouloir ce qu'il veut.

2886. Ces trois premières demandes de l'Oraison dominicale ont évidemment un même objet, la gloire de Dieu. C'est ce qu'exprime en particulier la première demande. Mais pour que Dieu soit glorifié, il faut que le règne de Dieu s'étende sur la terre, objet de la seconde demande. Enfin, ce qui constitue essentiellement la gloire de Dieu, c'est que sa volonté s'accomplisse dans toutes ses créatures, et c'est pour nous amener là que Jésus-Christ veut régner sur nous.

2887. (11.) *Donne-nous aujourd'hui notre pain quotidien.* Le pain représente ici les choses nécessaires à la vie : pain, eau, vêtements, domicile, etc.; mais, après tout, rien que ce qui est strictement nécessaire; par où notre Seigneur a eu l'intention manifeste de nous apprendre à borner nos désirs, car ce que nous n'osons demander à Dieu, nous ne devons pas avoir la passion de le posséder. Il a voulu aussi nous rappeler de qui nous tenons notre vie et qui en est le soutien. Mais, chose vraiment remarquable dans une prière si courte, il s'y trouve une sorte de pléonasme. Notre Seigneur aurait pu dire simplement : *Donne-nous aujourd'hui notre pain*, ou *donne-nous notre pain quotidien*. Pourquoi exprimer en deux mots différents la même idée? C'est que, par-dessus tout, il ne veut pas que ses disciples soient thésauriseurs et soucieux. En effet, si nous appelons Dieu notre Père, n'attendrons-nous pas de lui la nourriture, comme des enfants qui vont à leur devoir, bien sûrs qu'à leur retour ils retrouveront leur repas tout préparé?

2888. (12.) *Et remets-nous nos dettes, comme nous les remettons à nos débiteurs.* Ces dettes ce sont nos péchés. Chaque fois que nous péchons, nous négligeons de faire ce que nous devions; or quand on ne fait pas ce qu'on doit, on redoit. Dette d'autant plus effrayante que nous ne saurions jamais la payer et qu'elle s'accroit chaque jour. A

supposer que nous fissions aujourd'hui tout notre devoir, il en résulterait simplement que nous n'aurions pas augmenté notre dette, mais la dette d'hier ne serait point acquittée. Et que sera-ce si nous péchons aujourd'hui comme hier? Il n'y a donc qu'un moyen d'être affranchi, c'est que Dieu annule la créance; et puisqu'il s'en refait une chaque jour, c'est aussi chaque jour que nous devons lui demander pardon. Mais si nous connaissons Jésus-Christ, nous ferons cette demande comme nous faisons celle de notre pain : avec une parfaite assurance d'être exaucés, parce que nous savons qu'il a pleinement expié nos transgressions.

2889. (13.) *Et ne nous amène pas en tentation.* Si l'on dit comme certaines versions : Ne nous *induis* pas en tentation, l'on dit plus que le texte; et si l'on dit : Ne nous *laisse pas succomber* à la tentation, l'on ne dit pas assez. Toute circonstance qui met à l'épreuve notre foi et notre obéissance est une tentation. Témoin Abraham, quand Dieu lui redemanda son Isaac; témoin David, quand Saül lui fut livré dans la caverne. Or, quoique ce ne soit jamais Dieu qui nous tente au mal, c'est bien lui qui nous place en des circonstances où nous pouvons être conduits à mal faire [1057]. Ce que nous demandons, par conséquent, c'est qu'il épargne notre faiblesse, qu'il ne nous éprouve pas au-dessus de nos forces, enfin qu'il nous garde au milieu de la tentation; ce qui est exprimé dans la septième demande.

2890. *Mais délivre-nous du méchant,* ou du malin, ou du mal, trois traductions également possibles et qui donnent, en résultat, le même sens. C'est de Satan qu'il est ici question, de celui qui tenta nos premiers parents et qui osa même tenter le Seigneur. Quelque puissant et rusé que soit le prince des ténèbres, il ne saurait perdre ceux que Dieu garde; mais le Seigneur lui-même, en nous dictant cette prière, nous invite à la vigilance, et il ne veut pas nous laisser ignorer, qu'abandonnés à nous-mêmes, nous succomberions certainement.

2891. Telle est cette magnifique prière, qui se divise naturellement en deux parties; l'une contenant les trois premières demandes; l'autre, les quatre dernières, ou trois, si, conformément à l'usage, on réunit en une seule la sixième et la septième. La première partie a pour objet essentiel la gloire de Dieu, nous l'avons déjà fait remarquer, et nous y apprenons ce qui doit avant tout occuper nos prières; la seconde a pour objet nos propres intérêts; non que nous ne soyons vivement intéressés aux progrès du règne de Dieu, ni que la gloire de Dieu ne soit pas intéressée à notre salut; mais enfin, l'on sent qu'entre

(**Matthieu 6** : 13.)

ces deux parties de l'Oraison il y a la différence que je viens de dire.

2892. La seconde partie se subdivise en deux sections. Dans l'une, nous nous occupons de nos intérêts matériels, dans l'autre, de nos intérêts spirituels; mais tandis que nous avons une seule demande pour ceux-là, nous en avons trois pour ceux-ci. Par où notre Seigneur a eu sûrement l'intention de nous montrer la supériorité de l'âme sur le corps, de la vie à venir sur la vie présente, des biens célestes sur les biens terrestres, sur ceux même qui nous paraissent de la plus absolue nécessité. Et puis, si nous comparons entre elles les trois dernières demandes, nous y voyons que le Seigneur nous fait implorer successivement les deux grâces qui constituent tout le salut ici-bas; dans la cinquième demande de l'Oraison, le *pardon* de nos péchés, et dans les deux dernières, la délivrance du péché lui-même, ou la *sanctification*. Or, que manque-t-il à une âme qui est à la fois reçue en grâce et sanctifiée?

2893. On a fait une autre observation fort importante et qui est moins subtile qu'elle ne le semble d'abord. Quand nous disons : « Ton règne vienne, » il s'agit évidemment du règne de Jésus-Christ. Puis si nous demandons : Qui est-ce, du Père, du Fils, ou du Saint-Esprit qui incline les cœurs à vouloir ce que Dieu veut? on répond sans hésiter : C'est le Saint-Esprit. Il est facile de conclure que la première demande se rapporte essentiellement au Père, dont le nom est d'ailleurs en tête de l'Oraison. Ensuite, si l'on veut savoir par qui nous obtenons le pardon de nos péchés, on répondra : Par le Fils. — Qui chasse de notre cœur les mauvaises pensées? Le Saint-Esprit. — Qui nous donne notre pain? Le Père céleste. Ce résultat admirable ne saurait être fortuit. Jésus est venu nous faire connaître le Père et nous procurer le Saint-Esprit; il est lui-même le Fils unique issu du Père; quand donc il nous enseigne à prier Dieu, il n'est point étonnant que sa prière se rapporte au Père, au Fils et au Saint-Esprit, l'Eternel Dieu auquel doit s'adresser tout notre culte.

2894. Cette divine prière est donc toute pénétrée de doctrine; c'est-à-dire que le dogme chrétien en ressort avec plénitude, non-seulement la doctrine du salut, mais encore celle de Dieu. Elle est aussi d'une grande portée morale. En nous faisant dire *nous* et non pas *moi*, elle nous invite à aimer notre prochain comme nous-mêmes, et elle ne nous presse pas avec moins de force à nous unir en assemblées chrétiennes pour invoquer Dieu de concert. Puis, nous avons vu comme elle nous prêche la modération dans les désirs, et comme

elle est propre à nous détourner du mal. Toutefois c'est une véritable oraison. D'un bout à l'autre on y voit des mains jointes s'élevant vers le ciel. Ce n'est pas comme certaines prières, qui sont plutôt une exhortation adressée aux auditeurs, ou, pour ainsi dire, une pièce d'éloquence, toute d'argumentation et de traits d'esprit.

2895. (13.) La louange et l'action de grâce cependant ne doivent pas demeurer étrangères à l'oraison; elles en sont, au contraire, inséparables. C'est pour cela que notre Seigneur termine la sienne par ces magnifiques paroles : « Car à toi est le règne, la puissance et la gloire, pour les siècles. Amen. » C'est ce qu'on appelle une *doxologie*, ou une déclaration de la gloire de Dieu. Trop de prières sont à cet égard pleines de lacunes, tant nous savons peu rendre à Dieu le culte qui lui est dû.

2896. (14, 15.) Comme si notre Seigneur avait craint que ses disciples ne comprissent pas ce que signifiait le mot *dettes*, dans la cinquième demande de l'Oraison, il l'explique ici en se servant du mot *offenses*. Mais il a une raison de plus pour reprendre cette idée. Il faut que nous sachions bien, ce que du reste nous avons vu ailleurs [2850], que la vraie prière est incompatible avec des sentiments de malveillance, avec la haine, avec un cœur sans miséricorde. Si bien que, pour une âme ainsi disposée, la prière se tourne en imprécations contre soi-même. C'est comme si l'on disait : Ne me pardonne pas mes péchés, ô Dieu, car je ne sais ni ne veux pardonner les offenses qu'on m'a faites.

2897. Enfin, j'invite mes lecteurs à réfléchir sur tout ce qu'ils viennent de lire, puis à décider une question qui, probablement, n'en est pas une pour eux. L'Oraison dominicale, en ses termes mêmes et dans son esprit, est-elle, ou non, destinée à des âmes converties? Peut-elle être présentée par d'autres que par elles? Qui est-ce qui a le droit d'appeler Dieu NOTRE PÈRE? Qui est-ce qui met à sa gloire un assez vif intérêt pour s'en occuper avant tout et par-dessus tout? Qui désire l'avancement du règne de Jésus-Christ? Qui est-ce qui sait borner ses désirs terrestres au strict nécessaire? Qui est-ce qui a appris du Seigneur le pardon des offenses? Qui est-ce enfin qui croit à la puissance malfaisante de Satan, et qui est-ce qui demande que son âme en soit délivrée? Nous avons donc ici un modèle de prière destiné aux disciples de Jésus et non point au monde. Bien plus, on peut affirmer sans crainte qu'eux seuls peuvent la faire en esprit et en vérité! C'est même une question de savoir jusqu'à quel point il est bon

(**Matthieu 6** : 19-21; 22, 23.)

de l'enseigner aux enfants, dans un âge où il est rare qu'ils la comprennent? Et après tout cela, il est permis de s'étonner que des chrétiens, fort respectables d'ailleurs, en rejettent complétement l'usage, sous prétexte de l'abus que d'autres en font!

## CCXX. — **Le sermon de la montagne.** (Suite.)

2898. (Matth. 6 : 19-21.) La terre offre à nos regards et à nos désirs une foule de biens que la bonté divine y a semés avec profusion. Mais le péché a tout gâté. Les richesses de ce monde sont fragiles; la rouille les détruit, les voleurs les dérobent, manière de dire qu'elles n'ont rien d'assuré. Ce qui est plus affreux, c'est que nous ne pouvons faire des biens de la terre notre trésor sans renoncer au ciel, ou leur donner notre cœur sans l'ôter à Dieu. Il y a donc ces deux motifs pour ne pas chercher le bonheur dans la possession des richesses : c'est d'abord que, par leur instabilité même, elles ne sauraient nous rendre heureux; ensuite, que les passions qu'elles développent nous éloignent du Seigneur. Et pourtant, nous avons besoin de posséder quelque part un trésor. Où est-ce donc que nous l'amasserons, si ce n'est dans le ciel, selon l'invitation de Jésus? Là sont des richesses incorruptibles que personne ne peut ravir à leurs possesseurs; des biens auxquels il leur est permis de mettre leurs affections. Ces biens sont la grâce de Dieu et les compassions du Seigneur Jésus-Christ. Ce qu'un trésor est pour l'avare, voilà ce qu'ils doivent être pour nous.

2899. (22, 23.) Un aveugle est comme un homme qui serait constamment dans les plus noires ténèbres. S'il avance la main, il ne sait où il la pose; s'il fait quelques pas, il ignore où ses jambes le portent : l'œil est la lampe du corps. Notre âme possède aussi un œil pour diriger sa vie morale. C'est de cet organe intérieur que, par un rapide mouvement de sa pensée, notre Seigneur veut parler quand il dit : Un œil *simple* et un œil *méchant*. Ces épithètes, en effet, conviennent mieux à l'œil de l'âme qu'à celui du corps. L'œil de l'âme, c'est la conscience, qui a charge de nous avertir non moins que de nous reprendre. Mais bien qu'on ait cru pouvoir l'appeler *la voix de Dieu*, la conscience d'un homme ne saurait être meilleure que cet homme lui-même. Elle peut manquer de simplicité, elle peut être méchante : cette lumière qui est en nous peut n'être que ténèbres.

(**Matthieu 6** : 24.)

Que sommes-nous alors au point de vue moral? Ténèbres profondes, et pas autre chose que ténèbres.

2900. Voyez la conscience de Juda, le frère de Joseph. C'est bien elle qui parlait lorsqu'il dit : « Ne tuons pas notre frère; il est notre chair » (Gen. **37** : 27). Mais est-il plus permis de vendre son frère que de le tuer? La conscience de Juda était pleine de ténèbres. Voyez s'il n'y avait pas aussi des ténèbres dans la conscience d'Aaron, lorsqu'il crut tout concilier en dépouillant les Israélites de leurs vains ornements pour fondre le veau d'or, et lorsqu'il proclama une fête à Jéhovah devant le dieu de fonte que ses mains avaient fait? (Ex. **32** : 2, 3, 5.) Je pourrais multiplier les exemples, et j'arriverais à cette importante conclusion que, dans l'état actuel de l'homme, la conscience n'est point un guide suffisant. Il est des gens qui, en toute conscience, commettent des péchés manifestes, et même nous verrons que le plus grand des crimes, la persécution des enfants de Dieu, fut souvent commis par motif de conscience. Combien donc il importe de ne pas trop se confier en ce guide intérieur! Quel soin ne devons-nous pas mettre à l'éclairer, tout clairvoyant qu'il se prétend? Et où puiserons-nous des clartés et plus vives et plus sûres que cette lueur incertaine, si ce n'est dans la Parole de Dieu et dans les communications du Saint-Esprit?

2901. Quand on voit qu'immédiatement après cela notre Seigneur revient sur la pensée des versets précédents (19-21), on est conduit à envisager son enseignement sur la conscience comme une digression; mais une digression dans un discours de Jésus ne saurait être un hors-d'œuvre, et l'on se demande ce qui fait le lien entre ces deux idées : l'attachement aux biens de la terre et la conscience ténébreuse? Si je ne me trompe, le voici. Rien ne fausse plus la conscience que l'amour de l'argent; témoins soient les deux Juda, je veux dire le frère de Joseph et le douzième apôtre. Quant à la raison de ce fait, on la trouve dans les paroles du verset 24 : « Nul ne peut servir deux maîtres, etc. »

2902. Au lieu de *servir*, mettez « être asservi, » au lieu de *maître*, lisez « Seigneur, » et vous aurez la vraie traduction de ce beau passage. Mammon est le dieu des richesses, le dieu de ce monde, ou Satan. Les volontés de Dieu et celles de Mammon sont tellement opposées, qu'il est absolument impossible de les concilier. L'impossibilité résulte de ce que ni l'un ni l'autre ne se soucient d'une demi-obéissance; ils veulent être *seigneurs*, ils exigent qu'on leur soit *as-*

(**Matthieu 6** : 25-34.)

*servi*. Il y a d'ailleurs entre eux un antagonisme si complet, qu'on ne saurait aimer Dieu sans haïr Mammon, ni aimer le monde sans haïr Dieu. Lors donc qu'on aspire à servir Mammon, sans toutefois rompre avec le Seigneur, il est nécessaire qu'on se fasse les règles de morale les plus fausses. Alors on appelle le mal, bien, et le bien, mal; alors on n'est pas sans morale quelconque, mais c'est la morale du présent siècle : la lumière de la conscience est devenue ténèbres.

2903. (25-34.) L'auditoire de notre Seigneur renfermait assurément plus de pauvres que de riches. « C'est pourquoi » il voulut que ceux qui l'écoutaient sussent à quels signes ils pourraient reconnaître s'ils avaient Mammon pour dieu, et leur montrer en même temps ce qu'il attend de ses disciples.

2904. (25-27.) Quelle que soit notre situation de fortune, si nous nous livrons à des inquiétudes sur ce que nous mangerons et sur ce que nous boirons, ces inquiétudes proviennent d'un attachement excessif aux choses d'ici-bas. Trois considérations doivent nous faire sentir la folie et le péché de cette mauvaise disposition. D'abord, aussi longtemps que Dieu juge bon de nous conserver la vie, il sait parfaitement qu'il nous faut de la nourriture pour l'entretenir et des vêtements pour couvrir notre corps (25). Ensuite, si Dieu nourrit les oiseaux du ciel, pouvons-nous penser qu'il nous abandonnera, nous qui d'ailleurs avons mille ressources dont les animaux sont privés (26). Ici, notre Seigneur suppose évidemment le travail de l'homme et même son économie. Il n'entend pas que nous restions sans rien faire, ni que nous dilapidions les fruits de sa bienfaisance. Ce n'est pas d'être laborieux et économes qu'il nous défend, mais c'est d'être soucieux. On le voit encore plus clairement par la troisième raison qu'il ajoute; savoir, que nos soucis ne servent à rien (27). Ils servent à si peu, que les personnes qui s'inquiètent, s'agitent et se tourmentent le plus, sont souvent les moins prévoyantes, celles qui ne sont jamais prêtes et à qui tout manque au moment convenable.

2905. (28-32.) Ce qui est vrai de la nourriture l'est aussi des vêtements. Voyez ces fleurs que l'Eternel a parées des plus belles couleurs, bien que leur existence soit de si courte durée! Et nous pourrions craindre qu'il n'ait pas soin de nous? (30.) « O gens de petite foi, s'écrie Jésus, laissez aux nations qui sont sans connaissance de Dieu, laissez-leur les inquiétudes et les soucis pour les choses de la vie présente (32); mais vous qui avez un Père dans le ciel, un Père bien informé de vos besoins, un Père à qui, certes, la puissance et les

moyens ne sauraient manquer, comment ne sentez-vous pas l'insulte que vous lui faites en vous préoccupant ainsi de l'avenir? Hélas! c'est que vous êtes des gens de petite foi. » Les hommes non convertis, même les plus riches, sont bien souvent rongés d'inquiétudes, et cela se conçoit; le péché les plaçant fort au-dessous des oiseaux et des lis, ils n'osent pas, ils ne peuvent pas se reposer entièrement sur Dieu. Ils l'appellent leur Père, mais ils sentent au fond qu'il ne l'est pas. Quant à vous, disciples de Jésus, comprenez enfin combien vos défiances et vos soucis vous rendent criminels; n'est-il pas vrai qu'ils trahissent la faiblesse de votre foi, pour ne pas dire la secrète avarice de vos cœurs?

2906. (33.) Voulez-vous goûter un plein repos quant aux choses de la vie présente? Cherchez avant tout et par-dessus tout, toujours plus et toujours mieux, le royaume de Dieu, ce royaume dont Jésus est le roi, puis la justice de Dieu, la justice que Dieu donne [2832]; cherchez en Christ le salut et la vie; alors, tout ce qui est vraiment nécessaire vous sera donné par-dessus et comme si cela ne comptait pas; car « si Dieu n'a point épargné son propre Fils pour nous, ne nous donnera-t-il pas toutes choses avec lui? » (Rom. 8 : 32.)

2907. Croyez-en donc la parole de notre Sauveur : « A chaque jour suffit sa peine» (34.) Aujourd'hui, travaillons et prions; aujourd'hui, je l'admets, préparons ce qui doit être prêt aujourd'hui pour demain: dans aucun cas, point de soucis! Non pas à la manière des gens indolents, paresseux, dissipateurs; mais à la manière de ceux qui, chaque jour, prennent de la peine, en se disant toutefois que le jour de demain ne leur appartient point encore; que, par conséquent, ils doivent lui laisser, ou autrement à Dieu, le souci de ce qui le regarde. — Oh! quels magnifiques enseignements! Que l'Esprit de Celui qui les a prononcés daigne les graver dans nos cœurs!

## CCXXI. — Le sermon de la montagne. (Fin.)

2908. (Matth. 7 : 1-5.) Il nous est très permis, il nous est même enjoint de condamner les œuvres des ténèbres; car c'est un péché que d'appeler le mal, bien, et les ténèbres, lumière (Es. 5 : 20). Le magistrat qui siége sur son tribunal, y est assis pour condamner les méchants; les parents doivent corriger leurs enfants; les maîtres, redresser leurs domestiques, et chacun de nous est invité à reprendre son frère lorsqu'il tombe en faute (Lév. 19 : 17). Mais ce qui ne peut

(**Matthieu 7** : 6.)

se concilier, ni avec la charité, ni avec l'humilité, ni par conséquent avec la prudence chrétienne, c'est de juger témérairement [267] et sur des apparences [1298]; c'est de suspecter les motifs (1 Sam. 17 : 28) ; c'est de nourrir à l'égard du prochain un esprit d'inquisition et de censure, qui nous rend attentifs à ses moindres fautes et nous arme contre lui d'une impitoyable sévérité.

2909. Ce qui est surtout odieux, c'est de se constituer examinateur et juge de ses frères, tandis qu'on ne s'examine et qu'on ne se juge point soi-même. Il en résulte naturellement que ceux qui sont le plus remplis de mal, ne manquent pas d'être les plus habiles à relever le moindre mal chez les autres : ils ont une poutre dans l'œil et comment peuvent-ils songer à ôter la paille qui est dans l'œil de leur frère ? Mais à supposer que nous eussions peu de défauts et de péchés, si nous nous refusons à les reconnaître, ils ne laissent pas d'offusquer notre œil comme le ferait une poutre. Il ne s'agit pas sans doute d'être sans péché pour avoir le droit de condamner le mal chez autrui, ou pour remplir le devoir de la répréhension fraternelle ; mais il faut que nous le fassions en nous souvenant que nous sommes nous-mêmes des pécheurs. C'est alors que nous y mettrons la mesure convenable, et que nous pourrons redresser nos frères avec charité et tout à la fois avec humilité.

2910. (6.) Ce n'est pas à nos frères seuls que nous devons des avertissements. L'occasion d'en adresser aux pécheurs non convertis ne se présente, hélas ! que trop souvent. Ceux-ci ne sont pas universellement des « chiens » et des « pourceaux. » Il est des hommes parmi eux qui n'ont pas perdu tout honneur et tout sentiment. On les voit quelquefois écouter avec respect et dans une certaine contrition, les leçons de la Parole de Dieu. Rien n'empêche donc que nous ne leur en ouvrions les trésors. Mais s'il s'agit de ces gens complétement dégradés, auxquels il n'est pas possible de parler de Dieu et de sa grâce sans qu'ils se mettent en des états violents, mieux vaut garder un sage silence (Prov. 23 : 9). Notre Seigneur nous en donne deux raisons, l'une et l'autre fort remarquables. La première, c'est qu'il ne faut pas exposer ces malheureux pécheurs à blasphémer le saint nom de Dieu ; la seconde, que nous ne devons pas affronter les transports de leur rage. Ainsi, bien que les disciples de Christ aient nécessairement des persécutions en perspective, ils sont tenus d'éviter, autant que possible, ce qui peut les faire naître, par la raison même que la persécution est un horrible péché.

(**Matthieu 7** : 7-11.)

2911. (7-11.) Jusqu'à cet endroit, il ne nous a pas été trop difficile de voir la liaison qui unit entre eux les enseignements de notre Seigneur. Mais, dès ce moment, ils se présentent davantage sous forme de maximes détachées. C'est de la prière que Jésus va donc nous parler encore une fois, nous exhortant à demander ce dont nous avons besoin, à chercher ce que nous avons perdu, à heurter pour avoir où nous réfugier. Mettons-y de la persévérance et nos prières seront infailliblement exaucées. La première de ces idées est exprimée par ces mots : « Demandez, cherchez, heurtez. » Soit que Dieu nous fasse attendre l'effet de nos prières, soit qu'il nous exauce dès le premier mot, du moins en partie, loin de nous relâcher dans l'oraison, nous y redoublerons de zèle, ou pour obtenir ce qui nous fut d'abord refusé, ou pour recevoir de nouvelles grâces. Vous avez demandé et reçu ! cherchez donc et vous trouverez ; vous avez cherché et trouvé ! maintenant heurtez et l'on vous ouvrira. Ou bien, vous avez demandé et vous n'avez pas reçu ! cherchez; vous avez cherché et vous n'avez pas trouvé ! heurtez. En faisant ainsi, il est impossible que le père de famille ne vous ouvre enfin.

2912. La certitude d'être exaucé se fonde sur une promesse positive et sur un raisonnement sans réplique. « Tout homme qui demande reçoit; et qui cherche trouve; et l'on ouvrira à celui qui heurte : » telle est la promesse de Dieu. Voici le raisonnement : Un père à qui son enfant demande du pain, ne lui donnera pas une pierre, supposé même que le pain lui manque, car ce serait cruellement se moquer de son fils affamé. Or Dieu, qui a pour nos âmes du pain en abondance, nous traitera-t-il plus mal que ne l'ont fait nos pères en la chair? Est-ce que le Père céleste serait méchant, tandis que nos pères en la chair sont bons? Non, c'est tout le contraire. De là vient que nos parents ont pu quelquefois nous donner de mauvaises choses, au lieu que Dieu ne saurait nous en donner que de bonnes. La différence est donc toute en sa faveur.

2913. Remarquez, je vous prie, ce mot jeté en passant : « Méchants comme vous l'êtes. » Ceux à qui Jésus adressa cette apostrophe n'étaient pas plus pécheurs que d'autres; parmi eux au contraire se trouvait, on peut le croire, l'élite morale du peuple de la Galilée; sous ses yeux il avait des hommes que sa grâce préparait depuis longtemps et qu'il avait appelés à lui, tels peut-être qu'un Nathanaël, l'Israélite sans fraude; et c'est à de telles gens qu'il dit : « Méchants comme vous l'êtes ! » Quelle confirmation de la vérité fondamentale

(**Matthieu 7** : 12; 13, 14.)

qu'établit l'Ecriture sur l'état actuel de la nature humaine ! « L'imagination du cœur des hommes est mauvaise en tout temps » (Gen. **8** : 21). Vus à la lumière divine, nous sommes tous *des méchants!*

2914. (12.) Cependant, le Seigneur nous veut bons, car il nous dit de faire aux hommes tout ce que nous désirons qu'ils nous fassent. C'est, en d'autres termes, l'ancienne et grande loi de l'amour du prochain (Lév. **19** : 18). Mais en l'exprimant de cette manière, notre Sauveur a eu l'intention de marquer nettement que cet amour doit être réel et pratique ; non en paroles seulement, ni en vaine sensibilité ! Que s'il ajoute : « C'est la loi et les prophètes, » sa pensée est de rappeler que tous les préceptes de l'Ancien Testament se résument en celui-ci. Or, faites attention qu'il y a une grande différence entre cette maxime et une autre qu'on cite quelquefois comme étant sortie de la bouche du Seigneur. Les philosophes du paganisme avaient dit : « *Ne* faites *pas* à autrui ce que vous *ne* voulez *pas* que les autres vous fassent. » Ils avaient donc su découvrir la loi de la justice ; mais celle de la charité leur était demeurée inconnue.

2915. (13, 14.) Il y a deux portes, comme il y a deux chemins et par conséquent deux issues. Une de ces portes est étroite, l'autre est large ; un de ces chemins est resserré, l'autre est spacieux ; ici est la foule, là est le petit nombre ; enfin le second de ces chemins mène à la perdition, le premier conduit à la vie, c'est-à-dire au bonheur éternel. Pensée solennelle ! Et si vous me demandez quel est le bon chemin et où se trouve la vraie porte, un mot me suffira pour répondre. Jésus est à la fois la porte, le chemin et la vie, comme il nous le dira plus tard. Par conséquent la route large, c'est toute doctrine et toute vie qui s'éloignent de Jésus, ou qui passent à côté de lui. Vous le comprenez donc, mes chers lecteurs, il n'y a pas deux chemins pour aller à la vie, l'un étroit, l'autre large ; celui-ci mène nécessairement à la mort. De plus, si la voie du salut est appelée étroite ou resserrée, c'est en considération du petit nombre de gens, hélas ! qui y marchent ; car, après tout, c'est la voie royale et il n'en est pas de plus magnifique. Puis, si la porte du ciel nous est représentée comme petite, ce n'est pas que Jésus ne soit infiniment grand en miséricorde et en puissance, et que la foule ne pût toute passer par cette porte, à supposer qu'elle le voulût ; mais il demeure vrai que, pour entrer dans le royaume des cieux, il faut se faire petit (**5** : 3), se dépouiller de tout mérite propre et de toute vaine gloire ; or rien ne répugne plus à notre cœur naturel qu'une telle humilité.

(**Matthieu 7** : 15-20; 21-23; 24-27.)

2916. (15-20.) Ce qu'on rencontre à chaque pas dans la voie large et ce qui est fort goûté par ceux qui la fréquentent, ce sont les faux prophètes ou les faux docteurs. Vous vous rappelez comment, dans les temps anciens, ils étaient écoutés par le peuple d'Israël, de préférence aux prophètes du Très-Haut. Les faux docteurs ont une grande apparence de débonnaireté et quelquefois ils parlent comme s'ils appartenaient au souverain Berger des brebis. Ils présentent des systèmes qui flattent les passions des hommes; ils interprètent au gré de la raison les mystères de la foi; surtout ils élargissent tant qu'ils peuvent le chemin déjà si large par lequel les âmes courent à leur perte. Il en est parmi eux qui vont jusqu'à dire que Satan même sera sauvé; ils ont, quoi qu'il en soit, la bouche pleine de consolations pour les honnêtes gens de ce monde; puis, de manière ou d'autre, ils nient la nécessité imposée à tout homme de se convertir. Aussi quels sont les fruits que portent leurs enseignements? Ont-ils jamais converti une seule âme, ces malheureux docteurs? Peuvent-ils procurer au pécheur une solide paix? Que font-ils pour l'avancement du règne de Dieu? Y songent-ils seulement? C'est pourquoi, gardons-nous d'eux et de leur doctrine; c'est le grand Docteur qui nous y convie, et jamais il ne nous trompa.

2917. (21-23.) Mais si l'on rencontre dans la voie large des prophètes qu'on ne saurait écouter sans marcher avec eux vers la perdition, il s'y trouve aussi des hommes qui appellent Jésus le Seigneur et l'invoquent en cette qualité; qui prêchent sa doctrine et la prêchent comme de sa part; qui, instruments de conversion pour beaucoup d'âmes, chassent les démons en son nom; qui, en prêchant Jésus-Christ, font des choses grandes et merveilleuses; qui ont toute l'apparence de marcher dans la voie étroite avec les élus du Seigneur, et qui pourtant ne verront pas le royaume de Dieu.... Qu'est-ce donc qui leur manque? Hélas! ce qui manquait à Balaam, à Saül, ce qui manqua bientôt à Judas. Ces trois hommes furent momentanément parmi les prophètes de l'Eternel, mais leur cœur ne lui appartenait pas; ils firent leur propre volonté et non pas la sienne. Or, Notre Seigneur nous dit qu'il y en aura beaucoup, « en ce jour-là, » c'est-à-dire quand son royaume sera manifesté; oui, « beaucoup » de tout semblables, auxquels il dira : « Je ne vous ai jamais connus, approuvés, aimés (Ps. 1 : 6); retirez-vous de moi, faiseurs d'iniquité. »

2918. (24-27.) Jésus termine son discours par une parabole. C'est la première dans le Nouveau Testament, et comme elle doit nous

(**Matthieu 7** : 24-27.)

disposer à bien écouter les autres! — Deux hommes se sont bâti chacun sa maison. L'un en a creusé les fondements sur le rocher (qui est Christ), l'autre les a posés sur le sable mouvant de la sagesse humaine. Des torrents de pluie ont enflé les rivières, et elles sont venues fondre contre ces deux édifices, qu'ébranlait encore la fureur des vents. Le premier a résisté; le second a été renversé de fond en comble. Tels sont, d'une part, l'homme qui entend la parole du Seigneur et la met en pratique; et, d'autre part, l'homme qui entend cette parole et ne la pratique point. Or, la Parole du Seigneur ne consiste pas en préceptes seulement; elle renferme aussi des béatitudes et des promesses (Chap. **5** : 3-12; **6** : 33; **7** : 11) : c'est par ces dernières surtout que notre âme subsiste. Mais celui qui croit et ne fait pas, ne croit pas réellement. Pratiquer la Parole c'est la recevoir en réalité, c'est la prendre au sérieux, c'est vivre d'elle et par elle. L'écouter n'est pas tout : il faut la retenir; il faut que rien de ce qu'elle renferme ne demeure inactif dans nos âmes, ni ses récits ni ses prophéties, ni ses commandements ni ses réprimandes, ni ses promesses ni ses menaces.

2919. Tel fut le discours que Jésus tint à ses disciples devant la multitude réunie sur la montagne, nouveau Sinaï, mais sans obscurité et sans tempête comme sans barrières pour en interdire l'accès, parce que la loi nous y est donnée tout empreinte de la grâce de Dieu. Cependant ce n'est pas encore la sainte montagne d'où nous est venu le salut. — Comme on retrouve ailleurs plusieurs fragments de ce discours, ainsi que nous le verrons, quelques personnes pensent que le Seigneur ne prononça pas dans ce moment toutes ces instructions, notamment celles qui concernent l'avarice (**6** : 19-34) et la persévérance à prier (**7** : 7-11). Elles auraient été introduites en ce lieu, parce que Matthieu ne se proposait pas de rapporter les événements auxquels ces leçons se rattachèrent plus tard, et tout cela aurait été dirigé par l'Esprit du Seigneur. La chose n'est pas impossible; mais ce qui est possible également dans le cas actuel, comme cela paraît manifeste en d'autres circonstances, c'est que le Seigneur ait répété plus tard ses précédentes instructions, sinon dans les mêmes termes exactement, toutefois d'une manière assez analogue pour que les évangélistes aient pu, sans falsification, les reproduire en termes identiquement pareils. J'incline même à penser que le Seigneur, qui sait si bien s'accommoder à notre faiblesse, a dû se répéter textuellement, afin de graver plus profondément ses paroles dans l'esprit de

ses auditeurs. Personne assurément n'a su mieux que lui trouver l'exacte expression de la vérité; or, quand on l'a trouvée, il n'y a pas autre chose à faire qu'à la reproduire telle quelle. Par exemple, quoi de plus naturel que Jésus ait fréquemment exhorté ses disciples à persévérer dans la prière; mais après leur avoir dit : « Demandez et l'on vous donnera, cherchez et vous trouverez, heurtez et l'on vous ouvrira, » y avait-il dans cette formule quelque chose à ajouter ou à retrancher? N'étaient-ce pas des paroles qui devaient être répétées sans modification quelconque?

2920. (28, 29.) Déjà plus d'une fois sans doute, le peuple avait été frappé des enseignements de Jésus, et Luc nous l'a dit précédemment (4 : 32). Il dut l'être ce jour-là plus que jamais; car nous-mêmes, après dix-huit siècles durant lesquels on ne peut contester que les hommes n'aient fait de grands progrès dans la connaissance du bien et du mal, nous-mêmes, nous sommes forcés, et les incrédules avec nous, de reconnaître que jamais discours pareil ne sortit de la bouche d'aucun docteur. Mais ce qui nous saisit moins peut-être que les Juifs d'alors, parce que nous savons mieux qui est Jésus, c'est le ton d'autorité dont il prononça toutes ses paroles. Avez-vous remarqué ces : « Moi je vous dis, » qui reviennent à plusieurs reprises, quand Jésus explique la loi de l'Eternel? L'avez-vous vu, tout à l'heure, se désigner sans détour comme le Juge suprême des hommes, comme Celui qui leur fera rendre compte de leurs plus secrètes pensées, comme l'Etre dont le nom est au-dessus de tout autre nom? (22, 23.) Les scribes des Juifs s'arrogeaient souvent une grande autorité, mais aucun d'eux assurément n'eût osé s'exprimer de la sorte; car nul prophète même ne l'avait fait. La raison, pour nous, en est simple. Les prophètes parlaient au nom du Seigneur : ici c'est le Seigneur lui-même qui parle; or voilà ce que la multitude des Juifs ne savait pas.

2921. Une circonstance qui aurait dû les frapper plus encore que le ton d'autorité du prophète de Nazareth, c'est que, bien différent des moralistes humains, il marque dans ce discours ce qu'il faut *être*, et non pas seulement ce qu'il faut faire. Le mot par lequel il débute est, pour ainsi dire, sa note fondamentale. Tout son enseignement est « en esprit. » Etre humble de cœur et triste à cause de ses péchés; doux et pur et paisible; chercher en Dieu et dans la grâce tout son bonheur; se montrer prêt à subir l'opprobre et plus que cela, pour le nom de Christ; sentir la grandeur et l'excellence de la vocation du chrétien sur la terre; pour y répondre, se faire une juste idée

(**Luc 5** : 12-16. **Matthieu 8** : 1-4. **Marc 1** : 40-45.)

de la sainteté et de la spiritualité des commandements de Dieu, non moins que du mal affreux que recèlent tout péché et toute tentation; aimer cordialement ses ennemis même, et en cela, comme sur tous les points, n'aspirer à rien de moins qu'à la perfection; adorer Dieu dans le fond de son cœur, en lui rendant un culte spirituel et vrai, au lieu de faire du monde son dieu et de se laisser absorber par les préoccupations du présent siècle; songer à l'amendement de sa propre âme, plus encore qu'à celui de l'âme d'autrui, sans pourtant le négliger; prier, prier beaucoup, prier sans cesse; vouloir avec zèle le bonheur de son prochain comme le sien propre; pour cela sans doute ne pas se tenir dans l'isolement, et toutefois ne point marcher dans la voie large du monde; se défier surtout de ses maximes, si souvent funestes sous des apparences fort spécieuses; ne pas s'imaginer enfin que des paroles chrétiennes et certains actes éclatants de la foi suffisent pour nous assurer l'entrée dans le royaume éternel : telles sont, en résumé, les dispositions d'un vrai disciple de Jésus-Christ; de celui qui est devenu, par la grâce de Dieu, un homme spirituel et qui édifie sa maison sur le rocher du salut.

## CCXXII. — Guérison d'un lépreux et d'un paralytique. Vocation de Matthieu. Le Jeûne chrétien.

2922. Il n'y avait rien dans les paroles de notre Seigneur qui pût électriser les masses, comme le font les harangues de certains hommes politiques, ou même les discours d'un orateur chrétien habile à émouvoir les passions. On conçoit toutefois le puissant attrait que devait avoir cette éloquence divine. Aussi Matthieu nous dit-il au commencement du chapitre 8, qu'après cette prédication, de grandes foules se mirent à suivre Jésus; puis il nous raconte une guérison dont le récit se trouve en saint Luc, à l'endroit même où nous avons quitté son Evangile pour étudier le sermon de la Montagne; c'est la guérison d'un lépreux.

2923. (L. 5 : 12-16; M. 8 : 1-4; Mc. 1 : 40-45.) La lèpre, cette affreuse maladie, est une triste et vive image du péché [884, 885]. Comme la lèpre, le péché est un mal qui envahit l'homme tout entier, qui se communique par contagion, qui traîne après soi l'ignominie, qui exclut de la sainte assemblée des enfants de Dieu et qui ne peut être guéri que par un acte extraordinaire de la faveur divine. Le rétablissement d'un lépreux par la puissance de Jésus-Christ, mérite

(**Luc 5** : 12-16. **Matthieu 8** : 1-4. **Marc 1** : 40-45.)

donc une attention particulière [2818]. Celui dont il est ici question était lépreux dans tout son corps : humainement parlant, il n'y avait pour lui nulle délivrance possible. Mais Jésus arrive dans sa ville, et cet homme, qui sans doute avait entendu parler de lui et qui croyait aux Ecritures plus que beaucoup de gens en santé, se jette à ses pieds, sitôt qu'il le voit, et il s'écrie : « Seigneur, si tu le veux, tu peux me purifier. » Langage admirable de la foi; car c'était reconnaître la puissance du Seigneur et le libre usage qu'il fait de sa grâce; en même temps, c'était recourir à lui avec une parfaite confiance. Ainsi fait le pécheur qui, sentant sa misère, se réfugie vers Jésus-Christ. Il s'approche de lui, le cœur déchiré, la tête nue, comme un pauvre esclave du péché, et, la main devant la bouche, il crie : Le souillé! le souillé! (Lévit. **13** : 45.)

2924. Puis, de même que le Fils de Dieu s'est mis en rapport avec nous par son humanité, sans avoir toutefois contracté nos souillures, nous le voyons ici poser sa main sur le lépreux, en prononçant cette parole de salut : « Je le veux, sois purifié. » A l'instant la lèpre le quitta. Or, voilà bien aussi comment se fait la délivrance de nos âmes. Le Seigneur tout-puissant s'est approché de nous; et si, par la foi, nous nous mettons en contact avec lui, il se met de son côté en contact avec nous par l'influence secrète de sa grâce : dès ce moment nous sommes purifiés.

2925. En touchant le lépreux, notre Seigneur voulut montrer qu'il n'avait rien à craindre du fléau; mais il n'en est pas moins vrai que, si ce fait avait été connu, l'on aurait pu s'en prévaloir pour fuir Jésus ou pour le séquestrer; c'est par cette raison peut-être, ou par quelque autre motif de prudence, qu'il défendit au malade de raconter comment sa guérison s'était effectuée. Quant à la guérison même, elle ne pouvait ni ne devait demeurer ignorée. Au contraire, Jésus voulut que le lépreux fît tout ce que la loi de Moïse ordonnait pour constater le rétablissement de sa santé (Lév. **14** : 2, etc.). Par là, d'ailleurs, non-seulement sa guérison devenait authentique, mais encore il était établi que Jésus ne prêchait point la révolte contre les lois.

2926. Cependant le lépreux ne put taire sa reconnaissance. Il en résulta que Jésus se tint à l'écart pendant quelques jours, soit pour ceux qui auraient craint de s'approcher de lui parce qu'il avait touché le lépreux, soit pour se soustraire momentanément à la foule immense qu'attirait le bruit de ses miracles. Mais ces temps de retraite constituaient une partie essentielle de son œuvre. Le Seigneur, de-

venu homme, éprouvait le besoin de rentrer, pour ainsi dire, dans le sein de son Père, de se fortifier en lui, de se nourrir de lui. Ses prières n'étaient pas les cris et les supplications du pécheur, mais c'était un long et intime entretien avec Dieu; c'étaient les prières de celui qui est la Parole et la Sagesse. Tous les enfants de Dieu savent, dans une certaine mesure et par expérience, ce que pouvaient être ces entretiens du Fils avec le Père.

2927. (L. 5 : 17-26; M. 9 : 1-8; Mc. 2 : 1-12.) Notre Seigneur fit à cette époque une autre guérison qui fut accompagnée de circonstances non moins instructives. Il se trouvait (toujours à Capernaüm) dans une maison où il prêchait devant quelques pharisiens et quelques docteurs de la loi venus de toutes parts, notamment de Jérusalem. La foule était considérable; tous n'avaient pu entrer, si bien que les avenues en étaient encombrées. Là-dessus arrivent quatre hommes portant un paralytique sur un brancard, et, comme ils voulaient absolument le présenter à Jésus, ils firent le tour de la maison, probablement adossée à un coteau, se hissèrent avec leur précieux fardeau sur le toit en terrasse ou peut-être y montèrent par un escalier extérieur, et de là ils descendirent dans l'appartement où était Jésus. Cette manœuvre leur fut plus facile qu'elle ne le serait chez nous, vu la manière dont les maisons étaient construites; toujours est-il qu'il leur fallut de la décision et une sorte de courage; aussi l'Evangile fait-il hautement l'éloge de leur foi.

2928. Ce fut cette foi-même qui rendit leur acte agréable au Seigneur, et, pour le leur témoigner, il commença par dire au paralytique : « O homme, tes péchés te sont pardonnés. » On ne saurait douter, d'après cela, que le paralytique ne fût venu chercher auprès du Christ la paix de son âme, encore plus que la guérison de son corps. D'un autre côté, notre Seigneur, en commençant par là le déploiement de sa miséricorde envers ce malheureux, voulut sûrement montrer deux choses : d'abord, que le pardon des péchés est la plus grande de toutes les grâces; ensuite, que les guérisons miraculeuses opérées par sa main étaient un signe, ou une figure du salut qu'il est venu nous apporter [2818]. Il voulait aussi donner naissance à l'entretien que voici, entretien fort étrange, car une seule voix s'y fait entendre, et cette voix répond à des pensées non exprimées.

2929. Quel blasphème! dirent en eux-mêmes les scribes ou docteurs, et les pharisiens. Cet homme pardonne les péchés comme s'il était Dieu; car c'est bien en son propre nom et sans se réclamer de

(**Luc 5** : 27-32. **Matthieu 9** : 9-13. **Marc 2** : 13-17.)

l'Eternel qu'il le fait! Mais Jésus, répondant à ce que murmurait leur cœur : « Qu'envisagez-vous comme le plus difficile, leur dit-il, de pardonner les péchés ou de guérir par une parole? » A cela point de réponse, parce qu'en effet, il était évident que l'un n'était pas plus facile que l'autre, et que celui qui pouvait l'un, pouvait l'autre. Alors, Jésus ordonne au paralytique de se lever et d'emporter sa couchette, ce qu'il fait au même instant.

2930. Mais avant de lui donner cet ordre, notre Seigneur avait exprimé nettement dans quel but il allait agir. Il voulait montrer le pouvoir qu'il possède, non pas seulement de distribuer la vie dans les membres paralysés d'un pauvre malade, mais surtout de donner à une âme le repos et la paix éternelle. Sur la terre même, et bien que devenu un fils d'homme, il était celui qui pardonne les péchés. Or, ce qu'il fut sur la terre, il l'est encore dans le ciel, d'où il exerce sa toute-puissance pour délivrer nos âmes et pour soulager nos corps.

2931. Ce qui venait de se passer tourna magnifiquement à la gloire de Dieu. Tandis que le paralytique s'en allait le cœur plein d'amour et d'actions de grâces, les spectateurs de cette scène admirable, hors d'eux-mêmes et saisis d'effroi, disaient : « Nous avons vu aujourd'hui des choses étranges! » En effet, ils venaient de voir un homme qui pardonnait les péchés, un homme qui lisait dans les cœurs, un homme, enfin, qui, d'une parole, guérissait les paralytiques, un homme donc qui était entièrement revêtu du pouvoir divin. Quand, au sortir d'une prédication éloquente, chacun se retire le cœur pénétré d'admiration ou d'attendrissement, il y a là vraiment quelque chose pour la gloire de Dieu; mais supposez que, dans l'assemblée, il se soit rencontré une personne, une seule, à qui le discours de l'orateur chrétien ait fait trouver la paix de Dieu, cette personne, par ses nouveaux sentiments et par ses actions de grâces, glorifie le Seigneur plus encore que tous les autres par leurs émotions et leurs applaudissements. Ici est le paralytique; là sont les docteurs et les pharisiens témoins du miracle.

2932. (L. 5 : 27-32; M. 9 : 9-13; Mc. 2 : 13-17.) Après cela, le même jour peut-être, Jésus étant sorti, passa devant le bureau du péage, où se trouvait un nommé Lévi ou Matthieu, fils d'Alphée. Cet homme, à en juger par son nom, était Lévite de naissance, mais il avait en quelque sorte renié son origine et même sa religion, son pays et son peuple, en prenant de l'emploi dans l'administration des impôts; car il s'était associé de la sorte avec des païens, oppresseurs

(**Luc 5** : 33-38. **Matthieu 9** : 14-17. **Marc 2** : 18-22.)

de sa nation. Ce fut à un tel homme que, pour montrer l'infinie grandeur de sa grâce, le Seigneur voulut adresser un appel semblable à celui qu'avaient entendu André, Simon, Jacques et Jean. En même temps, nous avons ici une nouvelle preuve du pouvoir de sa parole, car lorsqu'il eut dit : Matthieu, « suis-moi, » cet homme obéit sur-le-champ. Il est possible qu'il eût vu précédemment le Seigneur; il avait certainement entendu parler de lui; toujours est-il que ce fut la parole puissante de Jésus qui détermina brusquement sa volonté, comme elle avait guéri le démoniaque, et la belle-mère de Simon, et le lépreux, et le paralytique.

2933. Lévi avait une maison à lui et il jouissait sûrement d'une certaine aisance. Avant de quitter tout cela, il voulut réunir à sa table ses anciens amis et leur procurer le bonheur d'entendre eux-mêmes celui qui venait de le prendre à son service. Ces péagers étaient des païens ou de mauvais juifs. C'est pour cela que, dans la langue des scribes et des pharisiens, ils étaient particulièrement qualifiés de *pécheurs*, car c'est ainsi qu'on lit dans l'original et non pas *gens de mauvaise vie*. Pécheurs, ils ne l'étaient pas dans le fond plus que bien d'autres; mais les pharisiens, à coup sûr, n'auraient pas consenti qu'on les leur assimilât. Aussi, furent-ils indignés de ce que Jésus pouvait manger avec de tels hommes.

2934. Hélas, ils n'avaient pas compris qui est Jésus, ni ce qu'il était venu faire. Le plus vertueux des hommes n'est pas digne de s'asseoir à la même table que lui, et, d'un autre côté, il est le Sauveur de ceux-mêmes qui paraissent les plus indignes. Un médecin donne ses soins aux malades et non à ceux qui se portent bien. En supposant donc que ces péagers fussent moralement plus malades que d'autres, c'était une raison pour que Jésus s'approchât d'eux. Ils étaient *pécheurs*, au dire des scribes; quoi de plus naturel, en conséquence, que de leur offrir les moyens de se convertir ! Quant à ceux qui se croient bien portants et justes, ce que faisaient les détracteurs de Jésus, il est manifeste qu'ils se privent eux-mêmes de la grâce de Dieu. Tel est le sens de la réponse de notre Seigneur, et nous ne saurions trop la méditer.

2935. (L. **5** : 33-38; M. **9** : 14-17; Mc. **2** : 18-22.) Convaincus ou non par ces paroles, les pharisiens dirigèrent l'entretien sur un autre sujet, mais toujours avec l'intention manifeste de sonder Jésus et avec le désir de le trouver en faute. Les disciples de Jean et les leurs propres jeûnaient souvent, tandis que ceux de Jésus ne le faisaient point.

(Luc 5 : 39.)

Le jeûne volontaire est un acte de dévotion qui avait reçu la sanction de Dieu par la bouche de ses prophètes [2490]. L'abstinence de nourriture qu'on s'imposait en ces jours-là signifiait que, pécheur, on se regardait comme indigne de vivre; d'ailleurs, le jeûne s'associe tout naturellement à la douleur et à l'affliction causée par un sincère repentir. On comprend donc que les disciples de Jean-Baptiste jeûnassent. On comprend aussi que les pharisiens tinssent beaucoup à cet acte de dévotion, bien qu'il n'eût pas pour eux le sens que nous venons de dire. Leur jeûne était tout extérieur; mais ils ne laissaient pas de l'estimer particulièrement méritoire, à cause des privations qu'on s'y imposait volontairement.

2936. Maintenant, écoutez la réponse de notre Seigneur. Il ne dit pas que ses disciples ne jeûneront jamais; au contraire, ils le feront; mais plus tard, et il y a de cela deux raisons que le Seigneur expose sous forme de paraboles. D'abord, aussi longtemps qu'il était avec eux, le jeûne eût été une sorte de contre-sens. Il voulait plutôt qu'ils fussent dans la joie, comme les amis de noce en la présence de l'époux (Jean 3 : 29). Ensuite, les jeûnes qu'ils célébreraient, une fois que l'époux leur serait enlevé par la méchanceté des impies, seraient d'une nature tellement spirituelle, ils supposeraient dans les âmes tant de foi et de piété, que, au moment où il leur parlait, c'eût été exiger d'eux l'impossible, que de les inviter à jeûner de cette manière. Le jeûne selon l'Evangile [2874], est comme du drap non foulé, ou comme du vin nouveau; les disciples de Jésus étaient encore un peu trop semblables à un vieil habit ou à de vieux vases : voilà par quelle cause ils ne jeûnaient pas. Le temps de jeûner à l'ancienne manière était passé pour eux; celui de jeûner dans le nouvel esprit n'était encore venu pour personne.

2937. (Luc 5 : 39). Ces derniers mots vous donneront la clef d'une quatrième parabole que Luc seul nous rapporte. Les pharisiens aimaient leur vieille manière de jeûner, et tant qu'ils ne deviendraient pas de nouveaux vases, ils ne pourraient s'accommoder du jeûne chrétien. Ils étaient donc comme des hommes qui, ayant bu du vin vieux, n'en veulent point aussitôt du nouveau. De là je conclus que le jeûne, comme toutes les autres parties du culte chrétien, et plus que nulle autre peut-être, suppose chez ceux qui s'y livrent, les dispositions d'un cœur droit et pieux. Rien donc ne semble plus contraire à l'Evangile que ces jeûnes publics auxquels on convie toute une nation. Aussi comment sont-ils célébrés? Il est de fait cependant

que les antiques formes d'un culte quelconque, inspirent à la multitude et surtout à ceux que, dans la multitude, on appelle des gens religieux, une vénération opiniâtre. Cette vénération s'explique très bien quand on réfléchit que c'est fort souvent au moyen des formes religieuses qu'on parvient à se passer de religion. Or, pour ces personnes, les vieux usages, quels qu'ils soient, valent mieux que ce qu'ils appellent des nouveautés, nouveautés prétendues qui, souvent, ne sont pas autre chose que l'Evangile remis en lumière et en pratique.

—

## DEPUIS LA SECONDE PAQUE, JUSQU'A LA FÊTE MENTIONNÉE EN SAINT JEAN, CHAP. V, v. 1.

### CCXXIII. — Seconde Pâque; le Sabbat; Jésus voué à la mort; élection des douze Apôtres.

2938. (Luc 6 : 1.) Sans qu'on puisse dire au juste ce qu'on entendait par le sabbat second-premier, il est probable que c'était le sabbat après celui de la Pâque, lorsque la Pâque elle-même ne tombait pas sur le septième jour. C'est-à-dire qu'il y avait à ce moment de l'année religieuse des Juifs, deux grands sabbats, appelés, l'un le premier et l'autre le second-premier. Le soleil du printemps brillait donc pour la deuxième fois depuis que Jésus, le soleil des justes, était entré dans son ministère. Une nouvelle Pâque venait de se célébrer, à partir de celle où nous l'avons vu purgeant le temple de la présence de ceux qui le profanaient [2741]. Il ne paraît pas qu'il se fût rendu cette fois à Jérusalem, les Evangiles du moins ne nous le disent pas; mais, poursuivant le récit de quelques-unes des choses que Jésus a dites et a faites (Jean 21 : 25), ils nous racontent ce qui lui arriva dans ce sabbat second-premier; comment les pharisiens continuaient à surveiller ses démarches, et comment il saisit l'occasion qu'ils lui présentèrent de redresser leurs idées erronées sur l'observation du sabbat.

2939. Ici commence, à bien dire, la longue lutte de Jésus avec les pharisiens et les saducéens, ces puissances du présent siècle qui, instruments du prince des ténèbres, finirent par remporter contre le Seigneur une victoire sanglante, mais se perdirent par leur victoire même, selon les prophéties [102, 103]. Vigoureusement repris par Jean-Baptiste à cause de leur hypocrisie, les pharisiens et les sadu-

(**Luc 6** : 1-5. **Matthieu 12** : 1-8. **Marc 2** : 23-28.)

céens, ceux-là surtout, avaient dû garder dans leur cœur une profonde haine pour le saint messager du Messie, et cette haine se reporta naturellement sur Jésus. Après cette terrible humiliation, et lorsque le Seigneur eut ensuite fait entendre sa voix, il leur fut facile de comprendre que leur règne tendait à sa fin; rien en conséquence ne devait leur coûter pour conjurer l'orage qui les menaçait. Plus le peuple se pressait autour de Jésus, plus leurs frayeurs augmentaient. Croire et se convertir, voilà ce qui aurait changé leurs anxiétés en allégresse, mais voilà, d'un autre côté, ce qu'ils ne voulaient à aucun prix et nous en verrons plus tard les raisons.

2940. (Luc **6** : 1-5; Matth. **12** : 1-8; Mc. **2** : 23-28). Un jour donc que notre Seigneur traversait un champ de blé avec ses disciples, ceux-ci, pressés par la faim, arrachèrent des épis et, les broyant dans leurs mains, ils se mirent à les manger. L'acte lui-même n'avait rien de répréhensible, puisque la loi de Moïse l'autorisait (Deut. **23** : 24, 25); aussi les pharisiens n'eurent pas même l'idée d'y voir une indélicatesse. Mais ce jour était un sabbat, et parce que Moïse avait défendu d'allumer, ce jour-là, du feu dans sa demeure (Exode **35** : 3), les pharisiens estimaient qu'en broyant les épis, ce qui était préparer sa nourriture, les apôtres avaient enfreint le commandement. C'est jusque-là qu'ils avaient porté leurs exagérations formalistes, et le mal datait de loin [2567]. Les Juifs, délivrés de la captivité, ne retournèrent plus au culte des idoles, comme l'avaient fait si souvent leurs ancêtres; mais on peut dire qu'ils étaient devenus idolâtres des formes de leur culte, et si les pharisiens exerçaient une si grande influence, c'est qu'ils prenaient sous leur protection cette idolâtrie nouvelle.

2941. Pour qu'ils comprissent tout à la fois leur erreur et leur injustice, le Seigneur commença par rappeler ce qui était arrivé à David, du temps d'Abiathar, fils et successeur immédiat du sacrificateur Ahimélec [1417-1419]. Si, dans une nécessité pressante, David et ses gens avaient pu manger des pains consacrés, Jésus et ses disciples pouvaient bien aussi, sans sacrilége, broyer des épis dans leurs mains le jour du sabbat. Ensuite il leur représenta que, ce jour même, les sacrificateurs travaillaient, pour le service de Dieu, autant et plus que les autres jours. Par ces deux considérations, il voulait leur faire sentir, non pas que la loi de Dieu sur le sabbat ne dût pas être observée, mais qu'ils en méconnaissaient la vraie signification, comme au reste celle des autres points de la loi [2848]. L'Eternel n'avait pas entendu que tout travail quelconque fût interdit et qu'on dût plutôt

(**Luc 6** : 1-5. **Matthieu 12** : 1-8. **Marc 2** : 23-28.)

se laisser mourir de faim. C'est donc le sabbat des pharisiens que Jésus condamne, et non pas celui des deux tables [746].

2942. Après cela, Jésus reproche à ses adversaires leur manque de compassion, faute bien plus grave que celle qu'il leur plaisait de relever, ou plutôt d'imaginer. Car, si la cessation des travaux ordinaires de la semaine est indispensable pour faciliter la sanctification du sabbat; si, par conséquent, cette suspension générale du travail fait partie de la loi immuable du Seigneur, il n'en est pas de même des règlements de détail relatifs à ce jour. Ils appartenaient plutôt aux ordonnances cérémonielles, ou à la loi civile des Juifs [763, 785]; et, bien que ces ordonnances et cette loi ne fussent point en opposition avec les lois éternelles de la morale, il est clair cependant que « miséricorde est plus que sacrifice. » La charité sanctifie le jour du repos, mieux encore que la suspension du travail. C'est, je pense, ce que notre Seigneur voulut faire comprendre aux pharisiens, en leur citant la parole du prophète Osée, ch. 6, vers. 6.

2943. Bien plus, le Seigneur déclare que « le sabbat a été fait pour l'homme, et non pas l'homme pour le sabbat » (Marc 2 : 27.) Ce n'est pas dire que l'homme puisse en faire un jour de dissipation ou de nonchalance, un jour de fatigues inutiles après les fatigues légitimes de la semaine; car cette manière de passer le sabbat serait funeste à l'homme au lieu de lui être avantageuse. Toujours est-il que nous ne devons jamais devenir esclaves des formes. Etant admis que nous avons besoin d'un jour où nos travaux ordinaires soient régulièrement interrompus, afin de nous occuper plus exclusivement de notre âme et de Dieu, il demeure évident qu'une occupation momentanée, passagère, une occupation importante, nécessaire, une occupation qui d'ailleurs ne va pas à contre-sens de la sanctification, ne saurait être absolument répréhensible ce jour-là.

2944. Remarquez au surplus que notre Seigneur a dit : « pour l'homme, » et non pas « pour le Juif seulement. » C'est qu'en effet la consécration d'un jour sur sept, est fort antérieure à l'existence du peuple d'Israël. Elle a eu lieu dans l'intérêt de l'homme en général, de l'homme même avant sa chute [47]. Or, de ce que le chrétien est devenu, par la grâce de Dieu, une nouvelle créature, il ne s'ensuit pas qu'il n'ait pas besoin de mettre un jour à part pour le service de son Dieu. Bien loin que ce soit un fardeau pour lui, il y voit un de ses priviléges. Au vrai chrétien, tous les jours sont de saints jours; mais ils ne le sont pas plus pour lui qu'ils ne l'étaient pour Adam avant son

(**Luc 6** : 6-10. **Matthieu 12** : 9-13. **Marc 3** : 1-5.)

péché. Si donc, comme je l'ai dit tout à l'heure, c'est le sabbat des pharisiens que notre Seigneur désavoue et non celui de Moïse, à plus forte raison n'est-ce pas l'institution primitive du saint repos des enfants de Dieu, puisqu'il la sanctionne au contraire par l'allusion qu'il y fait.

2945. Ce n'est pas à dire que notre Seigneur n'eût pu, s'il l'avait voulu, supprimer l'institution primitive elle-même, vu qu'il est « le Seigneur du sabbat. » (L. **6** : 5; M. **12** : 8.) Plus grand que le temple, car il est celui que « les cieux, même les cieux des cieux ne peuvent contenir» (2 Chron. **6** : 18), il est le maître d'abroger le sabbat, comme il a été le maître de l'établir (M. **12** : 6). Si donc il souffrait que ses disciples broyassent des épis, ce jour-là, comment douter qu'ils ne fissent ce qui était parfaitement légitime. Et si, plus tard, nous voyons ces mêmes disciples, conduits par l'Esprit de leur Seigneur, modifier d'une manière quelconque la solennisation du jour du repos, qui dira qu'en cela ils aient agi sans juste autorité?

2946. (L. **6** : 6-10; M. **12** : 9-13; Mc. **3** : 1-5.) Peu après, semble-t-il, Jésus étant entré, un jour de sabbat, dans une synagogue, des scribes (hérodiens, pour la plupart, c'est-à-dire saducéens), l'y suivirent, accompagnés de quelques pharisiens. Ils espéraient sans doute qu'il leur fournirait l'occasion de renouveler leurs attaques au sujet du sabbat. Ils attachaient une très haute importance à le convaincre de péché sur ce point, car rien n'eût été plus propre à lui aliéner la multitude. Or, il se trouvait en la synagogue un homme qui avait la main droite privée de mouvement et de vie. Comme il implorait sans doute la compassion du Seigneur, les scribes et les pharisiens demandèrent à Jésus s'il était permis de faire des guérisons le jour du sabbat. Il paraît que leurs médecins mêmes s'abstenaient de visiter alors les malades, et ils s'efforçaient de ne voir en Jésus qu'un homme qui guérissait merveilleusement les infirmités physiques. A de tels adversaires, la meilleure manière de répondre est souvent de leur adresser à son tour des questions qui leur ferment la bouche. C'est ce que fit notre Seigneur, comme vous le verrez dans les Evangiles, et ses interlocuteurs n'ayant évidemment rien à répondre, Jésus conclut l'entretien par ces mots tout simples : « Il est donc permis de faire du bien le jour du sabbat. »

2947. En rapprochant ce récit de celui qui précède, il est évident que le Seigneur du sabbat a voulu déterminer le genre d'œuvres qui s'accommodent avec le repos religieux. Dans l'intérêt de notre âme,

(**Matthieu 12** : 14-21. **10** : 2-4. **Marc 3** : 6-12; 13-19. **Luc 6** : 11-16.)

comme dans celui du prochain et pour la gloire même de Dieu, il est bon que le culte du saint jour abonde en actes de bienfaisance. Ce n'est pas à une vie contemplative que le Seigneur nous appelle, ce n'est pas non plus en multipliant outre mesure les dévotions que nous entrons le mieux dans ses vues. Tous les jours, les disciples de Jésus doivent être, comme lui, prêts à faire de bonnes œuvres, mais combien plus encore dans le jour qu'il s'est consacré.

2948. Marc nous dit qu'avant d'opérer la guérison du pauvre infirme, le Seigneur promena sur les pharisiens un regard de colère et de tristesse tout à la fois (3 : 5) ; puis, les trois évangélistes parlent de la fureur dont les ennemis de Jésus-Christ furent remplis en cet instant et des projets de mort qu'ils commencèrent à former contre lui (L. 6 : 11 ; M. 12 : 14; Mc. 3 : 5, 6). Là, une sainte colère, une vive et juste indignation, tempérée par une douleur non moins sainte; ici, la colère cruelle de l'homme, l'aveuglement de la passion, une haine violente toujours prête à répandre le sang! Ce fut donc ce jour même que la perte de notre Seigneur fut jurée. Le complot s'effectua seulement deux ans plus tard, parce que, après tout, Jésus donna sa vie quand il le voulut. Dès ce moment, toutefois, il dut user de précautions pour éviter les piéges que lui tendirent ses ennemis.

2949. (M. 12 : 15-21; Mc. 3 : 7-12). Ainsi, à cette époque même, il jugea bon de s'éloigner pendant quelque temps du théâtre ordinaire de ses travaux et de recommander fortement à ceux qui le suivirent, ou qui, de diverses contrées, se rendirent vers lui, de ne pas divulguer les choses dont ils étaient les témoins. Or, dit Matthieu, voilà comment s'accomplit un des beaux oracles d'Esaïe (42 : 1-4). « Le Serviteur, l'Elu de l'Eternel, en qui habitait l'Esprit-Saint, ne fut point un homme ami des débats. S'il dut proclamer les jugements de Dieu, ce ne fut pas avec la pensée d'ameuter le peuple contre ceux qui l'opprimaient et le pervertissaient. Lui-même, c'est avec une grande patience qu'il a attendu le jour où il doit revenir pour donner victoire à la justice divine. Cependant, il se montra plein de compassion envers les ignorants et envers les pécheurs humiliés, roseaux froissés, lumignons fumants; en sorte que des hommes de toutes nations, de Tyr et de Sidon, de l'Idumée et de delà le Jourdain, comme de Jérusalem et de la Judée, trouvèrent en lui la consolation de leur âme. »

2950. (L. 6 : 12-16; M. 10 : 2-4; Mc. 3 : 13-19.) Ce fut dans ce temps que Jésus adressa décidément à douze de ses disciples, la vo-

(**Luc 6** : 12-16. **Matthieu 10** : 2-4. **Marc 3** : 13-19.)

cation qui devait leur donner une place à part dans l'administration de son royaume spirituel. Acte d'une grande solennité, car le Seigneur s'y prépara en passant toute une nuit dans la prière. Puis, quand il fut jour, il appela la multitude de ses disciples, et, d'entre eux, il en choisit douze, qu'il destinait à être continuellement avec lui, pour prêcher plus tard en tous lieux sa doctrine. Si l'on met en regard les listes qui nous sont données par les trois évangélistes, on y remarque à première vue des différences considérables en apparence, mais qui ne le sont pas en réalité.

2951. D'abord, il y a différence dans l'ordre des noms. Luc et Matthieu disent *Simon, André, Jacques* et *Jean*, pour les quatre premiers; Marc dit : *Simon, Jacques, Jean* et *André*. Le cinquième et le sixième : *Philippe* et *Barthélemy*, sont placés de même dans les trois Evangiles. Luc et Marc portent ensuite *Matthieu, Thomas* et *Jacques*, et l'autre Evangile porte *Thomas, Matthieu* et *Jacques*. En voilà donc neuf qui, sauf un changement de place, se trouvent parfaitement identiques. Le douzième ne l'est pas moins; c'est, dans les trois Evangiles, *Judas Iscariot*. Quant au dixième et au onzième, nous avons :

| en saint Luc | en saint Matthieu | en saint Marc |
|---|---|---|
| *Simon,* | *Lebbée,* | *Thaddée,* |
| *Jude,* | *Simon,* | *Simon,* |

d'où il résulte que *Jude, Lebbée* et *Thaddée* doivent être trois noms d'un seul et même individu. Son nom primitif était *Jude* ou plutôt *Judas*, comme dit le grec. Or ce nom de Judas, porté par deux apôtres (aussi bien que ceux de Simon et de Jacques), ce nom de Judas étant devenu odieux à des oreilles chrétiennes depuis la trahison de l'Iscariote, on conçoit que l'autre Judas ait été de préférence désigné par son nom de *Lebbée, homme de cœur;* puis, qu'on y ait même ajouté plus tard un autre surnom encore plus propre à le distinguer de son homonyme : *Thaddée*, qui veut dire *le Confesseur*.

2952. Voici donc quels furent les douze apôtres, avec les surnoms qui les distinguaient :

1. Simon, Pierre ou Céphas [2721].
2. André, son frère [2720, 2721].
3. Jean et
4. Jacques, fils, l'un et l'autre, de Zébédée, et appelés *Boanerges*, ou les fils du tonnerre [2810].
5. Philippe [2723].
6. Barthélemy, que plusieurs croient être Nathanaël [2723, 2724].

(**Luc 6** : 17-19.)

7. Matthieu, autrement Lévi [2932].
8. Thomas, appelé aussi Didyme, ou le Jumeau.
9. Jacques, fils d'Alphée.
10. Simon, le Zélé, ou le Cananite (de Cana).
11. Judas, frère de Jacques, surnommé Lebbée et Thaddée.
12. Judas l'Iscariote.

Quant à Jacques, frère de Lebbée, dont le nom paraît occasionnellement dans cette liste, ce ne doit être ni le Jacques frère de Jean, ni Jacques fils d'Alphée, mais le frère même du Seigneur, comme nous le verrons autre part; d'où il résulterait que Judas, surnommé Lebbée et Thaddée, était fils de Joseph et de Marie, la mère de Jésus.

2953. Des douze, il en est trois ou quatre que nous connaissons déjà quelque peu, et par eux nous pouvons juger des autres. Rien ne les distinguait de leurs compatriotes, si ce n'est la grâce que le Seigneur daigna leur faire. Parmi eux point de riches ni de puissants, point de docteurs, point de magistrats, point de sacrificateurs. Nul savoir, nulle éloquence ne les recommandait particulièrement à l'attention publique. C'est qu'il convenait à Jésus d'avoir pour apôtres des hommes qui n'eussent, selon le monde, aucune chance de succès, afin que leur œuvre parût d'autant mieux l'œuvre de Dieu. Quant à leur titre d'Apôtres, il ne signifie rien de plus que *missionnaire* ou *envoyé;* et si maintenant on y ajoute celui de *saint*, saint Pierre, saint Jean, saint Matthieu, tandis qu'on ne dit pas saint Moïse, saint Esaïe et saint Jérémie, c'est par un usage que le Nouveau Testament ne justifie d'aucune sorte. Sans doute que ces pauvres pécheurs devinrent de saints hommes; mais ce ne fut pas de leur mission ou de leur apostolat qu'ils tinrent leur sainteté, ce fut de leur foi; et par là, tout vrai chrétien peut être saint aussi bien qu'eux : tous, d'autre part, ne peuvent être apôtres.

## CCXXIV. — Discours de la plaine. Le capitaine de Capernaüm. Le jeune homme de Naïn.

2954. (Luc 6 : 17-19.) Escorté dès ce moment par les douze, mais non pas sans interruption, notre Seigneur continua de faire entendre sa voix de lieu en lieu, et de manifester sa gloire par des guérisons miraculeuses; en sorte qu'on venait à lui de toute la Judée et de la contrée maritime de Tyr et de Sidon, c'est-à-dire du midi et du

nord [2949]. Juifs et Gentils se pressaient autour de sa personne. Or, la puissance qui agissait par lui était telle que, seulement de le toucher on était guéri. Belle image des merveilles de la foi qui nous met en rapport avec Jésus-Christ, et, par là, nous communique sa propre vie.

2955. Cependant, tous ceux qui allaient au Seigneur n'y allaient pas en disciples. L'Evangile désigne sous ce nom les personnes qui avaient à cœur de s'approprier les enseignements de Jésus ; et Jésus à son tour ne manquait pas d'exprimer ce qu'il attendait de ceux qui l'appelaient Docteur et Seigneur. C'est ce qu'il fit précisément à cette époque, où tant de gens s'étaient attroupés pour l'entendre. Le discours qui sortit alors de sa bouche (20-49) offre tellement d'analogie avec celui de la Montagne, que plusieurs n'y voient qu'un seul et même discours. Mais, en admettant que notre Seigneur s'y soit intentionnellement servi de termes semblables, les différences sont assez essentielles pour qu'on les envisage comme deux discours prononcés à quelque temps l'un de l'autre ; l'un sur une montagne près de Capernaüm, l'autre dans une plaine au pied d'un des monts qui dominent la rive nord-est du lac de Génézareth ; l'un adressé aux disciples, l'autre à la multitude ; celui-ci, par cette raison même, plus court que le précédent et contenant toutefois des développements qu'il comportait beaucoup mieux.

2956. Il s'ouvre aussi par des béatitudes, mais elles sont moins nombreuses et il n'en est pas une qui se lise exactement dans les mêmes termes (20-23). La différence est telle, qu'ici notre Seigneur semble avoir principalement à cœur de consoler, par la perspective des biens célestes, ses disciples pauvres et malheureux ; tandis que, dans le discours de la Montagne, s'il est parlé de misère et d'affliction, c'est au sens spirituel ; c'est une affliction et une misère qui sont en elles-mêmes un vrai bonheur, puisqu'on doit y voir des effets et des gages de la grâce de Dieu. Par cela même que, dans son discours actuel, le Seigneur s'en tient à des idées plus générales, et, si je puis dire ainsi, d'un ordre plus extérieur et plus terrestre, il ne parle, cette fois, ni des débonnaires, ni des miséricordieux, ni de ceux qui ont le cœur pur, ni enfin de ceux qui procurent la paix.

2957. Après cela, notre Seigneur complète son discours par des menaces qui n'avaient point paru dans le précédent (24-26). Malheur, malheur, malheur aux heureux du siècle, s'écrie-t-il ; car c'est à cela que reviennent ses paroles. Oui, malheur à ceux qui n'ont d'autres

(**Luc 6** : 27-38; 39.)

richesses que celles de la terre, qui y cherchent le rassasiement de leur cœur, qui ne songent qu'à se divertir et qui tiennent par-dessus tout à l'approbation des hommes! Malheur à eux! tous leurs biens étant de la terre, quand ces biens viendront à leur manquer, rien ne leur restera que la détresse et les lamentations de la mort.

2958. Parmi les idées nouvelles que renferme l'introduction de ce discours, remarquez l'endroit où Jésus énumère les maux auxquels ses disciples seraient exposés de la part des méchants (22). Ils vous haïront : ivres de haine, ils vous rejetteront du milieu d'eux, par la mort même s'il le faut; tout au moins ils vous abreuveront d'outrages, et le nom que vous porterez comme disciples du Fils de l'homme deviendra un terme de mépris; on inventera même des épithètes insultantes pour vous désigner à la haine publique. Comme ces paroles se sont vérifiées dans tous les temps!

2959. Voyez ensuite combien peu un chrétien, un ministre de Jésus-Christ surtout, doit s'attendre à recueillir l'estime et l'approbation des mondains (26). Ce ne pourrait être que par le sacrifice de ses convictions, ou par son peu de zèle à confesser et à servir le Seigneur. Il faudrait qu'il consentît à suivre, quelque peu du moins, la multitude pour mal faire. Aussi Jésus dit-il à ses disciples : « Malheur à vous quand tous les hommes diront du bien de vous! »

2960. (27-38). Les instructions suivantes se retrouvent généralement, et en diverses places, dans le sermon de la Montagne, avec certaines différences néanmoins dont nous devons signaler les principales. Jésus avait dit : « Vous serez donc parfaits comme votre Père qui est dans les cieux est parfait; » il présente maintenant cette idée en d'autres termes : « Soyez miséricordieux comme aussi votre Père est miséricordieux. » Ce qui, par-dessus tout, rend l'Eternel aimable au pécheur, c'est sa miséricorde; que ce soit donc aussi là ce que nous ayons le plus de zèle à imiter. Tout de suite après, Jésus explique ce qu'il entend par « juger » [2908]. Le développement qu'il ajoute est destiné à nous montrer que, non-seulement devant Dieu, mais encore auprès de nos semblables, nous rencontrerons l'indulgence et le support à proportion de ce que nous serons nous-mêmes indulgents et miséricordieux.

2961. La parole qu'on lit au verset 39 ne se voit pas dans le discours de la Montagne; mais le même enseignement s'y trouve sous une autre forme (Matth. 7 : 15) [2916]. Tout faux docteur est un aveugle qui veut guider un aveugle; or, si un aveugle se met sous la

(**Luc 6** : 40; 41-49. **7** : 1-10. **Matthieu 8** : 5-13.)

direction d'un aveugle tel que lui, il tombera dans la fosse avec son guide. Cette déclaration du Seigneur ne devrait-elle pas faire trembler tant de catholiques, et aussi de protestants, qui croient pouvoir se décharger sur leurs prêtres et sur leurs ministres de toute responsabilité morale ; car le Seigneur n'entend pas que nous suivions aveuglément les directions des docteurs ; il faut au contraire que chacun juge pour soi-même, en s'éclairant de la Parole de Dieu et des lumières que le Saint-Esprit donne à ceux qui les lui demandent.

2962. (40.) Comment ne pas voir à quoi l'on s'expose en écoutant les faux prophètes ! « Le disciple n'est pas au-dessus de son docteur ; mais, formé, tout disciple sera comme son docteur. » Il est rare, en effet, de rencontrer des hommes qui veuillent réellement savoir autre chose et mieux que ceux qui les enseignent. Si donc nous suivons de mauvaises leçons, nous ne pouvons sans miracle ne pas devenir toujours pires.

2963. (41-49.) La fin du discours ne présente rien au fond qui ne soit dans le précédent. Il s'y trouve toutefois une expression qui étonne au premier abord. « L'homme bon, » dit notre Seigneur ! Mais, y a-t-il réellement des hommes bons, et lui-même n'avait-il pas dit : « Vous, méchants comme vous l'êtes ? » (Matth. 7 : 11.) Ce n'est là qu'une opposition apparente. Jésus a voulu dire, ou un homme devenu bon par la grâce de Dieu, ou un homme qui serait bon, à supposer qu'il pût y en avoir de tels. Ce qui demeure vrai, d'une vérité absolue et sans réplique, c'est qu'il ne peut sortir de nous que ce qui y est. Le cœur est-il bon parce qu'il est converti ? Il y a là un bon trésor d'où sortent de bonnes choses. Est-il au contraire méchant ou non-converti ? Il ne peut sortir que de mauvaises choses de ce mauvais trésor ; car « de l'abondance du cœur la bouche parle. » Qu'il y ait donc en nous abondance de foi, de piété, de charité, d'humilité, et nos discours porteront nécessairement l'empreinte de ces grâces du Saint-Esprit.

2964. (L. 7 : 1-10 ; M. 8 : 5-13.) Après cela, nous retournons avec Jésus à Capernaüm. Là se trouvait un homme dont l'histoire est d'un grand intérêt. C'était un capitaine romain qui vivait sans doute depuis assez longtemps en Judée, où l'empereur Tibère entretenait des troupes, afin de maintenir sa domination. Ce capitaine, né païen, avait appris au milieu des Juifs à connaître le vrai Dieu, et tout ce qu'on disait de Jésus étant parvenu à ses oreilles, il ne douta pas qu'il ne fût un envoyé du Très-Haut. Auparavant encore il avait montré la

(**Luc 7** : 1-10. **Matthieu 8** : 5-13.)

ferveur de sa foi en bâtissant à ses frais une synagogue, générosité qui l'avait rendu fort cher aux habitants de la ville.

2965. Cet homme, riche et considéré, avait un esclave paralytique. Un esclave, aux yeux des païens, n'était pas un objet auquel on prît un intérêt de cœur; mais, instruit par la Bible à aimer son prochain comme lui-même, le capitaine fit pour son esclave ce qu'il aurait fait pour son propre fils. D'un autre côté, bien que sa position sociale le plaçât beaucoup au-dessus de Jésus de Nazareth, il crut, par humilité, ne pas devoir se présenter lui-même devant le Seigneur. Matthieu parle comme si le capitaine se fût rendu de sa personne auprès de Jésus, mais en comparant les deux récits, on voit que, si peut-être il sortit de sa maison avec ses amis juifs, ce fut par leur canal qu'il voulut communiquer avec notre Seigneur.

2966. L'humilité du capitaine fut pour le moins égale à sa charité, et l'une et l'autre venaient de sa foi. Il parla, ou fit parler à Jésus (cela revient au même), comme un homme qui croyait à la toute puissance du Sauveur : Une parole de ta bouche suffit pour rendre la vie ! Ah ! plût à Dieu que tous mes lecteurs eussent une foi pareille; car rien n'est refusé à ceux qui se confient en Jésus.

2967. La foi ! voilà donc ce qui nous rend agréables à Dieu et ce qui nous fait avoir part à ses grâces, en même temps que la foi est elle-même une grâce de Dieu. Les Juifs estimaient que le capitaine méritait que Jésus fît quelque chose pour lui, parce qu'il leur avait bâti une synagogue et qu'il aimait leur nation ; ainsi jugent les hommes. Le capitaine, au contraire, bien que digne de l'estime et de la reconnaissance publiques, se considère comme indigne de recevoir Jésus sous son toit; ainsi se juge le pécheur que la grâce divine a touché. Jésus applaudit à la foi du capitaine et exauce sa prière aux termes de sa foi; c'est ainsi que le Seigneur juge et fait à son tour.

2968. Ce capitaine, au surplus, fut, parmi les païens, un des premiers, si ce n'est le premier de ceux qui reçurent la parole du salut. Aussi notre Seigneur déclare-t-il, à cette occasion, qu'au jour de sa venue, il y aurá beaucoup d'hommes, nés païens, qui seront envisagés comme ayant fait partie de la famille d'Abraham [314]; tandis que les enfants du royaume, savoir une foule de Juifs et de soi-disant chrétiens, seront désavoués par le Seigneur et jetés là où sont les ténèbres et les cris du désespoir. Parole sérieuse et que je recommande vivement à l'attention de mes lecteurs, afin qu'ils mesurent

(**Luc 7** : 11-17; 18-23. **Matthieu 11** : 2-6.)

le danger qui les menace, s'ils n'ont pas la foi du capitaine de Capernaüm.

2969. (Luc 7 : 11-17.) Le jour suivant, Jésus partit pour la ville de Naïn, située au pied du mont Thabor [1160], à sept ou huit lieues environ de Capernaüm. Il y arriva sur le soir, accompagné de nombreux disciples avec lesquels il avait pu faire la plus grande partie du trajet par le lac. Chemin faisant une grande foule s'était jointe à eux. Ils rencontrèrent alors un de ces lugubres convois qui traversent si souvent nos villes et nos campagnes. On portait en terre le corps d'un jeune homme, fils unique d'une veuve. Celle-ci, suivant l'usage des Juifs, usage qui existe de nos jours en plusieurs pays, faisait partie du cortége et sans doute beaucoup d'autres femmes de la ville avec elle. La douleur de cette pauvre mère était profonde, déchirante. Jésus s'approche d'elle et lui dit : « Ne pleure pas. » Il va à la bière et la touche, les porteurs s'arrêtent ; le jeune homme est appelé par la voix de Celui qui avait rendu la vie à la main de l'impotent (6 : 10) et le mort, tout mort qu'il est, entend cette voix ; il se réveille, et son heureuse mère le reçoit une seconde fois de la main du Seigneur !

2970. Ce nouveau miracle de Jésus fit sur tous une impression prodigieuse et cela se conçoit. Il ne faut pas plus de puissance pour ressusciter un mort que pour guérir un paralytique par une parole ; mais le retour à la vie est quelque chose qui saisit plus fortement la pensée. Aussi n'y eut-il, au milieu de cette foule confuse, qu'un long cri de stupeur et d'admiration ; ce qui ne veut pas dire que tous eurent à ce moment la foi vivante et efficace du capitaine de Capernaüm. Quant à nous, ce miracle doit nous affermir dans la conviction que le Seigneur est puissant pour rendre la vie à nos corps mortels. Croyons en lui du fond de l'âme, et, au jour où il visitera son peuple, il nous fera certainement sortir du sépulcre, pour célébrer la gloire de Dieu durant l'éternité. Puis il faut que les mères chrétiennes qui ont dû rendre à la terre les objets de leur tendresse, se souviennent que Jésus compatit à de telles douleurs, aujourd'hui comme alors.

## CCXXV. — Jean-Baptiste en prison.

2971. (L. 7 : 18-23 ; M. 11 : 2-6.) Nous avons entendu notre évangéliste raconter, par anticipation, l'emprisonnement du fils de Zacharie [2684]. Bien qu'on ne sache pas au juste à quelle époque le Seigneur jugea bon d'éprouver ainsi son serviteur, il paraît que ce ne

(**Luc 7** : 18-23. **Matthieu 11** : 2-6.)

fut pas fort longtemps après la belle prédication qui nous est rapportée par saint Jean (**3** : 27-36). Il semble même que l'Esprit de Dieu eût donné au grand prophète du Messie le pressentiment de ce qui l'attendait, car il avait dit en parlant de Jésus : « Il faut qu'il croisse et que moi je diminue » (Jean **3** : 30). Oui, il fallait désormais que l'attention se concentrât sur notre Seigneur, et ce fut sans doute un des motifs pour lesquels il permit que son fidèle précurseur fût jeté dans une prison ; il fallait aussi qu'on pût voir en lui le prélude du sort qui fut fait à Jésus-Christ lui-même et que partagèrent plus tard tant de ses disciples.

2972. Jean était donc en prison depuis plusieurs mois, lorsqu'il entendit parler des grandes œuvres que Jésus faisait dans la Galilée, province dont Hérode était le tétrarque (Luc **3** : 1). Quelle consolation pour lui ! vous direz-vous sans doute. N'est-ce pas maintenant que sa joie doit être parfaite, car d'immenses multitudes se pressent autour de Jésus et c'est là tout ce que le Précurseur désirait ? (Jean **3** : 29.) Hélas ! le fils de Zacharie fut homme aussi bien que nous ; et, plus que nous, sans doute, il dut avoir Satan pour ennemi. Comme nous, comme Jésus lui-même, il eut des tentations à combattre ; et, selon des expériences mille fois répétées, cet homme fort et énergique, une fois repoussé de son champ d'activité, ne put échapper à une sorte d'abattement.

2973. Quelques interprètes pensent que ce fut dans l'intérêt de ses disciples et non dans le sien que Jean les envoya demander à Jésus s'il était bien le Christ. Mais cette interprétation n'a pas la vraisemblance de celle qui, prenant les choses dans leur plus grande simplicité, admet que Jean fut à cette heure tourmenté de doutes cruels et sous le poids d'un profond découragement. Et pourquoi non ? Jean était-il impeccable ? N'a-t-il pas pu se passer en son âme quelque chose de pareil à ce qui jeta jadis tant de trouble et de péché dans celle d'un Moïse (Exode **5** : 22, 23 ; Nombr. **20** : 1-13), d'un Elie (1 Rois **19** : 3, 4) et d'un Jérémie (Jér. **20** : 7-18). Représentez-vous cet homme de Dieu gémissant depuis longtemps sous une captivité que ses persécuteurs assurément ne cherchaient pas à alléger. Jésus se tient éloigné de lui, et il n'a pas plus l'air de penser au prisonnier que s'il n'existait pas. Cependant quelques disciples de Jean viennent le visiter, et peut-être sont-ils de ceux qui n'ont point encore voulu recevoir Jésus comme le Christ. Quelle belle occasion pour Satan ! comme il va murmurer au cœur de Jean des paroles d'incrédulité !

**Luc 7** : 24-28. **Matthieu 11** : 7-11.)

« Ne serais-tu point victime d'une illusion? Ce que tu crois avoir vu et entendu au baptême de Jésus était-il bien réel? Comment t'expliques-tu qu'il t'abandonne à ton mauvais sort et qu'il ne t'en retire pas par sa puissance? » Que sais-je encore? car le cœur de l'homme est faible, il est raisonneur, il est par nature plein de ténèbres, et Satan hait un enfant de Dieu à proportion des grâces que celui-ci a reçues, de la sainteté à laquelle il est parvenu.

2974. Un fidèle, cependant, qui se voit momentanément la proie du doute et par conséquent dans le chemin de l'incrédulité, ne se conduira pas à la manière des incrédules. Ceux-ci fuient la lumière, le fidèle éprouvé la recherche. Jean ne saurait se plaire dans la position cruelle et périlleuse où se trouve son âme, il veut s'en arracher et, recourant au meilleur de tous les moyens, il envoie à Jésus, ne pouvant y aller lui-même. Or, le Seigneur ne trompe jamais l'attente de ceux qui se confient en lui. Après avoir fait devant les messagers de Jean divers signes propres à attester sa puissance, il les congédie en mettant dans leur bouche des paroles analogues à celles par où les prophètes avaient annoncé que le Christ opérerait des miracles et précisément des miracles de cette nature. Ainsi donc les œuvres que Jésus faisait et les prophéties qu'il accomplissait par ces œuvres mêmes, voilà ce qui devait bannir toute espèce de doutes du cœur de Jean-Baptiste. Jésus ajouta un mot que les messagers ne pouvaient manquer de rapporter à leur maître : « Et bienheureux est celui qui n'aura pas en moi une occasion de chute » (23), tel est le sens du passage d'après celui du mot « scandale. »

2975. Jean, comme Moïse, comme Job et tant d'autres, avait cédé au découragement, parce qu'il ne concevait pas la conduite du Seigneur à son égard. C'est ainsi qu'il avait eu en Jésus une occasion de chute, ou, pour me servir des termes usités, c'est ainsi que Jésus lui avait été en scandale ou en pierre d'achoppement. Or, maintenant même, il est dans la Parole de Dieu, dans les œuvres de Dieu, dans le salut de Dieu, une foule de choses qui peuvent être et qui sont quelquefois pour nos âmes des pierres d'achoppement. Mais voici le propre de la foi. C'est de nous porter à dire, contre toute apparence contraire : « Et pourtant la Bible est de Dieu; tout ce que Dieu fait est bien fait; il n'y a pas d'autre Sauveur que Jésus, ni d'autre salut que le sien ! Bienheureux est l'homme qui ne se scandalise pas à son occasion ! »

2976. (L. 7 : 24-28; M. 11 : 7-11.) Puis, comme la foule qui en-

(**Luc 7** : 29, 30. **Matthieu 11** : 12-15.)

tourait Jésus pouvait à son tour se scandaliser de la question que Jean lui avait fait adresser, notre Seigneur s'empressa (les envoyés de Jean étant partis) de relever dans l'esprit du peuple cet homme éminent entre tous les serviteurs de Dieu. Si quelques doutes l'avaient ému, ce ne pouvaient être que des doutes passagers. Car, pour savoir ce que valait un tel homme, on n'avait qu'à se rappeler le temps où sa voix se faisait entendre dans le désert. Certes, Jean ne s'y était pas montré semblable à un roseau agité par le vent! Si, d'un autre côté, l'on voulait se rappeler la vie austère qu'il menait alors, on acquerrait bientôt la certitude que son découragement ne provenait pas des rigueurs de la captivité. Dans tous les cas, et bien qu'un nuage fût venu couvrir un instant son soleil, nul doute que Jean-Baptiste ne fût un prophète, plus grand, à certains égards, que tous les autres. Prophétisé par Esaïe et par Malachie [2670, 2671], figuré par le grand prophète Elie, rempli du Saint-Esprit dès le ventre de sa mère, c'est lui qui avait eu la gloire d'ouvrir par ses proclamations le règne de l'Evangile et de concourir à la sainte onction du Fils de Dieu. Quel ministère que celui de Jean!

2977. Notre Seigneur déclare toutefois que le plus petit dans le royaume des cieux est plus grand que Jean-Baptiste; parole mystérieuse qu'on explique de diverses manières. Si l'on entend par le royaume des cieux l'économie évangélique actuelle, il est vrai que le moindre chrétien, à le supposer animé de la foi que ce nom suppose, possède des lumières et des assurances dont Jean-Baptiste ne pouvait encore jouir. Rien ne remplace les faits accomplis, et ceux qui ont vécu après la mort et la résurrection de notre Sauveur ont dû avoir dans leur foi des clartés et une certitude qui manquèrent nécessairement à Jean-Baptiste. Puis, si l'on entend par le royaume de Dieu, le règne éternel et glorieux du Seigneur, celui qu'il exerce et qu'il exerça toujours sur les anges fidèles, celui dont ses serviteurs feront partie au jour de sa venue, il est certain, non pas que Jean y sera le plus petit assurément, mais que le plus petit dans ce royaume est de beaucoup au-dessus de ce qu'était Jean au moment où notre Seigneur prononça cette parole. Il a donc voulu dire qu'ici-bas les plus pieux et les plus saints ne sont point encore ce que la grâce du Seigneur les fera devenir un jour. C'est pourquoi nul ne doit se scandaliser de la chute momentanée du fils de Zacharie. « Il était encore de la terre et il parlait comme étant de la terre » (Jean **3** : 31).

2978. (L. **7** : 29, 30; M. **11** : 12-15.) Quoi qu'il en soit, Jean fut

(**Luc 7** : 31-35; 36-50. **Matthieu 11** : 16-19.)

bien réellement un homme de Dieu, et tous ceux qui acceptèrent son baptême, justifièrent Dieu par cela même, ou reconnurent que Jean était l'interprète fidèle de la justice de l'Eternel. Quant aux pharisiens, en méprisant le baptême de Jean, ils rejetèrent le conseil de Dieu et s'exposèrent volontairement aux coups de sa justice. Il faut dire aussi qu'on n'entre pas au royaume des cieux sans se faire quelquefois de rudes violences et qu'on trouve sur son chemin des obstacles qu'il faut savoir écarter avec une grande vigueur; c'est pourquoi notre Seigneur parle de ce royaume comme d'une conquête à faire de vive force, et c'est là ce que beaucoup d'oreilles ne veulent pas entendre. On voudrait appartenir à Jésus-Christ et continuer mollement son train de vie ordinaire. Or, ce n'est pas possible.

2979. (Luc 7 : 31-35; Matth. 11 : 16-19). Parmi ceux qui rejetèrent la prédication de Jean, plusieurs prétextèrent la singularité de son genre de vie, et, à cause de cela, ils osèrent même l'accuser d'être possédé du démon, comme de nos jours on traite de fous ceux qui prennent l'Evangile au sérieux. Puis, Jésus étant venu, lui qui n'avait rien d'étrange dans sa manière de vivre, voilà ces mêmes hommes qui se font austères pour le condamner, et qui l'accusent d'être un mangeur et un buveur. C'est-à-dire que, de quelque manière qu'on s'y prenne, ceux qui ne veulent pas croire et se convertir, trouvent toujours quelques prétextes; souvent même les plus absurdes sont à leurs yeux les meilleurs. « En attendant, la sagesse de Dieu est justifiée par ses enfants, » dit notre Seigneur. Oui, les enfants de Dieu reconnaissent en toutes choses la sagesse de leur Père céleste; ils comprennent particulièrement pourquoi le prédicateur de la repentance dut vivre comme il l'a fait, et pourquoi l'auteur de notre salut, la source divine de notre joie, a dû éviter tout ce qui aurait pu assombrir son glorieux ministère.

### CCXXVI. — La pécheresse; les saintes femmes; le blasphème contre le Saint-Esprit; la famille de Jésus.

2980. (Luc 7 : 36-50). Voici une de ces occasions où l'on voit le Seigneur honorant de sa présence la table des gens du monde. Mais à en juger par ce récit et par d'autres semblables, il n'est pas difficile de se convaincre qu'il ne s'y asseyait pas uniquement pour satisfaire sa faim et sa soif. Jamais Jésus ne fut un moment sans s'occuper de l'œuvre qu'il était venu accomplir pour la gloire du Père.

(Luc 7 : 36-50.)

2981. Un pharisien, nommé Simon, avait invité Jésus à dîner chez lui. Il crut sans doute lui faire beaucoup d'honneur, tout docteur qu'il l'appelait; car il avait négligé à son égard les premiers devoirs de la politesse. Il ne lui avait, ni donné l'accolade fraternelle selon l'usage, ni offert l'eau pour se laver les pieds, ni, à plus forte raison, présenté des parfums, comme on faisait dans les jours de fête. Simon était un homme de bien peut-être, à parler le langage ordinaire, mais il était plein de son propre mérite, et, comme ses pareils, il s'estimait vertueux et juste, réservant le nom de pécheurs pour les païens et les gens vraiment dépravés, auxquels il vouait du reste un profond mépris.

2982. Pendant que Jésus était à table, probablement sous quelque portique ou dans un jardin ouvert au public, une femme que nos versions qualifient de femme de mauvaise vie, mais qui est simplement appelée une pécheresse (et qui est-ce qui ne pèche pas en quelque manière?) une femme toutefois, il faut bien le dire, dont les péchés paraissent avoir été graves et notoires, s'approcha de Jésus par derrière; et, comme on mangeait à moitié couché sur un lit, selon l'usage de ces temps, les jambes en dehors, la pécheresse se mit à genoux, versant d'abondantes larmes sur les pieds de Jésus, les essuyant avec ses cheveux, les baisant en signe d'adoration (Ps. 2 : 12), et les oignant d'essences parfumées. Or, le pharisien Simon s'indignait en lui-même de ce que Jésus permettait à cette femme de l'approcher; car, s'il est prophète, pensait-il, il doit la connaître et savoir que c'est une pécheresse. Voilà comment Jésus était pour Simon une occasion de chute ou un scandale [2651, 2974].

2983. Mais le pharisien ne tarda pas à voir, s'il le voulut, qu'en effet Jésus connaît les cœurs; car il répondit sur-le-champ à sa pensée, bien qu'elle fût demeurée au fond de son âme. — D'abord, la parabole que Jésus propose à Simon était destinée à lui montrer que nos péchés, nombreux ou non, sont des dettes qu'il nous est impossible d'acquitter nous-mêmes : il faut de toute nécessité qu'ils nous soient pardonnés et de pure grâce. Ensuite, s'il compare la pécheresse à quelqu'un qui devrait cinq cents deniers, et Simon à un homme qui n'en devrait que cinquante, cela ne signifie pas que Simon fût réellement moins coupable devant Dieu que la pécheresse : tout dépend tellement des circonstances! Mais, ce qu'il veut dire, c'est que la pécheresse s'estimait dix fois plus coupable que Simon, ou que celui-ci se croyait dix fois moins coupable qu'elle. C'était là ce qui expliquait

(Luc 8 : 1-3.)

leur conduite à tous les trois. Simon ne se croit pas pécheur, voilà pourquoi il a si mal reçu le Sauveur; la femme se sent grandement pécheresse, voilà ce qui la fait venir à Jésus avec tant de larmes. Notre Seigneur, enfin, est venu guérir les malades, et voilà par quelle cause il ne repousse pas la pauvre femme.

2984. Mais ce n'est pas tout, le Seigneur a voulu marquer nettement ce qui caractérisait la piété ou la conversion de la pécheresse. Il est plus que probable, que, touchée de la grâce divine depuis quelque temps, elle ne se trouvait pas pour la première fois en présence du Seigneur; mais c'était récemment peut-être qu'elle avait commencé à se sentir délivrée du poids de ses péchés; or, pénétrée d'une vive reconnaissance, elle avait éprouvé le besoin de confesser publiquement sa foi et son repentir. Elle aimait donc vivement le Seigneur et l'amour qu'elle lui portait venait de sa foi. Il lui avait été donné de voir en Jésus celui par qui ses péchés, tous ses péchés, ses grands péchés, pouvaient lui être entièrement remis. C'est pourquoi elle l'aimait. Aussi Jésus lui dit : « Ta foi t'a sauvée, va-t'en en paix. » La foi en Jésus, voilà donc ce qui sauve. On est sauvé dès que l'on croit; alors aussi, l'on aime et l'on est en paix. D'où nous concluons, non pas que bienheureux sont ceux qui ont beaucoup péché, car il en est ainsi de tous les hommes; mais que ceux-là sont heureux qui, sentant la gravité et le nombre de leurs transgressions, vont à Jésus pour être sauvés. Qu'ils croient seulement, et ils connaîtront par expérience les infinies compassions du Seigneur.

2985. (Luc 8 : 1-3). Comme nous l'avons déjà remarqué, depuis que Jésus avait élu les douze, il marchait habituellement escorté par eux; mais ici, nous le voyons en outre accompagné de plusieurs femmes, parmi lesquelles l'évangéliste nomme Marie de Magdala, Jeanne, femme de l'intendant d'Hérode, et Susanne. Ce devait être un spectacle assez nouveau de voir des femmes s'attacher aux pas d'un docteur; mais Jésus est venu faire toutes choses nouvelles, et il voulait que l'on comprît bien le but et l'esprit de sa mission. Les femmes y ont un intérêt égal aux hommes, parce qu'elles ont une âme à sauver aussi bien qu'eux. Il n'en serait pas absolument de même, j'en conviens, si Jésus était venu proposer au monde certains systèmes politiques, comme quelques-uns le prétendent. L'Evangile exerce sans doute son influence sur toutes choses; mais c'est par une action indirecte, qu'il ne faut pas confondre avec son but essentiel. L'action directe de l'Evangile a pour unique objet l'âme humaine,

**Marc 3** : 20, 21; 22-30. **Matthieu 12** : 22-32.)

l'âme de chaque individu, homme ou femme; il n'est donc pas étonnant que les femmes prennent aussi vivement à cœur que personne toutes les questions relatives au règne de Dieu.

2986. On pense, mais sans aucun fondement solide, que Marie de Magdala, cette pauvre femme de laquelle Jésus avait chassé sept démons, ou, comme on peut l'entendre, un démon très malfaisant, était la pécheresse de tout à l'heure. Quant à Jeanne, femme de Chuzas, il est doux de voir, pour la seconde fois, parmi les disciples de Jésus une personne sortant du palais d'Hérode [2792]. Il paraît donc que, si la prédication du fils de Zacharie avait été perdue pour le prince et pour sa famille (Luc 3 : 19, 20), elle ne l'avait pas été pour les gens de sa maison, et que, si parmi ceux qui suivaient Jésus, la plupart étaient pauvres comme lui, il s'y trouvait aussi quelques personnes aisées. Du reste, riches ou non, les femmes dont il est ici parlé, avaient des moyens d'existence dont notre Seigneur était entièrement dépourvu; aussi l'assistaient-elles de leurs biens. Bel exemple à suivre, partout où l'Eglise, semblable à son divin époux, ne veut posséder aucun bien de la terre, préférant à l'opulence, les saintes aumônes de ses enfants. En effet, si Jésus n'est plus au milieu de nous, nous demandant du pain en échange de la Parole de vie, nous avons ses ministres et ses missionnaires à défrayer, sa Bible à répandre, son culte à entretenir, et en faisant cela, nous imitons les saintes femmes qui le suivaient.

2987. (Marc 3 : 20, 21.) Et dans sa pauvreté, quelle vie fatigante que celle de Jésus ici-bas ! Vous le voyez par ce passage de Marc qui, omettant les faits immédiatement postérieurs à l'élection des douze, reprend maintenant son récit, en parfait accord avec les autres Evangiles. Comme il est dès lors arrivé plus d'une fois à des missionnaires en pays païen, Jésus se vit un jour tellement obsédé par la foule, tellement occupé à répondre aux questions de chacun, tellement absorbé par les intérêts éternels de tous, qu'il ne put même prendre son repas. Insensiblement sa parole s'était élevée à une hauteur si grande qu'elle devint de plus en plus inintelligible à la plupart de ces hommes charnels; aussi crurent-ils qu'il perdait le sens et l'on voyait le moment où il succomberait de lassitude; en sorte que ses proches, ou mieux peut-être ses alentours, s'apprêtaient à l'arracher d'un lieu dans lequel d'ailleurs tous n'étaient pas ses amis.

2988. (Mc. 3 : 22-30; M. 12 : 22-32.) Ce fut alors qu'il jugea bon de déployer en faveur d'un malheureux, à la fois aveugle, muet et

démoniaque, une puissance semblable à celle qui avait ressuscité le fils de la veuve de Naïn. Que dire à ce spectacle? La foule n'hésita pas : « Celui-ci est le fils de David, le Messie, » qualité que Jésus ne s'attribuait pas encore publiquement. Mais les pharisiens, nous l'avons déjà vu, ne l'entendaient pas ainsi, et il leur importait d'étouffer à tout prix les élans de la multitude, ou, dirai-je, la voix même du sens commun. Il est vrai que Jésus faisait des miracles et notamment qu'il chassait des démons; on ne pouvait le contester. Aussi les pharisiens n'essayèrent-ils pas de le faire; mais, dirent-ils tout haut, c'est par Béelzébub [1963] qu'il opère ses merveilles. Pour répondre à ce blasphème, le Seigneur en appelle encore au bon sens de ses auditeurs. Quoi! Satan voudrait se détruire lui-même! Vous avez parmi vous des hommes qui se donnent comme guérissant les démoniaques, et, tandis que vous ne les accusez pas d'emprunter pour cela le pouvoir de Satan, vous osez m'en accuser. Mais voici, ô pharisiens hypocrites! vous comprenez que si je chasse les démons par l'Esprit de Dieu, il est donc vrai que je viens fonder le règne de Dieu au milieu de vous, que je suis le maître de Satan malgré toute sa puissance, enfin que si quelqu'un ne se joint pas à moi contre Satan, il est avec Satan contre moi! Oui, vous comprenez cela. C'est pourquoi, mentant à votre conscience, vous prétendez que je chasse Satan par la puissance même de ce prince des ténèbres et non par le Saint-Esprit de Dieu. Or, c'est là un horrible blasphème, non contre moi, mais contre l'Esprit de sainteté; c'est un péché irrémissible.

2989. (Matth. 12 : 33-37.) Le blasphème contre le Saint-Esprit, ce crime épouvantable, consistait donc en ce que les pharisiens attribuaient à Satan les œuvres de l'Esprit de Dieu et qu'ils le faisaient selon toute apparence en luttant contre leur conviction intime. Un tel péché semble n'avoir pu se reproduire! Non pas sous la même forme sans doute. Pourtant, il y a un péché irrémissible, redoutable sujet dont nous aurons à reparler plus tard. En attendant, écoutez comment le Seigneur généralise sa pensée. Le blasphème contre le Saint-Esprit, cet horrible péché de la langue, comme tous ceux que nous commettons par nos paroles, vient après tout de ce que notre cœur abonde en méchancetés et en souillures. Même à ne prendre que ce qu'il y a, semble-t-il, de moins coupable, toute personne qui consume sa vie en conversations inutiles et frivoles, constate par là même que son cœur est vide de Dieu. Que sera-ce donc s'il ne sort habituellement de ses lèvres que des mensonges, des flatteries ou des sarcasmes,

(**Matthieu 12** : 46-50. **Marc 3** : 31-35. **Luc 8** : 19-21.)

des médisances et des calomnies; s'il ne se sert de la voix que pour dissimuler sa pensée ou pour exciter ses passions et celles d'autrui; s'il va jusqu'aux grossièretés de l'insulte et des moqueries, s'il profane Dieu par de perpétuels jurements, ou la chasteté par des discours souvent impurs; si, enfin, il oppose sans cesse à la Parole de Dieu des paroles d'incrédulité? A bien considérer la chose, il n'est rien par quoi un homme manifeste mieux ce qu'il est que par ses discours. La parole est tellement ce qui caractérise l'humanité, que le fond de notre vie intellectuelle et morale se développe ou s'écoule par là; aussi, comprend-on parfaitement pourquoi notre Seigneur termine son instruction en ces termes si remarquables : « Par tes paroles tu seras justifié, et par tes paroles tu seras condamné. »

2990. Au jour où Dieu fera venir toute œuvre en jugement, on verra quelle grande œuvre, bonne ou mauvaise, chacun aura faite par ses paroles. Les uns, animés d'une vraie foi, auront tiré du bon trésor de leur cœur des paroles de charité, d'espérance, de vérité qui auront été pour beaucoup d'âmes une lumière et une vie; par leurs paroles ils seront justifiés ou déclarés du nombre de ceux qui ont cherché et trouvé le royaume des cieux et la justice de Dieu [2906]. Les autres, conduits par l'esprit du monde, auront tiré du mauvais trésor de leur cœur des paroles qu'il n'y aura qu'à leur rappeler pour qu'ils reconnaissent la justice de leur condamnation. Disons donc maintenant du fond de notre âme : O Dieu! remplis-nous de foi, d'amour, d'humilité, de patience, afin que de l'abondance de notre cœur, nos lèvres confessent ton saint nom et qu'elles communiquent ta grâce à ceux qui nous entendent!

2991. (M. 12 : 46-50; Mc. 3 : 31-35; L. 8 : 19-21.) A ce moment, où la fatigue de Jésus-Christ allait croissant, non moins que la passion de ses adversaires, on vint l'avertir que des personnes qui devaient lui être fort chères, l'attendaient hors de la maison. Ici reparaît Marie, après un silence bien long et bien inexplicable, si elle avait dû occuper dans l'œuvre de notre salut la place éminente que les catholiques-romains ont imaginé de lui attribuer. Depuis les noces de Cana, il n'a plus été fait d'elle aucune mention. Cela ne veut pas dire nécessairement qu'elle n'eût pas revu celui qui est son Seigneur et le nôtre, mais cela montre du moins qu'elle ne se tenait pas sans cesse auprès de lui. D'ailleurs, Marie était alors une femme de passé cinquante ans, et Jésus menait une vie agitée à laquelle tous ne pouvaient s'associer. La mère de notre Sauveur se montre enfin, mais

(**Matthieu 13** : 1-3; 3-36. **Marc 4** : 1, 2; 3-12. **Luc 8** : 4; 5-10.)

c'est pour fournir à son fils une nouvelle occasion de constater la nature des rapports qui existaient entre eux [2729]. Elle avait avec elle les frères de Jésus, dont les noms se lisent ailleurs (Matth. **13** : 55); et, sur ce qu'on dit au Seigneur que sa famille le réclamait, il fit entendre une déclaration qui est pour nous du plus vif intérêt : « Ma mère et mes frères sont ceux qui écoutent la Parole de Dieu et qui la pratiquent. » Il suit de là, premièrement, que ceux qui, selon la chair, furent parents de Jésus-Christ, n'ont eu sur nous aucune prérogative spirituelle; en second lieu, que, pour entrer avec lui dans les douces et intimes relations de frères et de sœurs, même de mère, il suffit d'écouter sa parole et de la recevoir intérieurement. Quelle douce pensée! et quelle tendresse dans cet appel de la grâce du Seigneur, après les réprimandes foudroyantes qu'il adressait tout à l'heure aux pharisiens! C'est qu'en effet rien n'égale la sévérité de Dieu envers ceux qui le méprisent, ni sa bonté envers ceux qui s'approchent de lui pour faire ce qu'il commande. [2592, *Bonté et sévérité de Dieu.*]

## CCXXVII. — Paraboles du royaume des cieux.

2992. (M. **13** : 1-3; Mc. **4** : 1, 2; L. **8** : 4.) Sortant enfin de la maison, Jésus se rendit au bord du lac; et, comme une précédente fois, montant sur une barque afin d'être mieux entendu (Luc **5** : 3), il se mit à enseigner la foule qui se pressait sur le rivage. Jamais prédication ne fut plus directement appropriée à l'auditoire et à la circonstance. En effet, c'est de la parabole du semeur qu'il s'agit d'abord.

2993. (M. **13** : 3-36: Mc. **4** : 3-12; L. **8** : 5-10.) Au bout d'un champ que la herse vient de niveler, se trouve une haie qui sépare le champ du grand chemin, et, en deçà de la haie, une bande de terrain pierreux sur lequel la charrue n'a point passé. Le semeur, arrivé là, jette sa poignée de semence, et, naturellement, il en saute quelques grains sur la route, d'autres tombent dans la haie et sur le terrain sec, d'autres enfin sur la terre labourée. Les premiers sont bientôt enlevés par les oiseaux ou foulés sous les pieds des passants; les seconds poussent en automne, mais, le printemps venu, les épines et les orties de la haie prennent le dessus et étouffent les épis; les troisièmes montrent promptement leurs frêles tuyaux, car il y a peu de terre, mais l'ardeur du soleil les a bientôt desséchés; les derniers seuls portent du fruit à maturité.

(**Matthieu 13** : 18-23. **Marc 4** : 14-20. **Luc 8** : 11-15.)

2994. Soit à ce moment, soit plus tard, lorsqu'ils furent rentrés dans la maison, les disciples demandèrent à Jésus par quel motif il s'adressait au peuple en paraboles. Cette forme d'enseignement, d'un intérêt d'ailleurs si vif, n'est pas toujours d'une clarté parfaite. Une fois qu'on a saisi l'instruction donnée par une parabole, elle se grave dans le souvenir d'une manière ineffaçable; mais ici, plus que nulle part, il faut que le Saint-Esprit lui-même nous instruise pour que nous n'imputions pas à la parabole le sens qui convient à nos pensées, plutôt que celui qui est dans la pensée de Dieu. Pourquoi donc Jésus donnait-il à la multitude un genre d'enseignement que nul ne pouvait comprendre sans une grâce particulière? Sa réponse est bien étonnante. Quoi donc! Celui qui est venu sauver les âmes se serait-il volontairement exprimé de manière à les perdre? Non, sans doute; mais il voulait s'attirer ainsi les questions de ses auditeurs, et leur faire sentir le besoin qu'ils avaient d'être éclairés d'en haut; il voulait et il veut encore que nous joignions à l'audition de sa parole la prière. Or, il y a jugement de Dieu sur ceux qui, s'obstinant dans l'incrédulité, se refusent à demander les lumières du Saint-Esprit [2764], et la sainte Ecriture est construite de telle sorte que les hommes qui ne veulent pas comprendre puissent s'égarer et se perdre à leur aise. Ainsi d'ailleurs s'accomplit la parole remarquable que le Seigneur avait adressée au prophète Esaïe lors de sa vocation, et par laquelle il avait annoncé la future incrédulité des auditeurs du Messie [2161].

2995. (M. **13** : 18-23; Mc. 4 : 14-20; L. 8 : 11-15.) Notre Seigneur ayant expliqué à ses disciples la similitude du semeur, elle paraît maintenant une des plus faciles; en voici le sens. La Parole de Dieu, comparée à de la semence qu'on jette dans la terre, n'est pas reçue par tous de la même sorte. Il en est qui, semblables aux pharisiens, écoutent la Parole mais n'en gardent rien dans le cœur, parce que Satan, le père de l'incrédulité, de l'orgueil et des mauvaises mœurs, l'en arrache à mesure : c'est comme des grains de blé qui tomberaient sur un chemin. D'autres écoutent volontiers la Parole; il semble qu'elle ait pénétré dans leur âme, car pendant un certain temps on les voit marcher avec les disciples. C'est le cas d'une foule de gens. Mais, viennent les épreuves de la foi, comme aux Israélites dans le désert, viennent les persécutions prédites aux fidèles, et tout séchera, comme sèchent, par un soleil brûlant, des épis qui n'ont pas de racines un peu profondes. Ici, les racines qui manquent, c'est

(**Luc 8** : 16-18. **Marc 4** : 21-25 ; 33, 34. **Matthieu 13** : 12.)

la repentance sincère et une foi véritable. — Une troisième espèce de gens ne recueillent aucun fruit des prédications de la Parole, parce que leur âme est absorbée par les soucis de la vie, ou par les biens et les plaisirs du siècle : la Parole est étouffée, telle que des épis de blé au milieu des orties et des ronces qui forment la haie d'un champ. C'est un Hérode, c'est un Saul; hélas! c'est la femme de Lot et des millions d'êtres semblables. — Enfin, notre Seigneur parle de personnes dont le cœur honnête et bon retient la Parole et porte des fruits avec patience et persévérance. Or, par ces cœurs honnêtes et bons ou par cette bonne terre, on ne saurait entendre que des cœurs semblables à celui d'Abraham et des fidèles de tous les temps, c'est-à-dire des cœurs rendus honnêtes et bons par la grâce puissante du Seigneur, tout comme c'est par la culture qu'une terre devient propre à produire d'abondantes récoltes.

2996. Sur quoi, je dois à mes lecteurs quelques observations essentielles. D'abord, si notre Seigneur fait quatre classes des auditeurs de la Parole, cela ne signifie pas que toute assemblée réunie pour écouter l'Evangile soit invariablement composée de ces quatre classes de personnes, ni que le même individu ne puisse appartenir alternativement aux trois premières, suivant les circonstances. Les auditeurs même les plus sérieux, les chrétiens les plus fidèles, sont quelquefois semblables au chemin, ou à la terre légère, ou à celle que recouvrent les épines; tout comme le cœur le plus endurci peut se voir amolli et fécondé par cette même parole de la grâce de Dieu qu'il repoussa trop longtemps. Il n'en est pas moins vrai qu'à un moment donné, il n'est personne qui n'écoute de l'une ou de l'autre de ces quatre manières, et que des quatre une seule conduit au salut. C'est pourquoi le Seigneur termine la parabole en s'écriant comme dans une autre occasion : «Que celui qui a des oreilles pour entendre, entende» (Matth. 11 : 15); car, dans une foule d'auditeurs, il en est toujours un grand nombre qui sont là comme s'ils n'avaient point d'oreilles. Leur esprit est occupé ailleurs, et il est tout simple que la Parole ne puisse point les sauver, puisque au fond ils ne l'écoutent pas.

2997. (L. 8 : 16-18; Mc. 4 : 21-25, 33, 34; M. 13 : 12.) Après avoir expliqué la parabole, le Seigneur reprit ce qu'il disait tout à l'heure du crime dont se rendent coupables ceux qui ne veulent pas le comprendre; ils auront pour punition de se voir enlever tout ce qu'ils possèdent en fait de grâces et de priviléges. C'est ainsi que les

**(Matthieu 13 : 36-43.)**

Juifs incrédules, qui se croyaient le peuple de Dieu et qui l'étaient en un certain sens, se privaient eux-mêmes des bénédictions; tandis que les disciples rendus attentifs à la parole du divin docteur, informés par lui du sens de cette parole, étaient de la sorte à la source de grâces toujours nouvelles. Aussi le Seigneur, après leur avoir dit : « Prenez garde comment vous écoutez, » après leur avoir rappelé que, s'il les éclairait, c'était pour qu'ils en éclairassent d'autres à leur tour (Matth. 5 : 14), les proclame bienheureux de voir et d'entendre des choses qui, depuis le temps de Moïse et auparavant, avaient fait l'objet des espérances de tant de prophètes. Tout cela nous est d'une application si facile, que je n'ai pas besoin de m'y arrêter; mais combien n'est-il pas nécessaire que nous nous examinions, pour savoir de quelle manière nous recevons ces paroles de notre Sauveur.

2998. A la parabole du semeur, prononcée en public et expliquée aux disciples en particulier, notre Seigneur en ajouta quatre autres que la foule entendit également : celles de l'*ivraie*, du grain de *sénevé*, du *levain* et de l'*épi croissant et mûrissant*. En voici le sens d'une manière générale.

2999. Si la parabole du semeur nous dit comment le règne de Jésus-Christ se fonde et se propage, savoir par la prédication de l'Evangile, celle de l'ivraie nous rappelle qu'il se fait dans le monde une autre prédication que celle-là (Matth. 13 : 24-30). L'erreur, sous toutes ses formes, y est largement semée par Satan, et le royaume même de Dieu en subit la triste influence; en sorte qu'il ne faut pas s'attendre à ce que le bien s'y trouve sans mélange. Rien, toutefois, n'est plus admirable que les progrès de ce royaume, comparés à son origine; c'est un grain de semence de moutarde qui, par miracle, devient un arbre à loger les oiseaux du ciel (31-33; Marc 4 : 30-32); puis, tout comme un peu de levain fait lever une masse de pâte, le royaume des cieux possède en lui-même le principe de son développement. Enfin, c'est par une marche lente et assurée qu'il doit atteindre à son plus haut terme, comme le dit la similitude rapportée par saint Marc (Marc 4 : 26-29).

3000. (Matth. 13 : 36-43.) Les explications que donna notre Seigneur à ses disciples nous montrent que la parabole de l'*ivraie* est, comme celle du *semeur*, une parabole prophétique, ou, si l'on veut, une prophétie présentée sous le voile de l'allégorie. Elle nous enseigne que le royaume des cieux ici-bas, fort différent en cela de ce même royaume dans le siècle à venir, n'est pas destiné à ne con-

(**Marc 4** : 30-32. **Matthieu 13** : 33.)

tenir que des âmes vraiment fidèles. La parabole du semeur avait déjà pu faire comprendre aux disciples que ceux à qui l'Evangile serait prêché ne l'admettraient pas tous; celle de l'ivraie leur dit qu'au milieu des personnes qui suivront la doctrine des hérauts de l'Evangile, il y en aura beaucoup, hélas! qui n'auront avec les vrais disciples qu'une ressemblance trompeuse, au sujet de laquelle il ne sera pas possible de se méprendre longtemps. Notre Seigneur prédit aussi, chose non moins remarquable, que ses esclaves, ou autrement ceux qui lui appartiennent en réalité, se scandaliseront de cet ordre de choses et recourront à des moyens, même violents, pour l'améliorer. Mais, tout en déclarant que la présence des méchants dans son royaume est un mal, puisque c'est Satan qui les y place, et, par conséquent, sans autoriser d'aucune sorte les institutions et les pratiques qui tendent à multiplier l'ivraie dans le champ, au lieu de chercher à la convertir en bon grain, notre Seigneur veut que ses disciples consentent, comme lui, à ce qu'il y ait cette différence entre son royaume actuel et son royaume futur. A la fin du monde, les anges (et non pas les hommes), assistant le Seigneur dans cette œuvre divine, cueilleront l'ivraie et la brûleront, tandis que les justes, ou autrement les vrais fidèles, auront la vie éternelle pour héritage. — Ne vous croyez donc pas assurés du salut, par cela seul que vous appartenez extérieurement à l'Eglise de Jésus-Christ. Quel que soit le compartiment du champ où vous vous trouvez plantés, dites-vous bien qu'il contient de l'ivraie; examinez-vous donc, convertissez-vous, avant que vienne le grand jour du Seigneur.

3001. (Marc 4 : 30-32.) Si nous n'avons pas l'explication que Jésus donna des trois autres paraboles (Marc 4 : 33, 34), il n'est pas trop difficile de suppléer au silence de l'Evangile. Celle du *grain de moutarde* est aussi une prophétie. Il n'y aura d'abord qu'un très petit nombre d'âmes qui recevront l'Evangile; n'importe, il ne laissera pas de faire de grands progrès sur la terre. Si bien, que l'accroissement du royaume dont il est la charte constitutive sera merveilleux comme le serait une plante de moutarde qui deviendrait un grand arbre, et de toutes parts des pécheurs viendront se réfugier sous son bienfaisant ombrage. C'est la petite pierre de Daniel (2 : 35).

3002. (Matth. : 13 : 33.) Quant à la manière dont l'accroissement se fera, c'est, avons-nous dit tout à l'heure, ce que la parabole du *levain* représente. L'Evangile, qui rencontre dans le cœur de l'homme autant de répugnance que le levain en inspire à notre palais et à notre

(**Marc 4** : 26-29. **Matthieu 13** : 44-46.)

estomac, est toutefois le moyen par lequel la grâce de Dieu se formera sur la terre un grand peuple; ou, ce qui revient au même, les fidèles, que le monde méprise et déteste, seront auprès de ce monde même les instruments de la miséricorde divine, pour la conversion des élus.

3003. (Marc 4 : 26-29.) Enfin, de même que la semence, une fois jetée en terre, germe, pousse, se développe et mûrit, quoi que fasse l'homme, la Parole du Seigneur ne peut manquer de porter ses fruits ici-bas, soit que Jésus s'y trouve personnellement comme il l'était à cette époque, soit qu'il ait repris sa place dans le repos et dans la gloire de son Père. Cette Parole est puissante et efficace; et, sous la mystérieuse influence du Saint-Esprit, elle prépare les âmes, une à une, et l'ensemble tout entier des disciples, pour le grand jour de la moisson. Mais tout se fait graduellement dans les œuvres de la grâce, comme dans celles de la nature.

3004. (Matth. 13 : 44-46.) Etant rentré dans la maison avec ses disciples, Jésus leur proposa trois autres paraboles : celles du *trésor caché dans un champ,* de *la perle de grand prix* et du *filet*. Les deux premières semblent, au premier abord, parfaitement identiques; toutefois elles diffèrent en deux points essentiels. Dans la parabole du *trésor,* on voit un homme qui fait fortune sans l'avoir cherché, et dans celle de la *perle précieuse* un homme qui, cherchant des perles, en trouve une d'un prix infini. Puis il y a dans la première cette circonstance remarquable, que celui qui a trouvé le trésor commence par le cacher, tant il a peur qu'on ne le lui prenne. L'une et l'autre de ces similitudes nous parlent de la valeur extrême que nous devons attacher aux biens du royaume de Dieu. Quelques-uns, comme Lévi, l'auteur de cet Evangile [2932], les trouvent sans les avoir seulement désirés, parce qu'ils procèdent de la libre et souveraine grâce de Dieu; d'autres, comme Nathanaël, selon toute apparence [2724], commencèrent à les rechercher par une secrète impulsion de cette même grâce. Dans tous les cas, il est clair que rien au monde ne saurait être mis en parallèle avec le salut. Pour sauver son âme, il faut être prêt à tout sacrifier, et, quand une fois nous avons connu l'amour du Seigneur, nous ne devons pas souffrir que personne nous le ravisse. Du reste, si l'Evangile est comparé à un trésor caché dans un champ, ou à une perle de grand prix dont on fait inopinément la découverte, c'est, on le conçoit, non point parce que Dieu ne l'a pas suffisamment promulgué, mais parce que notre mauvais cœur ne veut pas le com-

(**Matthieu 13** : 47-50 : 51, 52; **8** : 18. **Luc 8** : 22. **Marc 4** : 35.

prendre; il nous est caché, bien que Dieu l'ait mis dans une pleine évidence.

3005. (47-50.) Cette série d'instructions se termine par une dernière parabole qui a beaucoup de rapports avec la parabole de l'ivraie, celle du *filet*. Vous vous rappelez le miracle que fit notre Seigneur lorsqu'il adressa vocation à Simon, à André, à Jacques et à Jean, et vous n'avez pas oublié le langage qu'il leur tint en cette circonstance (L. **5** : 10). Ils purent donc comprendre assez aisément ce que signifiait ce filet qui ramasse toute sorte de choses, bonnes et mauvaises, dont on fait le triage, la pêche étant achevée. Les pêcheurs sont les hommes que le Seigneur emploie à la prédication de l'Evangile; le filet, avec ses fils entrelacés, représente ce qu'il y a de puissance et d'amour dans cet Evangile. Souvent, on voit les méchants même ne pouvoir résister à ses attraits, bien qu'en réalité ils demeurent non convertis; de là vient qu'au sein du royaume de Dieu se trouvent des choses mauvaises mêlées aux bonnes. C'est comme dans la parabole où l'ivraie est confondue avec le bon grain. Ici enfin, il est établi, pour la seconde fois, que la suppression de ce désordre momentané aura lieu seulement au dernier jour, et que la purification du royaume de Jésus-Christ se fera par le ministère des anges et non par celui des hommes.

3006. (51, 52.) Puis donc que le mélange des méchants et des bons dans le royaume de Dieu subsistera jusqu'à la fin, toutes ces paraboles sont un trésor d'où les docteurs de l'Eglise auront à tirer sans cesse des instructions, des consolations et des directions à la fois vieilles et nouvelles. Heureux ceux qui, semblables aux premiers disciples, reçoivent l'intelligence de ces paraboles; plus heureux les pécheurs qui, ayant trouvé la perle de grand prix, se sont dépouillés d'eux-mêmes pour l'acheter; qui, régénérés par le Saint-Esprit, sentent la foi travailler en leur cœur comme le levain fermente dans la pâte; heureux, pour tout dire en un mot, le bon grain que Jésus recueillera dans son grenier (Luc **3** : 17).

## CCXXVIII. — Divers miracles. Jésus à Gadara. Retour à Nazareth.

3007. (L. **8** : 22; M. **8** : 18; Mc. **4** : 35.) Quelle journée bien remplie que celle dont le récit a occupé nos deux Etudes précédentes presque tout entières! Nous pouvons juger par cet échantillon de la vie que Jésus menait au milieu d'une multitude avide de l'entendre,

(**Luc 8** : 22- 5: 26-39. **Matthieu 8** : 23-27; 28-34. **Marc 4** : 36-41. **5** : 1-20.) enthousiaste de sa puissance et toutefois si éloignée encore de l'avoir compris, sans parler de ceux qui lui montraient une opposition d'autant plus vive qu'ils commençaient à entrevoir ce qu'il voulait. Ce même jour, quand le soir fut venu, il désira de traverser le lac, soit pour y prendre quelque repos, soit pour annoncer le royaume de Dieu à des populations qui étaient dans les ténèbres plus encore que le reste du pays. Laissant aux disciples le soin de congédier la foule, il les devança sur la barque, où il fut rejoint par eux et ils partirent : la nuit approchait.

3008. (L. 8 : 22-25; M. 8 : 23-27; Mc. 4 : 36-41.) Comme il était couché sur l'oreiller de la poupe, fatigué des travaux de la journée, et qu'il s'accordait le repos dont il avait besoin [2777], il s'éleva tout à coup un affreux orage. Le vent et les vagues étaient d'une telle violence, que ses disciples, bien qu'habitués à cette navigation, furent saisis d'une extrême frayeur. Ils coururent éveiller Jésus; et quand celui-ci eut, de sa voix puissante, apaisé l'orage et fermé la bouche de la mer, qui semblait avoir voulu engloutir leur petite barque : « O gens de petite foi ! leur dit-il, pourquoi êtes-vous si timides? Qu'avez-vous à craindre tant que je suis avec vous? » En réveillant Jésus et en réclamant son secours, les disciples avaient montré quelque foi, c'est incontestable; mais en se laissant aller à tant de frayeur, la faiblesse de leur foi venait de se trahir. Quant au miracle lui-même, il étonna les disciples comme si c'eût été le premier; mais il faut dire que, vu les circonstances, il ne s'en était pas fait qui fussent plus de nature à les frapper. C'est le propre, d'ailleurs, des grandes œuvres du Créateur; on ne se lasse pas de les admirer, même de s'en étonner. Pour nous, mes chers lecteurs, ayons Jésus à côté de nous; et, quand même il semble parfois qu'il sommeille, gardons-nous de nous décourager, quelles que soient, ou pour notre corps, ou pour notre âme, la grandeur des difficultés et l'imminence du péril.

3009. (L. 8 : 26-39; M. 8 : 28-34; Mc. 5 : 1-20.) Arrivés près de Gadara, sur la rive gauche du lac, Jésus vit venir à lui deux démoniaques, dont la guérison fut accompagnée de circonstances qui la rendent digne d'une attention particulière, surtout celle de l'un d'eux. L'esprit impur avait fait de cet homme un fou furieux; en sorte qu'il brisait avec une force surhumaine les liens au moyen desquels on cherchait à le garrotter. Se dépouillant de ses vêtements, il s'enfuyait tout nu parmi les rochers où l'on avait coutume de tailler des grottes pour en faire la demeure des morts, et nul n'osait s'aventurer près

(**Luc 8** : 26-39. **Matthieu 8** : 28-34. **Marc 5** : 1-20.)

des lieux où il se tenait. Le méchant esprit qui l'animait n'était pas seul, mais plusieurs, d'une manière que nous ne saurions expliquer; aussi se donnait-il à lui-même le nom de Légion. Comme Jésus commandait à l'esprit impur de sortir de cet homme, celui-ci, poussant un cri, se prosterna, disant à grande voix : « Qu'y a-t-il entre toi et moi, Jésus, Fils du Dieu très haut? Je te supplie, ne nous tourmente point avant le temps! » Satan et ses anges savent donc qui est Jésus, ils le redoutent et ils n'ignorent pas les jugements qui les attendent. Mais en de telles convictions, il n'y a rien qui ressemble à la foi des rachetés.

3010. Près de là paissait un troupeau de pourceaux, animaux immondes qu'il était interdit aux Juifs de manger (Lév. **11** : 7), et dont la seule présence en ces lieux accusait les Gadaréniens d'un grand mépris pour l'Eternel. L'esprit impur, heureux de pouvoir faire du mal, n'importe de quelle manière, demanda qu'il lui fût permis de précipiter dans la mer ces vils pourceaux, et la permission lui en fut accordée par le Seigneur. C'était, comme tous les fléaux de Dieu, une juste punition infligée à l'avarice et à l'infidélité des Gadaréniens; puis, la manière dont la chose se passa, nous atteste que Satan n'a de puissance que dans la mesure que lui accorde la mystérieuse volonté de l'Eternel [1057]. C'était dire d'un autre côté que Satan n'a d'influence sur nous que par un effet du péché; en sorte que si nous sommes de ceux que Jésus a sauvés, le prince des ténèbres ne nous tient plus sous sa domination. Enfin, il est bien évident que les démons ne se précipitèrent pas avec les pourceaux dans la mer; si donc il est dit qu'ils entrèrent en eux, c'est simplement pour marquer une action déterminante, comme celle qu'ils exerçaient sur les malheureux tombés en leur possession [2812].

3011. A ce même instant, le démoniaque fut entièrement rétabli, et si bien rétabli de corps et d'âme, qu'il voulait suivre Jésus. Mais, non; il pouvait sans s'attacher à ses pas, rendre au Seigneur la gloire qui lui appartient. Un belle tâche lui était dévolue, celle de faire luire sa lumière devant les gens de sa maison et de sa localité. Quel chrétien ne peut être apôtre de cette manière, et pourquoi si peu d'entre nous comprennent-ils l'excellence de la mission qui leur est confiée?

3012. Quant aux habitants de Gadara, ils ne purent contester la réalité du miracle qui venait de s'opérer, mais la passion ne nous fait voir les choses que sous une de leurs faces. Désolés de la perte qu'ils viennent d'essuyer, les Gadaréniens demeurent insensibles à l'œuvre

(**Luc 8** : 40; 41-56. **Matthieu 9** : 1; 18-26. **Marc 5** : 21; 22-43.)

de miséricorde dont ils ont été les témoins. Jésus ne leur paraît qu'un prophète ayant charge de punir leurs iniquités. C'est pourquoi, bien différents des Sichariotes [2790], ils le prient de quitter leur pays au plus tôt. Or Jésus ne veut rien par force, et malheur à ceux qui lui disent : Retire-toi de nous! C'est une prière qu'il n'entend pas toujours, tant il est plein de grâce; mais nul n'a le droit de se plaindre quand elle est exaucée.

3013. (L. 8 : 40; M. 9 : 1; Mc. 5 : 21.) Notre Seigneur ne fit donc cette fois-ci qu'une assez courte apparition sur la rive gauche du lac de Génézareth; mais il ne laissa pas d'y déposer d'éclatants témoignages de sa puissance et de sa grâce. Du reste, c'était là toute son œuvre, quelque part qu'il se rendît. Partant de Gadara, il se dirigea du côté de Nazareth, où il n'était pas retourné depuis qu'on avait voulu l'y tuer et où tant de motifs toutefois l'appelaient. Peut-être sa mère et ses frères l'avaient-ils suivi de l'autre côté du lac; dans tous les cas, si, en apparence, il avait montré peu d'empressement à les voir quand ils le firent demander [2991], ce n'était pas qu'il ne leur portât une tendre affection.

3014. (L. 8 : 41-56; M. 9 : 18-26; Mc. 5 : 22-43.) La nouvelle de son retour de l'autre côté du lac se fut bientôt répandue et une grande foule ne tarda pas à l'entourer de nouveau. Or, comme il entrait dans une des villes du bord de la mer, un homme nommé Jaïrus, un des chefs ou des anciens de la congrégation, qui avait une jeune fille à l'extrémité, se mit à genoux devant Jésus, le suppliant d'aller auprès d'elle pour la sauver; car c'est ainsi proprement qu'il y a en grec, et cela peut s'entendre du salut de l'âme et du rétablissement de la santé tout ensemble. Notre Seigneur se rendait chez Jaïrus, accompagné d'une foule si considérable, qu'il était comme étouffé par ceux qui le pressaient, lorsqu'une femme malade depuis douze ans éprouva, par une guérison instantanée, les bienheureux effets de la miséricorde divine et d'une foi réelle en la grâce de Jésus.

3015. Cette pauvre femme avait une de ces maladies sérieuses que la Bible nous apprend à envisager, d'une façon toute particulière, comme un des tristes fruits du péché commis par nos premiers parents [886]. La malade avait dû se confier à bien des médecins, mais jamais elle n'eût osé implorer publiquement sa délivrance du Seigneur Jésus, ni peut-être s'en approcher à cause de sa souillure. Or, si nous faisons un retour sur nous-mêmes, nous verrons qu'il en est ainsi généralement de nos péchés. Ils nous inspirent au fond une vive honte,

(**Luc 8** : 41-56. **Matthieu 9** : 18-26. **Marc 5** : 22-43.)

et ce n'est qu'après en avoir trouvé le pardon auprès de Dieu, que nous osons franchement nous avouer pécheurs. C'était pis encore pour notre pauvre malade, car il lui en coûtait autant de confesser sa maladie après la guérison qu'auparavant. Elle se glissa donc dans la foule et parvint à toucher le vêtement de Jésus; puis il fallut encore qu'il la contraignît pour ainsi dire à dévoiler le mystère de sa délivrance. Comme Pierre le fit remarquer à son Maître, tant de gens l'entouraient, qu'il était étonnant de lui entendre demander qui l'avait touché. Ce qui est plus étonnant, c'est qu'il parût l'ignorer; mais il voulait que cette femme rendît spontanément témoignage de ce qui s'était passé en elle, afin que tout le peuple entendît (et nous-mêmes après ce peuple), ce qui assure aux pauvres pécheurs le salut de leur âme : « Aie bon courage, ma fille, ta foi t'a sauvée, va-t'en en paix, » ce que Jésus avait également dit à la pécheresse (Luc 7 : 50). Nous voyons aussi de nouveau comment la foi produit cette merveille. Elle nous met en relations étroites et personnelles avec Jésus-Christ, et par là nous fait ressentir les effets de « la puissance qui sort de lui » [2924].

3016. Arrivé chez Jaïrus, le Seigneur et ceux qui l'accompagnaient trouvèrent les gens de la maison dans le désespoir, et déjà, selon la coutume, des instruments faisaient entendre les chants lugubres de la mort, car la jeune fille venait d'expirer. Alors Jésus lui rendit la vie, comme au jeune homme de Naïn. Mais, pour ménager les émotions de cette âme qui allait revenir à l'existence, il fait sortir presque tout le monde, et quand il n'y a plus dans l'appartement que le père et la mère de l'enfant, avec Pierre, Jacques et Jean, sa douce et puissante voix ramène la vie chez celle qui venait de mourir et la joie dans le cœur de ses parents. Il la leur rend; il veut qu'on lui donne à manger pour preuve qu'elle est, non-seulement vivante, mais bien portante; et, par crainte sans doute de l'excitation, de l'enthousiasme que ce miracle pouvait produire au milieu de la foule qui l'attendait dehors, il exige que, pour le moment du moins, on évite de raconter ce qui s'était passé : il suffisait de dire que l'enfant était bien maintenant.

3017. Il ne sera pas difficile à mes lecteurs de voir, d'eux-mêmes, comment ce miracle est une vive image de ce qui a lieu dans une âme que le Seigneur convertit et qu'il arrache de la sorte à la mort spirituelle où nous gisons tous par nature. Cette âme recouvre vie et santé, et dès ce moment elle prend sa nourriture où le Seigneur l'a

(**Marc 6** : 1-6. **Matthieu 13** : 53-58. **9** : 35-38.)

préparée. Ils remarqueront aussi, sans étonnement, que, dans le cas de Jaïrus comme dans celui de la femme malade, la foi précéda et procura la délivrance.

3018. (Mc. **6** : 1-6 ; M. **13** : 53-58.) Devancé à Nazareth par le bruit de sa sagesse et de ses miracles, Jésus trouva ses concitoyens, sinon dans l'irritation où il les avait laissés plus d'un an auparavant, du moins dans la même disposition d'incrédulité et par les mêmes raisons. Les Nazaréniens s'obstinaient à le traiter comme s'il n'eût été que le simple fils du charpentier Joseph, et, quand ils voyaient sa mère, ses frères et ses sœurs mêlés avec eux, famille humble et obscure parmi les plus chétives, ils s'affermissaient dans leurs préjugés. Aussi le Seigneur leur répéta-t-il la même parole que précédemment, ce qui était leur dire qu'il ne comptait pas sur un meilleur accueil. Le temps seul ne change pas les cœurs ; il faut pour cela quelque chose de plus puissant et de plus sanctifiant, savoir la grâce de Dieu. Remarquez, au surplus, parmi les fils de Marie, ce Judas, ou Jude, frère de Jaques, dont le nom se lit le onzième, dans la liste des apôtres [2952].

3019. (Mc. **6** : 6 ; M. **9** : 35-38.) Mais si Jésus trouva peu d'accès à Nazareth et s'il y fit en conséquence peu de miracles, il n'en fut pas de même dans la contrée environnante. Il fut ému de compassion en voyant ces âmes semblables à des brebis dépourvues de bergers. Il fit remarquer à ses disciples combien il y avait à faire pour amener tous ces pécheurs à Dieu et combien peu d'ouvriers à proportion d'une telle tâche. Priez donc, leur dit-il, pour que l'Eternel y pourvoie, parole que nous retrouverons plus tard et qui nous montre que si le salut des âmes est l'œuvre même de Jésus-Christ, ce n'est pas que ses disciples n'aient point à s'en occuper. Nous l'avons vu dès le commencement, dans la vocation d'André et de Jean par Jean-Baptiste, de Pierre par André, de Nathanaël par Philippe. Nous pourrions même ajouter ce qui est dit en saint Jean **4** : 2. Telles furent les scènes qui, durant ce long séjour d'environ un an et demi en Galilée, se renouvelèrent sans cesse sous les pas de Jésus, depuis son premier voyage à Jérusalem. C'est dans cette ville que nous allons le suivre maintenant, à l'occasion d'une apparition probablement assez courte qu'il y fit à l'époque où nous sommes parvenus.

(Jean 5 : 1; 2-4; 5-9.)

DEPUIS LA FÊTE MENTIONNÉE DANS L'ÉVANGILE DE SAINT JEAN, CHAP. V, v. JUSQU'A LA TROISIÈME PAQUE.

## CCXXIX. — La piscine de Béthesda. Divinité de Jésus-Christ.

3020. (Jean 5 : 1.) Depuis la première Pâque célébrée à Jérusalem par notre Seigneur [2740], il y en avait eu une autre qu'il paraît avoir passée loin de cette ville [2938]. Il fallait néanmoins qu'il s'y montrât encore, et plus d'une fois, avant sa mort. Les Juifs avaient institué plusieurs fêtes outre celles qu'ordonnait la loi de Moïse, et l'on ignore celle qui allait avoir lieu, lorsque Jésus fit son second voyage à Jérusalem. Quelques-uns pensent que c'était la fête du Purim, au mois de février [2502], d'autres la fête de la Dédicace, deux mois auparavant. Si c'eût été la Pâque ou les Tabernacles, il semble que l'évangéliste n'eût pas dit, en termes généraux, *une fête*. Quoi qu'il en soit, il ne nous instruit, ni de la durée du séjour que Jésus fit alors à Jérusalem, ni de la manière dont il y employa son temps. Un seul miracle et un seul discours, voilà ce qui nous est rapporté par l'Evangile; mais l'un et l'autre nous montrent Jésus en sa plénitude (Jean 1 : 16), et l'on comprend très bien que les Juifs incrédules n'aient pas longtemps toléré dans leur ville un homme qui parlait et agissait de la sorte.

3021. (2-4.) Il y avait à Jérusalem une de ces sources bienfaisantes auxquelles tant de malades vont demander la santé. On en avait recueilli les eaux dans une piscine qu'on appelait Béthesda, c'est-à-dire *Maison de miséricorde*, et là se faisaient de temps en temps des guérisons miraculeuses. Tout à coup on voyait l'eau s'agiter, et le premier malade qui s'y jetait après qu'elle avait été troublée, en ressortait guéri. L'évangéliste nous dit que c'était un ange qui faisait cela de la part de Dieu, mais probablement sans se rendre visible aux yeux des hommes. Toujours est-il qu'il avait plu à l'Eternel de maintenir au milieu de son peuple, ou peut-être d'y susciter en ces temps extraordinaires, ce signe de sa présence, à la fois puissante et miséricordieuse.

3022. (5-9.) On conçoit que notre Seigneur dut diriger ses pas vers Béthesda et rendre un tel lieu témoin de sa miséricorde. Il n'y alla pas guérir tous les malades, de même qu'il ne sauve pas tous les pé-

(**Jean 5** : 9-13; 14.)

cheurs; mais il lui plut de déployer sa grâce envers un pauvre impotent dont les infirmités duraient depuis trente-huit années. Cet homme, très pauvre à ce qu'il paraît, avait enfin obtenu un lit dans cette espèce d'hôpital, mais lorsque l'eau venait à être troublée, il n'avait personne pour l'y jeter : quant à y descendre de lui-même, la chose lui était naturellement impossible. C'est à ce malheureux que le Seigneur s'adressa par une question qui semble, au premier abord, bien oiseuse. Pouvait-il mettre en doute que l'impotent ne voulût être guéri? Non certes; mais si vous vous rappelez dans quel but essentiel notre Seigneur a opéré ses guérisons miraculeuses [2818], vous comprendrez quelle fut son intention. Il déclarait ainsi qu'il sauve seulement ceux qui le veulent, et que de plus cette volonté ne doit point se sous-entendre. Si nous désirons vraiment les grâces de Dieu, demandons-les.

3023. (9-13.) Dominé par la puissance divine qui lui avait rendu l'activité de ses membres, l'impotent chargea son petit lit sur ses épaules et, sans s'arrêter un seul instant, il partit. Or c'était le jour du sabbat, et les Juifs ne manquèrent pas de réclamer contre l'infraction que cet homme faisait à la loi du repos. Il est vrai qu'il était défendu de porter des fardeaux ce jour-là (Jér. **17** : 21, 22); mais le lit de l'impotent était bien plus un trophée qu'une charge; d'ailleurs sa justification était facile. Celui qui avait eu la puissance de le guérir, avait bien eu le droit sans doute de lui faire enlever sa couchette, pour montrer à tous les yeux que le malade avait réellement recouvré l'intégrité de ses forces. Du reste, l'événement avait eu son cours avec tant de rapidité, Jésus s'était lui-même dérobé si vite dans la foule, que l'homme ne sut pas dire à qui, précisément, il devait sa guérison.

3024. (14.) Le Seigneur, cependant, ne voulait pas le lui laisser ignorer. L'heureux malade était monté au temple pour y rendre ses actions de grâces à l'Eternel. Il ne faisait que son devoir; mais c'est quand on suit la ligne du devoir qu'on est le plus sûr de rencontrer Jésus. Après un discours dont l'évangéliste ne nous donne que la fin, le Seigneur lui dit : « Voici, tu as été guéri, ne péche plus, de peur que pis ne t'arrive. » En ce peu de mots, combien de grandes vérités! On y voit que tous nos maux viennent primitivement du péché, que toutes nos délivrances sont des invitations à ne plus le commettre, et que l'abus des grâces de Dieu aggrave infailliblement notre condamnation. N'y voit-on pas également que Jésus est venu non-seulement

pour effacer nos transgressions, mais encore pour nous former à la sainteté ?

3025. (15, 16.) Dans la candeur de son âme, l'homme que Jésus avait guéri, n'eut rien de plus pressé que de publier le nom de son bienfaiteur. Il ne s'attendait pas assurément que l'hommage de sa reconnaissance deviendrait par le fait une dénonciation. Or, soit que les Juifs prissent toujours plus ombrage de la popularité dont jouissait alors notre Seigneur, soit qu'en effet leur zèle pour la stricte observance du sabbat les eût enflammés contre lui d'une colère non feinte, ils songèrent plus sérieusement que jamais à le faire mourir. Ce n'étaient pas seulement des pharisiens cette fois, mais une partie même de la population de Jérusalem, appelée les Juifs par saint Jean [2717]; en sorte que la vie de Jésus se trouva menacée, encore plus qu'elle ne l'avait été précédemment et par la même cause [2948].

3026. (17, 18.) Ce fut l'occasion que le Seigneur choisit pour déclarer la nature de ses relations avec Dieu. Non-seulement il l'appelle son Père, mais encore il se fait égal à lui, en présentant sa propre activité comme une activité divine toute semblable à celle du Père. Rien ne subsiste que par un déploiement continuel du pouvoir divin, et ce travail est commun au Père et au Fils. C'est bien de cette façon que les Juifs entendirent la chose, aussi les voyons-nous s'affermir dans la résolution de faire mourir l'homme qui osait parler de la sorte.

3027. (19-23.) Mais, sans se laisser arrêter par leurs menaces, Jésus continue de rendre témoignage à la vérité. Il existe entre le Père et le Fils une distinction qu'il ne faut pas méconnaître. Dire en quoi elle consiste, c'est probablement ce qui est impossible au langage humain. Toujours est-il que ce n'est pas le Père qui fait les œuvres du Fils, mais le Fils qui fait celles du Père ; la science et le pouvoir vont du Père au Fils et non du Fils au Père. Pourtant, comprenez bien que le Fils est entièrement participant de la nature du Père. D'abord, le Fils, comme le Père, donne et rend la vie à qui il lui plaît. Bien plus, c'est le Fils, et non le Père, qui exercera le jugement universel. Or, Celui de qui procède la vie, Celui qui est le juge de toute la terre, c'est l'Eternel (1 Sam. 2 : 6). Donc le Fils est Dieu, comme le Père ; il doit être honoré à l'égal du Père, et si quelqu'un ne l'honore pas, il n'honore pas le Père non plus.

3028. (24-29.) Après cela, Jésus répéta ce qu'il avait dit précédemment à Nicodème (3 : 16) et peut-être ce docteur de la loi se

trouvait-il parmi ses auditeurs. Il le dit en variant ses expressions de manière à faire voir que croire au Père et croire au Fils, c'est au fond une même chose, parce qu'on ne peut croire au Père que par le Fils, ni au Fils sans qu'on aille par cela même au Père. Puis, reprenant les deux idées qu'il venait d'énoncer, Jésus déclare sa divinité essentielle, en disant qu'il a la vie en lui-même aussi bien que le Père, et que c'est à sa voix puissante que les morts sortiront de leurs sépulcres au jour de sa venue ; pour preuve de quoi, il fait allusion aux miracles de résurrection qu'il avait déjà opérés [2969, 3016].

3029. Pour prendre à part quelques points de détail, c'est parce que Jésus est devenu le FILS DE L'HOMME qu'il parle comme ayant dû *recevoir* le droit de juger ; c'est parce qu'il a été humilié dans son humanité que, dans cette même humanité, il doit s'asseoir sur le trône glorieux du jugement (27) ; sans compter qu'il y a une grande miséricorde à ce que nous devions avoir pour Juge celui qui a bien voulu être notre frère et notre Sauveur. Voyez ensuite s'il n'est pas positif qu'il y aura une double résurrection ; une résurrection pour la vie et le bonheur, une autre pour le jugement et en conséquence pour la condamnation (3 : 18). La première sera le partage de ceux qui, ayant cru (24), se seront appliqués de tout leur cœur à la pratique des bonnes œuvres ; la seconde sera le lot de tous les autres, car qui est-ce qui n'a pas fait le mal ?

3030. Il est d'ailleurs évident que le Fils n'est pas un être à part, un être indépendant du Père ; car alors il y aurait deux Dieux et, par le fait, il n'y en a qu'Un (30). Quant à la créance que nous devons à ces vérités profondes, notre Seigneur ne veut pas qu'elle repose sur son témoignage seul, bien qu'il soit digne de foi (31), mais sur le témoignage même de son Père. Celui de Jean était sans doute d'un très grand poids et les Juifs avaient bien fait de lui demander ce qu'il pensait de Jésus ; mais après tout, les œuvres de puissance et de miséricorde du Sauveur, ses miracles, dis-je, attestaient avec plus de force encore la vérité de ses discours (33-38) ; sans parler des écrits de Moïse et des prophètes, qui lui rendaient un témoignage non équivoque (39-44).

3031. Tel fut en substance le discours que Jésus prononça pour sa justification. Mais voyez comme sa pensée se porte sur ceux qui l'écoutent, et non pas seulement sur lui-même. C'est pour leur salut qu'il leur dit toutes ces choses ; ce qui l'attriste, c'est que la Parole de Dieu, qu'ils possédaient, qu'ils lisaient, qu'ils faisaient profession

de croire, ne demeurait point en eux; ce qu'il leur reproche, c'est de ne point aimer l'Eternel, c'est de rechercher la gloire qui vient des hommes (42-44), c'est enfin de ne pas accepter réellement Moïse lui-même (46). S'ils avaient médité du cœur les Ecritures, aimé Dieu, cherché la gloire qui vient de lui, reçu véritablement les paroles de leur grand prophète, ils n'auraient pas hésité non plus à accueillir Jésus comme l'Ange de Jéhovah, l'Ange de l'Eternel, le Seigneur, le roi d'Israël (47) [2592, *l'Ange de l'Alliance*].

3032. Or, que mes lecteurs prennent garde à ce que dit ici le Seigneur. Ils ne sont peut-être pas autrement chrétiens que ces Juifs n'étaient Israélites. Ils ont la Bible, ils la lisent; mais ses enseignements n'habitent pas dans leur âme. Ils appellent Jésus, Seigneur; mais ils ne croient pas véritablement en lui. Cela vient de ce qu'ils sont beaucoup plus occupés de l'approbation des hommes que de celle de Dieu, et toutefois ils osent dire qu'ils l'aiment!!!

3033. Détachons encore quelques traits d'un discours dont la richesse est inépuisable. — Les Juifs avaient accueilli d'abord avec des transports de joie les prédications de Jean-Baptiste, mais ce fut un enthousiasme de courte durée, comme on voit la foule courir quelque temps après un célèbre prédicateur et s'en lasser bientôt (35). — Or, ce qui avait été dit par ce même Jean, notre Seigneur le confirme ici de la façon la plus positive : « Personne n'entendit jamais la voix du Père, ni ne vit sa face! » (37.) Il est pourtant certain que plusieurs fidèles ouïrent la voix de l'Eternel et virent la face de Dieu. La conséquence en est que c'est par son Fils que le Père s'est toujours communiqué aux hommes, et que le Fils est Dieu, dans l'unité avec le Père [2716].

3034. (43.) Il est incontestable que les imposteurs, les inventeurs de superstitions, les faux prophètes, trouvent un accès plus facile auprès de la généralité des hommes que les prédicateurs de la vérité. Est-il, je le demande, une preuve plus forte de la dégradation morale du genre humain? D'un autre côté, pourrions-nous jamais nous tenir trop sur nos gardes contre ceux qui abjurent la saine doctrine et dont les poisons s'infiltrent si aisément dans les cœurs. Remarquez enfin le soin avec lequel notre Seigneur écarte l'idée qu'il puisse, dans aucun cas, devenir notre accusateur. Il est venu pour sauver; il sera le juge de ceux qui n'ont pas cru; mais leur accusateur, c'est Moïse, ou la loi, ou leurs œuvres, trois expressions qui présentent la même idée (45).

(**Luc 9** : 1-6. **Marc 6** : 7-13. **Matthieu 10** : 1; 5-27; 5-10; 11-15.)

## CCXXX. — Première mission des Apôtres. Prophéties.

3035. (L. **9**: 1-6; Mc. **6** : 7-13; M. **10**:1, 5-27.) Comme Jésus regagnait la Galilée et peu après son départ de Jérusalem, si ce n'est avant, il jugea bon de confier aux douze une mission qui devait être pour eux comme un apprentissage de leur future carrière. Jean-Baptiste, selon toute apparence, avait alors terminé la sienne dans les prisons d'Hérode, et le Seigneur voulant faire voir peut-être que les hommes n'ont pas la puissance d'arrêter ses desseins; que, pour un ouvrier qu'ils lui enlèvent, il en peut susciter douze nouveaux; enfin, que les miracles qu'il faisait seraient, au besoin, faits par d'autres que par lui; le Seigneur, dis-je, chargea ses disciples de continuer le ministère de Jean-Baptiste, en parcourant les localités jusque-là demeurées étrangères à la prédication de l'Evangile. Il les envoya deux à deux, pour qu'ils se soutinssent et s'encourageassent mutuellement, leur donnant des instructions qui, malgré leur spécialité, ne laissent pas de mériter notre attention, car il en est plusieurs qui conservent de nos jours toute leur importance.

3036. (Matth. **10** : 5-10.) Ce n'est pas le cas, si l'on veut, de celles que nous lisons les premières. Aujourd'hui, l'Evangile doit être prêché à toute créature; mais le Seigneur, évitant alors ce qui pouvait être une occasion de scandale pour les Juifs et accomplissant les promesses spéciales faites à leurs pères, défendit aux douze d'aller ailleurs que dans les villes et dans les bourgades des Israélites. Ils devaient, comme Jean, annoncer la venue du Christ; puis, sceller leur prédication par des guérisons miraculeuses, ce que Jean n'avait pas reçu le pouvoir de faire. Il fallait d'ailleurs qu'ils n'acceptassent de l'argent de personne, afin qu'on ne pût en aucune manière les soupçonner de vues intéressées. Ce n'était pas qu'ils eussent par-devers eux de quoi vivre, car ils partaient dénués de tout; ni qu'ils n'eussent pas droit à leur nourriture, ce qui est le moindre salaire qu'on donne à un ouvrier : comment donc les choses devaient-elles se passer?

3037. (11-15.) Pour le bien comprendre, il faut se placer dans la situation. Les douze ne devaient avoir affaire, cette fois, qu'avec les Israélites; or, comme ceux-ci attendaient généralement le royaume de Dieu et qu'ils avaient tous ouï parler de Jésus et de Jean, bien qu'ils n'eussent pas tous entendu leur voix, il était peu probable que

les apôtres rencontrassent sur leur chemin une seule bourgade où il n'y eût quelqu'une de ces âmes qui, préparées par la grâce de Dieu, aspiraient aux consolations promises à Abraham et à sa postérité, pour le temps du Messie. Ces gens-là, brebis perdues d'Israël, troupeau sans pasteurs, dignes par leur piété de recevoir les messagers de Jésus, ne manqueraient pas de les accueillir comme des frères. Aussi le Seigneur autorise-t-il ses apôtres à s'établir dans leurs maisons et à y recevoir, avec simplicité de cœur, l'hospitalité qui leur serait offerte. Bien plus, en entrant dans ces maisons bénies, ils invoqueront sur elles la paix de Dieu, et leur prière sera certainement exaucée.

3038. Si toutefois il leur arrive de se voir rejetés par une population ou par une famille qui leur avait d'abord paru bien disposée (et cela ne manquera pas d'avoir lieu), qu'ils ne regrettent point leurs paroles de paix; ils auront fait ce qu'ils devaient et la bénédiction de Dieu reposera sur eux. Mais en partant de là, le plus tôt possible, ils secoueront la poussière de leurs pieds, moins en signe de menace, que pour dire à ces gens : Vous n'avez rien voulu de nos paroles, en conséquence nous ne voulons rien emporter de ce qui est à vous ; acte qui, par la volonté du Seigneur, se trouvait être de la sorte un acte d'accusation. Or malheur à eux! Sodome et Gomorrhe furent détruites à cause de leurs abominations et les habitants de ces villes coupables subiront un terrible jugement au dernier jour; mais leur sort sera moins terrible que celui des Israélites qui, ayant eu le bonheur d'entendre les apôtres, refusèrent de les écouter!

3039. Je ne saurais omettre les principales instructions qu'on peut déduire des paroles que je viens d'exposer; mais, pour n'être pas trop long, je me borne à les indiquer sommairement. — Bien que nous soyons appelés à faire luire notre lumière devant tous les hommes, il n'est pas douteux que nous ne devions surtout annoncer l'Evangile à ceux qui nous paraissent les mieux disposés à le recevoir. — Il n'est amais permis de se faire payer les grâces dont on est le canal auprès des âmes de la part de Dieu. — D'un autre côté, toute personne qui emploie sa vie à la prédication de l'Evangile, doit accepter sans scrupule ce qui lui est offert volontairement pour sa subsistance. Si nous sommes des ouvriers de Dieu, envoyés par lui, nous ne concevrons aucune crainte à cet égard; car Dieu est un bon et puissant maître, et il est impossible qu'il n'ait pas soin de ceux qu'il emploie. Prenons garde seulement à une chose, c'est qu'il ne peut jamais vouloir que

ses serviteurs reçoivent leur nourriture d'un monde impie ou indifférent.

3040. (16-25.) Après ces directions générales sur la conduite que ses apôtres devaient tenir dans leur mission, notre Seigneur leur annonce, en termes fort remarquables, ce qui leur arriverait. C'est donc une prophétie; et, comme la plupart de celles que nous avons lues dans l'Ancien Testament, il est facile d'y voir un sens prochain et un sens éloigné. Elle ne s'est pas accomplie en tous ses points durant la première mission des apôtres; d'un autre côté, il s'en faut beaucoup qu'elle ait cessé d'être vraie depuis qu'ils ont été retirés de ce monde. Au contraire, elle s'accomplit encore de nos jours et ceux qui viendront après, la trouveront, comme nous, ancienne et nouvelle tout à la fois.

3041. Le monde est plein de violence : le fidèle disciple de Jésus-Christ doit être plein de douceur (16-18). Par ses bonnes qualités, il s'attirerait l'affection des mondains, si ces derniers pouvaient lui pardonner la foi qui l'anime et de laquelle découlent ses bonnes œuvres. Mais, comme les cœurs non convertis ne sauraient aimer Jésus-Christ, ils ne sauraient non plus aimer ceux qui s'efforcent de lui être semblables et que dirige son Esprit. C'est pourquoi, plus nous appartiendrons vraiment au Sauveur, plus nous ressentirons les effets de la malveillance, non pas seulement des plus méchants, mais des personnes même qui ont une grande réputation de bonté, et qui, lorsqu'il s'agit de l'Evangile, se montrent quelquefois telles que des loups. Or, le disciple de Jésus-Christ, loin de rendre le mal pour le mal, demeurera paisible et doux comme une brebis qui ne songe pas à se défendre, et qui, par le fait, n'en a pas le moyen.

3042. Cependant la conduite du chrétien au milieu du monde est loin d'être facile. Il lui faut beaucoup de prudence; non pas une prudence astucieuse, ce que pourrait faire croire au premier abord l'image employée par le Seigneur, mais une prudence qui s'allie à la simplicité et à la candeur de la colombe. Comme le serpent se réfugie sous les hautes herbes et le pigeon dans son colombier dès qu'ils aperçoivent le danger, ainsi doit faire le fidèle. Il ne provoquera pas la persécution; il n'ira pas sans nécessité au-devant de l'épreuve; il ne se livrera pas lui-même à la méchanceté des hommes et il aura peu de foi en leur tolérance. Il sait au contraire que s'ils le pouvaient, si Dieu ne confondait leurs entreprises, ils ne manqueraient pas de faire aux disciples de Jésus les plus odieuses et les plus cruelles indignités. Ils

**(Matthieu 10 : 16-25.)**

les traîneront devant les tribunaux et les livreront à divers supplices ; des rois même ne dédaigneront pas de les appeler en leur présence pour les juger et les condamner. Tout cela s'est vu et se voit encore de nos jours. Il y a des différences suivant les temps et les lieux, mais le fond subsiste. Or, cela même atteste la vérité de l'Evangile ; c'est un témoignage que, sans le vouloir, le monde rend à l'esprit prophétique de Jésus-Christ. Il faut dire aussi que, de toutes les prédications, la plus puissante, peut-être donc aussi la plus irritante, c'est la douceur et la persévérance des fidèles au sein des persécutions.

3043. En même temps, c'est une grande épreuve pour leur foi. Appelés à se défendre devant les puissants de la terre, ils ne doivent pas s'abandonner à des inquiétudes sur la manière dont ils s'en acquitteront. Qu'ils pensent à ce qu'ils auront à dire, qu'ils prient le Seigneur de ne point les délaisser, à la bonne heure ! mais qu'ils ne se préoccupent pas des difficultés de la position ; car ils ont un Père dans le ciel, et un Père qui conduit les siens par son Esprit (19, 20). Or, bien certainement, s'il est une circonstance où nous pouvons compter sur son secours, c'est lorsque nous sommes livrés entre les mains des hommes pour le nom de Christ. Rappelez-vous les trois jeunes Hébreux devant Nébucanétzar [2439].

3044. Et ce n'est pas de la part des seuls étrangers que les chrétiens se verront persécutés à cause de leur foi ; ceux-mêmes avec lesquels ils sont unis par les liens du plus étroit parentage, se montreront souvent leurs pires ennemis. Voilà peut-être ce qui sera le plus propre à ébranler leur foi (21, 22). Qu'il est douloureux d'encourir l'animadversion d'un père, d'un époux, d'un frère, et combien n'est-il pas à craindre que l'épi ne se dessèche sous ce brûlant soleil ! (13 : 21.) Aussi, notre Seigneur fait-il sentir, à cette occasion, la nécessité de demeurer ferme dans la foi : « Celui, dit-il, qui aura persévéré jusqu'à la fin, celui-là sera sauvé ! »

3045. La persécution est une si rude épreuve, que notre Seigneur autorise à s'y soustraire par la fuite ; pourvu toutefois, cela va sans dire, pourvu qu'un devoir positif ne nous invite à l'affronter jusqu'au bout (23). Puis, il est également sous-entendu que, si le disciple fuit un lieu rendu intolérable par la violence de la persécution, c'est pour porter ailleurs le témoignage qu'il doit au Seigneur. Ainsi, les apôtres, quittant une ville, n'abandonnaient pas pour cela leur œuvre, car leur mission était auprès de toutes celles d'Israël. Or, le Seigneur eur annonce, en passant, que cette œuvre durerait jusqu'à son retour.

(**Matthieu 10**: 40, 41.)

De quelque manière qu'on entende la venue du Fils de l'homme, la prophétie demeure vraie; soit qu'il s'agisse du moment où il devait les rejoindre après leur tournée actuelle, soit qu'il s'agisse d'un autre retour de Jésus dont nous aurons plus d'une fois occasion de parler.

3046. La pensée du retour de notre Seigneur et de la proximité de ce jour, était bien propre à soutenir le courage des apôtres. Ce qui devait aussi leur venir en aide, c'était le souvenir des mépris et des insultes dont leur divin Maître se voyait lui-même abreuvé (24, 25). Si donc il les exhorte à la prudence, ce n'est pas qu'il les autorise jamais à perdre courage. Il faut au contraire, qu'en se confiant dans la toute-science et dans la toute-puissance de leur Père céleste, ils confessent franchement leur foi devant les hommes (26, 27). Mais les deux versets dont nous tirons cette pensée, ainsi que les suivants, paraissent appartenir à un discours que nous retrouverons plus tard; saint Matthieu les ayant introduits ici, plutôt suivant le plan de son Evangile, recueil de faits et de discours détachés, que suivant l'ordre chronologique [2600].

3047. Il faut en excepter peut-être les versets 40 et 41. Bien que la déclaration qu'ils renferment reparaisse ailleurs, on conçoit que notre Seigneur ait dû la faire entendre à ses disciples, dès le jour qu'il les envoya devant lui. C'était une nouvelle manière de les encourager au milieu des difficultés de leur œuvre. Bien que séparés de leur docteur, celui-ci ne laissera pas d'être en eux. Ce n'est pas leur doctrine qu'ils vont prêcher et encore moins leurs personnes qu'il s'agit de recommander; mais le Christ de Dieu, et, par le Christ, Dieu lui-même. Toute la force du chrétien dans les épreuves de la foi et notamment dans les persécutions, se tire de cette pensée, que c'est le Seigneur qui est en cause bien plus que ses disciples. D'un autre côté, quelles belles promesses notre Seigneur ne fait-il pas à ceux qui auront reçu ses messagers! Il se donnera lui-même à eux; et, par lui, ils posséderont le Père qui l'a envoyé. De même, recevoir un prophète ou un juste, c'est s'unir à ce prophète ou à ce juste de manière à partager la gloire qui lui est réservée. Enfin tendre une main bienfaisante au plus chétif des disciples de Jésus parce qu'il est disciple, c'est faire une œuvre qui ne demeurera pas sans récompense. Ah! que ceux qui lisent ces lignes se demandent s'ils reçoivent réellement, et Jésus et ses apôtres, et les prophètes et les fidèles.

(**Matthieu 11** : 1. **14** : 1-12. **Luc 9** : 7-9. **Marc 6** : 14-29.)

## CCXXXI. — Mort de Jean-Baptiste.

3048. (Matth. **11** : 1.) Pendant que les apôtres s'acquittent de leur message et que le Seigneur continue, seul, ses courses et ses prédications dans la Galilée, approchons-nous, avec les Evangiles, de la prison où Jean-Baptiste subit le martyre; écoutons le récit qu'ils nous font de cette catastrophe, et d'abord parlons avec eux de la circonstance à l'occasion de laquelle cette douloureuse histoire nous est racontée.

3049. (L. **9** : 7-9; M. **14** : 1-12; Mc. **6** : 14-29.) Sur la croupe occidentale du mont Nébo, dont les parois de rochers plongent dans la mer Morte, Hérode avait fait construire un château fort qui était d'une grande magnificence et qu'on appelait Machéronte. C'était là que résidait quelquefois le prince voluptueux qui retenait Jean-Baptiste dans les prisons de la forteresse, et là aussi que vint le chercher le bruit des merveilles opérées par Jésus-Christ. Qui sait si ce ne fut pas de la bouche même des apôtres, employés à leur première mission! Quoi qu'il en soit, le fils du grand Hérode fut tout interdit en apprenant ce qui se passait. Il l'eût moins été sans doute si l'on était venu lui annoncer que les Arabes, avec lesquels il soutenait alors une guerre, avaient mis son armée en déroute. Or voici la cause de son agitation. Il avait fait décapiter Jean, et il se demandait si le nouveau prophète dont on parlait n'était point ce saint homme que Dieu aurait ressuscité? D'autres, autour de lui, pensaient que, pour cette fois, c'était bien réellement Elie [2717]; d'autres, un des anciens prophètes. On comprend que devant Hérode, fils d'un usurpateur, personne n'aurait osé dire : C'est peut-être le Fils de David, le Roi-Messie promis dans les Ecritures. Toujours est-il que les habitants du château de Machéronte parlaient de religion comme tant de mondains, sans y rien comprendre.

3050. Luc, qui avait mentionné par anticipation l'emprisonnement de Jean-Baptiste (**3** : 19, 20), ne nous raconte pas sa mort; mais nous en trouvons le récit très circonstancié dans les deux autres évangélistes. C'est par eux aussi que nous connaissons la cause honorable de la persécution dont ce grand serviteur de Dieu fut victime. Poursuivant ses courses d'évangélisation, Jean était parvenu à faire entendre sa voix dans le palais d'Hérode. Celui-ci, surnommé Antipas et fils d'Hérode le Grand, n'était pas ce que le monde appelle un homme méchant; mais c'était un homme de plaisir qui ne refusait à

(**Matthieu 14** : 1-12. **Marc 6** : 14-29.)

son cœur charnel rien de ce qui pouvait le satisfaire. Il avait épousé la fille du roi Arétas, quand il s'éprit d'une passion doublement criminelle pour une femme devenue tristement célèbre. Hérode Philippe, frère d'Hérode Antipas, avait épousé sa nièce, Hérodias fille d'Aristobule, autre fils d'Hérode le Grand. Antipas, pour devenir l'époux de celle qui était à la fois sa nièce et sa belle-sœur, répudia la fille d'Arétas (de là sa guerre avec les Arabes), et ravit à Philippe la femme de qui ce dernier prince avait eu une fille appelée Salomé.

3051. Ce fut, il faut en convenir, une déplorable famille que cette famille des Hérode ! La parole sévère de Jean-Baptiste ne pouvait, ni mieux s'adresser, ni rencontrer des cœurs moins bien disposés. Antipas, cependant, plutôt léger que perverti (et il est beaucoup d'hommes de ce caractère), ne repoussa point du premier abord le grand serviteur de Dieu que la nation tout entière vénérait. Sa conscience ne fut pas inaccessible ; il écoutait Jean avec plaisir ; il faisait bien des choses selon ses conseils, et, un jour sans doute qu'il se sentit comme entraîné par cette Voix puissante, il ne put s'empêcher de dire à Jean : « Que faut-il que je fasse ? » Le fils de Zacharie toujours ferme à réclamer, comme signe d'une vraie conversion, l'accomplissement des devoirs les plus prochains [2679], répondit à Hérode, sans hésiter, qu'il devait rompre ses relations criminelles avec la femme de son frère.

3052. Hérodias apprit bientôt, et probablement de la bouche même du roi, ce que Jean avait osé lui proposer. Or, cette malheureuse femme, plus violente et plus passionnée qu'Hérode, conçut dès ce moment une haine acharnée contre le prophète. Elle eût voulu le faire mourir, elle le demanda peut-être ; mais arrêté par une voix intérieure qui lui tenait au fond le même langage que Jean, plein de considération pour un homme si juste et si saint, contenu surtout par la crainte de l'opinion publique, Hérode se contenta de jeter en prison le messager du Seigneur. C'était bien assez pour montrer qu'il était capable de pis, s'il y était poussé ; car, jusqu'où ne va-t-on pas lorsqu'on se laisse dominer par une passion criminelle ?

3053. Les premiers pas dans le crime sont les seuls qui coûtent, et, plus la haine nous a rendus injustes envers quelqu'un, plus elle s'accroît et désire de s'assouvir. Depuis qu'Hérodias était parvenue à confiner dans une prison le prophète qui avait osé menacer la coupable passion d'Hérode, elle ne cessait de guetter le moment de se défaire d'un homme dont l'existence troublait la sienne. Enfin

(**Matthieu 14** : 1-12. **Marc 6** : 14-29.)

le jour parut où la haine put se transformer en meurtre [509].

3054. Hérode célébrait l'anniversaire de sa naissance, non point comme des gens pieux peuvent le faire, mais à la manière des mondains, qui, par des fêtes bruyantes et toutes de dissipation, semblent prendre à tâche d'oublier la fuite rapide des années. Le prince donc, comme jadis Pharaon [533], donnait un grand festin aux seigneurs de sa cour, à ses généraux et à tout ce que sa province offrait d'hommes riches et puissants. Jamais peut-être le château de Machéronte n'avait rien vu de plus splendide. On mangea et l'on but abondamment; les instruments faisaient entendre leurs symphonies, et l'on appela de jeunes filles qui, par leurs danses, ajoutaient aux joies voluptueuses du festin. Avec elles sans doute vint Salomé, la fille de Philippe et d'Hérodias, belle comme sa mère, et, comme elle, instruite de bonne heure dans le dangereux art de plaire.

3055. Le roi fut ravi des charmes et des grâces de la jeune fille; ses convives la couvrirent d'applaudissements, et, transporté de bonheur, comme on dit dans le monde, il estima qu'aucune récompense n'égalerait les jouissances que Salomé venait de lui procurer, ainsi qu'à toute sa cour. Il s'engagea donc, par serment, à lui accorder tout ce qu'elle lui demanderait, même ce qu'il n'était pas en son pouvoir de donner; car il tenait des Romains sa couronne, et je ne pense pas qu'il pût la partager sans leur permission. Mais que ne fait pas, et surtout que ne dit pas un homme de plaisir qui, au lieu d'écouter la raison et la conscience, se laisse gouverner par l'impression des sens!

3056. Ne sachant trop quelle réponse faire, la jeune fille court à Hérodias, et celle-ci décide, sans balancer, qu'elle demandera la tête de Jean-Baptiste. Salomé, à son tour (tant elle avait épousé les passions de sa mère), semble en quelque sorte se vouloir du mal de n'y avoir pas songé d'elle-même. Avec un horrible empressement, elle rentre auprès du roi et d'un ton sec et froid : « Je veux que tu me donnes à l'instant, dans un plat, la tête de Jean le Baptiseur. » Oh! qu'ils sont malheureux, les grands de la terre, d'avoir en mains tant de moyens de satisfaire leurs passions? Mais combien de petits et de pauvres qui n'en sont pas moins coupables devant Dieu, parce que leurs haines sont impuissantes!

3057. « Même en riant, le cœur est triste et la joie finit par l'ennui » (Prov. **14** : 13), nous dit l'Ecriture en parlant de la prétendue félicité des mondains. Hérode en fit alors la douloureuse expérience.

(**Matthieu 14** : 1-12. **Marc 6** : 14-29.)

Ce prince n'avait pas, comme Hérodias et sa fille, abjuré toute espèce de sentiment, aussi fut-il affecté de la demande qui lui était adressée. Mais le respect humain, la crainte des hommes, exerce une puissance terrible sur le cœur même des rois. « A cause de son serment et plus encore à cause de ses convives, » Hérode n'osa pas revenir en arrière. Il craignit sans doute qu'on ne l'accusât de bigotisme et qu'on ne se moquât de lui. Sans compter qu'il ne pouvait alléguer l'innocence de Jean, car alors pourquoi le retenir en prison? Il vit donc à quels crimes conduit un premier crime. Par son ordre un soldat descendit dans le cachot, et bientôt il reparut avec la tête de Jean sur un des plats qui avaient servi au festin.

3058. Quelle horreur! n'est-ce pas? Il faut convenir que l'histoire en raconte peu de pareilles. Mais ce que nul historien n'aurait fait, c'est de conserver, dans un tel récit, le calme qu'y apportent nos évangélistes. Il n'y a pas un mot qui dénote chez eux la moindre passion. Les choses ont eu lieu comme ils les disent, et ils en laissent le jugement à Dieu; observation qui se représentera par la suite d'une manière encore plus frappante. Un historien juif, qui vécut dans ce même siècle et dont j'aurai peut-être plus d'une fois à invoquer le témoignage, le général Josèphe raconte que, peu après cet événement, Hérode perdit une grande bataille contre les Arabes, et que le peuple, plein de vénération pour la mémoire de Jean, ne manqua pas d'attribuer ce malheur à un jugement de Dieu.

3059. Ce fut donc ainsi que mourut le précurseur du Messie, celui qu'on pourrait appeler l'Abel de la nouvelle alliance, si Jésus lui-même ne l'était pas encore plus; brebis au milieu des loups, témoin ou martyr du Rédempteur jusqu'à son dernier soupir, comme il l'avait été dès avant sa naissance. Une telle mort dut être un sérieux avertissement pour les disciples de Jésus; car ils purent y voir le sort qui attendait plusieurs d'entre eux. Et puis, comment douter d'une autre vie après de tels faits? Comment ne pas admettre un jugement où chacun recevra selon ses œuvres? Comment croire que le Seigneur, juste juge, traitera d'une même façon un Hérode et un Jean? Comment ne pas déclarer bienheureux ce serviteur de l'Eternel qui entra dans son repos à l'heure voulue, et ne pas s'effrayer en même temps des maux qui attendent les mondains et les persécuteurs?

3060. Oui, nous n'hésitons pas à dire Jean bienheureux, et toutefois il n'eut pas le temps de se préparer à la mort. A peine prononcée, la sentence du roi se trouve exécutée. Mais le fils de Zacharie

(**Luc 9** : 10-17. **Matthieu 14** : 13-33. **Marc 6** : 30-52. **Jean 6** : 1-21.)

était prêt à mourir. Il le fut dès sa plus tendre jeunesse, et sa foi, en se développant, l'avait mûri pour le royaume céleste dont il fut le héraut. Si son âme avait été agitée de quelques doutes dans sa prison, elle s'était tournée vers Jésus, et, dès ce moment, tout fut accompli. C'est pourquoi, heureux qui, converti du cœur à Jésus-Christ et vivant dans la foi en sa grâce, se trouve prêt à déloger, quel que soit l'instant où son âme lui est redemandée !

3061. Mais encore une fois, si notre conscience est comme obligée d'estimer heureux l'humble fidèle dont la tête fut subitement tranchée dans les prisons du château de Machéronte, en peut-elle dire autant de ce roi voluptueux, si lâche au moment fatal, de cette Hérodias, cruelle autant que séduisante, de sa malheureuse fille, criminelle dès sa jeunesse, de tous ces grands d'ici-bas qui, un instant auparavant, faisaient retentir de leur joie les salles du séjour royal et qu'un incident si lugubre troubla peut-être à peine dans leurs coupables divertissements ! Il est donc bien vrai que le bonheur ne se trouve pas où tant de pauvres pécheurs s'obstinent à le chercher ! La mort de Jean fut, il est vrai, pour ses disciples, une occasion de deuil et de larmes ; quand ils eurent déposé son corps dans un sépulcre, ils durent chercher en Galilée des consolations auprès du Seigneur ; Jésus lui-même, en son cœur d'homme, montra la tristesse que cet événement lui imprimait (M. 14 : 13) ; mais qui oserait comparer ce qui se passait dans leurs âmes à tous, avec l'agitation de celle d'Hérode. Tourmenté par les remords (nous l'avons vu en commençant cette Etude), il crut ou plutôt il craignit, quand on vint lui parler de Jésus, que ce ne fût Jean qui était ressuscité. Pour s'en assurer, il désirait de voir le Seigneur ; mais sa curiosité ne devait pas être de sitôt satisfaite.

### CCXXXII. — Multiplication des pains. Tempête apaisée. Instructions sur la foi.

3062. (L. 9 : 10-17 ; M. 14 : 13-33 ; Mc. 6 : 30-52 ; J. 6 : 1-21). Le Seigneur vit venir à lui, presque en même temps, les disciples de Jean, porteurs de la triste nouvelle, et les douze apôtres, au bout de deux ou trois mois qu'avait duré leur première mission. Or, soit par la crainte d'Hérode ou seulement pour échapper à ses regards (ce qui suppose que ce roi avait quitté Machéronte), soit pour passer quelques jours dans la retraite avec ses disciples et se soustraire aux vains

(**Matthieu 14** : 22-27. **Marc 6** : 45-52. **Jean 6** : 16-21.)

empressements de la multitude, il traversa le lac de Génézareth et se réfugia dans un lieu inhabité, près de Behtsaïda. C'était la Bethsaïde-Juliade, voisine de Chorazin et de la montagne d'où le Seigneur était autrefois descendu pour prononcer son discours de la plaine [2722, 2955].

3063. Quelque secret que Jésus y eût mis, le peuple ne tarda pas à savoir où il se tenait caché (car le Seigneur se cache quelquefois), et la foule vint à lui plus nombreuse que jamais. La fête de Pâque approchait (J. 6 : 4), la troisième depuis que Jésus était entré dans son ministère, et il est probable que cette circonstance augmentait chez plusieurs le désir de l'entendre. Il leur parlait donc du royaume de Dieu et il guérissait leurs malades.

3064. Un jour que cinq mille hommes environ, sans compter les femmes et les enfants, étaient demeurés jusqu'au soir près de Jésus, les apôtres lui représentèrent qu'il était temps de congédier cette multitude, afin qu'elle se procurât la nourriture dont elle manquait absolument, les vivres que chacun avait apportés se trouvant épuisés. Dans le but d'éprouver leur foi, Jésus dit aux douze et particulièrement à Philippe, un de ses plus anciens disciples (J. 1 : 44, 45) : Donnez-leur à manger, et si vous n'avez pas de pain, achetez-en. C'était une double impossibilité; car il n'y avait là que cinq pains et deux petits poissons. Quant à la somme qui eût été nécessaire, il est clair que les disciples ne la possédaient pas. Alors Jésus fit asseoir avec ordre toute cette foule sur le gazon, de manière qu'on le vît distinctement debout, au milieu de la prairie. Puis, prenant les pains et les poissons qui, sous sa main créatrice, allaient se multiplier au delà même du nécessaire, et prononçant de solennelles paroles de bénédictions et d'actions de grâces, il fit distribuer ce miraculeux aliment et ils furent tous rassasiés. Bien plus, on recueillit par son ordre ce qui n'avait pu être consommé, et l'on eut de quoi en remplir douze paniers. Ce fut, comme la mesure de manne conservée dans le tabernacle [726], un monument du prodige que le Seigneur venait d'opérer par sa puissance.

3065. (M. 14 : 22-27; Mc. 6 : 45-52; J. 6 : 16-21.) Ce nouveau miracle remplit la foule d'un tel enthousiasme, qu'elle forma le projet insensé d'enlever Jésus pour le proclamer roi. Charnels, ils ne rêvaient que délivrances temporelles et que gloire terrestre. Voilà, se disaient-ils, celui qu'il nous faut pour reconquérir notre indépendance et nous retirer de notre misère! Mais Jésus n'est pas venu éta-

(**Matthieu 14** : 28-31 ; 32, 33. **Marc 6** : 51, 52. **Jean 6** : 21 ; 22-29.)

blir un royaume de cette nature. Sachant ce qu'on méditait en sa faveur ou, dirai-je, contre lui, il résolut de s'y soustraire par la fuite. Encore fallait-il certaines précautions pour échapper à ses imprudents amis. Il ordonna donc aux douze de repasser le lac, tandis qu'il se tiendrait caché quelque part dans le recueillement de la prière. Mais comme ils cinglaient vers Capernaüm, un violent orage s'éleva. C'était environ la quatrième veille de la nuit ; c'est-à-dire sur le matin, car on divisait la nuit en quatre veilles, chacune de trois heures. Ils luttaient avec peine contre le vent, lorsqu'ils voient tout à coup quelqu'un qui passe à côté de leur barque, comme pour la devancer. On comprend la frayeur qu'ils ressentirent et aussi leur joie, en entendant une voix bien connue qui leur disait : « Ayez bon courage ; c'est moi, ne craignez point. »

3066. (M. 14 : 28-31.) Aussitôt, partagé entre la foi et le doute, et cédant à la vivacité de son caractère, Simon demande à Jésus de l'appeler près de lui sur les eaux. Il lui est fait selon sa foi ; mais sa foi était chancelante ; aussi eut-il peur et commença-t-il à enfoncer. Cependant, il crie à Jésus. Ce miséricordieux Sauveur lui tend la main ; et bientôt, à la requête des autres disciples, ils montent tous les deux sur la barque. Les instructions que présente ce fait ne sauraient échapper à mes lecteurs. Il est bien d'aspirer par la foi à de grandes choses, si la gloire du Seigneur y est d'ailleurs intéressée ; mais il faut sonder sa foi, pour connaître ce dont elle est réellement capable. Puis, lorsqu'on est à l'œuvre, il s'agit d'avancer sans crainte, et quand on se sent près de fléchir, il faut regarder à Jésus et lui dire : « Seigneur, sauve-moi. » Ainsi, commencer par la foi, agir par la foi et se relever par elle ! Comme nous le dira bientôt le Seigneur : « Tout est possible à celui qui croit. »

3067. (M. 14 : 32, 33 ; Mc. 6 : 51, 52 ; J. 6 : 21.) Jésus fut à peine dans la nacelle que le vent cessa. Or les disciples qui, tout préoccupés, la veille, du soin de distribuer la nourriture au peuple, avaient à peine pris garde au miracle des pains et n'en avaient pas saisi la portée, furent vivement frappés de cette scène nocturne. Se prosternant devant Jésus, ils s'écriaient : « Tu es vraiment le Fils de Dieu ! » Leur foi allait donc s'affermissant et s'éclairant, ce qui n'empêche pas qu'ils ne fussent encore des hommes peu croyants, comme Jésus l'avait dit au plus vif et au plus décidé de tous. C'est une circonstance qu'il ne faudra pas oublier.

3068. (J. 6 : 22-29.) Cependant la foule que Jésus avait laissée de

(**Jean 6** : 30-33.)

l'autre côté du lac n'abandonnait pas son dessein. Après avoir inutilement cherché le Seigneur tout un jour, ces gens se rendirent à Capernaüm, où l'on put leur dire en quel quartier ils le trouveraient. Le Seigneur saisit cette circonstance pour donner au peuple de grandes instructions sur le sujet important de la foi. Il s'agissait de diriger vers les choses spirituelles les pensées de ces hommes charnels, au risque de s'aliéner le cœur d'un grand nombre d'entre eux; mais le moment était venu de tout dire, et je ne doute pas que mes lecteurs ne s'apprêtent à suivre ce discours avec une grande attention.

3069. Jésus commença donc par leur faire cette question : « Pourquoi me cherchez-vous? » Est-ce le pardon, la lumière, le salut que vous voulez de moi? Non, ce n'est pas même la vue des miracles qui vous attire. Si vous venez à moi, c'est tout simplement pour avoir, encore une fois et sans travail, abondance de pain. Mais ce pain, c'est une nourriture qui périt; il en est une autre qui subsiste éternellement et qui fait vivre l'âme. Celui qui la donne, c'est l'Homme que le Père a marqué d'un sceau, et toutefois pour avoir cette nourriture, il faut travailler. Que ferons-nous donc pour travailler aux œuvres de Dieu? » lui répondit-on du milieu de la foule. « C'est ici l'œuvre de Dieu, réplique Jésus, que vous croyiez en celui qu'il a envoyé! » Nous donc aussi, nous voilà bien avertis. Nous avons quelque chose à faire pour être nourris en vie éternelle : une œuvre de Dieu, c'est-à-dire une œuvre divine; œuvre qu'il commande, qu'il accomplit en nous et qui nous unit à lui pour toujours : c'est de croire en Jésus; œuvre par excellence, œuvre des œuvres, qui suppose un grand travail intérieur, beaucoup de luttes quelquefois : l'œuvre des violents, comme l'avait dit le Seigneur (Matth. **11** : 12).

3070. (30-33.) Ces hommes qui avaient cru au miracle des pains, parce que leur corps s'en était nourri, veulent maintenant que, par quelque nouveau signe, Jésus leur démontre qu'il est vraiment envoyé de Dieu pour donner la vie éternelle. En d'autres termes, ils estiment que la multiplication de quelques pains d'orge n'est rien en comparaison du prodige par lequel l'Eternel marqua Moïse de son sceau, en nourrissant leurs pères dans le désert, au moyen de ce que l'Ancien Testament lui-même appelle « le pain du ciel » (Néhémie **9** : 15). Mais que leur répond Jésus? Sans s'arrêter à leur montrer qu'il ne faut pas une puissance moindre pour *créer* un morceau de pain ordinaire, que pour créer un nouveau genre d'aliment, il leur fait sentir, par trois traits essentiels, la différence qui existait entre la

(Jean 6 : 34-40; 41-46; 47-51.)

manne d'autrefois et le pain dont il leur parlait à cette heure. La manne ne venait pas vraiment du ciel comme lui, elle venait d'où vient la pluie; d'où la lumière et la chaleur se répandent sur la terre. La manne ne donnait pas la vie comme lui; elle ne faisait que l'entretenir. La manne enfin n'était que pour Israël; mais lui, il est venu pour le monde entier.

3071. (34-40.) Dans un esprit semblable à celui de la Samaritaine (Jean 4 : 15), les Juifs s'efforcèrent d'entendre Jésus tout autrement qu'il n'était naturel de le faire. Aussi se hâta-t-il de déclarer qu'il est lui-même le pain dont il leur parlait, pain vivant qui nourrit l'âme (35). On se l'approprie en allant à lui, en croyant en lui, deux expressions d'une même idée. Or ceux qui vont à Jésus pour être vivifiés, ce sont les pécheurs que le Père lui a donnés (37); autrement, ceux auxquels le Père inspire le désir d'avoir en lui la vie éternelle. C'est donc par un effet de la volonté du Père qu'ils croient, et il est impossible en conséquence que Jésus ne les reçoive pas et qu'il ne les ressuscite au dernier jour (38, 39). C'est aussi la volonté du Père que celui qui contemple le Fils et croit en lui (encore deux expressions de la même idée), ait, dès à présent, la vie éternelle et qu'il le relève d'entre les morts au dernier jour (40).

3072. (41-46.) Il y avait, dans cette doctrine, deux assertions surtout qui scandalisèrent les auditeurs de Jésus-Christ. D'abord, qu'un homme dont ils connaissaient si bien l'extraction prétendît être descendu du ciel; ensuite, qu'on ne pût croire en lui à moins d'y être amené par le Père. Mais Jésus les répète l'une et l'autre sous une forme un peu différente et en commençant par la seconde, bien qu'ils ne l'eussent pas attaquée expressément. Les prophètes, dit-il, ont annoncé qu'un jour viendrait où Dieu lui-même enseignerait les siens (Es. 54 : 13); mais que leur enseignera-t-il si ce n'est à recevoir son Fils, afin qu'ils aient la vie? Puis, il est certain que personne ne vit jamais le Père : l'Ange que virent les patriarches, c'est celui qui est de Dieu, le Fils, la Parole; il était donc au ciel avant de venir sur la terre.

3073. (47-51.) Après quoi, notre Seigneur reprend avec un ton de plus en plus solennel ses précédentes déclarations : « Celui qui croit en moi a la vie éternelle. Je suis le pain de vie. Non pas un pain comme la manne, qui n'a pas empêché vos pères de mourir, ni un pain qui se mange de la bouche; mais un pain qu'on mange ou qu'on s'approprie par la foi. » Enfin, le Sauveur de nos âmes ajoute une

(Jean 6 : 52-59 ; 60-63.)

nouvelle idée bien importante : c'est qu'il donnera sa chair, c'est-à-dire son corps ou plutôt sa personne, pour le salut du monde ; par où il faisait évidemment allusion à ses souffrances et à sa mort.

3074. (52-59.) Quelle que fut l'ignorance des Juifs et leur disposition à tout interpréter matériellement, il était impossible qu'ils ne comprissent pas assez, pour voir que Jésus n'entendait nullement réaliser les grossières espérances de leur cœur. S'arrêtant donc à ce qu'il y avait en effet de plus heurtant dans son discours, ils s'excitaient contre lui, en relevant un mot qu'il n'avait pas encore prononcé, mais qui résultait bien de ce qu'il avait dit. Cet homme veut nous donner sa chair à manger ! Se peut-il rien de plus absurde ? Mais le Seigneur ne recule pas devant cette prétendue absurdité. Oui, c'est vrai, leur dit-il, il faut que vous mangiez la chair du Fils de l'homme et que vous buviez son sang ; autrement il n'y a pas de vie éternelle pour vous, ni en vous. Ma chair et mon sang, c'est-à-dire mes souffrances et ma mort (que Jésus prophétisait de la sorte) ; ma chair et mon sang, ma personne même et non pas seulement mes discours, sont une véritable nourriture et un vrai breuvage. Celui qui me mange demeure en moi et moi en lui : nous ne faisons qu'un ; c'est pour cela même qu'il a, dès maintenant, la vie éternelle et qu'au dernier jour, je le relèverai d'entre les morts.

3075. Cette expression, manger la chair du Fils de l'homme et boire son sang, n'est évidemment qu'une nouvelle manière d'exprimer la foi par laquelle les âmes doivent s'unir à lui pour avoir la vie éternelle. Croire en Jésus, aller à lui, le contempler, se nourrir de lui, c'est une seule et même chose. Transportons-nous donc vers lui par la pensée, regardons à lui de tout notre cœur, recevons-le tout entier dans notre âme ; là est la vie dès maintenant et à toujours. Tel est le sens, à la fois simple et élevé, de toute cette instruction.

3076. (60-63.) On ne saurait nier néanmoins que, par les termes dont il se servit, le Seigneur ne l'ait enveloppée d'une certaine obscurité. Mais s'il prit cette tournure énigmatique, repoussante même, je pense que ce fut dans le but exprès de faire une épuration parmi ceux qui le suivaient. Il y en avait tant qui étaient là sans trop savoir pourquoi ; tant d'autres qui n'y apportaient que des intentions profanes ! Cependant, pour enlever tout prétexte à ceux qui affectaient de revêtir ses paroles d'un sens qu'elles n'avaient pas, il donna deux explications dont l'une ne fut parfaitement claire que plus tard, parce que c'était une prophétie, mais dont l'autre était d'une clarté actuelle

(**Jean 6** : 66-71. **Marc 6** : 53-56. **Matthieu 14** : 34-36.)

qui ne laissait rien à désirer. D'abord, il annonce qu'il monterait un jour au ciel dans ce même corps dont on le voyait revêtu, et que par conséquent il ne s'agissait point proprement de manger sa chair. Puis, il déclare que c'est l'Esprit qui fait vivre; qu'on pourrait manger sa chair sans être sauvé, et dès là que son discours devait être entendu dans le sens spirituel, seul capable de donner la vie. — Tout cela, au fond, est fort simple; mais c'est comme les autres objets de la foi, nul ne peut les saisir que par une grâce spéciale du Père (64, 65), vérité sur laquelle le Seigneur insiste en terminant.

3077. (66-71.) Dès ce moment, beaucoup de ceux mêmes qui étaient comptés au nombre des disciples s'éloignèrent de notre Seigneur, et le délaissement fut tel que Jésus, se tournant vers les douze, leur demanda s'ils ne voulaient pas à leur tour le quitter. Il savait bien ce qu'étaient leurs dispositions (64), mais il voulait qu'ils s'en rendissent compte à eux-mêmes. Alors Pierre, prenant la parole au nom de tous, fit une belle confession que je propose pour exemple à mes lecteurs. Apprécient-ils la doctrine de l'Evangile comme ils le doivent? Y voient-ils la source même de la vie éternelle? Jésus est-il pour eux le Christ, le Fils du Dieu vivant? Comprennent-ils que lui seul peut leur donner le salut? En d'autres termes, croient-ils en lui? se nourrissent-ils de lui? sont-ils un avec lui? Bienheureux qui confesse Jésus comme le firent Pierre et ses collègues! Parmi eux, toutefois, se trouvait celui qui, plus tard, devait commettre l'horrible crime de livrer Jésus entre les mains de ses ennemis. Ainsi prenons-y garde! On peut appartenir à une société de disciples choisis avec soin, y avoir été placé en quelque sorte par la main même du Seigneur, et se rencontrer finalement avec les fils de l'adversaire.

—

## DEPUIS LA TROISIÈME PAQUE, JUSQU'A LA FÊTE DES TABERNACLES.

### CCXXXIII. — Entretien avec les Pharisiens sur le formalisme et sur les traditions; ce qui souille l'homme; la Cananéenne; nouveaux miracles et nouvelles discussions.

3078. (Mc. 6 : 53-56; M. 14 : 34-36). Les faits qui nous ont occupés dans l'Etude précédente se passèrent, avons-nous dit, aux approches de la Pâque. Jésus, qui avait été quelques mois auparavant à Jérusalem [3020], ne jugea pas à propos de s'y rendre alors, bien

(**Marc 7** : 1-13. **Matthieu 15** : 1-9.)

qu'il dût y retourner plus d'une fois dans le courant de cette année, la dernière de son ministère. Or, soit par la raison qu'il n'avait plus que peu de temps devant lui, soit tout simplement que les évangélistes nous aient raconté la fin de l'œuvre avec plus de détails que le commencement, nous allons voir chez notre Seigneur un redoublement extraordinaire d'activité, ses discours et ses miracles acquièrent une importance croissante; tellement que cette dernière année offre un intérêt qui semble effacer celui des deux autres, comme la semaine qui précéda la mort de Jésus, fait en quelque sorte oublier tout le reste.

3079. (Mc. **7** : 1-13; M. **15** : 1-9.) Jésus était donc demeuré sur les bords du lac de Génézareth avec ses disciples, quand des pharisiens de Jérusalem, contrariés sans doute de ce qu'il avait évité leur haine en s'absentant de la fête, vinrent l'y chercher et le harceler de leurs questions captieuses. Ce qui caractérisait la religion des pharisiens et de leurs adeptes, c'était, avons-nous dit ailleurs, l'observance scrupuleuse des lois cérémonielles promulguées par Moïse, formes qui leur apparaissaient comme constituant l'essence du culte divin. Premier tort de leur part, vu que, même sous l'ancienne économie, l'esprit devait toujours l'emporter sur la forme [2592, l'*Esprit et la forme*]. A ce tort ils en ajoutaient un second, non moins grave. Ils avaient converti en lois les usages des anciens ou ce qu'on appelle les *Traditions*, et ils mettaient ces traditions au même rang que les ordonnances divines, si même ils ne leur donnaient la prééminence [2570, 2582]. Enfin, et c'est toujours ce qui arrive lorsque les hommes associent leurs inventions à la pensée de Dieu, ils plaçaient souvent les formes de leur culte au-dessus des devoirs les plus évidents de la morale.

3080. On conçoit que notre Seigneur ait dû se mettre en lutte ouverte avec de si détestables erreurs, non-seulement à cause du mal qu'elles faisaient alors, mais surtout parce qu'elles ne devaient que trop se reproduire au milieu du monde christianisé. C'était une des raisons pour lesquelles ses disciples ne jeûnaient pas comme ceux des pharisiens [2935]; c'est aussi pour cela qu'ils ne se lavaient pas dans les formes voulues avant chacun de leurs repas. Sur le reproche que lui en font ses adversaires, voyez avec quelle indignation Jésus-Christ leur reproche à son tour leur hypocrisie, leur formalisme, leur impiété; voyez comme il les terrasse en leur citant un mot d'Esaïe qui leur était si directement applicable (**29** : 13); voyez comme il

(**Marc 7** : 14-17; 17-23; 24-30. **Matthieu 15** : 10-15; 15-20; 21-28.)

les accuse en propres termes d'annuler la sainte Parole de Dieu par leurs traditions! Tout cela était d'une application immédiate aux auditeurs de Jésus; mais ne vous semble-t-il pas, à l'entendre, qu'il avait devant lui ces prêtres de l'Eglise romaine, pharisiens des temps modernes, qui, pour me tenir à un seul trait, se font payer des messes en expiation du péché, et ces protestants non moins pharisiens, qui voient dans les actes extérieurs du culte une sorte de compensation pour une vie peu morale?

3081. (Mc. **7** : 14-17; M. **15** : 10-15). Non content toutefois de fermer la bouche à ses contradicteurs, le Seigneur appelle la multitude et lui fait entendre une de ces paroles qui, une fois comprises, jettent une vive et durable lumière dans les âmes. Afin de dépouiller leurs aliments de tout ce qui pouvait, malgré leurs précautions, ressembler à quelque souillure légale, les pharisiens se lavaient scrupuleusement les mains et les bras avant de manger. « Mais, dit Jésus à la foule qui était là, il n'y a rien hors de l'homme qui puisse, en entrant au dedans de lui, le souiller; ce qui sort de lui, c'est là ce qui souille l'homme, » et il termine par la formule qui accompagnait souvent ses paraboles. Or les disciples eux-mêmes avaient si peu l'habitude de diriger leur esprit du côté des pensées morales, que « leurs oreilles n'entendirent pas » cette maxime. Rentrés à la maison, ils firent remarquer à leur Maître qu'il avait scandalisé les pharisiens (et eux aussi peut-être, plus qu'ils n'osaient le dire); ils lui demandèrent donc une explication.

3082. (Mc. **7** : 17-23; M. **15** : 15-20.) Après avoir exprimé, comme deux ans auparavant, mais non pas complétement dans les mêmes termes, que les pharisiens étaient de faux docteurs à éviter, des plantes que Dieu n'avait pas plantées, de l'ivraie semée dans le champ par l'ennemi, des aveugles que des aveugles seuls pouvaient prendre pour guides, il s'empressa de donner aux disciples l'explication demandée, et par le fait nous ne saurions rien y ajouter. Relisez donc attentivement ces paroles; rapprochez-les de quelques autres que je n'ai peut-être pas assez recommandées à votre attention (Gen. **6** : 5; **8** : 21; Prov. **4** : 23; **6** : 18; **22** : 15; Jér. **17** : 9), et vous comprendrez que ce qui fait de nous des êtres souillés, c'est que notre cœur est mauvais; de ce cœur mauvais sort toute espèce de mal, et ce mal, effet de la corruption intérieure, achève d'imprimer à notre personne entière le caractère d'une chose souillée...

3083. (Mc. **7** : 24-30; M. **15** : 21-28.) Jésus au milieu des païens,

pour fuir la malveillance des fils d'Abraham, ses frères en la chair! Jésus repoussant avec une apparence de dureté la prière d'une pauvre Cananéenne! Celle-ci montrant une foi, une persévérance dignes de toute imitation! Le Seigneur bénissant enfin celle dont il avait mis les sentiments à une si rude épreuve! Tel est le tableau que nous avons sous les yeux. Cette femme fut, avec le centenier de Capernaüm [2964], les prémices de l'abondante récolte que l'Evangile devait faire plus tard parmi les nations idolâtres. Tyr et Sidon, siéges d'un antique paganisme et, une fois, le théâtre de délivrances miraculeuses [1926-1928], tels furent les lieux où Jésus dirigea momentanément ses pas, comme pour dire que, plus tard, ses disciples y porteraient la bonne nouvelle du salut. Quant à nous, dont les ancêtres étaient des païens et non pas, comme les fils d'Abraham, des enfants de la maison, sentons l'étendue de la grâce qui nous a été faite; sentons-la vivement, car ce n'est pas de miettes tombant de la table que le Seigneur nourrit nos âmes, c'est des mets succulents dont la table est couverte. Oui, Jésus se donne à nous comme le pain céleste. Tout en nous reconnaissant parfaitement indignes de lui, ne laissons donc pas de lui demander les plus grandes grâces. S'il paraît au premier abord ne pas nous entendre et même nous repousser, insistons avec une foi d'autant plus intense. Puis, si de pauvres pécheurs, même à notre avis les plus coupables, s'attachent aux pas de Jésus et crient à lui, gardons-nous de leur dire, avec les disciples d'autrefois : « Renvoie-les, car ils nous suivent en criant. »

3084. (Mc. 7 : 31-37; M. 15 : 29-31.) De la Phénicie, notre Seigneur revint en Galilée par la Décapole. C'est-à-dire qu'il dut traverser le Liban et l'Anti-Liban pour regagner ainsi les pays à l'est du lac de Génézareth. Il fit en ces lieux un miracle, par le fond semblable à tous les autres, mais accompagné de circonstances assez caractérisques pour qu'il nous ait été raconté en détail. Je veux parler d'abord de la compassion que Jésus éprouva pour ce pauvre homme, sourd et presque muet, compassion qu'il exprima par de profonds soupirs; puis, du moyen qu'il employa pour lui rendre l'ouïe et lui délier la langue, dans le but, je pense, de montrer les effets salutaires de toute communication intime avec sa personne; enfin, du silence qu'il crut devoir imposer aux témoins de ce miracle. Sur ce dernier point, il y a lieu de croire que notre Seigneur avait alors des raisons pour que son retour ne s'ébruitât pas sitôt. C'est bien ainsi qu'il faut l'entendre, car nous voyons en saint Matthieu que, peu après, il multiplia de nou-

veau ses actes de puissance, comme quelqu'un qui ne craint pas qu'on sache où il est, ni qui il est.

3085. (Mc. **8** : 1-9; M. **15** : 32-38.) La compassion de Jésus se montre encore dans le récit qui nous est fait par les deux évangélistes, d'une nouvelle multiplication de pains et de poissons [3064]. Le Seigneur, toujours miséricordieux et plein de sympathie, a pitié de cette foule affamée, comme il avait pitié des erreurs où l'entraînaient ses conducteurs infidèles. Il prend donc intérêt à nos corps aussi bien qu'à nos âmes; et si nous le suivons d'un cœur droit, il ne nous laissera pas manquer du nécessaire. Quoi qu'il en soit, « tout ce qu'il fait est bien fait, » comme disait le peuple après la guérison du sourd-muet, et nous avons, dans ce divin modèle, la règle des soins et du zèle avec lesquels nous devons pourvoir en même temps aux nécessités temporelles et spirituelles du prochain.

3086. (Mc. **8** : 10-13; M. **15** : 39-**16** : 1-4.) La multitude ayant été nourrie doublement, et par le pain et par la Parole, Jésus la congédia pour aller de l'autre côté du lac, à Magdala, en passant par Dalmanutha. C'est du moins ainsi qu'il est facile de concilier les deux évangélistes, opposés en apparence. Là, notre Seigneur retrouva les pharisiens, non peut-être ceux qu'il avait laissés à son départ pour la Phénicie, mais des hommes du même parti et animés par conséquent de passions toutes pareilles. Parmi eux, il y avait des saducéens; et, bien qu'habituellement en guerre les uns avec les autres, il ne leur était pas difficile de s'accorder contre Jésus-Christ, leur ennemi commun, parce qu'il est l'ennemi de toute hypocrisie. Ces aveugles, conducteurs d'aveugles, feignirent de n'avoir plus besoin, pour croire en lui, que d'un signe ou d'un miracle venant du ciel, comme la manne, par exemple, ou, que sais-je, comme l'ombre du cadran d'Achaz ou le soleil au temps de Josué. Mais quoi! lorsque, à l'approche du soir, le ciel était rouge, ils savaient bien dire que le lendemain il ferait beau temps, et les grandes choses dont Dieu les rendait témoins ne leur suffisaient pas pour reconnaître que les temps du Messie étaient arrivés! Eh! oui, qu'ils le sentaient au fond de leur âme. C'est pour cela que le Seigneur les accuse d'hypocrisie. Sachant très bien que leur demande ne procédait pas d'un vrai désir de croire, il leur déclare qu'ils n'auront pas d'autre miracle céleste que celui de Jonas le prophète. Puis, sans s'expliquer davantage, il les laisse et s'en va. Avouons qu'ils ne durent guère comprendre une parole si obscure; nous-mêmes peut-être ne l'entendrions-nous pas mieux, si

(**Marc 8** : 13-21 ; 22-26. **Matthieu 16** : 5-12.)

Jésus ne l'avait reproduite plus tard, en exprimant alors toute sa pensée.

3087. (Mc. **8** : 13-21 ; M. **16** : 5-12.) Pour fuir, semble-t-il, des discussions de plus en plus inutiles, le Seigneur repassa le lac avec ses disciples et, chemin faisant, il leur dit : « Gardez-vous avec soin du levain des pharisiens et du levain d'Hérode ou des saducéens. » Comme de coutume, ils ne comprirent pas, et comme de coutume aussi le Seigneur s'expliqua plus nettement. Bien qu'opposées, la doctrine des pharisiens et celle des saducéens étaient également funestes. La pâte que faisait fermenter ce levain empoisonné, était une pâte empoisonnée. Si, dans leur grossier matérialisme, les saducéens niaient les anges et les esprits et le jugement à venir, les pharisiens à leur tour matérialisaient le culte divin et la religion tout entière. Une même hypocrisie d'ailleurs les faisait tenir d'autant plus fortement aux pratiques de la dévotion, qu'ils avaient moins de piété réelle dans le cœur. Or, ni le pharisaïsme ni le saducéisme ne se sont éteints avec les pharisiens et les saducéens d'autrefois, et le Seigneur qui veut la vérité avant tout, la vérité dans le cœur, la vérité sur les lèvres, la vérité dans les actes, nous dit encore aujourd'hui : « Gardez-vous avec soin du levain des pharisiens et des saducéens. »

3088. (Marc **8** : 22-26.) Parvenu à la rive orientale du lac, Jésus dirigea ses pas, pour la seconde fois, du côté de Bethsaïde-Juliade [3062]. Il s'éloignait ainsi des lieux où les pharisiens déployaient contre lui d'autant plus d'activité que ses adhérents s'y trouvaient en plus grand nombre. A Bethsaïde, ou dans quelque bourg voisin, il guérit un aveugle, comme il avait guéri auparavant le sourd-muet [3084]. Mais, tant les œuvres du Seigneur ont de variété au sein d'une ressemblance non moins admirable, cette guérison ne fut pas aussi subite que les précédentes. L'aveugle n'aperçut d'abord les objets que d'une manière confuse, et il fallut un nouvel acte de la puissance divine pour qu'il les vît distinctement. Fidèle à l'explication générale que j'ai donnée des miracles de notre Seigneur, celui-ci me paraît être une image de ce qui se passe ordinairement dans l'illumination ou dans la conversion des pécheurs. Ceux que le Saint-Esprit éclaire n'ont pas, du premier moment, une vue fort nette des doctrines du salut et encore moins de la part qu'ils ont dans les grâces de Dieu ; mais insensiblement leurs âmes s'ouvrent à la pleine lumière et le Seigneur leur montre tout ce qu'il faut qu'elles voient. Grand encouragement pour vous, mes chers lecteurs, si, regardant du cœur vers

(**Luc 9** : 18-27. **Matthieu 16** : 13-28. **Marc 8** : 27-38. **9** : 1.)

Jésus-Christ, vous êtes toutefois dans l'ignorance à plusieurs égards. Regardez encore, regardez toujours, et vous finirez par voir avec netteté tous les objets de la foi.

## CCXXXIV. — Jésus à Césarée de Philippe. La transfiguration.

3089. (L. **9** : 18-27; M. **16** : 13-28; Mc. **8** : 27-38; **9** : 1.) A Bethsaïde-Juliade, Jésus, semble-t-il, se sentait encore trop près des lieux dont il tenait à s'éloigner en ce temps-là. Il poussa donc plus au nord, jusqu'au pied de l'Anti-Liban et de l'Hermon, vallée délicieuse où le Jourdain prend sa source avant d'entrer dans le lac Mérom et où se trouvait l'antique ville de Dan, appelée aussi Panéade et Césarée de Philippe, depuis que le tétrarque Philippe l'avait restaurée et dédiée aux empereurs romains. Seul quelque temps avec ses disciples, Jésus voulut leur fournir l'occasion de réitérer la profession de leur foi (Jean **6** : 68, 69), et il leur demanda, comme s'il l'eût ignoré, ce que les hommes disaient de lui. Après quoi, interpellés sur leur propre sentiment à cet égard, Pierre, le plus prompt à répondre, prononça cette parole remarquable : « Tu es le Christ, le Fils du Dieu vivant » (Matth. **16** : 16). C'était, en peu de mots, reconnaître Jésus dans son essence et dans ses offices, à la fois Fils de Dieu et Fils de l'homme, oint pour être sacrificateur comme Aaron, roi et prophète comme David et Moïse.

3090. Bien que, selon toute apparence, l'apôtre ne sentît pas alors la portée de sa déclaration, Jésus ne laissa pas de le dire bienheureux (17) ; car ce n'était pas la chair et le sang, mais c'était le Père céleste lui-même qui avait mis dans son cœur ce commencement de connaissance et de foi, selon ce qui est exprimé en saint Jean (**1** : 13; **6** : 44). Puis, après l'avoir désigné par son vieux nom et par celui de son père (Bar Jonas veut dire *fils de Jonas*), il lui rappela le nom qu'il lui avait donné plus de deux ans auparavant [2721], et il lui dit : « Tu es Pierre, et sur cette pierre j'édifierai mon assemblée, etc. » Cette prophétie, qui a fait le texte de tant de disputes entre les adhérents du pape et les chrétiens évangéliques de tous les temps, me paraît signifier, dans son sens le plus simple, que Jésus se formerait bientôt une assemblée, ou une société, ou un peuple (en grec, une église) ; que, selon la prophétie de la pêche miraculeuse [2824, 2825], Pierre, devenu prédicateur de la foi en Jésus-Christ, le Fils du Dieu vivant, aurait une part considérable au rassem-

blement de ce peuple ou de cette société; que l'Eglise, qui est l'Eglise de Jésus-Christ et non l'Eglise de Pierre, aurait pour ennemis le grand adversaire Satan, les incrédules de tous les siècles et la mort elle-même, qui lui inflige quelquefois de si rudes plaies; que ces puissances redoutables (le mot *porte* signifie cela) [367], ne pourraient toutefois la renverser; enfin que la Parole au moyen de laquelle Pierre convertirait beaucoup d'âmes serait une parole à la fois divine et terrestre ou autrement, que ce serait par l'inspiration d'en haut qu'il parlerait, en sorte que tout ce qu'il dirait ne manquerait pas d'être ratifié dans le ciel. Nous verrons plus tard comment s'accomplit cette prophétie, et, en même temps, combien peu elle autorise les prétentions de l'Eglise romaine et de ses papes.

3091. (20, 21.) En attendant, Jésus fit comprendre aux disciples que le moment n'était pas encore venu de proclamer la vérité qu'il avait plu au Père de leur révéler. Si, deux ans auparavant, il s'était clairement désigné comme le Christ auprès des Samaritains de Sichar, qui étaient dans une position exceptionnelle et de qui il n'avait pas à craindre les mêmes maux ni les mêmes ovations des Juifs [2786], il n'en avait pas fait ainsi partout. Avant que son assemblée ou son église pût être convoquée et se ranger sous son autorité, il fallait qu'il retournât à Jérusalem, qu'il y souffrît beaucoup de la part des chefs du peuple, qu'il fût mis à mort et qu'il ressuscitât. Jusque-là, personne ne pouvait clairement comprendre en quoi ni comment il était le Christ, le Fils de Dieu; au contraire, on devait nécessairement se former des idées inexactes de sa personne et de sa mission. La preuve même, c'est que les apôtres n'entendirent qu'à moitié la parole de leur Maître. C'était la première fois qu'il leur parlait en termes exprès de ses souffrances et de sa mort. Cela seul attira leur attention. Elle s'y concentra tellement qu'ils ne prirent pas garde aux mots par lesquels Jésus termina sa prophétie : « et se réveiller » ou ressusciter « le troisième jour. »

3092. (22, 23.) Aussi Pierre, le prenant à part, se mit à le censurer. Quelle présomption, mais en même temps quel cœur! « Seigneur, lui dit-il, aie pitié de toi; non, cela ne t'arrivera point; » il est impossible que tu nous quittes, et encore plus que tu t'exposes à une telle mort! Ici, vraiment, Simon ne prononce pas une de ces paroles qui ne pouvaient manquer d'être ratifiées dans le ciel. C'est l'homme qui parle et non l'apôtre; le fils de Jonas et non Pierre; aussi Jésus lui dit-il : « Va-t'en arrière de moi, Satan, tu m'es en scandale, ou en occasion

de chute, parce que tes pensées ne sont pas aux choses de Dieu, mais à celles des hommes.» C'était dire qu'à ce moment Pierre faisait l'œuvre du tentateur et non pas celle de Dieu. Le diable, qui s'était retiré de Jésus pour un temps (Luc 4 : 13), pouvait seul désirer qu'il renonçât à opérer, au moyen de sa mort, le salut des hommes; c'est lui qui parlait par la bouche de Pierre, mettant les affections naturelles de l'apôtre en opposition avec les plans de la grâce divine, tactique qu'il n'a nullement abandonnée. Quand une mère, une épouse, par exemple, détournent leur fils ou leur mari de confesser hautement leur foi, afin de les préserver des dangers auxquels les exposerait leur courage, elles font comme Pierre ou comme Satan si l'on veut, lorsqu'il disait à Jésus : «Aie pitié de toi! cela ne t'arrivera point!» Si donc le manque d'affections naturelles dénote une profonde dégradation, il faut d'un autre côté que l'enfant de Dieu soit continuellement sur ses gardes, pour que ses affections les plus légitimes ne lui deviennent pas des occasions de péché.

3093. (24-28.) Jésus tint alors à ses disciples un discours qui devait reporter leur attention sur eux-mêmes, tout en bouleversant encore plus leurs pensées; car il leur annonça nettement qu'ils auraient à donner, eux aussi, leur vie pour lui. Il n'avait pas dit d'une manière explicite de quel supplice il mourrait, et pourtant il y fait allusion, quand il compare ses disciples à des hommes qui se sont offerts volontairement en sacrifice et qui portent leur croix en marchant sur ses traces. Si l'on tient à sa vie plus qu'à sa foi, l'on est perdu; si, au contraire, on préfère Jésus à tout, même à sa propre vie, on est sauvé. Quoi de plus raisonnable! Le monde entier ne vaut pas notre âme, et la possession du monde entier ne saurait nous dédommager de la privation du salut. Ce Jésus, qui venait de prédire sa mort et sa résurrection, reparaîtra dans la gloire de son Père et des saints anges pour juger les hommes; c'est donc bien lui que nous devons préférer à tout; car le monde entier passera, mais le règne de Jésus-Christ est un règne éternel. Or ce règne éternel, dont rien de ce qui existe maintenant ne donne une véritable idée, a reçu toutefois un commencement d'existence par la prédication de l'Evangile et par la conversion des âmes à Jésus-Christ. L'ensemble des fidèles en forme ici-bas comme le noyau ou le germe; et, si l'on veut une date précise, nous dirons qu'à ce point de vue Jésus-Christ est entré dans son règne, lorsqu'il monta au ciel après sa résurrection, et que de là, il envoya le Saint-Esprit sur ses disciples. C'est probablement de ce fait qu'il tou-

(**Luc 9** : 28-36. **Matthieu 17** : 1-9. **Marc 9** : 2-10.)

che un mot en terminant son discours, à moins qu'on ne préfère y voir quelque allusion à sa transfiguration prochaine; parole, dans tous les cas, bien propre à consoler et à fortifier ses disciples. Non-seulement eux, mais encore tous les Israélites qui se trouvaient sous le regard de Jésus en cet instant; car on voit par saint Marc que notre Seigneur avait appelé la foule auprès de lui. Les apôtres ne devaient donc pas constituer à eux seuls le royaume de Dieu; ce n'étaient pas eux seuls non plus qui auraient à se charger de leur croix pour suivre Jésus.

3094. L. 9 : 28-36; M. 17 : 1-9; Mc. 9 : 2-10). Quelques jours après (Luc dit environ huit jours, Matthieu et Marc disent six, ce qui est parfaitement concordant), Jésus ayant pris avec lui les trois disciples dont il avait déjà fait une fois ses témoins de choix [3016], les conduisit sur une haute montagne où il fut transfiguré, nous disent les évangélistes, c'est-à-dire comme métamorphosé. C'était bien toujours le même être, la même humanité du Fils de Dieu, mais dans une gloire et une majesté qui la rendaient tout autre; c'était le Seigneur, tel probablement que Moïse l'avait vu sur le Sinaï, Esaïe dans le temple, Ezéchiel et Daniel sur les nuées du ciel. Quant à la montagne qui fut le théâtre de cette merveille, la tradition désigne le mont Thabor [1160, 2969]. La distance qui le sépare de Césarée de Philippe n'est pas telle, en effet, que Jésus n'ait pu la franchir aisément en six jours. Du reste, ceci est peu important. Ce qui l'est davantage, c'est le miracle lui-même.

3095. On comprend qu'après avoir parlé aux apôtres de sa gloire à venir, notre Seigneur ait voulu faire pressentir ce qu'elle serait. Cette gloire eut pour signe la lumière resplendissante dont il fut tout à coup revêtu, le témoignage que lui rendirent à ce moment Moïse et Elie, deux des plus grands personnages de l'Ancien Testament, surtout le témoignage bien plus décisif qu'il reçut de la bouche du Père, en confirmation de celui qui avait accompagné son baptême. Cette dernière circonstance, non plus que la lumière au sein de laquelle apparut notre Seigneur, n'a pas besoin de commentaires; arrêtons-nous donc simplement à l'apparition de Moïse et d'Elie.

3096. Il est difficile de savoir à quelles marques les apôtres reconnurent deux hommes qu'ils n'avaient jamais vus, dont il n'existait certainement aucun portrait, et qui d'ailleurs étaient là dans leurs corps glorifiés. Ils le devinèrent parce que Dieu le voulut, et cela se fit, comme, au dernier jour, il nous sera donné de recon-

(**Luc 9** : 28-36. **Matthieu 17** : 1-9. **Marc 9** : 2-10.)

naître ceux avec qui le Seigneur voudra que nous entrions en relations spirituelles : nous les reconnaîtrons, sans les avoir jamais connus.

3097. Quant au choix que le Seigneur fit de ces deux personnages pour servir à son triomphe anticipé, il n'est pas trop difficile d'en concevoir la raison. Non-seulement il y avait eu dans leur départ de ce monde, à l'un et à l'autre, quelque chose d'extraordinaire qui préparait à l'idée de les revoir, si Dieu le voulait [1041, 1968]; non-seulement Moïse avait annoncé que le Messie serait un prophète semblable à lui (Deut. **18** : 18, 19), et Malachie, parlant tout à la fois de Moïse et d'Elie, avait fait, au sujet de ce dernier, une prédiction qui, accomplie en Jean-Baptiste, promettait néanmoins un accomplissement plus littéral (Mal. **4** : 5) ; mais encore Moïse fut toujours envisagé comme la personnification de la *Loi* et Elie comme celle des *prophètes* ses successeurs; en sorte que, dans la personne de Moïse et d'Elie, ce sont la loi et les prophètes qui rendent ici témoignage à Jésus-Christ, ou, si l'on veut, qui donnent la main à l'Evangile.

3098. Or, ce qui est particulièrement digne de remarque, c'est le sujet sur lequel roula leur entretien. Ils parlaient de la mort que Jésus allait subir à Jérusalem. En cela, pour bien dire, ils ne faisaient pas autre chose que ce que fait tout l'Ancien Testament par les types de la loi et par les oracles des prophètes; mais cette coïncidence même place hors de doute que les souffrances et la mort du Fils de Dieu ne soient le grand but de son incarnation, l'œuvre par excellence qu'il est venu accomplir ici-bas selon les Ecritures, le point de rencontre de l'ancienne économie et de la nouvelle, le fondement de nos espérances comme de celles qui soutinrent et consolèrent, pendant leur vie, un Elie et un Moïse. Cette mort de notre Sauveur, n'est-ce pas d'ailleurs ce qui a fait éternellement le sujet des mystérieux entretiens du Père et du Fils, dans la communion de l'Esprit-Saint?

3099. Quant à ce qui nous est dit du sommeil des disciples et des paroles dépourvues de sens qu'ils prononcèrent à leur réveil, il n'y a rien là qui doive nous étonner. Cela s'explique par leur fatigue et par leurs préoccupations terrestres. Pour saisir à l'instant la signification de ce magnifique spectacle, il eût fallu qu'ils fussent eux-mêmes dans la gloire, ou pour le moins dans une foi très avancée. Toujours est-il que, malgré les belles confessions qu'ils avaient faites précédemment, ils ne représentent pas trop mal tant de gens, même parmi les plus pieux, qui ont une peine infinie à croire aux grandes réalités du monde

(**Marc 9** : 11-13; 14-29. **Matthieu 17** : 10-13; 14-21. **Luc 9** : 37-43.)
invisible, ou qui, se laissant aller à leurs impressions, raisonnent avec peu de bon sens sur les choses de Dieu.

3100. Enfin, l'on s'explique aussi pourquoi notre Seigneur ne voulut pas que les disciples racontassent ce dont ils avaient été les témoins, si ce n'est lorsqu'il se serait relevé d'entre les morts. Jusque-là, nul n'aurait ajouté foi à leur parole, pas même peut-être leurs collègues. Ils gardèrent donc le silence. Ils le firent d'autant plus volontiers, que toute cette vision demeurait passablement obscure dans leur esprit, et qu'ils ne s'en rendirent compte que plus tard. Il y avait entre autres une parole qui les embarrassait. Jésus avait dit : « Jusqu'à ce que le Fils de l'homme soit relevé d'entre les morts, » et ils se demandaient ce que cela voulait dire. Comme ils ne croyaient pas à la possibilité de son trépas, ils ne pouvaient comprendre ce qu'il entendait par ce relèvement. Qui était d'ailleurs ce *Fils de l'homme?* Devait-on entendre par là le même être que la voix céleste venait de proclamer le FILS DE DIEU? Pour nous, la réponse est fort simple; mais avouons qu'il ne pouvait en être de même pour les disciples.

3101. (Mc. 9 : 11-13; M. 17 : 10-13). Il y eut là cependant une chose dont ils crurent avoir l'intelligence. On attendait généralement Elie avant la délivrance d'Israël, et, dans la pensée que cette attente venait de se réaliser sous leurs yeux, ils firent à leur maître une question à laquelle ils ne supposaient pas qu'on pût répondre de deux manières. Mais non, il n'y avait, en ce moment, pas d'autre Elie à espérer que celui qui, après avoir annoncé le règne de Dieu, était tombé sous les coups des impies. Les disciples comprirent que Jésus leur parlait de Jean-Baptiste. Il leur avait dit précédemment la même chose, mais ils l'avaient oubliée (Matth. 11 : 14).

### CCXXXV. — Puissance de la foi; les didrachmes; l'humilité; la tolérance; troisième voyage à Jérusalem.

3102. (L. 9 : 37-43; M. 17 : 14-21; Mc. 9 : 14-29.) La guérison d'un démoniaque, qui eut lieu le jour suivant et qui nous est racontée avec beaucoup de détails par saint Marc, fournit matière à plusieurs observations fort importantes, tout en offrant des difficultés semblables à celles que nous avons résolues précédemment, autant du moins que la chose est possible [2812]. D'abord, on voit que les disciples, demeurés seuls pendant que Jésus était allé sur la mon-

(**Luc 9** ; 44, 45. **Matthieu 17** : 22, 23. **Marc 9** : 30-32.)

tagne avec Pierre, Jacques et Jean, n'avaient pu opérer cette guérison, preuve qu'il ne leur suffisait pas de vouloir faire des miracles pour y réussir. Ensuite, on peut, des paroles sévères du Seigneur, conclure la raison de leur impuissance : la foi leur avait manqué. Mais le reproche de Jésus est encore plus empreint de douleur que de sévérité. Ce ne fut pas une de ses moindres souffrances, en effet, que d'avoir à vivre dans la société habituelle de pécheurs ignorants, égoïstes, incrédules. Personne assurément ne saurait mettre en doute la longanimité du Sauveur; mais à quelle rude épreuve ne fut-elle pas exposée pendant la durée de sa vie ici-bas! Au surplus, ce fut de tout temps le plus admirable des mystères de Dieu, que cette patience incompréhensible avec laquelle il supporte notre race incrédule et pervertie.

3103. Il n'est pas moins intéressant d'étudier les paroles qu'échangèrent notre Seigneur et le père du malade. Jésus lui ayant fait raconter le triste état dans lequel l'enfant se trouvait dès son bas âge (hélas! l'homme naît dans le mal!), avec quelle naïve douleur ce pauvre père ne dit-il pas à Jésus : « Si tu peux quelque chose, aie compassion de nous et sois-nous en aide! » Sur quoi le Seigneur : « Si tu peux! crois, dit-il; tout est possible pour celui qui croit. » Et ce malheureux père, poussant des cris de détresse et fondant en larmes, prononça cette belle prière : « Je crois, Seigneur; subviens à mon incrédulité! » Par où nous voyons toujours plus évidemment que la prière de la foi est le canal de toutes les grâces de Dieu; que si nous sentons l'infirmité de notre foi nous devons solliciter le Seigneur d'y suppléer et de la fortifier par sa miséricorde, et, en définitive, que tout a sa source dans la grâce de Dieu.

3104. Pour ce qui est de la réponse que Jésus fit à ses disciples, quand ils lui demandèrent par quelle cause ils n'avaient pu chasser ce démon, il est permis d'avouer que, vu la nature du sujet, on n'en comprend pas le sens profond, mais nécessairement obscur. Concluons toutefois de la parole du Seigneur qu'un grain seulement de vraie foi peut de grandes choses, et que la prière et le jeûne sont les deux moyens par excellence pour obtenir sur nous-mêmes et sur nos frères pécheurs, des résultats spirituels auxquels nous aspirerions vainement sans de tels secours.

3105. (L. 9 : 44, 45; M. 17 : 22, 23; Mc. 9 : 30-32.) Pendant que la foule était dans l'admiration de ce nouveau miracle, Jésus répéta pour la seconde fois à ses disciples réunis, qu'il serait mis à mort

(**Matthieu 17** : 24-27. **18** : 1-5. **Marc 9** : 33; 33-37. **Luc 9** : 46-48.)

après beaucoup de souffrances, et qu'il se relèverait le troisième jour (Matth. **16** : 20, 21). Il voulait, on le conçoit, que cet événement ne les prît pas au dépourvu; mais ces pauvres disciples s'obstinaient à ne pas comprendre, ou plutôt, semblables à tant de gens, ils comprenaient assez pour craindre de comprendre mieux. Leur cœur leur disait d'interroger le Seigneur, et c'était l'Esprit-Saint qui leur donnait cette bonne pensée; mais ce même cœur, cédant à des impulsions charnelles, répugnait à recevoir de plus vives lumières sur un sujet qui leur déplaisait. N'est-il pas vrai que cette manière d'agir ne se retrouve que trop souvent? Mais malheur à qui s'y obstine.

3106. (M. **17** : 24-27; Mc. **9** : 33). Notre Seigneur était alors en route pour Capernaüm, et, comme il arrivait dans cette ville, on réclama de lui les didrachmes, ou le sicle (environ un franc et demi) qu'on payait pour l'entretien du temple. Cet impôt était facultatif, comme tous ceux qui servaient à des usages purement religieux [1017]; la question même des percepteurs en est la preuve. Or, que les Israélites payassent ce tribut à Jéhovah leur roi, rien de plus juste; mais Jésus, le Fils de Dieu, en était naturellement exempt. C'est ce qu'il dit à Pierre, en prenant pour point de comparaison les impôts que les Romains faisaient peser sur les provinces conquises. Toutefois, comme les collecteurs des didrachmes n'auraient pas compris son motif, et pour éviter tout scandale, il jugea convenable de les satisfaire. Mais, soit que Jésus fût à ce moment dans le plus entier dénûment, soit qu'il voulût montrer que l'or et l'argent lui appartiennent (Aggée **2** : 8) et que par conséquent sa pauvreté était toute volontaire, il se procura par un miracle la pièce de monnaie dont il avait besoin pour son disciple et pour lui.

3107. (L. **9** : 46-48; M. **18** : 1-5; Mc. **9** : 33-37.) Lorsqu'ils furent arrivés dans la maison, nous dit Marc, par quoi il faut entendre sans doute celle où ils logeaient habituellement [2815], le Seigneur interrogea ses disciples sur ce qui avait fait le sujet de leur entretien, et d'un entretien assez vif, pendant qu'ils étaient en route. Etonnés, et ils n'auraient pas dû l'être, étonnés, dis-je, de ce que Jésus n'ignorait pas ce qui se passait entre eux de plus intime et les pensées mêmes de leur cœur, ils n'osaient pas d'abord le lui avouer; tout comme nous hésitons à confesser nos péchés à Dieu, quoique nous ne puissions pas douter qu'il ne les connaisse. Du reste, les disciples avaient sujet d'être honteux; car au moment où Jésus venait de leur prédire ses souffrances et sa mort ignominieuse, ne s'étaient-ils pas

(**Luc 9** : 49, 50. **Marc 9** : 38-40.)

avisés de se disputer sur lequel d'entre eux était le plus grand, preuve assez positive, pour le dire en passant, que Pierre n'était pas envisagé par eux comme leur prince, ainsi que le prétendent les romanistes.

3108. Notre Seigneur, qui faisait tout servir à l'instruction de ses disciples, encore si ignorants et si charnels, profita de l'occasion pour leur donner une grande leçon d'humilité. Après leur avoir dit : « Si quelqu'un veut être le premier, qu'il soit le dernier de tous et même le serviteur de tous, » il prit un petit enfant qu'il mit au milieu d'eux; puis l'ayant embrassé, il leur dit : « Si vous n'êtes changés et si vous ne devenez comme les petits enfants, vous n'entrerez pas dans le royaume des cieux. Ainsi, quiconque s'abaisse comme ce petit enfant, celui-là est le plus grand dans le royaume des cieux, et quiconque reçoit un tel petit enfant en mon nom, me reçoit. » Or tout ceci revient à dire que la vraie grandeur de l'homme c'est de sentir sa faiblesse et son néant, de se dévouer au service d'autrui et de le faire pour l'amour de Jésus. Quant au sens de cette parole : « Si vous n'êtes changés, etc., » je me réfère à l'entretien de notre Seigneur avec Nicodème [2752], et j'invite mes lecteurs à examiner leur état devant Dieu, afin de savoir s'ils ont subi ce changement sans lequel le royaume des cieux leur demeurerait fermé pour toujours.

3109. (L. 9 : 49, 50; Mc. 9 : 38-40.) A cette leçon d'humilité et de charité tout à la fois, l'apôtre Jean, lui qui, plus tard, suivit si bien les traces de son Maître, répondit en racontant un fait qui s'était probablement passé durant leur première mission et où les apôtres n'avaient déployé ni beaucoup de charité, ni beaucoup d'humilité. Ce fait, il le raconte, non pour s'en humilier, mais plutôt pour se justifier. C'est comme s'il avait dit : « Toujours est-il que nous sommes tes envoyés et comme tels au-dessus de tous. Ainsi, quand nous rencontrâmes cet homme qui chassait les démons en ton nom, quoiqu'il ne *nous* suivît pas, et quand nous lui défendîmes de continuer, n'étions-nous pas dans notre droit? » Mais voyez la réponse du Seigneur. Qu'elle est belle, et comme elle remet en mémoire une réponse toute semblable de Moïse! (Nombr. 11 : 29.) Comme elle nous prêche la tolérance envers tous ceux qui ont à cœur d'amener des âmes à Jésus-Christ, lors même qu'ils ne le feraient pas avec nous et à notre manière! Car il en est d'eux ainsi que de l'homme auquel les apôtres avaient voulu s'opposer. S'il n'était point au nombre des douze, cela ne voulait pas dire qu'il n'eût pas reçu de Jésus même sa vocation;

(**Marc** : **9** : 41, 42; 43-51. **Matthieu 10** : 42. **18** : 6; 8, 9; 10-14.)

mais, à ce qu'il paraît, sans que les apôtres en eussent connaissance.

3110. (Mc. **9** : 41, 42; M. **10** : 42; **18** : 6.) Interrompu par le récit que lui avait fait Jean, le Seigneur reprend ce qu'il disait à ses disciples au sujet de leurs disputes et de leurs prétentions. Il les avait remis à leur place en leur proposant pour exemple un petit enfant; maintenant, il va leur faire voir combien cette place est excellente. Plus ils se montreront petits et humbles, plus ils seront sur la terre une vivante représentation de leur Maître; plus ils s'effaceront, plus on ne verra que lui en eux, de telle sorte que le bien qu'on leur fera, sera comme si on l'avait fait à lui-même. Au reste, ce n'est pas peu de chose, devant le Seigneur, qu'un de ces petits qui croient en lui; ce qui le prouve, c'est sa menace contre ceux qui leur auront été en scandale. Si donc nous savons maintenant où est la vraie grandeur, nous savons aussi quel est un des plus grands crimes qu'on puisse commettre.

3111. (Mc. **9** : 43-51; M. **18** : 8, 9.) Mais pour ne pas le commettre ce crime, pour ne pas scandaliser autrui, c'est-à-dire pour ne lui être pas une occasion de chute, il faut que nous évitions tout ce qui peut nous scandaliser, ou nous faire tomber nous-mêmes dans le péché. C'est ce que nous dit le Seigneur, qui reproduit à cette occasion quelques sentences de son sermon de la Montagne [2853, 2854]. A en juger cependant par le récit de Marc, il n'y eut pas simple répétition. Ici, notre Seigneur parle du malheur des réprouvés sous la terrible image d'un ver qui ne meurt point et d'un feu qui ne s'éteint point; après quoi, il prononce des paroles fort graves, mais sur le sens desquelles il est difficile de se former une opinion arrêtée. De même, semble-t-il avoir voulu dire, que, sous la loi, toute victime était salée de sel (Lév. **2** : 13), le feu salera tout homme : le feu de la géhenne, ceux qui reculent devant les sacrifices auxquels la foi les appelle, et le feu même de ces sacrifices, savoir, les saintes douleurs de l'épreuve et des tribulations, ceux qui obéissent aux appels de la grâce. C'est-à-dire qu'il y a pour tous un feu; un feu consumant pour les uns, un feu sanctifiant pour les autres. Ce feu, quoi qu'il en soit, est un sel qui conserve; en sorte que, et la douleur, et la paix seront d'éternelle durée. Et puis, ayons dans nos cœurs abondance du sel de la grâce de Dieu et nous vivrons en paix avec nos frères; c'est ainsi que notre Seigneur termina les instructions auxquelles avaient donné lieu les disputes de ses disciples.

3112. (Matth. **18** : 10-14.) Mais non, sa pensée se reporte encore

(**Jean 7** : 1-10. **Luc 9** : 51; 52-56.)

avec complaisance sur ces petits dont il avait déjà beaucoup parlé : « Ne les méprisez pas, nous dit-il, car les anges s'intéressent à eux; ce sont eux que je suis venu chercher et sauver; eux, perdus comme vous, perdus comme tout le monde, s'il n'avaient pas un puissant et miséricordieux Sauveur. Celui-ci est semblable à un riche berger qui court après une de ses brebis égarée et il a une grande joie lorsqu'il la retrouve. » Quel n'est donc pas le prix d'une âme, d'une seule âme, de l'âme du plus chétif! Si elle périt, c'est pour avoir refusé d'entrer dans les pensées de la grâce du Père céleste à son égard. Oh! mes chers lecteurs, nous avons déjà lu dans les Evangiles bien des choses propres à diriger nos cœurs vers l'amour de Jésus; mais avouez, vous surtout jeunes gens, vous pauvres, vous petits, vous malheureux et méprisés peut-être, vous qui lisez ces pages, avouez que jamais le Seigneur ne vous a dit d'une manière plus touchante tout ce qu'il est pour vous. Ecoutez donc sa voix, et votre âme vivra.

3113. (J. **7** : 1-10; L. **9** : 51.) Six mois environ s'étant écoulés depuis le premier miracle des pains, temps pendant lequel notre Seigneur ne cessa de parcourir la Galilée, la fête des Tabernacles arriva, et, comme il n'était point monté à Jérusalem pour la Pâque, on s'attendait généralement qu'il y irait à cette époque. Ses propres frères, les gens de sa famille, l'y sollicitaient; car la plupart ne croyaient point en lui et ils avaient honte de son apparente timidité. Il leur semblait que puisqu'ils y allaient bien, il pouvait en faire autant. Mais, par cela même qu'ils ne croyaient pas, ils ne sentaient pas la différence essentielle qui existait entre lui et eux; entre lui, dont la seule présence offusquait les méchants, et eux, hélas! qui étaient encore tout de ce monde. Cependant, lorsqu'ils furent partis avec les gens de la contrée qui se rendaient à la fête, Jésus, dit Luc, affermit sa face et se mit en route de son côté, mais toujours à leur insu. Or, avant de le suivre dans la ville où l'attendaient tant de contradictions, prélude de tant de souffrances, étudions le petit nombre d'événements qui marquèrent ce troisième voyage à Jérusalem.

3114. (Luc **9** : 52-56.) Passant près d'une bourgade des Samaritains, Jésus y fit demander l'hospitalité; mais parce qu'il marchait du côté de Jérusalem, on refusa de le recevoir. Indignés de ce refus, Jacques et Jean, qui peut-être avaient fait le message et, peut-être encore, s'étaient permis de menacer les Samaritains de la colère de leur Maître, lui demandèrent l'autorisation et la puissance de faire descendre le feu du ciel sur cette ville. Pourquoi sur cette ville, plutôt que sur

(**Luc 9** : 57-60; 61, 62. **Matthieu 8** : 19-22.)

tant d'Israélites de la Galilée qui rejetaient Jésus? Ah! sans doute, parce qu'elle était habitée par des Samaritains, contre lesquels il semblait aux apôtres que le Seigneur ne pouvait se montrer trop sévère! [2778.] Mais Jésus réprima leur intolérance, en établissant d'une manière solennelle et pour faire règle à toujours, que c'est méconnaître l'esprit de l'Evangile que de sévir contre ceux qui le repoussent. Il est vrai qu'Elie avait appelé le feu du ciel sur des hommes méchants (2 Rois 1 : 10-12); mais il vivait à une époque où régnait la loi avec ses terribles menaces, et il avait charge de magnifier les jugements de l'Eternel; tandis que le Seigneur est venu sauver les hommes, raison pour laquelle ses miracles furent généralement des manifestations de miséricorde. Que faut-il donc faire lorsque les gens s'obstinent à rejeter l'Evangile? Non pas les contraindre à le recevoir, mais le porter à d'autres : Jésus et ses disciples allèrent dans une autre bourgade (56.)

3115. (L. 9 : 57-60; M. 8 : 19-22.) Comme ils continuaient leur voyage, un scribe s'offrit à suivre Jésus, ou, comme nous dirions, il lui demanda de l'attacher à sa fortune; mais le Seigneur, sachant probablement que cet homme n'était mû que par des motifs charnels, lui fit sentir qu'il n'avait aucun avantage terrestre à lui promettre, attendu que, ne possédant rien il n'avait non plus rien à donner. Après l'avoir éconduit de la sorte, notre Seigneur jugea bon de faire à un autre homme la grâce que le scribe semblait avoir sollicitée. Et cependant cet autre homme ne paraissait pas trop s'en soucier, car il cherchait, comme tant de gens, des prétextes d'ajournement; mais Jésus vainquit sa résistance en lui faisant comprendre que tout doit céder devant ses ordres. Un troisième enfin manifesta l'intention de suivre le Seigneur, pourvu qu'il lui fût permis auparavant de revoir sa famille et de passer quelque temps avec elle; sur quoi Jésus lui déclara par une parabole, que, son cœur étant au monde, plus sans doute qu'il ne le croyait, il n'y avait pas de place pour lui dans le royaume de Dieu (Luc 9 : 61, 62).

3116. Ce triple récit de circonstances qui peut-être ne se succédèrent pas coup sur coup, mais qui sont groupées en cet endroit par saint Luc à cause de leur parfaite analogie, nous montre avec évidence que le Seigneur est souverainement libre dans l'exercice de sa grâce; qu'il appelle qui il lui plaît et qu'il fait miséricorde à qui il veut; que les intérêts de ce siècle, même les plus légitimes, peuvent mettre une barrière entre nous et lui, et qu'il est certains cas où nous

devons les lui sacrifier complétement, car Dieu ne sait pas gré de cœurs partagés (Matth. 6 : 24). Remarquons après cela par quelle expression notre Seigneur caractérise les mondains : ce sont des morts. Oui, quant aux choses spirituelles, ils sont morts et incapables de se rendre à eux-mêmes la vie [97]. Enfin, sans qu'il faille conclure des paroles de Jésus que le chrétien est tenu de fermer son cœur aux affections de famille, soyons sûrs que ces affections doivent, le cas échéant, céder le pas aux intérêts de notre âme et à l'amour que le Seigneur attend de nous. C'est une instruction qui s'est déjà présentée [3092], et que nous retrouverons plus tard, avec des développements importants.

—

## DEPUIS LA FÊTE DES TABERNACLES, JUSQU'A CELLE DE LA DÉDICACE.

### CCXXXVI. — Jésus à la fête des Tabernacles. Nicodème.

3117. (Jean 7 : 11-13.) Notre Seigneur marchait donc du côté de Jérusalem, pour la dernière fête des Tabernacles à laquelle il dût assister. Il était seul avec les apôtres, sauf les quelques disciples recrutés en route. La solennité avait commencé; les jours se passaient et Jésus, attendu par plusieurs, ne venait toujours point. Les Juifs cependant s'entretenaient beaucoup de lui, et, comme il arrive en pareil cas, on portait sur sa personne les jugements les plus contradictoires. Les uns le tenaient pour un homme de bien; d'autres ne voulaient voir en lui qu'un imposteur. Ses amis n'osaient pas dire tout haut ce qu'ils pensaient, tant il y avait d'irritation chez les adversaires.

3118. (14-17.) La moitié de la semaine consacrée à la fête [910] s'étant écoulée de la sorte, Jésus enfin paraît et monte au lieu sacré pour s'y faire voir et entendre. Nul ne pouvait contester la sagesse ni l'excellence de ses enseignements, mais on se rabattait sur ce qu'il y avait d'étrange à entendre parler de la sorte un homme qu'on n'avait pas vu à l'école des docteurs. Sur quoi Jésus leur déclara qu'en effet sa doctrine était d'une tout autre origine. Il ne l'avait apprise d'aucun scribe, d'aucun savant; bien plus, à ne voir en lui que l'homme, on pouvait dire que sa doctrine ne venait pas de lui. Elle venait directement de Dieu, comme il était facile de s'en convaincre, moyennant certaines dispositions intérieures qui, hélas! n'étaient pas communes

(**Jean 7** : 18, 19; 20; 21-24.)

parmi les auditeurs de Jésus. Car, s'il est vrai que « les hommes aiment les ténèbres, parce que leurs œuvres sont mauvaises » (**3** : 19), il est tout aussi vrai que ceux qui acceptent réellement la volonté de Dieu, reconnaissent sans peine que notre Seigneur Jésus-Christ en est le suprême révélateur et la vivante expression.

3119. (18, 19.) « Voyez d'ailleurs, ajoute Jésus, voyez si je ne suis pas digne de confiance. Peut-on m'accuser de vues intéressées, moi qui vis dans la pauvreté, moi qui refuse les honneurs qu'on voudrait me décerner (**6** : 15), moi, qui n'ai en vue que de préparer des âmes à la vie éternelle, pour la gloire de Celui qui m'a envoyé? Avant moi déjà, vous eûtes un grand prophète dans la personne de Moïse, par qui l'Eternel votre Dieu vous donna la loi; mais cette loi, il n'est aucun de vous qui ne la viole... » Ces derniers mots contenaient un reproche d'autant plus grave qu'il était fondé, et le Seigneur y ajouta sur le champ une accusation plus spéciale et non moins sérieuse : « D'où vient, dit-il, que vous cherchez à me faire mourir? » Pour s'expliquer l'incohérence apparente d'un discours d'ailleurs si frappant, il faut penser, ou bien que l'évangéliste ne l'a donné qu'en abrégé, ou, simplement, que notre Seigneur, parlant à une foule immense et plus ou moins tumultueuse, ne prononça pas un discours proprement dit, mais quelques phrases entrecoupées, dans lesquelles il résumait sa pensée, ne pouvant, vu la difficulté de la situation, l'exposer plus amplement.

3120. (20.) Rien n'irrite un pécheur comme de se voir démasqué. Cette foule savait bien qu'on avait juré la mort de Jésus, que sa perte avait été résolue une année auparavant, dans cette même ville de Jérusalem (**5** : 16); tout le monde se le disait à l'oreille, amis et ennemis; mais il est des choses dont tout le monde convient, qui se trament sans trop de gêne et qu'on a honte d'énoncer à haute voix : « Qui est-ce qui cherche à te faire mourir? » crient mille bouches du sein de la foule, « tu as un démon. » O mes lecteurs, quelle horrible insulte! quel blasphème! Y a-t-il un seul disciple de Jésus-Christ qui puisse, après cela, se plaindre des outrages auxquels l'expose sa foi?

3121. (21-24.) Le prétexte de cette haine, on s'en souvient, était la guérison de l'impotent de Béthesda (**5** : 5-16). Ce miracle avait laissé un souvenir d'autant plus vif que le Seigneur ne s'était pas remontré dès lors à Jérusalem. Il entra donc tout à fait dans la pensée des Juifs en revenant sur ce qui s'était passé quelques mois auparavant, et nous

(Jean 7 : 25-30; 31-36; 37-39.)

le voyons justifier de nouveau sa conduite par des arguments pleins de force et de simplicité. Si, au lieu de juger l'individu, les adversaires avaient consenti à juger l'œuvre, il eût été impossible qu'ils n'en eussent reconnu l'innocence. Il devenait donc de plus en plus évident qu'au fond, loin de condamner l'œuvre, ils l'admiraient; mais ils en voulaient à celui qui l'avait faite : il fallait le trouver coupable, et c'est pour cela qu'ils s'arrêtaient aux apparences.

3122. (25-30.) Les complots sanguinaires des magistrats étaient si bien connus à Jérusalem, qu'on s'étonnait de voir Jésus aller et venir librement par la ville et enseigner publiquement dans le saint lieu. Est-ce donc que les principaux du peuple l'auraient enfin reconnu pour le Christ? « Cependant, disaient quelques-uns dans leurs préjugés, quand le Christ viendra, nul ne saura d'où il vient; » et Jésus continuait de crier à la multitude : « En effet, à ne voir en moi qu'un homme, vous savez qui je suis et d'où je viens; mais ma mission et mon mandat, voilà ce que vous vous refusez à recevoir. Je suis envoyé par celui qui est le Véritable ; j'ai charge de vous le faire connaître, et il ne dit par ma bouche que des choses parfaitement certaines. » Ces paroles ne désarmèrent point les ennemis du Seigneur; ils persévéraient à vouloir sa mort; mais, par une volonté supérieure à leur rage, ils ne mirent pas les mains sur lui, vu que son heure n'était pas encore venue; son heure, c'est-à-dire l'heure qu'il avait choisie et déterminée d'avance [2728, 2730].

3123. (31-36.) Inquiets, cependant, de voir que beaucoup de gens parmi le peuple se tournaient de son côté, les pharisiens et les principaux sacrificateurs envoyèrent des sergents pour le saisir. Ils leur avaient sans doute donné pour instruction de guetter le moment favorable. Mais Jésus, à qui rien n'est caché, ne laissait pas de poursuivre le cours de ses prédications. Il annonçait donc aux Juifs que bientôt il ne serait plus avec eux, qu'il retournerait auprès de Celui qui l'avait envoyé, les suppliant de se donner à lui tout de suite, car s'ils demeuraient dans l'incrédulité, il leur serait impossible d'aller où il allait lui-même. Ces paroles cachaient un sens spirituel que méconnurent les auditeurs de Jésus, si ignorants et si charnels. Ils pensèrent qu'il les menaçait de porter ses bienfaits aux Israélites dispersés dans l'Asie Mineure, en Egypte et en Europe. On les appelait les Grecs, parce qu'ils parlaient généralement la langue grecque, et c'est ainsi d'ailleurs qu'on les distinguait des Juifs de Palestine.

3124. (37-39.) Le septième jour de la fête des Tabernacles, jour

(**Jean 7** : 39; 40-44.)

de sabbat, il y avait une sainte convocation. Notre Seigneur saisit la circonstance pour adresser au peuple une de ces proclamations magnifiques, qui, après dix-huit siècles, n'ont rien perdu de leur importance ni de leur solennité, et que les anciens prophètes avaient annoncées comme devant sortir de la bouche du Christ (Es. **55** : 1). « Si quelqu'un a soif, qu'il vienne à moi et qu'il boive ! » Puis il explique encore une fois ce que c'est qu'aller à lui : « Si quelqu'un croit en moi, » ajoute-t-il [3071]. O vous donc qui lisez ces lignes, si votre âme éprouve quelque besoin de bonheur, de pardon, de sainteté, regardez à Jésus; croyez en lui, allez vers lui, et non-seulement il vous donnera tout ce qui vous est nécessaire pour vous-mêmes, mais encore il fera de vous une source de bonheur, d'édification et de grâce pour votre prochain. Ecoutez sa promesse : « Si quelqu'un croit en moi, des fleuves d'eau vive couleront de lui, comme le disaient déjà les anciennes Ecritures » (Es. **58** : 11; Prov. **18** : 4).

3125. (39.) Sous cette image, il est donc question des grâces que le Saint-Esprit répand et communique de proche en proche, comme une eau qui, de sa source, s'épanche en divers lieux. Ni au moment où Jésus parlait, ni dans aucun des temps antérieurs, l'Esprit-Saint n'avait été versé sur la terre de la manière qu'il le fut après la résurrection de Jésus-Christ. C'est l'observation que fait l'évangéliste, et l'importance en est très grande. Le Saint-Esprit est éternel et éternellement le même, dans l'unité avec le Père et le Fils, mais l'Esprit-Saint où l'Esprit de grâce et de sainteté tout à la fois, cet Esprit, en tant qu'il se communique à de pauvres pécheurs pour les relever, cet Esprit a eu ses temps et ses heures. De même que nous voyons le Fils déjà révélé dans l'Ancien Testament, et que, toutefois, il ne l'a été pleinement que lors de sa venue en chair; ainsi, bien que l'Ancien Testament rende témoignage au Saint-Esprit, c'est seulement depuis la glorification de notre Sauveur qu'il s'est manifesté dans sa plénitude, et que les effusions d'Esprit-Saint se sont faites avec une extrême abondance.

3126. (40-44.) Après cette proclamation du Seigneur, il y eut un mouvement parmi la foule. Oui, en vérité, disaient les uns, celui-ci est le grand prophète annoncé par Moïse (Deut. **18** : 18); d'autres, ne comprenant pas que le prophète annoncé par Moïse n'était autre que le Christ, le Messie [2717], ou disant la même chose sous des termes différents, déclaraient reconnaître en lui le Christ. Puis il en venait qui rappelaient que le Messie sortirait de Bethléhem et non de Nazareth.

(**Jean 7** : 45-53. **8** : 1-11.)

Au milieu de ces propos divers, les plus acharnés parlaient toujours de mettre la main sur lui; mais, chez les hommes, même les plus méchants, les actes ne suivent pas toujours les menaces.

3127. (45-53.) Au lieu de cela, les sergents revinrent seuls aux sacrificateurs et aux pharisiens, et, interpellés sur la raison qui les avait empêchés de saisir Jésus, ils déclarèrent que jamais personne n'avait parlé comme lui. En sorte qu'ils avaient été contenus par le respect et par l'admiration! Il est facile de concevoir la colère des chefs du peuple à l'ouïe de ce rapport. Ils reprochent aux sergents de s'être laissé séduire, ils s'indignent qu'on puisse approuver un individu que des magistrats haut placés et de saints personnages, tels que les pharisiens, estimaient criminel; ils s'exaspèrent contre cette foule qui ne veut pas entrer dans leurs vues, populace ignorante et exécrable à leur avis!!! Se trouvera-t-il quelqu'un dans le conseil qui ose prendre la défense du Saint et du Juste? Oui; parmi ces magistrats iniques et ces docteurs aveugles, on comptait Nicodème, celui qui, deux ans et demi auparavant, s'était timidement approché de Jésus (**3** : 1, 2); ce Nicodème, pour qui les paroles du Seigneur n'avaient pas été complétement vaines et qui essaya d'invoquer la justice au milieu de ces forcénés. Il y gagna une réponse pleine de mépris; mais il avait fait son devoir, et quand tous furent rentrés dans leur maison, ce ne fut pas lui dont le cœur éprouva le moins de calme et de contentement.

3128. Remarquez, en passant, avec quelle perspicacité le monde s'aperçoit des premiers pas que fait une âme dans le chemin du salut. Nicodème peut-être ne se rendait pas bien compte à lui-même de ses sentiments. Il pensait n'avoir pris que le parti de l'opprimé, et il y avait en lui plus de foi qu'il ne s'en doutait. Ses collègues ne s'y trompèrent pas. C'est pour cela qu'ils lui dirent : « Est-ce que tu es aussi de la Galilée? Aurais-tu du penchant pour la doctrine de cet homme? Serais-tu secrètement un des siens? » Ah! quand le monde a découvert dans une âme les premiers symptômes de la foi, il dresse bientôt toutes ses batteries, et il faut à cette pauvre âme un grand secours de la grâce de Dieu!

### CCXXXVII. — La femme adultère; nouvelles discussions avec les Juifs; Abraham; divinité du Christ.

3129. (Jean **8** : 1-11.) Au nord-est de Jérusalem et à fort peu de distance de cette ville, se trouve la montagne des Oliviers, temoin jadis

des larmes et de l'humiliation du roi David [1564]. Ce fut là que notre Seigneur alla chercher quelque repos après les fatigues de la journée, tandis que ses ennemis se retiraient sous le toit de leurs palais. Mais, au point du jour, il ne manqua pas de retourner à Jérusalem, de se rendre dans le lieu sacré, sa propre maison, et d'y enseigner le peuple selon sa coutume. Selon leur coutume aussi, ses ennemis ne tardèrent pas à l'y poursuivre. Cette fois, ce ne fut pas avec le magistrat qu'il eut affaire, mais avec des scribes et des pharisiens qui, pour le tenter [2712], lui amenèrent une femme adultère, en lui demandant s'il ne fallait pas la lapider, à teneur de la loi de Moïse, loi qui ne déterminait pas le supplice, mais la lapidation était celui qu'on appliquait le plus ordinairement (Lévit. **20** : 10).

3130. La question était embarrassante à plusieurs égards. D'abord, il s'agissait de savoir si le Seigneur dirait à cette femme, encore toute couverte de son crime : « Tes péchés te sont pardonnés ; » ou bien, s'il ne démentirait pas à cette occasion le constant caractère de miséricorde et de grâce empreint dans ses paroles. Puis, comme la loi de Moïse était à la fois une loi morale et civile, ce que les Juifs ne pouvaient ni ne devaient séparer, il fallait voir comment le Seigneur s'abstiendrait de prononcer en matière civile, sans porter atteinte à la loi morale. « Tu ne commettras point adultère, » telle était la loi morale. « On fera mourir l'homme et la femme adultères, » telle était la loi civile. Enfin, depuis que les Romains avaient annexé la Judée à leur province de Syrie, les Juifs n'avaient plus le droit de condamner à mort pour des crimes commis contre la loi commune. Les scribes espéraient donc que le Seigneur leur fournirait le moyen de le compromettre auprès du gouverneur s'il ordonnait de lapider cette femme ; ou auprès du peuple, jaloux des droits mêmes qu'il ne possédait plus, s'il renvoyait toute l'affaire au gouverneur.

3131. La manière dont notre Seigneur évita le piége, est admirable à tous égards. Il commence par tracer sur la terre des mots qui ne nous sont pas rapportés, mais qui étaient sans doute de nature à préparer l'effet de sa réponse. Celle-ci fut foudroyante pour les méchants hypocrites dont le Seigneur se voyait entouré. Elle nous est à nous-mêmes un sérieux avertissement ; car nous y voyons quels retours nous devons faire sur nos propres voies, avant de condamner nos frères (Matth. **7** : 1-5). Tous quittèrent la place, un à un, en commençant par les plus âgés, tant ils se sentirent repris au fond de leur conscience ; et, dominés par la parole puissante du Seigneur, nul d'entre

eux n'aurait osé jeter le premier une pierre contre cette femme, pourtant si coupable.

3132. C'est ainsi que notre Seigneur sut faire d'une question juridique une question toute morale et s'en tenir, malgré qu'on en eût, au but unique de sa mission. Jésus-Christ et son Evangile n'ont rien à démêler avec les lois civiles, non, pas même avec celles dont Dieu fut l'auteur, ni à plus forte raison avec les institutions politiques d'origine humaine. Nous donc, disciples de Jésus et de son Evangile, tout en nous soumettant au pouvoir séculier dans les choses qui sont de sa compétence, nous ne briguerons jamais pour notre Eglise une influence civile et politique qui ne saurait lui appartenir, si elle est vraiment l'Eglise du Seigneur.

3133. Laissé seul avec cette femme, humiliée, confuse, tremblante, Jésus lui parle enfin de manière à lui faire comprendre qu'il n'avait eu nullement l'intention de justifier son crime : « Puisque tes accusateurs sont partis, puisqu'il n'en est aucun qui t'ait condamnée, ne crains pas que je veuille plus qu'eux te lapider. Va donc, mais ne pèche plus. » Si cette femme, toute coupable qu'elle était, avait en ce moment éprouvé une vraie repentance, si elle avait regardé du cœur à Jésus pour être sauvée, nul doute qu'il ne lui eût dit, comme à la pécheresse : « Tes péchés te sont pardonnés ; va-t'en en paix, ta foi t'a sauvée » (Luc 7 : 48, 50) ; mais ce n'est pas ainsi qu'il lui parle, car ces mots : « Je ne te condamne pas non plus, » ne signifiaient pas nécessairement que miséricorde lui fût faite devant Dieu. Toutefois il est permis d'espérer que tant d'indulgence produisit de salutaires impressions dans le cœur de cette malheureuse créature, et que celui qui refusa de la condamner dans le temps qu'il était sur la terre pour sauver le monde et non pour le juger, pourra la compter au dernier jour parmi les brebis perdues et retrouvées.

3134. (12-20.) Notre Seigneur était alors dans une des salles du temple qu'on appelait le Trésor ou la Trésorerie, et l'évangéliste reproduit les discours qu'il tint à ceux qui l'entouraient. « Je suis la lumière du monde, leur dit-il, celui qui me suit ne marchera point dans les ténèbres, mais il aura la lumière de la vie. » Paroles faciles à comprendre et pleines de vérité ; paroles horriblement présomptueuses, si Jésus n'eût été qu'un simple homme. Mais il est la lumière par cela même qu'il est le Seigneur. Si donc quelqu'un croit en lui, il passe incontinent des ténèbres, à la lumière ; c'est l'Esprit de Christ qui l'a illuminé, et ses clartés sont la vie de l'âme. Voilà ce que savent

par expérience ceux qui suivent Jésus. Voilà ce qu'avouent, du moins en partie, bien des hommes qui, sans accepter l'Evangile dans son entier, ne laissent pas d'admirer les lumières morales dont il a enrichi le monde; en sorte qu'ils ne se scandalisent point du témoignage que Jésus se rendit à lui-même sous ce rapport. Il n'en fut pas ainsi des pharisiens, et, sur l'observation qu'ils lui en firent, le Seigneur leur représenta que, fût-il seul à se rendre témoignage, encore méritait-il d'être cru, car nul ne pouvait dire que, dans aucune de ses paroles, il se fût jamais écarté de la vérité. D'ailleurs il n'était pas seul : en lui et avec lui, le PÈRE rendait le même témoignage. » Ton père! répliquent les pharisiens, qui est-il? et où est-il? nous ne le connaissons pas. — En effet, dit le Seigneur, vous ne le connaissez pas plus que vous ne me connaissez. Croyez en moi et vous connaîtrez le Père. » Hélas! combien de gens qui, semblables à ces pharisiens, ne connaissent pas le Père, ne l'aiment pas, ne vivent pas en relations habituelles et intimes avec lui, parce qu'ils s'obstinent à repousser Celui qui est la lumière du monde.

3135. (21-27.) Alors Jésus leur répéta ce qu'il avait dit la veille, sur son départ et sur la nécessité où ils étaient de se convertir promptement, s'ils voulaient ne pas mourir dans leurs péchés, c'est-à-dire ne pas être perdus sans ressource. Et comme ils s'arrêtaient toujours à des pensées terrestres, le Seigneur leur fit entendre que le départ dont il parlait, était tout autre chose que la mort proprement dite. Jésus, par sa nature divine, appartient à un monde très différent de celui-ci; c'est dans ce monde invisible qu'il devait retourner, de manière à rendre toute incrédulité inexcusable. Si donc ces aveugles docteurs ne se hâtaient pas de croire en lui, comme en CELUI QUI EST [636], ils mourraient infailliblement dans leurs péchés... « Qui es-tu donc? s'écrient les pharisiens. — Dès le commencement cela même que je vous dis; » telle fut la réponse. Elle est obscure assurément; mais aussi, considérez quel grand mystère elle recouvre. « JE SUIS; » avait dit le Seigneur; et, sans répéter ces deux mots, il ajoute : « Dès le commencement cela même que je vous dis; » puis il déclare de nouveau qu'il procède du Père et que tout ce qu'il dit est véritable.

3136. (28-30.) Pour compléter la prédiction qu'il venait d'articuler relativement à son retour dans la gloire, notre Seigneur annonce qu'il devra son élévation à ses ennemis eux-mêmes. Ce sont eux qui l'attacheront au haut d'une croix et c'est par cette croix qu'il entrera

dans son règne, après avoir fait ce grand acte d'obéissance et magnifié de la sorte l'amour éternel du Père. Or, encore que ces paroles n'aient pu être comprises entièrement, elles ne laissèrent pas d'agir sur bien des cœurs. Après ce discours de Jésus, il y eut beaucoup de personnes qui se rangèrent de son côté, ou, comme le dit l'Evangile, qui crurent en lui [2747].

3137. (31-47.) Cette foi, chez un grand nombre, n'était encore qu'une simple adhésion de l'esprit; l'impuissance de résister plus longtemps; un attrait, un désir et non une volonté bien résolue de se donner au Seigneur. Lors donc que Jésus eut exhorté ces nouveaux croyants à lui demeurer fidèles, afin d'obtenir la pleine connaissance de la vérité et par elle la liberté, plusieurs lui firent observer avec une certaine aigreur qu'en fait de liberté, des enfants d'Abraham n'avaient rien à recevoir de personne. Or voici la réponse du Seigneur. On peut être à la fois libre et esclave. Tant qu'on vit dans le péché, on est esclave du péché. Sous ce rapport, nul homme n'est libre. Jésus, le Fils de Dieu venu sur la terre, est le seul ici-bas qui n'ait jamais connu cet esclavage, le seul aussi qui puisse nous donner la vraie liberté. De même, quant à la descendance d'Abraham, dont les Juifs étaient si fiers et non sans motifs, on peut être fils d'Abraham et avoir un autre père; ou, si l'on veut, il est des enfants d'Abraham, tels que Jésus, qui ont Dieu pour père; il en est qui ont un autre père que Dieu. Ici, il s'agit évidemment d'une paternité spirituelle, car au point de vue de la création, Dieu serait le père de tous. Quel est donc celui qui est le père des incrédules, des pharisiens, de quiconque refuse de se convertir? Le Seigneur, après avoir cherché à le faire comprendre sans être obligé de le dire expressément, finit par prononcer le mot terrible : « C'est le Diable, le Calomniateur, le Satan, l'Adversaire, celui qui, dès le commencement, fut menteur et meurtrier. Sa véritable postérité ici-bas se compose de tous ceux qui vivent dans le péché et rejettent la grâce de Dieu. »

3138. Il est quelques traits du discours de notre Seigneur sur lesquels nous devons nous arrêter un moment. Nous y voyons que la liberté dont il enrichit les siens a pour effet de les introduire, et pour toujours, dans la maison de leur Père céleste (35, 36); que la foi qui agissait en Abraham lorsqu'il reçut le Seigneur dans ses tentes de Mamré, fut précisément ce à quoi le Seigneur nous invite nous-mêmes (39, 40); que le péché est l'œuvre de Satan; que tout le désir de Satan est de nous voir rejeter Jésus-Christ; que c'est lui enfin qui,

par les ténèbres et les impuretés dont il remplit les cœurs, empêche ceux dont il est le père d'écouter la parole du Sauveur et de devenir enfants de Dieu (41-44).

3139. (48-59.) A des arguments sans réplique, les ennemis de la vérité répondent par des insultes. C'est leur seule ressource, et l'on voit que, dans cette occasion, ils en usèrent largement avec notre Seigneur. Mais lui, plein de patience, continue d'en appeler à Celui dont il cherchait la gloire et qui juge avec justice ; après quoi, pour encourager ses disciples, il déclare que si quelqu'un observe sa parole, « il ne goûtera jamais la mort, » par où il faut entendre la mort seconde, ou bien ceci encore, que la mort pour les fidèles n'est pas proprement une mort, mais le commencement de la vie véritable.

3140. On conçoit que les Juifs, toujours aux aguets pour trouver Jésus en défaut, ne manquèrent pas de relever sa dernière assertion. Abraham et les prophètes sont morts ! Qui es-tu donc pour promettre à tes disciples qu'ils ne mourront point ? A cette question, il répond comme il l'avait fait précédemment, en ajoutant que s'il désavouait sa qualité de Fils de Dieu, il entrerait dans une voie de mensonge semblable à la leur. Quant à leur étonnement, il va le rendre bien plus fort en leur déclarant qu'Abraham avait vu son jour et s'en était réjoui. Les Juifs comprirent que le Seigneur prétendait avoir été vu d'Abraham et ils avaient raison. Pour cette fois, rien ne leur semble plus facile que de montrer l'absurdité d'une telle prétention : « Tu n'as pas cinquante ans et tu as vu Abraham ! » Non, Jésus, homme, n'avait pas cinquante ans, il n'en avait pas quarante, quoique ses fatigues et son sérieux le fissent paraître plus âgé ; toutefois il avait réellement vu Abraham [322] ; car il est *Celui qui est* [636]. « Avant qu'Abraham fût JE SUIS, » dit-il, et non pas *j'étais*, comme porte une traduction. — En rapprochant cette assertion de ce qu'il avait dit plus haut (24), les Juifs ne doutèrent plus qu'il ne prétendît être le Dieu d'Israël. Dans l'obstination de leur incrédulité, ils prirent des pierres pour le lapider ; mais il leur échappa, comme il avait échappé jadis aux habitants de Nazareth [2807].

## CCXXXVIII. — L'aveugle-né. Le bon Berger.

3141. Si notre Seigneur ne fit que peu de miracles à Jérusalem, ceux qu'il y opéra furent accompagnés de circonstances qui les ren-

dent particulièrement remarquables; ainsi la guérison de l'impotent [3022] et aujourd'hui celle d'un aveugle de naissance, miracle qui nous est raconté fort au long.

3142. (Jean 9 : 1-12.) Comme Jésus se retirait du temple, il rencontra le pauvre aveugle dont il va être question. Les disciples, partant d'une idée juste, savoir que les maux de l'humanité sont l'effet de la chute, croyaient avec les amis de Job et avec bien d'autres, qu'on pouvait mesurer les péchés d'un homme aux maux qu'il souffre ici-bas. Leur question revenait donc à ceci : « Pour que cet homme soit né aveugle, il faut qu'il y ait en lui, ou qu'il y ait eu chez ses parents, plus de péché que dans le commun des mortels. » Beaucoup de Juifs d'ailleurs croyaient à la transmigration des âmes; c'est-à-dire qu'ils croyaient que l'âme d'un individu avait existé précédemment dans un autre individu, et peut-être les disciples se demandaient-ils si le malheur de cet homme ne pouvait pas s'expliquer de cette manière. Toutefois, il est plus probable qu'ils avaient appris du pharisaïsme à envisager les hommes, comme n'héritant pas tous, dans une même mesure, du péché originel.

3143. A la question de ses disciples, le Seigneur répondit en se servant de leurs propres expressions et en se plaçant à leur point de vue. L'aveugle de naissance n'était point pécheur d'une façon particulière, ni ses parents non plus, ils étaient pécheurs comme tous le sont; la seule chose qu'il y eut ici de particulier, c'est que, dès sa naissance, cet homme avait été destiné à devenir un monument de la puissance et de la grâce de Dieu. Sur ce dernier point, sans doute, on ne peut en dire autant de tous les aveugles, ni de tous les malheureux de ce monde; toujours est-il que les misères de l'humanité servent généralement à manifester les œuvres du Très-Haut, ou autrement sa gloire; sa gloire comme juge et vengeur du péché, sa gloire comme le Sauveur de créatures coupables et justement condamnées.

3144. Il y a pour tous un temps destiné au travail; c'est le jour, autrement la vie présente. Après cela, vient pour les paresseux une nuit où nul ne peut travailler, et il s'agit ici du travail dont le Seigneur parlait à la foule après la multiplication des pains (6 : 27). Notre Seigneur lui-même eut un temps marqué pour faire son œuvre, l'œuvre de notre salut, et comme il l'a employé! A cet instant même il va montrer de nouveau par un acte très significatif, ce qu'il veut être pour ce pauvre monde : il en est la lumière, comme il l'avait dit aux Juifs dans le temple (8 : 12).

(**Jean 9** : 13-34.)

3145. Si le Seigneur se plaît quelquefois à faire sortir subitement une âme des ténèbres du péché [2786], le plus souvent il agit avec lenteur et n'arrive au résultat que par degrés, comme dans la guérison de cet aveugle. Puis, il y emploie des instruments qui, relativement à l'œuvre dont il s'agit, ne sont, hélas! que de la boue sur les yeux; mais c'est lui, quoi qu'il en soit, qui opère, et tout sert entre ses mains. Enfin, il y a aussi pour nous un réservoir de l'Envoyé, réservoir des eaux pures de la grâce, où se nettoient toutes les souillures et où les yeux de l'intelligence, ou plutôt ceux du cœur, acquièrent la faculté de voir le royaume de Dieu.

3146. L'aveugle auquel notre Seigneur rendit ainsi la vue était bien connu; car depuis de longues années on le voyait assis sur les degrés du temple, attendant des aumônes. La merveille de sa guérison ne pouvait se nier, et quand on lui demanda qui lui avait fait cela, il put bien désigner Jésus par son nom; mais, naturellement, il ne lui fut pas possible d'indiquer ce qu'il était devenu. Le Seigneur avait continué son chemin, tandis que l'aveugle s'était rendu au réservoir de Siloé.

3147. (13-34.) Cependant, ceux qui se trouvaient là jugèrent le cas extrêmement grave. Les uns, pour faire leur cour aux pharisiens, d'autres peut-être dans l'espoir de les convaincre ou du moins de les confondre, leur amenèrent celui qui avait été aveugle, et à l'instant même commença une discussion d'autant plus vive que cette guérison avait eu lieu le jour du sabbat. Les pharisiens, toujours imbus de leurs fausses idées sur la manière d'observer ce saint repos, s'obstinaient à prétendre, contre l'évidence, que Jésus le violait par ses guérisons, et ils en concluaient qu'il ne pouvait être un envoyé de l'Eternel. D'autres, avec plus de bon sens, demandaient comment il était possible qu'un simple homme, un homme pécheur, fît de tels miracles. Quant à celui qui avait été aveugle, interrogé sur ce qu'il en pensait, il répondit naïvement que le personnage qui l'avait guéri devait être un prophète.

3148. Les ennemis de Jésus avaient encore une ressource; c'était de nier que l'homme eût été privé de la vue. Ils firent donc venir ses parents qui, bien qu'intimidés, ne laissèrent pas de déclarer que leur fils était réellement né aveugle; quant à dire comment il avait été guéri, c'est ce que, par la crainte coupable de se compromettre, ils lui abandonnaient le soin de faire. D'ailleurs, ce n'était plus un enfant, et son témoignage méritait toute créance. On l'appela donc une

(**Jean 9** : 35-38; 39-41.)

seconde fois, et on lui fit subir un interrogatoire dont les détails sont pleins d'intérêt.

3149. Pour lui ôter l'envie de redonner à Jésus le nom de prophète, ils commencèrent par prononcer avec autorité que cet homme était un pécheur; qu'à leur jugement infaillible, il avait transgressé la loi; qu'on eût donc à bien prendre garde, dans l'intérêt même de la gloire de Dieu, à la manière dont on parlerait de lui. —Là-dessus, l'aveugle, avec une prudence et une véracité remarquables, repartit en ce peu de mots : « S'il est un pécheur, je ne sais, » je n'ai pas à juger après vous; « je sais une seule chose, c'est qu'ayant été aveugle, maintenant je vois. » Puis, sur la demande qu'on lui fit encore de raconter comment l'affaire s'était passée : « Voulez-vous aussi devenir ses disciples? » leur dit ce pauvre homme, dans sa simplicité. Alors la colère de ces méchants ne connaît plus de bornes. Ils en viennent aux injures, ils s'indignent à la seule pensée d'être disciples de Jésus, comme si c'eût été par là devenir infidèle à Moïse, et comme si Jésus eût été un homme sans aveu dont personne ne connaissait l'origine.

3150. Or, cette prétention parut tellement étrange à celui qui avait été aveugle, qu'il ne put s'empêcher de le faire remarquer. Il ne concevait pas qu'on parlât ainsi de quelqu'un qui lui avait ouvert les yeux, à lui pauvre aveugle de naissance. Dieu seul peut faire une telle œuvre, et un homme qui donne des yeux à celui qui n'en avait pas, doit nécessairement venir de Dieu. Rien n'est plus juste que ce simple raisonnement; aussi les adversaires ne purent-ils y répondre que par de nouvelles injures, injures qui nous les montrent imbus du préjugé dont nous parlions tout à l'heure. Les hommes, pensaient-ils, ne sont pas tous également pécheurs; mais un individu né aveugle, celui-là sans doute fut entièrement engendré dans le mal, et d'un tel homme il n'y a rien de bon à attendre. C'est pourquoi, ils le jetèrent dehors.

3151. (35-38.) Ainsi commençait à s'accomplir ce que le Seigneur avait dit des persécutions qui menacent ses disciples. Mais bienheureux ceux qui souffrent quelque outrage pour l'amour de lui! (Matth. 5 : 10-12.) Rejetés des hommes, ils sont aussitôt recueillis par le Seigneur. Jésus, rencontrant l'excommunié, se fit connaître à lui comme le Fils de Dieu, et cet heureux enfant d'Abraham se prosterna contre terre, en l'appelant son Seigneur. Il l'adora, nous est-il dit, et Jésus ne l'empêcha point de le faire, par la raison qu'il est en effet le Seigneur, le Fils de Dieu.

3152. (39-41.) Tout ceci se termina par une déclaration sérieuse

du Sauveur et par un discours plein d'encouragement pour ceux qui lui appartiennent. La déclaration, c'est qu'il se fait déjà dans ce monde un grand jugement, au moyen même de l'Evangile : les aveugles voient et les voyants deviennent aveugles; les voyants, c'est-à-dire ceux qui se croient suffisamment instruits et qui s'estiment dans la bonne route; les aveugles, c'est-à-dire ceux qui sentent leur ignorance et qui cherchent en Jésus le seul guide capable de les mettre au chemin de la vie éternelle. Les pharisiens étaient ces prétendus voyants, et ceux qu'ils appelaient des pécheurs étaient ces aveugles. Hélas! des choses semblables se passent encore aujourd'hui. Ce qui constitue le grand péché de tant de gens, ce qui les fait demeurer dans le mal jusqu'à la fin, c'est qu'au lieu de se reconnaître de pauvres aveugles, ils disent : Nous voyons et nous n'avons pas besoin qu'une prétendue révélation de Dieu nous éclaire.

3153. Quant à ceux au contraire dont les yeux ont été ouverts par le Seigneur, il leur serait impossible d'élever le moindre doute sur la vérité et sur l'indispensable nécessité de ses révélations. Semblables à l'aveugle-né, ils ne savent pas toujours répondre aux objections des incrédules; mais si on leur demande raison de leur foi, ils diront sans balancer : Je crois parce que Dieu m'a donné des yeux pour voir et un cœur pour comprendre; j'étais misérable et je suis consolé; jadis esclave de mes passions, maintenant je les combats et en somme je les dompte; j'avais peur de ce qui me réjouit maintenant et je cherchais mon bonheur dans les choses que je fuis : tout en moi est changé! Qui est-ce qui a fait cela? C'est la Parole de Jésus et son Esprit; c'est Dieu lui-même. Telle est ma foi, telle est aussi la raison de ma foi.

3154. (Jean 10 : 1-15.) Après cela, notre Seigneur se mit à parler d'une bergerie qui ne peut être autre chose que ce qui est ailleurs appelé le royaume des cieux. Ceux qui croient sont les brebis de la bergerie dont Jésus est tout à la fois la porte et le berger. Les premiers mots du discours s'appliquent aux pharisiens. Ils attendaient aussi le règne de Dieu, mais comme ils ne voulaient pas y entrer par la véritable porte, ils ne faisaient qu'une œuvre de destruction. C'est pourquoi les brebis commençaient à se défier d'eux et à les fuir, préférant avec raison s'attacher aux pas du vrai Berger. Pour entrer le premier par la porte, le bon Berger s'est prêché lui-même; il s'est annoncé comme le Fils de Dieu, le Sauveur du monde; aussi le portier, qui est peut-être le Saint-Esprit, lui a-t-il ouvert l'entrée de bien des cœurs.

(**Jean 10** : 16-18; 19-21.)

Voilà comment il se fait que ses brebis entendent sa voix. Il les connaît d'ailleurs une à une; il les appelle par leur nom [2233] et elles le suivent, attendu qu'elles connaissent sa voix, tandis que la voix des faux docteurs, loin de les captiver, les épouvante.

3155. Les auditeurs de Jésus-Christ ne le comprirent pas, bien que plusieurs paroles des prophètes eussent pu les préparer à ce discours [596, 1641, 2224, 2493]. C'est pourquoi le Seigneur leur dit expressément qu'il était la porte et que, par les voleurs, il entendait tous ceux qui, avant ce jour, s'étaient donnés comme les organes de l'éternelle vérité sans y avoir eu réellement mission de la part de Dieu, par où sûrement il ne voulait pas parler des anciens prophètes. Puis, reprenant son idée fondamentale, il proclame les grâces du salut réservées aux fidèles, savoir la liberté et la nourriture spirituelles; car, tandis que le voleur ne songe qu'à détruire, lui au contraire est venu pour que ses brebis aient la vie et, en quelque sorte, plus que la vie.

3156. Or voici par quel moyen. Le bon Berger se donne lui-même pour ses brebis. Si elles ne lui avaient pas appartenu, s'il n'en avait été que le gardien salarié et non le propriétaire, il les aurait laissées dans la gueule du loup ou de Satan, et il aurait reculé devant le sacrifice qu'il devait accomplir pour les sauver. Mais les brebis étant à lui, il les connaît, il les aime; elles aussi le connaissent et l'aiment : entre lui et elles, sont des relations toutes semblables à celles qui existent entre le Père et le Fils. Quel mystère de l'amour de notre Dieu !

3157. (16-18.) Ces paroles si tendres et si consolantes du Seigneur Jésus nous sont destinées aussi bien qu'à ceux qui les entendirent; car nous descendons des pauvres païens auxquels il faisait allusion en disant : « J'ai encore des brebis qui ne sont pas de cette bergerie. » Par le moyen de ses apôtres, il a fait retentir en tous lieux les appels de sa grâce et, maintenant, il y a sur la terre un grand troupeau dont il est le berger, troupeau qui se compose des fidèles de tous les pays, quels que soient les noms qu'ils portent parmi les hommes. C'est donc pour nous aussi que Jésus a laissé sa vie et qu'ensuite il l'a reprise, accomplissant ainsi volontairement l'œuvre de la miséricorde du Père, selon le commandement qu'il avait reçu de lui; car si le Christ est le Fils de Dieu, il est aussi le Fils de l'homme : en cette dernière qualité, il a connu ce que c'est qu'obéir.

3158. (19-21.) Ce discours, on le conçoit, ne fut pas mieux reçu que les précédents. Les ennemis du Seigneur répondirent de nouveau

par d'horribles injures; mais les gens de bon sens se récriaient à ce sujet comme nous l'eussions fait nous-mêmes : « Ces paroles, disaient-ils, ne sont point d'un démoniaque ; un démon peut-il ouvrir les yeux des aveugles? » A quoi nous ajouterons un avertissement. Il ne suffit pas pour être sauvé de reconnaître l'excellence des discours de Jésus et la vérité de ses miracles. Que mes lecteurs s'examinent donc pour voir s'ils peuvent se compter au nombre des brebis du Seigneur ; s'ils écoutent réellement sa voix, s'ils le suivent, s'ils l'aiment, s'ils cherchent en lui seul la vie de leur âme?

## CCXXXIX. — Mission des soixante et dix disciples; un docteur; la seule chose nécessaire.

3159. De la fête des tabernacles, l'Evangile de Jean nous transporte directement à celle de la dédicace, qui, instituée par Judas Macchabée, en souvenir de la restauration du temple profané par Antiochus Epiphane [2577], se célébrait le vingt-cinquième jour du neuvième mois, soixante et dix jours après les tabernacles. Mais nous avons, dans les autres Evangiles, le moyen de suppléer au silence de saint Jean.

3160. (Luc 10 : 1-16.) Avant de quitter Jérusalem ou peu après son départ, le Seigneur choisit parmi ses disciples, de jour en jour plus nombreux, soixante et dix hommes, avec charge d'annoncer le royaume de Dieu dans la Judée, comme les douze l'avaient fait plus d'une année auparavant [3035]. La mission qu'il leur donna fut toute semblable, et il la formula presque dans les mêmes termes. Je me bornerai donc à signaler les traits de ce discours qui ne se trouvent pas dans le précédent.

3161. Le monde est comparé à un champ (2), et les élus de Dieu à un blé prêt à recevoir la faucille pour être mis en gerbes, jusqu'à ce que le maître du champ les serre dans son grenier. Ici, les prédicateurs de l'Evangile sont les moissonneurs. Il en faut beaucoup; et, relativement à l'immensité de l'œuvre, ils sont bien peu nombreux! C'est pourquoi nous ne devons pas cesser de prier Dieu qu'il se suscite des ouvriers dans sa moisson et notamment des ministres de sa Parole.

3162. (4.) Les orientaux mettent un temps considérable à leurs salutations; ce sont de longues cérémonies. Notre Seigneur, voulant faire comprendre à ses messagers qu'ils n'avaient pas de moments à perdre, leur dit, comme autrefois Elisée à son serviteur (2 Rois 4 : 29),

(**Luc 10** : 1-16; 17-20; 21-24. **Matthieu 11** : 20-24; 25-27.)

de ne saluer personne en chemin; instruction que je recommande à l'attention de tant de gens, même pieux, qui perdent un temps précieux à de simples visites de politesse et à de vains usages auxquels on donne le nom spécieux de devoirs de société.

3163. (7, 8.) Cependant l'ouvrier du Seigneur, reconnaissant de l'accueil qu'on lui fera et mangeant sans scrupule de tout ce qui lui sera présenté, ne devra pas se faire remarquer par une austérité affectée; il ne faudra pas non plus, quand il reçoit quelque part une généreuse hospitalité, qu'il se donne l'air de l'inconstance et du mécontentement, en quittant sans cesse une maison pour une autre.

3164. (13-15; Matth. **11** : 20-24.) Chorazin, Bethsaïda, Capernaüm, villes des bords du lac de Génézareth, avaient eu, par la présence de Jésus dans leurs murs, d'immenses prérogatives, et pourtant il s'en fallait bien que leurs habitants se fussent tous convertis. Aussi malheur à eux au jour du jugement! Alors, les villes païennes de Tyr et de Sidon seront dans un état déplorable assurément, vu leurs grands péchés; mais l'état de Chorazin et de Bethsaïda, de Capernaüm surtout, sera pire encore. Oh! vous qui lisez ces lignes et qui avez reçu pour le moins autant de grâces que les Capernaïtes, pensez à votre responsabilité devant Dieu! Si vous rejetez cette parole, vous rejetez Jésus-Christ, et si vous rejetez Jésus-Christ, vous rejetez Dieu lui-même (Luc **10** : 16).

3165. (Luc **10** : 17-20.) C'est par anticipation peut-être que Luc raconte maintenant le retour des soixante et dix disciples; il est possible aussi que leur course missionnaire n'ait duré que peu de jours. Ils revinrent donc tout joyeux, à cause des miracles qu'il leur avait été donné d'opérer, surtout dans la guérison des démoniaques. A cette occasion, le Seigneur leur dit deux choses dignes d'attention. L'une, que ces guérisons n'étaient que le prélude de sa grande victoire sur Satan, lequel doit tomber un jour comme un éclair tombe du ciel, ce qui me paraît la vraie traduction; l'autre, qu'il est une grâce beaucoup plus grande que celle de guérir des démoniaques : c'est d'avoir son nom écrit auprès de Dieu, ou autrement d'être du nombre des rachetés de Jésus. Si donc nous avons la foi en lui, ne regrettons pas de ne pouvoir faire des miracles, nous possédons quelque chose d'infiniment meilleur (Matth. **7** : 21-23).

3166. (21-24; Matth. **11** : 25-27.) A ce même instant, le Seigneur donna jour à une de ces pensées intimes qui occupaient son âme et dont la plupart sans doute ne nous seront révélées que lorsque nous

(**Matthieu 11** : 28-30. **Luc 10** : 25-29.)

le verrons face à face. Il l'exprime dans un hymne où il célèbre la gloire de son Père, et cette gloire, il la voit en ce que Dieu a choisi les petits et les chétifs de ce monde, par préférence à tant de sages et d'intelligents qui ne comprennent rien aux merveilles de son amour. Voici donc le mystère de la libre et souveraine grâce de Dieu. Nul ne connaît le Fils si ce n'est le Père, et nul ne connaît le Père si ce n'est le Fils. Dieu est de sa nature incompréhensible. Ce n'est donc pas par notre intelligence naturelle que nous pouvons entrer en relations avec lui : il faut qu'il se révèle à nous. Or il lui est aussi facile de se révéler aux ignorants qu'aux savants; c'est même ainsi qu'il agit volontiers, afin de montrer tout à la fois que de lui vient la lumière et qu'il la fait briller où il veut. Quant aux derniers mots de Jésus, le sens en est facile à saisir, si on les applique aux hommes avec lesquels il parlait et qui avaient les regards attachés sur lui. Il n'est pas moins aisé de nous en faire l'application; car nous aussi nous voyons beaucoup de choses que la foi de nos pères désirait de voir. Si, de nos jours, l'impiété marche tête levée, jamais peut-être aussi la foi ne remporta de plus beaux triomphes, et tout se prépare manifestement pour le règne définitif du Messie.

3167. (28-30.) Ce Messie, doux à entendre, doux à considérer et à savourer; ce Messie si humble qu'il consent à demeurer en nous, vils pécheurs, après avoir habité parmi nous; ce Messie, dis-je, doux et humble de cœur, comme aucun homme ne le fut ni ne le sera jamais, invite à croire en lui tous ceux que fatiguent les peines de la vie et surtout le poids redoutable du péché. Il ne leur promet pas, comme les faux docteurs, qu'ils seront affranchis de toute gêne. La foi en lui est un joug qui fait ployer la tête et qui retient dans un étroit sillon. Mais, après tout, ce sillon est le chemin qui mène à la vie, ce joug est doux à l'âme qui est née de Dieu, et le fardeau que Jésus nous impose est admirablement léger, en comparaison de celui de Satan. Ah! mes chers lecteurs, laissez-vous donc instruire par lui et vous trouverez le repos de votre âme. Priez pour ces multitudes qui s'agitent dans leurs inquiétudes et dans leur ignorance, au lieu d'aller puiser près de Jésus le calme et la lumière.

3168. (Luc **10** : 25-29.) Voici un homme du moins qui semblait chercher ce repos. Il fit au Seigneur une question fort solennelle; mais ses intentions manquaient de droiture et de vrai sérieux. Tout son but était de faire parler Jésus, de le sonder, de le tenter, ou, comme nous le dirions familièrement, de le tâter. Il est à remarquer d'ail-

leurs qu'il ne demande pas à Jésus ce qu'il doit faire *pour être sauvé*, ce qui aurait supposé chez lui quelque sentiment de ses péchés; mais, comme il pensait à gagner le ciel par ses œuvres, il dit : « Que faudra-t-il que *j'aie fait* pour hériter de la vie éternelle. » A la question ainsi posée, il n'y avait et il n'y a encore qu'une seule réponse : « Fais tout ce que dit la loi, remplis tes devoirs sans qu'il y manque rien, et tu vivras. » *Tu vivras* et non pas tu seras sauvé; car si quelqu'un a observé toute la loi de Dieu, il n'a pas besoin proprement d'être sauvé : il est, par son obéissance, dans le chemin de la vie éternelle (Lévit. 18 : 5).

3169. Notre Seigneur avait voulu que son questionneur dît lui-même ce qui était écrit dans la loi, et cet homme avait très bien répondu, en la résumant tout entière dans l'amour de Dieu et du prochain. Mais quand il eut entendu sous quelles conditions la loi pouvait lui procurer la vie éternelle, il s'occupa tout de suite à trouver quelque moyen de se justifier; c'est-à-dire de se blanchir à ses propres yeux des accusations de sa conscience, ou plutôt peut-être des accusations que lui intentait l'œil scrutateur de Jésus. Quant à l'amour de Dieu, il s'estimait irréprochable; car rien n'est plus aisé que de se faire illusion sur ce point, par là même que Dieu n'est pas personnellement et visiblement avec nous et que d'ailleurs, pour pouvoir aimer Dieu, on se fait un Dieu à sa façon; mais il n'en est pas ainsi de l'amour du prochain. Si un étranger, un inconnu, un ennemi même est mon prochain, il me sera difficile de dire que j'aime ce prochain-là comme ma propre personne. C'est pourquoi l'homme de loi dit à Jésus : « Et qui est mon prochain? »

3170. (30-37.) Notre Seigneur répondit par l'histoire ou la parabole du bon Samaritain, trait admirable et trop connu pour que je m'arrête à le raconter. D'ailleurs je ne pourrais faire que le transcrire textuellement. Relisez donc simplement l'Evangile, et vous verrez en quels termes, simples et forts, Jésus-Christ peint la dureté de cœur du sacrificateur et du Lévite, deux prêtres, qui, voyant un homme baigné dans son sang, passent de l'autre côté du chemin pour n'avoir pas à lui tendre secours. Cependant, ils n'étaient point pressés de continuer leur route, car ils se trouvaient là « par hasard, » comme gens qui se promènent; tandis que le Samaritain était en voyage. Mais, plein de compassion, il s'arrête, relève le blessé, lui fait un premier pansement, le place sur sa propre monture, le conduit dans une hôtellerie, le veille toute une nuit et, le lendemain, quand il doit le quitter, il tire de sa bourse

(**Luc 10** : 38-42.)

deux deniers (il n'était pas riche), s'engageant d'ailleurs à payer toute la dépense lorsqu'il reviendrait! Du sacrificateur, du Lévite ou du Samaritain, qui se montre le plus prochain, le plus ami de l'homme que les brigands avaient laissé pour mort? Remarquez, je vous prie, le tour que le Seigneur donne à son enseignement. Le docteur avait demandé : Qui est mon prochain? et Jésus lui répond : Sois le prochain de quiconque a besoin de toi, de ton argent, de ton temps, de tes soins, de tes vœux, de tes prières, de ta compassion, de ton support, de ton affection, et tu ne me demanderas plus qui est ton prochain, parce que tu seras, toi, le prochain de tout le monde. Aimer notre prochain comme nous-mêmes, c'est nous sentir nous-mêmes le prochain de tous et de chacun; c'est avoir pour autrui une affection qui ne dépende en aucune manière des circonstances. Par exemple, cet homme est mon ennemi, il fait tout ce qu'il peut pour cesser d'être mon prochain; mais, quoi qu'il fasse, il ne saurait empêcher que je ne sois son prochain et que je ne l'aime en conséquence; non pas, si vous le voulez, parce qu'il est mon prochain, mais parce que je suis le sien. A prendre la chose de cette manière, et c'est bien ainsi que le Seigneur l'entend, qui est-ce qui oserait se justifier devant Dieu, en prétendant avoir fait les œuvres que sa loi sainte nous commande?

3171. Quelques-uns voient en outre dans la parabole, un sens allégorique dont je dois faire mention. L'homme tombé entre les mains des brigands serait le pécheur condamné justement à la mort; les deux prêtres seraient la loi, qui refuse de nous sauver, et le bon Samaritain figurerait Jésus lui-même, auquel on donnait ce titre injurieux (Jean 8 : 48). L'huile et le vin seraient le symbole des grâces du salut; l'hôtellerie, celui de l'Eglise de Christ, où le Saint-Esprit console et sanctifie les âmes et où le Sauveur se montre toujours prêt à payer pour ses rachetés. Quoi qu'il en soit de cette interprétation, il est parfaitement sûr que le moyen par excellence de savoir en quoi consiste l'amour du prochain, c'est de consulter l'exemple de notre Sauveur. Ah! combien nous étions éloignés de lui lorsqu'il s'est fait notre prochain! et serait-ce trop de dire qu'il a pour nous une affection comme celle qu'il a pour lui-même?

3172. (38-42.) Assez près de Jérusalem était un village où demeuraient deux sœurs chez lesquelles Jésus s'arrêta quelques moments. L'une s'appelait Marthe et l'autre Marie. Rien n'indique qu'elles le vissent alors pour la première fois; dans tous les cas, leur conduite

prouve que l'une et l'autre se consacraient du cœur à son service. Mais elles ne manifestèrent pas leur zèle de la même façon. Tandis que Marthe se livrait avec trop d'empressement aux soins domestiques qu'exigeait la présence de leur hôte, Marie, absorbée par l'attention qu'elle prêtait aux discours de Jésus, laissait à sa sœur toute la fatigue du ménage. On ne saurait dire que sa conduite fût entièrement irréprochable, mais à coup sûr l'extrême où peut-être elle tombait, valait mieux que celui dans lequel se jetait Marthe. Marie du moins laisse faire sa sœur sans la censurer de son agitation, tandis que Marthe, vive et impatiente, semble exiger de Jésus qu'il renvoie Marie, afin qu'elle partage les soins matériels qui l'absorbaient elle-même.

3173. Jamais parole inconsidérée ne produisit de fruits plus excellents, car elle provoqua de la part du Seigneur une réponse qui demeurera, jusqu'à la fin du monde, un avertissement et une consolation pour beaucoup d'âmes. Non-seulement nous devons prendre garde que les soins et les soucis de la vie ne nous éloignent du Sauveur et ne nous rendent injustes envers ceux qui s'attachent à son service; mais encore préservons-nous, dans son service même, d'une agitation fiévreuse qui le glorifie assez mal. Après cela, reconnaissons qu'il est, à la lettre, une seule chose vraiment nécessaire, une seule dont il soit absolument impossible de se passer, sinon qu'on ne consente à se voir éternellement misérable : c'est le salut. Enfin, bienheureux ceux qui vont à Jésus pour avoir la vie! Quoi qu'en puissent dire les mondains, ils ont choisi la bonne part et, quels que soient les efforts de l'adversaire, cette bonne part ne leur sera point ôtée.

### CCXL. — La prière; si Satan peut chasser Satan; Jonas et Salomon. Malheur aux pharisiens.

3174. (Luc 11 : 1-4.) Un jour que notre Seigneur avait été en prière, ses disciples lui demandèrent de leur enseigner à prier, comme Jean l'avait appris à ses disciples. Ceux qui lui firent cette demande étaient probablement des hommes qui, marchant avec lui depuis peu de temps, n'avaient pas entendu son sermon de la Montagne. En voyant leur Maître se retirer fréquemment à l'écart pour vaquer à l'oraison, ils comprirent que c'était aussi leur devoir; et véritablement, quoique la prière ne soit pas à elle seule toute la religion, ainsi que je l'ai dit ailleurs, il est sûr que celui qui ne prie pas est un

(**Luc 11** : 5-13. **Matthieu 9** : 27-31.)

homme sans religion. Aussi notre Seigneur, s'empressant d'accéder à un vœu qui était déjà une prière et une bonne prière, répéta l'enseignement qu'il avait donné à ses premiers disciples deux ans auparavant, dans une tout autre partie du pays (Matth. 6.) La différence est qu'il supprima cette fois les dernières paroles, qui n'appartiennent pas à la prière proprement dite.

3175. (5-13.) Non content de cela, notre Seigneur répète aussi ce qu'il avait enseigné sur la nécessité de persévérer dans l'oraison (Matth. 7 : 7-11). Il le fait en partie dans les mêmes termes (9-13), mais il ajoute une parabole dont le sens est facile à saisir. Il est vrai que bien souvent nous nous laissons fléchir aux prières de nos semblables, moins par amour pour eux que pour nous débarrasser de leurs importunités (6-8); or que ne devons-nous pas espérer de prières persévérantes adressées à un Dieu qui nous aime plus que nous ne pourrons jamais le comprendre! — Nous avons donc ici trois instructions de la plus haute importance : Il faut prier; il faut demander au Seigneur qu'il nous enseigne à prier; il faut persévérer dans la prière. Après quoi, si nous voulons savoir ce qu'on doit demander par-dessus tout, écoutons encore notre Seigneur. Dans son discours de la Montagne (Matth. 7 : 11), il avait dit : « Si donc vous, méchants comme vous « l'êtes, savez donner de bonnes choses à vos enfants, combien plus « votre Père céleste donnera-t-il de bonnes choses à ceux qui lui en « demandent. » Ici, nous apprenons, de sa propre bouche, quelles sont ces « bonnes choses » que nous devons demander à Dieu et attendre de lui avec une pleine confiance : c'est l'Esprit-Saint, ou autrement ce sont les grâces du Saint-Esprit, grâces sans lesquelles nous ne saurions posséder ici-bas la vie de Dieu, ni entrer un jour dans la vie éternelle.

3176. (Matth. 9 : 27-31.) A cette époque appartient, pense-t-on, le récit que nous fait saint Matthieu de la guérison de deux aveugles. Ils recouvrèrent la vue par un simple attouchement, après que le Seigneur leur eut dit : « Croyez-vous que je puisse faire cela? » Ils avaient déjà manifesté leur foi en l'appelant Fils de David, car c'est ainsi et avec raison qu'on désignait le Christ; mais il ne suffit pas que nous reconnaissions en Jésus le Messie promis, il faut que nous soyons persuadés, du fond de l'âme, qu'il a le pouvoir de nous ouvrir les yeux ou, autrement, de nous sauver. Quant au motif qui, dans cette occasion, put engager le Seigneur à interdire aux aveugles la divulgation actuelle d'une merveille dont le secret ne pouvait être gardé longtemps, nous le trouvons, ce me semble, quel-

(**Luc 11** : 14, 15; 16; 17-22. **Matthieu 9** : 32-34. **12** : 38.)

ques lignes plus bas. On y voit que les pharisiens recommençaient à proférer leurs horribles blasphèmes. Or Jésus avait dit lui-même qu'il ne faut pas jeter les perles devant les pourceaux, et vous vous souvenez du double motif sur lequel il appuie sa recommandation [2910].

3177. (L. **11** : 14, 15; M. **9** : 32-34.) Un muet que la puissance de Dieu fait parler! c'est une vive image du pécheur dont la langue était inhabile à louer l'Eternel et qui, par la grâce divine, apprend à se servir enfin du beau don de la parole pour le plus noble de tous les emplois. Le peuple, témoin de ce nouveau miracle, fut dans une grande admiration, autant peut-être à cause des choses que le muet disait, qu'en vertu du prodige lui-même. Mais, plus la multitude s'émerveillait, plus les pharisiens s'irritaient, et, comme ils ne pouvaient nier le miracle, il ne leur restait d'autre ressource que celle dont ils avaient usé plus d'une fois : « C'est par Béelzébub, le chef des démons, qu'il chasse les démons. »

3178. (L. **11** : 16; M. **12** : 38.) D'autres, pour le tenter, lui demandaient un signe du ciel, ce que quelques-uns d'entre eux avaient aussi fait jadis [3086] (Mc. **8** : 11). Ils croyaient, paraît-il, que Satan pouvait opérer des miracles ici-bas, mais non dans ce qu'ils appelaient le ciel, et ce qui n'est après tout que l'atmosphère au travers de laquelle nous voyons les astres. Mais en admettant, comme il le faut bien, que Dieu permet quelquefois à Satan d'aveugler le monde par des prodiges, pourquoi ne lui abandonnerait-il pas l'air, aussi bien que la terre! Quoi qu'il en soit, vous voyez la liaison qu'il y avait entre l'accusation des pharisiens et la demande qu'ils adressaient à Jésus.

3179. (Luc **11** : 17-22.) Notre Seigneur répond d'abord à l'accusation et il le fait à peu près dans les mêmes termes que précédemment. Il répète qu'elle est à la fois absurde et sans sincérité. Absurde, car comment croire que Satan puisse être assez son propre ennemi pour se faire la guerre à lui-même; sans sincérité, car les fils des pharisiens, c'est-à-dire leurs élèves, essayaient fréquemment de guérir les démoniaques, ils prétendaient même y réussir; or les avait-on jamais accusés de le faire par la puissance de Satan? De là, trois conséquences : Premièrement, c'est par le doigt de Dieu que Jésus chassait les démons; puis, le royaume qui se révélait en sa personne et en ses œuvres était bien le royaume de Dieu; enfin, Satan, l'homme fort et bien armé, avait trouvé un homme plus fort que lui, parce que cet homme est le Fils de Dieu.

3180. Notre Seigneur est si loin d'emprunter à Satan sa puissance,

(**Luc 11** : 24-26; 27, 28. **Matthieu 12** : 43-45.)

qu'il répudie au contraire tout secours que lui et les siens voudraient lui offrir (23). Souvent on entend dire au sujet de certains livres religieux ou de certaines prédications d'où Jésus-Christ est absent, qu'il s'y trouve pourtant de bonnes choses et qu'on peut en recueillir quelque bien; mais il y a là manifestement une erreur. J'avoue que, dans une autre occasion, notre Seigneur avait dit : « Celui qui n'est pas contre nous est pour nous » (9 : 50); mais il s'agissait alors d'un homme qui chassait les démons *en son nom;* d'où il suit que les deux déclarations, loin de se contredire, se confirment mutuellement. En religion et en morale (si l'on peut distinguer la morale de la religion), ceux qui ne sont pas d'accord avec Jésus sont contre lui, et au lieu d'assembler des âmes en faisceau pour la gloire de Dieu, ils les dispersent et les perdent. Nous donc, prenons garde qui nous écoutons!

3181. (24-26; Matth. 12 : 43-45.) En suivant le même ordre d'idées, le Seigneur dit alors une parabole dont le sens n'est pas très facile à saisir. Peut-être a-t-il voulu décrire les effets que produit un enseignement religieux d'où l'Evangile de sa grâce se trouve exclus. Cet enseignement pourra corriger certains défauts, imprimer au caractère une certaine moralité extérieure; mais l'état réel de l'âme en est plutôt empiré. C'est un esprit impur qui est chassé et qui revient avec sept autres esprits plus méchants que lui. « Il en arrivera de même à cette génération méchante, » dit notre Seigneur. En effet, l'état religieux des Juifs sous la direction des pharisiens fut pire qu'en aucun temps. Le démon impur de l'idolâtrie avait été chassé, mais pour faire place aux démons de l'orgueil, du formalisme, de la propre justice, des traditions humaines, du pouvoir sacerdotal, de l'avarice et d'une intolérante bigoterie. Encore ici prenons garde à nous-mêmes. Beaucoup de protestants croient avoir tout gagné en échappant au papisme; mais s'ils n'ont pas le cœur à Jésus-Christ leur état actuel est pire que le premier : la superstition peut recouvrir une certaine foi; l'incrédulité n'est qu'incrédule.

3182. (Luc 11 : 27, 28.) Frappée de ce discours, une femme éleva la voix du milieu de la foule, et proclama bienheureuse la mère d'un tel prophète, quelle qu'elle fût! Jésus saisit cette occasion pour répéter ce qu'il avait dit précédemment à cet égard (8 : 21), tant il tenait à faire comprendre qu'on lui appartenait en vain par la nature, si on ne lui appartenait pas, avant tout, par la grâce. Quiconque écoute la Parole de Dieu et qui l'observe est bienheureux, plus heu-

(**Luc 11** : 29-32; 33-36; 37-41; 42. **Matthieu : 12** : 39-42.)

reux mille fois que ne le serait Marie même, la mère de Jésus, si elle n'avait pas cru.

3183. (29-32; Matth. **12** : 39-42.) Interrompu par l'exclamation de cette femme, notre Seigneur revient à la demande qui lui avait été faite, de prouver par un miracle céleste qu'il n'était pas un agent du prince des ténèbres. Sa réponse est la même que précédemment; mais les termes en sont plus explicites, sans compter qu'elle est aussi plus développée. Connaissant la malice de leur cœur et sachant très bien que, quelque miracle qu'il fît, ces méchants hommes étaient décidés à demeurer dans l'incrédulité, Jésus se contenta d'en appeler au grand miracle qui devait s'accomplir en sa personne et par sa propre puissance, quelques mois plus tard, et dont Jonas avait été le type ou la prophétie vivante (Matth. **16** : 4). Puis, il déclare que ni Jonas, ni Salomon ne pouvaient lui être comparés, et que les Ninivites qui se convertirent à la voix de Jonas, comme la reine de Séba qui admira Salomon, s'élèveraient au jour du jugement, en témoignage contre les hommes qui rejetaient maintenant un prophète plus grand que Jonas et un roi plus puissant que Salomon.

3184. (Luc **11** : 33-36.) Et pourtant, ces hommes se croyaient bien supérieurs aux Ninivites du temps de Jonas. Par cette raison sans doute, notre Seigneur reproduisit ce qu'il avait dit dans le sermon de la Montagne, sur la nécessité d'éclairer sa conscience (Matth. **6** : 22, 23).

3185. (37-41.) Là-dessus, un pharisien ayant invité notre Seigneur à dîner, il accepta selon sa coutume; mais il s'abstint de faire, avant le repas, les ablutions auxquelles les pharisiens attachaient un si grand prix et qui signifiaient, selon eux, qu'ils allaient prendre leur nourriture avec des mains nettes de tout péché [3081]. On comprend que si le Seigneur en usa de la sorte, ce fut d'abord pour se montrer indépendant des vaines traditions des hommes, ensuite pour provoquer les observations de son hôte, comme cela ne manqua pas d'arriver. Sur quoi Jésus se mit à comparer les pharisiens à des gens qui laveraient soigneusement les dehors des plats et des tasses et qui ne les nettoieraient point à l'intérieur; frappante image de tant de gens, dont toute la religion consiste en cérémonies et toute la morale en vertus d'apparat, comme si Dieu n'avait pas créé les cœurs aussi bien que les corps? Pour ce qui concernait ces ablutions avant les repas, le Seigneur fait sentir aux avares pharisiens, qu'il y aurait eu plus de pureté réelle à partager leur pain avec les indigents.

3186. (42.) Parmi les pratiques auxquelles les pharisiens se gar-

(**Luc 11** : 43, 44; 45-52.)

daient fort de manquer, les portant même jusqu'à l'exagération, il y avait le payement des dîmes, que ces prétendus dévots acquittaient sur le produit de leur jardin, et non pas seulement sur celui de leurs champs et de leurs vignes. Mais Jésus leur montre le vide et le néant de cette obéissance plus que scrupuleuse aux moindres exigences de la loi, tandis qu'ils négligeaient, sans trop de façons, le jugement et l'amour de Dieu. Ce n'est pas qu'il faille négliger les petits devoirs, mais il faut encore moins laisser de côté les plus considérables. Malheur donc à vous, leur dit-il, malgré votre sainteté prétendue!

3187. (43, 44.) Oui, malheur à vous, car vous êtes des orgueilleux et des hypocrites; c'est à cela que reviennent ses paroles. Par les dehors de piété qu'ils affectaient, les pharisiens avaient pour but de s'attirer la considération publique et les hommages d'un peuple formaliste et superstitieux. Au fond de l'âme, la plupart d'entre eux étaient des incrédules et des mondains; en sorte qu'ils ressemblaient, comme nous le dirions, à un cimetière auquel, par de charmantes plantations, on donne l'air d'un jardin, et qui n'en est pas moins plein de cadavres et de pourriture. Hélas! que de gens aujourd'hui qui font le service des autels, qui prêchent dans les chaires, qui fréquentent les églises, qui savent, à l'occasion, prendre un air contrit, et auxquels s'appliquent avec une effrayante vérité les malheur! malheur! prononcés par Jésus-Christ contre les pharisiens de tous les temps.

3188. (45-52.) C'est ce que comprit un homme de loi qui, sans doute, se trouvait parmi les convives du pharisien. Comme il semblait vouloir intimider Jésus, celui-ci repartit en ces mots : « Et à vous aussi, hommes de loi, malheur! » Ce qu'il leur reproche également, c'est l'hypocrisie dont ils se rendaient coupables en vantant sans cesse la loi de l'Eternel, en y ajoutant même diverses prescriptions, destinées à rendre leurs disciples plus agréables à Dieu, et eux-mêmes, ces docteurs de propre justice, comptaient souvent parmi les plus immoraux. Il en est encore ainsi de nos jours. — Ces hommes se montraient d'ailleurs dignes fils de leurs pères. Ils avaient beau ériger des monuments aux anciens prophètes, ils faisaient assez voir, par leurs dispositions envers Jésus et les siens, qu'ils étaient animés du même esprit que le meurtrier d'Abel et les persécuteurs des prophètes, notamment ceux de Zacharie, fils de Barachie (Matth. 23 : 35), le contemporain de Zorobabel [2483], martyr dont l'Ancien Testament ne raconte pas la mort, mais qui aurait fini d'une manière sem-

(**Luc 11** : 50, 51; 53, 54. **12** : 1-12. **Matthieu 10** : 26-33.)

blable au fils de Jéhojadah [2037]. Enfin ces hommes de loi, ces docteurs, s'étaient arrogé le droit exclusif d'interpréter les Ecritures, et ils revêtaient leurs interprétations d'une autorité égale à celle de la Parole de Dieu. De là étaient résultés deux maux affreux : ils avaient perdu la vraie connaissance de la Bible, et le peuple ne pouvait démêler leurs erreurs. Hélas! ce n'est que trop l'histoire du clergé romain. Il refuse aux laïques le libre usage des Ecritures, prétendant en être l'infaillible interprète, et lui-même il les ignore presque complétement.

3189. Il est à remarquer enfin, au milieu de tout ceci, que le Seigneur prophétise en termes assez clairs le châtiment qu'allaient attirer sur eux les Juifs incrédules (50, 51). En rejetant Jésus et en le crucifiant, ils comblèrent la mesure des iniquités commises par eux et leurs pères; aussi l'Eternel fit-il bientôt tomber sur eux une ruine telle que, ni leurs pères, ni eux, ni personne au monde n'en avaient vu de semblable.

### CCXLI. — L'hypocrisie; l'avarice; la vigilance.

3190. (53, 54.) Depuis Jean-Baptiste, les pharisiens ne s'étaient pas entendu reprocher si hautement leur hypocrisie. Or, s'ils avaient supporté les censures du fils de Zacharie, c'est que le peuple tout entier courait à lui; c'est d'ailleurs qu'il leur importait de ne pas se priver des faveurs du Messie, dont la venue était annoncée par Jean comme prochaine, et de qui leurs passions se promettaient toutes sortes de faveurs temporelles. Mais, détrompés sur ce dernier point, ils n'avaient plus le même intérêt à se contenir, et nous ne devons pas nous étonner que leur rage allât croissant.

3191. (L. **12** : 1-12; M. **10** : 26-33.) Jésus, de son côté, supérieur aux craintes qu'ils cherchaient à lui inspirer, ne se lassait pas de démasquer ces faux dévots, et, mû par un véritable amour pour la foule immense qui l'entourait, il dit au peuple, comme jadis à ses disciples (Marc **8** : 15) : « Sur toutes choses, gardez-vous du levain des pharisiens qui est l'hypocrisie. » L'hypocrisie est semblable au levain qui pénètre toute la pâte. Quand elle règne dans un cœur, tout y est faux, odieux, repoussant, comme dans Saül, par exemple.

3192. Cette funeste disposition se montre de deux manières. Le plus souvent, c'est en *simulant* des sentiments de piété qu'on n'a pas, soit qu'on se donne pour pieux tandis qu'on est incrédule, soit qu'on

se pare d'affections saintes au delà de ce qu'on éprouve réellement. Mais, dit le Seigneur, en vain se cache-t-on; tout se sait finalement, et l'hypocrite trompe moins de gens qu'il ne croit. Rien d'ailleurs n'est plus coupable qu'une telle conduite. C'est oublier que tout est connu de Dieu et qu'il est inutile de vouloir lui masquer notre visage. Pour mieux dire, l'hypocrite ne croit pas en Dieu; sa religion est toute en vue de l'homme.

3193. Il est une autre hypocrisie moins odieuse, mais non moins funeste. Elle consiste à *dissimuler* sa foi par crainte des moqueries, de l'opprobre ou des persécutions violentes. C'est un péché dans lequel peuvent tomber des « amis » même du Seigneur. Pour nous prémunir contre ces craintes et par là contre une telle dissimulation, Jésus-Christ nous rappelle que les hommes, après tout, ne peuvent pas nous faire d'autre mal que celui de tuer notre corps, tandis que Dieu peut précipiter notre âme dans la géhenne. Craignons donc la juste colère de Dieu, et nous ne craindrons plus l'impuissante fureur des hommes. Sachons d'ailleurs nous souvenir du soin que le Seigneur prend des plus petites choses. Rien n'est ignoré de lui; tout est dans sa main; nos ennemis ne sauraient franchir les limites qu'il leur assigne, et comment pourrions-nous croire qu'après nous avoir appelés pour la vie éternelle, il voulût nous laisser à la merci des événements!

3194. Ce n'est pas tout. Afin de nous encourager à professer hautement notre foi, le Seigneur déclare que, lors de sa seconde venue, il reconnaîtra pour siens, devant les anges de Dieu, ceux qui l'auront reconnu pour leur Sauveur et leur Dieu, à la face du monde; tandis que, par un juste retour, il méconnaîtra les prétendus disciples qui auront eu honte de lui et de son Evangile. Mais voyez la bonté du Seigneur! Il avait sous les yeux des hommes qui, peu de mois après, devaient l'abandonner lâchement; même un d'entre eux le renier. Or, par pitié pour eux et pour tant d'autres, qui, faibles dans la foi bien que droits de cœur, succombèrent en divers temps à des tentations pareilles, il déclare que si l'on retourne à lui, on le retrouvera toujours prêt à faire grâce. Il n'est qu'un seul péché pour lequel il n'y ait pas de remède; c'est le blasphème contre le Saint-Esprit, ce péché des pharisiens qui, avec la mauvaise foi la plus insigne, attribuaient à la puissance de Satan les miracles de Jésus [2989]; péché dont se rendent coupables ceux qui, bien que persuadés en leur conscience de la divine inspiration des Ecritures, bien que sollicités incessamment par le Saint-Esprit à se convertir, repoussent

(**Luc 12** : 13-15; 16-21.)

tous les appels de la grâce de Dieu et foulent aux pieds sa Parole.

3195. La dernière considération qui doit bannir toutes les craintes par lesquelles nous pourrions nous voir tentés de dissimuler notre foi, c'est le secours du Saint-Esprit, promis à ceux qui confessent courageusement le nom du Sauveur. L'assurance qui en est donnée ici et que nous avons vue ailleurs (Matth. **10** : 19, 20), a particulièrement trait aux prédicateurs de l'Evangile; mais il est évident qu'elle est propre à raffermir l'âme de tout chrétien. Confessons avec franchise l'espérance qui est en nous, et le Seigneur ne nous abandonnera pas dans l'accomplissement d'un devoir où sa gloire est si directement intéressée.

3196. (Luc **12** : 13-15.) Comme Jésus disait ces choses, il lui fut fait une demande qui lui fournit l'occasion de prémunir ses disciples contre l'avarice, une des plus terribles plaies de l'humanité. On ne voit pas d'abord ce qu'il pouvait y avoir de répréhensible dans la démarche d'un homme qui, après tout, ne voulait rien que de très raisonnable. Il était en différend avec son frère au sujet de l'héritage paternel et il désirait que Jésus les mît d'accord. Mais le Seigneur n'est point venu pour s'occuper d'intérêts matériels. Il y avait des magistrats et des juges sur le terrain desquels il n'empiéta jamais [3132]; et ne fallait-il pas que cet homme fût étrangement préoccupé des affaires de ce monde, pour n'avoir rien de mieux à chercher auprès de Celui qui est le pain du ciel, la lumière des âmes, le Sauveur des pécheurs? L'avarice, nous l'apprenons ici du Seigneur lui-même, ne consiste pas seulement dans une soif insatiable des richesses. On peut ne vouloir, en fait de biens terrestres, que ce qui nous revient naturellement, et néanmoins se rendre coupable de ce péché. Si l'on est tout occupé de ses possessions, si les soins qu'on leur donne détournent de la seule chose nécessaire, si l'on ne sert Dieu que pour attirer sur soi des bénédictions temporelles, on ressemble à l'homme qui s'approcha de Jésus afin qu'il s'occupât de son héritage; on aime sa fortune plus que son âme, et la vie présente plus que la vie à venir : on a son cœur aux choses d'ici-bas. Le monde n'appelle pas cela de l'avarice, mais oui bien le Seigneur. Or, c'est le Seigneur qui nous jugera, et non pas le monde. Ecoutons-le donc quand il nous déclare que ce n'est pas l'abondance des biens qui donne la vie.

3197. (16-21.) On le dirait pourtant, à voir le prix que les hommes attachent à la fortune. En voici un, dont les récoltes ont été si abondantes qu'il ne sait qu'en faire. Il va donc se bâtir de plus vastes gre-

(**Luc 12** : 22-32; 33, 34.)

niers, il y serrera son extrême abondance, et il se promet de longues années de repos et de bonheur; comme un négociant, par exemple, qui aurait réussi à gagner des millions et qui ne songerait plus qu'à jouir de la vie. Et que voudriez-vous qu'eût fait cet homme? dira le monde. Fallait-il qu'il jetât le surplus de ses récoltes dans la mer? D'ailleurs, n'est pas avare qui use magnifiquement de sa fortune. Cette ignoble épithète convient seulement aux misérables qui, ayant du bien en abondance, vivent toutefois comme des pauvres! Eh! non; selon le témoignage de Celui qui est la vérité, l'on n'est pas moins un avare quand on prodigue sa fortune que lorsqu'on la ménage outre mesure. Regarder l'argent comme le souverain bien, chercher le bonheur dans les jouissances qu'il procure, c'est encore l'amour des richesses, c'est l'avarice. Or, quand la fin viendra, brusquement peut-être et toujours plus rapidement qu'on ne pense, à quoi serviront tant de trésors, si l'on n'a pas été riche en Dieu, riche en la foi, riche en bonnes œuvres; si l'on n'a pas envisagé ses richesses comme appartenant à Dieu et si l'on n'en a pas fait l'usage qu'il voulait?

3198. (22-32.) Telle est donc la manière dont l'amour de l'argent se manifeste chez les possesseurs des biens de ce monde, qu'ils soient riches ou seulement dans la médiocrité. Mais les disciples particuliers de notre Sauveur étaient généralement pauvres. Il importait en conséquence de leur dire aussi comment cette passion pouvait se faire jour dans leur cœur. A cet effet, le Seigneur reproduisit un enseignement sur lequel je n'ai pas à revenir en détail (2904-2907). Je remarquerai seulement que, si les soucis et les inquiétudes sont plus excusables chez les pauvres que chez les riches (et pourtant ceux-ci n'en sont pas exempts), ils proviennent toujours de ce qu'on met son cœur aux choses de la terre. Or, voilà précisément ce qu'il faut entendre par l'avarice. Mais le moyen de combattre victorieusement cette disposition criminelle, c'est de chercher avant tout le royaume de Dieu; c'est de penser que, si notre Père céleste a bien voulu nous donner une place dans ce royaume-là, ce n'est pas pour nous laisser manquer ici-bas de ce qui nous est réellement indispensable.

3199. (33, 34.) Enfin, dans le but de nous faire sentir combien l'avarice est opposée à l'esprit chrétien, le Seigneur la combat de la même manière qu'il avait combattu l'esprit vindicatif : « Si l'on te frappe sur la joue droite, présente aussi l'autre, » avait-il dit (Matth. 5 : 39). Ici de même : Plutôt que de mettre votre cœur aux biens terrestres, vendez-les et donnez-les en aumônes, afin que vous n'ayez

(**Luc 12** : 35-38; 39, 40; 41-46. **Matthieu 24** : 45-51.)

d'autre trésor que dans le ciel. Nous verrons, par la suite, que les premiers chrétiens, plusieurs d'entre eux du moins, portèrent la foi et l'amour mutuel jusqu'à exécuter ce commandement à la lettre, et il n'est pas douteux que, certaine situation donnée, nous ne dussions en user de même. Il faut donc, au moins, que nous soyons toujours prêts à tout abandonner, si le Seigneur nous y appelle par de grandes calamités publiques ou par les circonstances de son Eglise.

3200. (35-38.) Supposez que nos cœurs fussent dépouillés de toute hypocrisie et de toute avarice, n'est-il pas vrai qu'il ne nous serait pas difficile de vivre avec la pensée habituelle de la prochaine arrivée du Seigneur? L'hypocrite et l'avare ne sont pas sans vigilance, l'un pour ne pas se trahir, l'autre pour conserver et accroître ses biens; mais ni l'un ni l'autre ne se préparent à rendre compte de leur âme. Il n'en est pas de même d'un vrai disciple de Jésus. Semblable à un homme qui a retroussé sa robe autour de ses reins, afin de pouvoir mieux marcher, travailler ou combattre; semblable encore à un serviteur qui attend ses maîtres la lampe allumée, de peur de s'endormir, il est prêt à recevoir le Seigneur, quel que soit le moment de son arrivée. Or, voyez l'amour de Jésus! Jamais un maître revenant de voyage ne dirait à ses esclaves : Placez-vous à table et je vous servirai; le Sauveur, au contraire, s'est entièrement dévoué pour nous. Il est comme un maître qui, rentrant chez lui bien fatigué, se mettrait à servir ses domestiques, au lieu de se faire servir par eux!

3201. (39, 40.) Un point sur lequel Jésus insiste, c'est l'incertitude où nous sommes du jour de sa venue et de notre propre départ de ce monde, deux circonstances étroitement unies. Dans cette incertitude, que devons-nous faire? Nous endormir? Ah! loin de là! Quand un homme saurait que des voleurs se disposent à assaillir sa maison, mais en ignorant l'heure de l'invasion, il se garderait bien d'aller se coucher. « Vous donc aussi tenez-vous prêts, » dit le Seigneur. Tenez-vous prêts, et non : préparez-vous. C'est donc par la foi et non par les œuvres qu'on est sauvé; car si c'était par les œuvres, on ne serait jamais prêt. Mais que ce soit par la foi ou par les œuvres, le sûr moyen de n'être prêt en aucun temps, c'est d'ajourner sans cesse.

3202. (41-46; Matth. 24 : 45-51.) Frappé de ce qu'avait de si sérieux l'avertissement du Seigneur, Pierre le pria de lui dire à qui proprement il l'adressait. A tous les croyants sans doute; mais Jésus voulut faire comprendre aux apôtres et à ceux qui, plus tard, exerceraient quelque ministère dans son Eglise, qu'ils devaient plus que

(**Luc 12** : 47, 48; 49-57. **Matthieu 10** : 34-36.)

personne se tenir prêts à rendre compte de leur administration; que, s'ils étaient trouvés vaquant fidèlement à leurs devoirs, ils auraient une grande récompense; que si, au contraire, ils se mettaient à vivre comme des mondains (et combien de soi-disant successeurs des apôtres cette menace n'atteindra-t-elle pas!) ils auraient la tête tranchée pour prix de leur incrédulité et de leur hypocrisie.

3203. (Luc **12** : 47, 48.) En général, il est juste que celui qui a connu la volonté de son maître et qui ne s'est pas préparé, soit battu de plus de coups; que celui, dis-je, auquel beaucoup de grâces auront été faites, ait un plus grand compte à rendre. On ne comprend pas aussi bien la sentence prononcée contre l'esclave qui n'aura pas connu la volonté de son maître. Il est bien dit qu'il sera déchiré de peu de coups, mais enfin il sera déchiré. Et pourtant il a péché par ignorance! Cela est vrai; mais il ne laisse pas d'avoir fait «des choses dignes de châtiment,» comme le dit notre Seigneur. Sauf quelques cas fort rares, l'ignorance du devoir n'est jamais absolue; elle n'est donc jamais entièrement innocente : voilà du moins ce qu'on doit conclure de cette parole de Jésus, ajoutée à plusieurs autres endroits de l'Ecriture sainte [871, 872]. C'est pourquoi, prenons garde à nous-mêmes; profitons du temps qui nous est donné pour étudier la volonté de notre Maître et demandons-lui sa grâce, par laquelle seule nous pouvons faire ce qu'il veut.

## CCXLII. — Les signes des temps; la conversion; prophétie contre Jérusalem.

3204. (49-57; Matth. **10** : 34-36.) Peut-être les derniers mots de notre Seigneur avaient-ils excité parmi la foule une de ces émotions soudaines si fréquentes dans les nombreuses assemblées; peut-être s'était-elle manifestée par une sourde agitation ou par d'autres signes de mécontentement. C'est ce qui expliquerait la brusque interruption qu'on observe ici dans la suite du discours de Jésus. Quelle étrange parole! Il est venu jeter le feu sur la terre! Il y apporte, non la paix, mais la division! Le feu, il est vrai, nous est quelquefois présenté comme une image des grâces du Saint-Esprit; mais, en cet endroit, il paraît signifier tout autre chose; ou, si l'on veut, notre Seigneur prédit à la fois l'effusion du Saint-Esprit sur son Eglise, et l'effet de répulsion qu'en éprouvera le monde. La haine naturelle du cœur humain contre tout ce qui vient de Dieu allait donc se montrer par des

violences inouïes ; Jésus lui-même devait marcher le premier à ce bûcher qu'il est venu allumer ; il y serait baptisé ou plongé; et, comme il ne pouvait sauver son peuple ni rentrer dans sa gloire avant d'avoir été enveloppé par ces flammes, il lui tardait que tout cela fût accompli. Après lui, ceux qui s'attacheraient à sa doctrine rencontreraient la plus vive opposition de la part même de leurs proches, et déjà l'on voyait commencer ce terrible embrasement. Quelques-uns pensent que Jésus aurait mieux fait de laisser le monde tranquille; mais alors nulle âme n'eût été sauvée.

3205. (Luc 12 : 54-57.) Lors donc qu'on voit les esprits se préoccuper des idées religieuses, s'agiter à leur occasion, se passionner même et s'irriter; lorsque cette irritation se traduit en persécutions ouvertes, c'est un signe du temps, signe que nous ne devons pas méconnaître. Rien de tout cela n'arriverait si Jésus n'était pas là par son Saint-Esprit, si tout le monde dormait du sommeil de la mort, si aucune âme ne ressentait les impressions de la grâce de Dieu. Et quand on voit, de nos jours, des personnes qui accusent les chrétiens des troubles dont ils sont les victimes, ou même de l'incrédulité qui se manifeste à leur occasion (comme si c'était la foi qui fait les impies !), on peut bien leur dire avec le Seigneur : Hypocrites ! car il en est de ces personnes comme des pharisiens qui, se refusant à l'évidence, ne voulaient pas reconnaître que le temps du Messie était venu, ou, autrement, le temps de se convertir et de faire ce qui est juste.

3206. (58, 59.) La nécessité de se convertir et de se convertir au plus tôt, voilà ce que notre Seigneur va proclamer de diverses manières. D'abord, par une instruction que nous avons vue ailleurs (Matth. 5 : 23-26), et qui, à cette place-ci, se présente comme une parabole. Tout pécheur marche vers la mort et en conséquence vers le jugement. Il a, dans l'Eternel, de qui procède la loi, une partie adverse qu'il doit chercher à satisfaire d'une manière quelconque. Un temps fort court lui est donné pour cela, savoir celui pendant lequel il est en chemin, temps du support, de la patience et des appels de la grâce de Dieu. Mais s'il refuse le moyen de réconciliation qui lui est offert, alors viendront pour lui, et le juge, et l'exécuteur, et la prison; une prison perpétuelle, car pourrait-il jamais, dans sa captivité, payer des dettes qu'il lui fut impossible d'acquitter étant libre?

3207. (Luc 13 ; 1-5.) Les auditeurs de Jésus comprirent, à ce qu'il

paraît, le sens de la parabole ; car ils se mirent à lui raconter la mort funeste de quelques Galiléens, objet sur lequel le discours même du Seigneur avait reporté leur pensée. Ces Galiléens, pense-t-on, avaient formé un complot contre la sûreté de l'Etat, et, au moment où ils donnaient à leur conjuration la solennité d'un sacrifice, ils furent massacrés par les soldats de Pilate, représentant de l'empereur Tibère dans la Judée. Ces malheureux Israélites n'avaient pas eu le temps de se convertir, et Dieu avait fait venir sur eux un bien terrible jugement! C'est aussi, répond Jésus, comme les dix-huit personnes sur lesquelles la tour de Siloé était tombée peu de temps auparavant. Il rapproche ainsi une catastrophe où la main de Dieu seul avait été visible, de celle dans laquelle était intervenue la main de l'homme. Puis il ajoute : « Ne pensez pas toutefois que ces dix-huit personnes, ou ces Galiléens eussent plus besoin de conversion que vous, ni qu'ils fussent plus coupables. C'est pourquoi, si vous ne vous convertissez, vous périrez tous semblablement. » Ainsi, ô mes lecteurs, lorsque Dieu frappe de certains fléaux quelques-uns de nos semblables, individus, familles ou peuples, c'est une voix qui nous crie de nous convertir; car ceux qui sont frappés ne sont pas plus pécheurs au fond que nous ne le sommes nous-mêmes, et ces jugements ont pour but de nous avertir de ce qui nous attend au jour de la grande catastrophe, à supposer que nous mourions dans nos péchés.

3208. (6-9.) Pour compléter son enseignement, le Seigneur ajoute une nouvelle parabole, celle du figuier. Sous cette image, on peut entendre le peuple d'Israël, que Dieu avait établi dans le pays de Canaan, comme on planterait un figuier dans une vigne, c'est-à-dire le meilleur des arbres dans le terrain le plus favorable et le mieux cultivé. A ce point de vue, notre Seigneur annoncerait ici la dispersion du peuple juif, après que le temps de la patience de Dieu aurait été épuisé. Mais on peut entendre aussi par le figuier, tous ceux que le Seigneur appelle à sa connaissance et qu'il place sous l'influence de sa Parole et de sa grâce, afin qu'ils portent des fruits de sainteté et de justice à la gloire de Dieu. Or que nous arrivera-t-il, si nous trompons les vues miséricordieuses du Seigneur et si tout ce qu'il a fait demeure inutile? Jean-Baptiste avait déjà répondu à cette question (3 : 9). Cependant le vigneron plaide la cause du pécheur. Le vigneron, c'est Jésus lui-même, pour l'amour duquel Dieu use de patience envers nous, ce Jésus qui ne cesse de nous solliciter à la conversion par son Esprit de grâce, de nous offrir l'efficace de son

(**Luc 13** : 10-17; 17-21; 22-30.)

sang, et qui achevait alors la troisième année de son ministère, circonstance à laquelle il semble faire allusion dans la parabole. Mais, remarquez-le bien, Jésus-Christ ne sauve les âmes qu'en les convertissant. Ceux donc qui refusent obstinément de se convertir ne sauraient échapper à la condamnation. Lui-même, ce tendre et miséricordieux Rédempteur, a prononcé ces paroles : « Sinon, tu le couperas ensuite. »

3209. (10-17.) A quelques jours de là, notre Seigneur fit dans une synagogue, pendant le sabbat, un miracle dont les circonstances ont trop de rapport avec plusieurs autres, pour que j'aie besoin de m'y arrêter. Remarquez seulement que cette pauvre femme, avec son dos courbé vers la terre depuis tant d'années, est une vive image des pécheurs inconvertis, lesquels n'ont de pensées et de cœur que pour les choses d'ici-bas. Hélas! c'est tout ce que Satan désire. Lorsqu'on a été délivré de cette obsession, l'on doit vraiment en rendre gloire à Dieu, par la puissance et la grâce duquel on a obtenu le relèvement (Ps. **146** : 8).

3210. (17-21.) La joie que manifesta la multitude à l'occasion de ce nouveau miracle et des censures que Jésus prononça contre les pharisiens, lui fournit l'occasion de répéter les paraboles du grain de sénevé et du levain (Matth. **13**). Peut-être eut-il l'intention d'exprimer ainsi que, malgré ces élans de joie et d'admiration, ses disciples ne devaient pas s'attendre à former dès le commencement un grand peuple : peut-être aussi voulait-il qu'ils vissent en cela comme les arrhes et les avant-coureurs de l'extension que prendrait plus tard le royaume de Dieu.

3211. (22-30.) Un certain temps après, notre Seigneur retournant du côté de Jérusalem, bien qu'il ne dût pas encore s'y remontrer, continuait d'enseigner ceux qui venaient à lui. Alors on lui fit une question qui n'est pas sans importance assurément et à laquelle cependant il ne jugea pas à propos de donner, cette fois, une réponse catégorique. Il s'agissait de savoir s'il y a beaucoup de gens qui se sauvent? Or, on peut dire, dans un sens, qu'il nous importe assez peu d'en être instruits; car, à supposer qu'il y ait beaucoup de pécheurs sauvés, cela ne nous apprend pas si nous serons du nombre : et quand même il y en aurait très peu, cela ne dit pas que nous ne puissions pas appartenir à ce petit troupeau. Notre Seigneur fit donc la seule réponse vraiment utile : « Efforcez-vous d'entrer par la porte étroite. » C'est Jésus lui-même qui est la porte (Jean **10** : 9), et c'est par lui seul

(Luc 13 : 31-35.)

que nous pouvons avoir accès à la vie éternelle. Cette porte elle-même est d'un facile accès; elle est grande et magnifique; c'est la porte royale; mais il existe au dedans de nous et au dehors tant d'obstacles et d'empêchements, qu'il faut travailler, lutter, persévérer, afin d'atteindre la porte et de la franchir. Sans doute que l'Esprit de Dieu est avec ceux qui le cherchent; car c'est lui-même qui, le premier, vient les chercher dans la voie large du monde; toujours est-il que ce n'est pas sans efforts de notre part que s'obtient le salut. Tout ceci est parfaitement d'accord avec de précédents enseignements (Matth. 7 : 13, 14); mais voici où il ne semble pas qu'il en soit de même.

3212. « Plusieurs, dit Jésus, chercheront à entrer, et ils ne le pourront. » Or, n'est-ce pas contredire des promesses positives, celle-ci par exemple : « Celui qui cherche trouve? » Mais lisez les lignes suivantes, et vous verrez que Jésus-Christ se transporte au dernier jour et qu'il nous y transporte avec lui. Ce sera dans ce moment que, voyant enfin ce qu'ils ont rejeté, ceux qui auront méprisé sa grâce, voudront entrer près de lui et ne le pourront; parole solennelle destinée à nous faire comprendre clairement qu'il n'y a pas de conversion possible au delà du sépulcre. Alors, il ne servira de rien d'avoir mangé et bu en présence du Seigneur (allusion probable à la sainte Cène, non moins qu'aux relations sociales que Jésus avait entretenues avec les hommes de son temps); il ne servira de rien d'avoir entendu fréquemment annoncer son Evangile et de l'avoir invoqué lui-même comme le Seigneur : si l'on est demeuré dans le péché, l'on sera perdu sans retour. Quel horrible avenir! Quel désespoir pour tant de Juifs et de soi-disant chrétiens, lorsqu'ils verront les fidèles de l'ancienne alliance dans le royaume céleste, et qu'ils seront jetés dehors!

3213. Ce ne seront pas seulement les Abraham, les Isaac et les Jacob, avec tous les prophètes, que le Seigneur fera placer à sa table, c'est-à-dire qu'il recevra dans sa famille; de l'orient et de l'occident, du septentrion et du midi, il y aura des hommes, nés païens, qui, s'étant convertis au Seigneur par la prédication de sa Parole, seront traités comme Abraham lui-même, parce qu'ils auront été ses vrais fils en la foi. En sorte que beaucoup de Juifs et de prétendus chrétiens se verront devancés dans le royaume de Dieu par des gens qui semblaient en être fort éloignés.

3214. (31-35.) Ce même jour, quelques pharisiens vinrent dire à Jésus qu'Hérode menaçait de le faire mourir. On conçoit que ce n'était pas par intérêt pour lui qu'ils lui donnaient cet avis, mais plutôt

afin de l'intimider, espérant peut-être qu'il se déciderait à fuir en quelque pays lointain. Mais Jésus répondit de manière à leur faire comprendre qu'il ne craignait point Hérode. Il se pouvait sans doute qu'après avoir versé le sang de Jean-Baptiste, ce prince fût altéré de celui de Jésus, comme le renard qui suce avec avidité le sang de ses victimes. Cependant le Seigneur, parfaitement instruit du sort qui lui était réservé pour un temps très prochain (ce qu'expriment ces mots : aujourd'hui, demain et après-demain), savait aussi qu'il ne mourrait pas, comme Jean, sous l'épée d'Hérode. C'était à Jérusalem même qu'il devait laisser sa vie; c'était de la part du peuple de cette ville et de ceux qui y régnaient, qu'il avait à recevoir le dernier coup. Oui, son sang devait couler dans cette ville à la fois si sainte et si criminelle, être répandu par les hommes mêmes auxquels il avait annoncé les miséricordes divines, se mêler à celui des prophètes jadis méconnus et persécutés comme lui! Sous quelle touchante image il représente son amour pour ce peuple ingrat! Avec quelle netteté il exprime que l'incrédulité des Juifs venait de leur mauvais cœur : « Vous ne l'avez pas voulu. » Enfin quelle prédiction de la ruine que leur impiété ne pouvait manquer d'attirer sur la ville qui faisait leur orgueil! Ils en seront chassés; elle sera pour eux un désert; et cet état de choses durera jusqu'à ce qu'ils saluent Jésus et qu'ils le bénissent comme Celui qui vient au nom de Jéhovah; c'est-à-dire jusqu'à ce qu'ils le reconnaissent pour le Messie et qu'ils se convertissent à lui. Voici la seconde fois, en peu de temps, que Jésus prédit la ruine des Juifs (13 : 6-9); mais cette fois il y ajoute l'annonce de leur rétablissement, qu'il lie avec son propre retour sur la terre, prophétie particulièrement solennelle et dont il est facile de saisir le rapport avec celles de l'Ancien Testament.

## CCXLIII. — Diverses paraboles.

3215. (Luc 14 : 1-6.) Plus le ministère de Jésus-Christ tend à son terme, plus ce divin docteur multiplie et varie ses enseignements, sans toutefois perdre jamais de vue ce qui était la grande plaie des Juifs à cette époque; savoir le formalisme et la funeste domination des pharisiens. C'est ce que nous voyons encore dans cet endroit, à l'occasion d'un hydropique guéri le jour du sabbat, jour d'activité religieuse et jour particulièrement béni du Seigneur. Il est à observer, au surplus, que les faits analogues à celui-ci s'étaient passés long-

(**Luc 14** : 7-11 ; 12-14.)

temps auparavant et avaient eu pour théâtre la Galilée ou Jérusalem ; or notre Seigneur se trouvait maintenant en d'autres lieux et avec d'autres hommes, ce qui explique la répétition des mêmes actes et des mêmes discours.

3216. (7-11.) C'était dans la maison d'un pharisien, où Jésus avait accepté le dîner qu'on lui avait offert. Or, tel était l'orgueil de ces gens-là, qu'ils ne rougissaient pas de se disputer les places d'honneur autour de la table, procédé qu'interdirait de nos jours la plus simple politesse. Notre Seigneur profita de la circonstance pour leur donner une leçon d'humilité. Il semble au premier abord qu'il recommande d'être humble par calcul, mais on comprend sans peine que telle ne put être sa pensée. N'oublions pas la différence qui existe entre une parabole et un enseignement direct. C'est par figure, par image, que Jésus conseille de prendre la dernière place, afin d'être mis à la première. Oui, lors même que tu aurais droit à occuper le premier rang, prends le moins élevé ; car il vaut mieux qu'on t'invite à monter, que si l'on te forçait à descendre. Cela veut dire que tu dois, en toutes choses, te montrer humble de cœur ; « car quiconque s'élève sera abaissé, et quiconque s'abaisse sera élevé. » Ceux qui prétendent que tous les honneurs leur sont dus, finissent tôt ou tard par des humiliations ; tandis qu'on est généralement favorable aux hommes modestes. Mais, devant Dieu surtout, si nous nous estimons saints et justes, malheur à nous ! Si au contraire nous sentons notre misère, nos péchés, notre ignorance, notre absolue incapacité, nous sommes sur le chemin de la gloire.

3217. (12-14.) Voici encore une parabole, car notre Seigneur ne saurait nous interdire de recevoir chez nous nos parents et nos amis, ni nous ordonner de faire des festins aux pauvres, ce qui ne leur serait guère bon. Tout au plus a-t-il voulu nous donner à entendre qu'il y a plus d'égoïsme que de véritable bienveillance dans l'accomplissement de certains devoirs de famille et de société. On invite pour être invité ; on accueille pour être accueilli ; on salue pour être salué. Mais si cet enseignement du Seigneur est une parabole, nous devons en tirer une instruction plus importante encore ; savoir, que rien de ce qui est fait par des vues intéressées ne saurait avoir de valeur aux yeux du souverain Juge. Or ceci s'applique à tout, et non pas seulement aux œuvres de bienfaisance. Par exemple, nous ne devons pas aimer Dieu *pour* qu'il nous aime, mais *parce* qu'il nous a aimés, et voilà ce qui n'est possible qu'aux seuls rachetés de Jésus.

(Luc 14 : 15-24.)

3218. (15-24.) Un de ceux qui étaient à table avec le Seigneur, tout joyeux de ce qu'il voyait et entendait, se mit à parler aussi en similitude, et, prenant son point de comparaison dans les choses qui étaient sous ses yeux : « Bienheureux, s'écria-t-il, celui qui mangera du pain dans le royaume de Dieu! » Cet homme avait raison. Quand on pense à la faim de bonheur qui nous dévore, nous devrions, semble-t-il, saisir avec empressement la félicité qui se trouve auprès de Jésus. D'où vient donc qu'on le fait si peu? C'est ce que le Seigneur nous dit au moyen d'une troisième parabole.

3219. Il compare la grâce du salut à un grand souper que Dieu lui-même a préparé et auquel il invite beaucoup de gens. Tout étant prêt, il envoie son esclave, c'est-à-dire notre Sauveur lui-même, avertir ceux qui avaient été invités. Or si Jésus a voulu se désigner lui-même sous cet humble nom d'esclave, les invités seraient les Juifs, ses contemporains, appelés au salut dès le temps de leurs pères. Il est facile de voir que cette portion de la parabole peut nous être appliquée; car ne sommes-nous pas nous-mêmes, par le seul fait de notre naissance, du nombre des conviés? Quant à ce qui est dit qu'ils se mirent tous unanimement à s'excuser, cela n'exprime que trop bien la répugnance du cœur naturel pour les choses de Dieu : abandonné à lui-même, il ne sait que les repousser.

3220. Et si vous voulez en connaître la cause, suivez la parabole. Ce sont nos préoccupations mondaines, nos affections terrestres, les soins, les soucis, les charmes de la vie qui ferment nos cœurs aux choses célestes. Non pas nos péchés manifestes, ni nos passions désordonnées, car ces plaies énormes nous font plutôt sentir le besoin de la grâce du Seigneur, et si nos désordres nous mènent dans l'abîme, ce n'est pas là toujours ce qui nous empêche le plus d'en sortir. L'amour du monde, les affaires du présent siècle, même celles qui sont légitimes, voilà définitivement ce qui perd les âmes. Acheter un champ et des bœufs, contracter les liens du mariage, ne sont pas des actes que Dieu nous interdise dans tous les cas, ils peuvent même se faire chrétiennement; mais si l'on y met son cœur, on demeurera sourd aux appels les plus pressants de la grâce de Dieu.

3221. Sur le refus des premiers invités, voici des pauvres, des impotents, des boiteux, des aveugles que fait appeler le maître du souper et qui répondent à sa voix. Peut-être le Seigneur entend-il par là les pécheurs et les péagers, objets de l'indignation des pharisiens; ou bien faut-il y voir les âmes qui, n'ayant pas leur cœur aux biens et

(**Luc 13** : 25-27 ; **Matth. 10** : 37-39.)

aux jouissances d'ici-bas, sont pauvres « en esprit, » sentent leur misère, leur ignorance, leur incapacité, et qui, bien que possédant des avantages terrestres, sont, par le cœur, comme s'ils ne les possédaient pas. C'est-à-dire qu'ils renoncent à eux-mêmes, qu'ils se chargent de leur croix et qu'ils suivent Jésus.

3222. Ceux-ci étant entrés dans la salle du souper, il y avait encore de la place ; car on n'est pas à l'étroit dans la maison et dans le cœur du Père céleste. Alors l'esclave est envoyé sur les chemins et le long des haies, à l'ombre desquelles étaient couchés des mendiants, misérables et vagabonds. Cette image a trait selon toute apparence aux nations païennes. Elles devaient entendre aussi la bonne nouvelle du Christ et se voir comme contraintes par la puissance de la vérité et par les attraits irrésistibles de la grâce divine. Voilà de qui la maison de Dieu, qui est l'Eglise, devait bientôt se trouver remplie, tandis que les premiers invités, les Juifs, se verraient, par leur incrédulité, privés des faveurs qui leur avaient été préparées et offertes.

3223. (25-27; Matth. **10** : 37-39.) Il est, dans la parabole, un mot que je n'ai pas fait suffisamment remarquer : « Tout est prêt » (17). Oui, Jésus a tout accompli; les grâces du salut se trouvent en surabondance auprès de lui, et nous n'avons rien à ajouter au repas qu'il nous a préparé. Il s'agit uniquement d'entrer dans la salle du souper, ou autrement de croire en la promesse de Dieu. Mais cela même ne se fait pas sans d'immenses difficultés et sans de douloureux sacrifices. Nos proches les plus chers voudraient quelquefois nous détourner du Seigneur; les intérêts de la vie présente sont en conflit continuel avec ceux de l'âme ; enfin des souffrances de toute espèce deviennent ici-bas le partage de ceux qui s'attachent au royaume de Dieu. Pour aller à Christ, il faut haïr tout ce qui peut mettre une barrière entre nous et lui, et se sentir prêt à souffrir tout au monde plutôt que de l'abandonner. Si nos parents nous empêchent de suivre Jésus, nous les haïrons comme nous nous haïssons nous-mêmes quand nous sentons dans notre cœur tant d'incrédulité et de péché. Les haïr de la sorte, ce n'est pas dire au fond que nous ne les aimions pas ; car en nous haïssant nous-mêmes, nous nous aimons mieux et plus réellement que si nous avions la folie de nous préférer au Seigneur. Toujours est-il qu'il paraît aux hommes qu'on les hait lorsqu'on résiste à leurs coupables volontés. Ils sont assez égoïstes pour vouloir que nous les préférions à Jésus-Christ ! Or c'est une grande douleur que d'être soupçonné de haïr, tandis qu'au fond l'on aime cordialement.

(Luc 14 : 28-33; 34, 35. 15 : 1-7.)

3224. (Luc 14 : 28-33.) Tout cela donc n'est point facile, et ce n'est pas de la morale comme le monde la veut. De plus, on ne saurait disconvenir que notre Seigneur n'eût pu, s'il l'avait voulu, exprimer ces vérités en des termes moins repoussants; mais, entouré dans ce moment d'une grande foule, son intention, pleine de sagesse, fut probablement de faire sentir à tout ce monde, qu'il n'est pas aussi aisé d'être son disciple que plusieurs peut-être se l'imaginaient. En conséquence, il compléta son enseignement par deux similitudes qui reviennent, l'une et l'autre, à dire qu'en allant à Jésus, il importe de se rendre compte des difficultés de la vie chrétienne, non pas pour s'abandonner au découragement, mais pour user de sages précautions et se procurer les secours nécessaires. Quelle différence entre notre Seigneur et tant de docteurs qui se donnent pour ses ministres! Ceux-ci présentent la vie de la foi comme facile à tous égards, ils allèchent les âmes par des tableaux pleins de poésie sur le bonheur du juste; mais en ne disant pas la vérité tout entière, ils se trouvent être des prédicateurs de mensonge. Il est vrai que la vie de Dieu vaut mieux de toute manière que la vie du péché ; rien n'est plus funeste néanmoins que d'oublier les renoncements, les combats, les douleurs qui sont le partage du fidèle. A peine est-on entré dans la carrière, qu'on les rencontre, et si l'on s'est nourri de vaines illusions, il est bien à craindre qu'on ne retourne en arrière, une fois que le voile est déchiré.

3225. (34, 35.) Or, retourner en arrière, c'est la pire de toutes les conditions, c'est devenir semblable à du sel qui aurait perdu sa saveur, et il n'est pas étonnant que le Seigneur fasse, là-dessus, un appel sérieux à ceux qui l'entouraient. Je voudrais bien aussi l'adresser à mes lecteurs cet appel ; leur demander s'ils ont pris congé de toutes choses au monde pour suivre Jésus ; c'est-à-dire, s'ils ont calculé ce à quoi l'on s'expose ici-bas en entrant dans la voie du salut, et s'ils sont prêts à tout sacrifier plutôt que de s'en retirer, supposé qu'ils y marchent réellement.

## CCXLIV. — Paraboles de la brebis, de la drachme, et du fils perdus et retrouvés.

3226. (Luc 15 : 1-7.) Les Pharisiens continuant à se scandaliser de ce que notre Seigneur vivait avec des gens qu'ils appelaient des pécheurs, eux se croyant justes, il saisit cette occasion pour revenir, par

trois paraboles fort semblables, sur le sujet important de la conversion. Il compare d'abord le pécheur à une brebis perdue. Le berger en possédait cent; une d'elles s'égare ; que fera-t-il? Parce qu'il lui en reste quatre-vingt-dix-neuf, laissera-t-il tranquillement la centième devenir la proie du loup? Non, assurément. Il se met plutôt à sa recherche, et, s'il la retrouve, il en éprouve une joie que la conservation des quatre-vingt-dix-neuf autres ne lui avait pas causée. C'est comme une mère qui, ayant eu un de ses enfants dangereusement malade et le voyant rétabli, se réjouit d'une joie que ne lui faisait pas éprouver la bonne santé des autres membres de sa famille; car, pendant la maladie de son enfant, elle n'avait eu, en quelque sorte, de pensée que pour lui.

3227. Il semble pourtant extraordinaire qu'un homme qui a retrouvé sa brebis, assemble amis et voisins pour qu'ils se réjouissent avec lui de son bonheur! N'y a-t-il pas là ce qu'on pourrait appeler une exagération, comme celle du grain de moutarde qui devient un grand arbre [3001] ou comme celle du maître qui se met à servir ses esclaves fidèles [3200]? Oui, si l'on veut; mais les merveilles de la grâce de Dieu ne sauraient être comparées aux choses terrestres, sans qu'on imprime à celles-ci une apparence d'exagération : c'est même par l'exagération seule des proportions, que ces images peuvent donner une idée des choses célestes. Si donc vous vous étonnez de la joie du berger de la parabole, sachez qu'il y a du plus étonnant encore; savoir, la joie qui se manifeste dans le ciel à la conversion d'un pécheur, joie merveilleuse dont celle du berger n'est après tout qu'une bien faible représentation. Apprenez aussi de là quel est le prix de votre âme, quel sentiment vous devez éprouver quand on vous raconte la conversion d'un pécheur, le crime dont se rendent coupables les pharisiens de nos jours en s'offensant de tels récits; puis, demandez-vous, vous qui lisez ces lignes, si vous avez été une occasion de joie pour les habitants du ciel.

3228. Mais qui sont ces quatre-vingt-dix-neuf justes qui n'ont pas besoin de conversion? A cette question, l'on peut faire trois réponses également vraies. Les anges demeurés fidèles à Dieu n'ont pas besoin de conversion; ce sont les quatre-vingt-dix-neuf brebis fidèles au bercail, et leur permanence dans l'amour de Dieu cause moins de joie au ciel que la conversion d'un pécheur, conversion dans laquelle éclate avec tant de gloire la miséricorde de l'Eternel : première réponse. Les pécheurs convertis précédemment n'ont plus besoin de

conversion. Il y a eu de la joie au ciel lorsqu'ils furent convertis; mais, maintenant, leur persévérance dans la foi y cause moins de joie que la conversion d'un pécheur engagé jusqu'à ce jour dans les voies de l'iniquité; c'est une nouvelle victoire sur le prince des ténèbres: seconde réponse. Voici enfin la troisième explication que je crois la meilleure et qui est analogue à celle que j'ai présentée sur un sujet tout semblable [2934]. Les pharisiens étaient ces prétendus justes qui pensaient n'avoir pas besoin de conversion. Or il est clair qu'il y a plus de joie au ciel pour un seul pécheur qui se convertit, que pour quatre-vingt-dix-neuf pharisiens fiers de leur propre justice et pleins d'incrédulité.

3229. (8-10.) La parabole de la drachme perdue est tout à fait semblable à la précédente. Seulement on y voit mieux encore avec quelle tendre sollicitude, avec quels soins, pour ainsi dire minutieux, l'Esprit du Seigneur cherche les âmes qui sont perdues et qui demeureraient inévitablement en cet état, si la grâce de Dieu ne les prévenait. A force d'errer, une brebis retrouvera peut-être son chemin, ses cris attireront vers elle le berger qui la cherche; mais une pièce de monnaie reste où elle est, jusqu'à ce que quelqu'un la relève. Puis c'est ici qu'on apprend quels sont les habitants du ciel pour qui la conversion du pécheur est un sujet de joie; c'est mieux qu'Abraham, Isaac et Jacob, car ce sont les anges mêmes de Dieu. Pleins d'amour pour Jéhovah leur Seigneur et le nôtre, ils se réjouissent d'une joie ineffable à chaque manifestation nouvelle de son incompréhensible charité!

3230. (11-32.) Après ces deux paraboles, vient celle du fils perdu et retrouvé, ordinairement appelée la parabole de l'enfant prodigue. Ici le pécheur est représenté sous l'image d'un jeune homme qui, ayant reçu de son bon père sa part d'héritage, s'éloigne de la maison paternelle, dissipe tout ce qu'il a, et tombe dans une affreuse misère. Par cela même que notre Seigneur prend cette fois pour point de comparaison un homme, et non une chose inanimée comme la drachme, ou un être destitué de raison comme une brebis, la parabole nous dira sans doute ce qui se passe dans un cœur que Dieu convertit à lui, et c'est à quoi nous devrons être particulièrement attentifs.

3231. Tout homme a reçu de Dieu un corps et une âme, doués l'un et l'autre des plus belles facultés; le Seigneur nous a mis entre les mains une foule de moyens d'action et d'influence; il se manifeste à

tous par la conscience et il en est auquel il lui a plu de se révéler par sa Parole. C'était le cas des Juifs en particulier; c'est le nôtre encore plus. Mais, laissant cela de côté, il demeure vrai que chaque homme reçoit ici-bas une part quelconque de biens dont la source est en Dieu et qui devraient être, par nous, consacrés à sa gloire : force, esprit, santé, temps, richesses, pouvoir, etc. Il n'est pas moins incontestable que, depuis la chute et en tous lieux, comme dans tous les temps, l'homme naturel vit éloigné de Dieu et qu'il *prodigue* à la vanité et au péché les dons de son Créateur, soit qu'il se prostitue aux faux dieux, soit qu'il ne vive que pour un monde dont il est impossible de concilier le service avec celui du Seigneur.

3232. Mais, dans le désordre moral, il est impossible que l'âme humaine soit heureuse. Le pécheur est misérable comme un homme qui est dévoré par la faim et qui n'a rien pour l'apaiser. En cet état de malaise inexprimable, il cherche de tous côtés des distractions; il lui semble qu'en se livrant encore un peu plus à ses passions, il finira par trouver le bonheur; mais, en s'asservissant toujours plus complétement à Satan et au monde, il se dégrade aussi toujours davantage, et son affreuse misère empire chaque jour. C'est de ce triste état que nous avons l'image dans la détresse où se trouva bientôt l'enfant prodigue.

3233. Ici commence pour lui une ère nouvelle, et dès ce moment il n'est plus le type de toute âme d'homme, mais seulement de celles qui se convertissent à Dieu. En contemplant cet autre tableau, nous voyons que, pour se convertir, il faut commencer par rentrer en soi-même, ce que si peu de gens savent faire; puis il faut tourner ses regards vers Dieu, vers ce Dieu plein de bonté, qui traite ses heureux serviteurs bien mieux assurément que Satan ne traite ses esclaves; il faut enfin se décider à sortir de l'état de péché où l'on se trouve, pour recourir à la miséricorde du Père céleste. C'est ce qu'on doit faire avec une véritable repentance, et l'histoire de l'enfant prodigue nous apprend admirablement ce qu'il faut entendre par là. Le pécheur vraiment humilié confesse ses fautes sans chercher nullement à les excuser; il reconnaît qu'il a offensé Dieu, Dieu lui-même par ses transgressions (Ps. 51); il s'avoue indigne de pardon et toutefois il ne laisse pas d'espérer que le Seigneur daignera recevoir son repentir, car sans cet espoir il ne songerait pas même à retourner vers lui.

3234. Ensuite, la vraie repentance est active. Ce que l'enfant prodigue a dit, il le fait; non pas entièrement toutefois, et ce trait est

touchant. Quand il voit avec quelle bonté son père vient au-devant de lui, il comprend qu'il insulterait ce cœur paternel, s'il se bornait à demander une place de mercenaire dans la maison. Il se sent peut-être toujours plus indigne d'un tel père; mais avec un tel père il n'y a pas d'enfant, si perdu soit-il, qui ne puisse être reçu en pleine grâce. Car voyez, finalement; c'est Dieu qui prévient le pécheur et qui lui ouvre le premier les bras de sa miséricorde. Oh! quel tendre père! et quel mystère d'amour que cette joie qu'il éprouve au retour d'une âme égarée! Ce ne sont donc pas seulement les anges du ciel qui se réjouissent lorsqu'une âme se convertit; c'est aussi le Père céleste, celui, nous dit l'Ecriture, qui se réjouit en ses œuvres (Ps. 104 : 31).

3235. Il est encore à remarquer de quelle manière la parabole décrit les résultats de la conversion d'un pécheur, quant à ce pécheur lui-même. Auparavant, rien de plus misérable ni de plus dégradé; maintenant, au contraire, rien de plus heureux ni de plus comblé d'honneur. Il était mort, et le voilà revenu à la vie; perdu, et le voilà retrouvé. Morts, perdus éternellement, c'est donc ce que vous êtes, ô mes lecteurs, si vos cœurs ne sont pas convertis! Vivants et retrouvés pour toujours, telle est votre bonne part, à supposer que vous soyez allés à Jésus pour avoir la vie!

3236. (25-32.) Cependant, si, en étudiant ces belles paraboles, nous avons pu oublier les pharisiens et les scribes, qui en avaient fourni l'occasion, le Seigneur, de son côté, ne les oubliait pas. Il se réservait de les peindre sous l'image du frère aîné de l'enfant prodigue. Les pharisiens s'irritaient de ce que Jésus recevait les péagers et les pécheurs; c'est ainsi que le frère de la parabole, cœur dénaturé, se met en colère lorsqu'il apprend le sujet de tant de joie. Quand son père vient le solliciter d'entrer pour se réjouir avec toute la famille, il s'y refuse, comme les pharisiens qui résistaient aux appels les plus tendres du Sauveur. A leur manière encore, il voit dans l'obéissance qu'il rendait à son père un fardeau et non un privilége. Fier de la régularité de ses mœurs, il se flatte de n'avoir jamais méconnu ses obligations. Cependant, être toujours avec son père ne suffit pas à son bonheur, car il aurait voulu se réjouir avec ses amis, ou, en d'autres termes, il tournait un œil de regret du côté du monde. Enfin, il exagère les torts de son frère, auquel il dédaigne de donner ce nom, et il ne comprend pas qu'après de tels égarements, on puisse l'accueillir avec tant de joie.

3237. Mais tout cela rend manifeste que ce malheureux fils n'aimait

ni son père ni son frère. Or, sans l'amour de Dieu et du prochain, qu'est-on, si ce n'est un pécheur perdu et maudit? Voilà ce qu'oublient les honnêtes gens de ce monde. A l'exemple des pharisiens, ils s'estiment justes, ils se comparent avec orgueil à ceux qu'ils appellent les grands pécheurs, ils s'irritent de ce que ceux-ci les devancent par la conversion dans le royaume des cieux, et ils ne voient pas qu'un pécheur qui se convertit, quels qu'aient été ses désordres, est réellement dans la bonne voie; tandis qu'un pécheur qui refuse de se convertir demeure dans le chemin de la mort, quelles que soient ses prétendues vertus.

3238. En résumé donc, ces trois paraboles nous enseignent que tout homme est perdu; que le salut vient du Seigneur; que le bon Berger s'est dévoué pour nous; que nous devons nécessairement nous convertir, afin d'être sauvés; que rien n'égale la misère des pécheurs non convertis, si ce n'est le bonheur de ceux qui se convertissent; enfin, que ce qui est encore supérieur à tout cela, c'est l'amour de Dieu envers nous et la joie des habitants du ciel, quand une âme passe du royaume de Satan à celui du Seigneur.

## CCXLV. — L'économe infidèle.

3239. (Luc 16 : 1-8.) Pour comprendre l'enseignement que Jésus donne ensuite à ses disciples, et non plus aux pharisiens bien que présents, il faut une attention toute particulière, car il offre d'assez grandes difficultés. Les plus grandes, toutefois, sont venues de ce qu'on a voulu voir ici une parabole, tandis que c'est peut-être une histoire véritable. Elles viennent surtout de ce que, parabole ou histoire, on a interprété ce récit en appliquant à Dieu lui-même tout ce qui y est dit de l'homme riche. Or, dans ce système d'interprétation, l'on avait peine à concevoir que Dieu pût louer l'économe infidèle. Il est vrai que le maître ne loue que le savoir-faire de son indigne serviteur; mais cela même ne se conçoit pas facilement de la part de Dieu.

3240. Si l'on prend garde au but que se proposait notre Seigneur, but qu'indique nettement le verset 8, on comprendra que, parabole ou histoire, ce récit nous retrace une scène toute de ce monde. Et le maître et le serviteur sont des mondains. Celui-ci ne le montre que trop par les énormes abus de confiance dont il se rend coupable; celui-là, par l'espèce d'admiration qu'il ressent pour son habile voleur.

(**Luc 16** : 1-8.)

Ceci ressemble, trait pour trait, à ce que rapporte un ancien historien français (Ph. de Commines) au sujet du roi Louis XI, si connu par l'habileté de sa politique mondaine. Ce monarque avait des espions en Angleterre et jusque parmi les seigneurs de la cour. Un jour, il envoya quelqu'un de ses officiers avec l'argent destiné à payer la pension d'un de ces seigneurs, et avec ordre de rapporter un reçu en bonne forme. Mais, non-seulement l'Anglais, pour ne pas se compromettre, refusa de donner ce reçu, il fallut même que l'envoyé du roi glissât l'argent dans la manche de la robe du traître. En apprenant cela, Louis XI félicita beaucoup le roi d'Angleterre d'avoir un si habile homme à son service. Il admira donc le savoir-faire de ce misérable, comme, dans la parabole, le maître loue son intendant de ce qu'il avait agi avec prudence.

3241. Il se pourrait donc très bien que l'histoire de l'intendant infidèle et de son maître se fût passée telle quelle, à la connaissance de bien des gens; mais qu'elle soit réelle ou fictive, l'instruction demeure la même, et c'est une instruction pleine de vérité. Quoi de plus ingénieux et de plus persévérant en effet que l'homme qui poursuit l'objet de ses passions? Si quelque obstacle l'arrête, il avise aussitôt au moyen de l'écarter. Rien surtout ne l'effraye autant que la misère, et il a grand souci de son avenir terrestre, encore que cet avenir soit de courte durée. A ce point de vue, il sent très bien la valeur du moment présent. On pourrait croire qu'une fois converti, cet homme ne manquera pas de mettre aux choses de la vie éternelle la même activité et le même savoir-faire qu'il mettait auparavant aux choses du présent siècle; mais, hélas! il n'en est pas ainsi, et, comme le dit notre Seigneur : « Les fils de ce siècle sont plus prudents que les fils de lumière dans leur propre génération» [1147]. Cela ne signifie pas que les fidèles doivent rivaliser d'habileté avec les mondains pour les intérêts d'ici-bas, ni, cela va sans dire, qu'il puisse être question d'apporter dans les affaires du règne de Dieu le genre d'habileté, fréquemment si coupable, que les gens du monde déploient pour satisfaire leurs passions; mais il serait à désirer que, dans l'intérêt de leur âme et de la gloire de Dieu, les enfants de la lumière se montrassent conduits par la vraie prudence et par une sainte industrie, au lieu qu'on a si souvent la douleur et la honte de voir des incrédules faire, pour les biens périssables, ce que des croyants ne savent pas faire pour les biens éternels. Il faudrait, par exemple, que le départ de mille missionnaires fût quelque chose d'aussi naturel et

(Luc 16 : 9, 10.)

d'aussi fréquent, que les expatriations dont l'unique objet est de chercher fortune! Et puis, n'est-il pas vrai que ce qui reste en chaque fidèle de l'enfant du siècle déploie souvent dans les affaires de ce monde une énergie dont ils n'ont certes pas à se glorifier?

3242. Les exhortations et les maximes qui suivent cette première sentence de notre Seigneur se rattachent les unes aux autres moins étroitement qu'à la parabole. La première de ces maximes (9) a été quelquefois bien mal comprise. On a cru y voir la doctrine du salut par les œuvres et surtout par l'aumône; mais véritablement il n'y a là rien de pareil. Mammon, c'est le dieu des richesses, ou l'argent et l'or [2902]. Jésus l'appelle le Mammon de l'injustice, comme Dieu est appelé le Dieu de la vérité, le Dieu de la justice. L'amour de l'argent porte à toutes sortes d'iniquités, ce que montre si bien l'histoire de l'administrateur infidèle. Entre autres infamies, vous avez vu comment il s'y prit, ce mondain si prudent, pour se faire des amis qui l'accueillissent après sa déconfiture. Eh bien! notre Seigneur, qui veut que nous soyons plus prudents que les enfants de ce siècle, nous dit d'employer aussi notre argent à nous faire des amis, et des amis qui puissent, non pas nous introduire dans le ciel, ceci est l'œuvre même du Sauveur, mais nous y recevoir. Cela signifie que la meilleure manière d'employer notre argent, c'est de venir au secours des disciples pauvres du Seigneur Jésus, et de faire annoncer l'Evangile à ceux qui ne le connaissent point. Oh! oui, si nous avons fait quelque bien à ces petits qui croient en Jésus, si nous avons contribué par nos dons à la conversion de quelques âmes, nous rencontrerons dans le ciel, à côté du Sauveur, des frères et des sœurs qui nous accueilleront avec amour et avec joie (Dan. 12 : 3). Nous sommes sauvés par la pure grâce de Dieu; mais, par la foi en cette grâce, nous abondons en œuvres de charité; or, entre ces œuvres et le bonheur du ciel, il existe des rapports qu'il est facile de reconnaître.

3243. (10.) Un autre devoir de prudence chrétienne, c'est d'être fidèle dans les moindres choses, pour l'être aussi dans les grandes; car il est impossible que celui qui est injuste dans les petites circonstances ne le soit pas tôt ou tard dans les plus considérables. Il n'est pas de vérité morale plus généralement admise que celle-ci. L'économe infidèle n'en était pas venu tout d'un coup à cet excès de dépravation. On commence par peu et l'on finit par beaucoup. Il est donc évident que, si l'on veut éviter le crime, le plus sûr moyen est de fuir tout ce qui a l'apparence du mal. Mais en regardant de près aux pa-

roles du Sauveur, on voit qu'elles disent plus que cela. « Si quelqu'un est fidèle dans les petites choses, il est fidèle dans les grandes, et, injuste dans les petites, il l'est aussi dans les grandes. » Il *l'est* déjà, parce qu'on ne saurait commettre une petite faute sans violer quelque grand commandement, ni remplir en son entier un petit devoir sans accomplir quelque grande loi de Dieu. Par exemple, celui qui se met en colère sans cause oublie Dieu et s'élève, comme Caïn, contre son frère; or, un mouvement d'irritation semble généralement n'être qu'une faute aussi légère qu'elle est commune. D'un autre côté, celui qui, de bon cœur et non par une vaine politesse, salue en passant un homme dont il a pourtant à se plaindre, remplit un grand devoir de piété et de charité (Matth. 5 : 47). C'est ainsi que tout se lie dans la vie morale, et l'on peut dire, en un certain sens, que rien n'y est petit ou de peu d'importance.

3244. (11.) Il se peut aussi que, par les moindres choses, notre Seigneur ait entendu les biens de la terre, comparés aux biens spirituels et célestes, qui sont les grandes choses. A ce point de vue, les versets 10 et 11 ne feraient qu'un, et l'instruction qu'ils renferment se présenterait comme suit. L'injuste Mammon, cet or et cet argent qui sont une occasion de tant de péchés et de misères; ces biens terrestres dont la possession n'est pas toujours criminelle, quoique toujours dangereuse; la fortune, en un mot, dont nous jouissons, petite ou grande, nous appelle à la pratique de devoirs importants. La Parole de Dieu trace la marche à suivre en tout ce qui concerne l'acquisition, la conservation, l'emploi des biens de ce monde, et l'ensemble du caractère chrétien dépend beaucoup de la manière dont on se conduit à ces divers égards. Etre fidèle dans l'injuste Mammon et l'être dans les petites choses, sont donc deux expressions d'une même idée. De leur côté, les grandes choses et « ce qui est véritable, » désignent un seul et même objet; savoir, les biens spirituels et célestes. En conclusion, si un homme se montre habituellement inattentif à son devoir quant à l'injuste Mammon, c'est une preuve qu'il ne connaît, ni n'apprécie, ni ne cherche les véritables richesses, et celles-ci ne lui seront point données.

3245. (12.) Telle est l'importance de cet enseignement, que le Seigneur le reproduit avec une modification destinée à le rendre plus frappant encore. Ce qu'il avait d'abord appelé le Mammon de l'injustice, les moindres choses, il l'appelle *ce qui est à autrui*, et les grandes choses, les richesses véritables, il les désigne sous cette expression :

(**Luc 16** : 13; 14, 15.)

*ce qui est à vous*. C'est afin de nous rappeler, non pas seulement que nos biens terrestres appartiennent à Dieu, puisque ceux de la grâce viennent aussi de lui; mais que nous devons nous regarder comme les simples dépositaires de notre fortune et nous en dépouiller complétement, s'il le faut, pour nos frères, ce qui ne nous serait ni permis, ni possible quant aux biens de la foi. Et puis, ce que le Seigneur veut peut-être marquer par là, c'est que les biens de ce monde ne font pas un avec nous comme ceux de la grâce. Au moment de notre mort, si ce n'est avant, nous devrons les laisser; tandis que la mort, loin de nous priver des biens célestes, nous en donne l'entière possession. L'avare ne pense pas ainsi. Pour lui, les biens de ce monde sont le certain, ceux de l'éternité l'incertain; et, lorsqu'on porte atteinte à sa fortune, il semble vraiment qu'on attaque son être lui-même, ou, comme on dit vulgairement, qu'on lui arrache l'âme. Quant au vrai chrétien, en possédant Christ, il possède tout.

3246. (13.) Les iniquités dont s'était rendu coupable l'économe infidèle, venaient de ce qu'il avait fait de l'argent son dieu. Nous avons vu ailleurs l'incompatibilité qui existe entre l'amour de Dieu et l'amour de la fortune (**12**). Il résulte de là que celui qui met son cœur aux biens de la terre, est capable de tous les péchés, par cela même que Dieu n'est point avec lui.

3247. (14, 15.) Les pharisiens étaient « amateurs d'argent, » et si les avares savent très bien affecter les dehors de la religion et de l'humanité [386], souvent aussi leur passion les porte à se moquer des choses spirituelles, parce qu'ils ne sauraient en sentir l'excellence. Lors donc qu'on leur adresse le langage de la foi, il n'est pas rare de les entendre se railler de ce qu'il a de plus sérieux. Mais Jésus leur dit : « Vous pensez être justes et vous oubliez que Dieu regarde au cœur! Les hommes admirent votre piété; mais aux yeux de celui qui sait ce que vous cachez sous ces beaux dehors, vous êtes plutôt un objet d'abomination. » Il n'est rien, en effet, qui soit plus propre à inspirer de l'horreur, que le crime de ceux qui font de la piété un moyen de gagner de l'argent; car c'est mettre Dieu au service de Mammon. Si d'ailleurs vous remarquez la forme générale dont le Seigneur revêt ici sa pensée, vous direz avec moi : Oh! comme il faut que le genre humain soit profondément déchu pour pouvoir admirer tant de choses que Dieu hait; pour élever des statues, par exemple, ou pour tresser des couronnes à des hommes, dont les uns répandirent le sang comme de l'eau dans les guerres suscitées par leur ambition, et dont les autres

perdirent des millions d'âmes par leurs écrits licencieux ou impies!

3248. (16.) Quand on songe à l'empire que les passions exercent sur nous, particulièrement l'amour des biens du monde, on comprend ce que le Seigneur a voulu dire, en reparlant de la violence qu'il faut déployer pour entrer dans son royaume. Il s'agit de se vaincre soi-même, de briser toutes sortes de liens terrestres, et ce n'est pas par l'indécision, par la mollesse, par l'inconstance qu'on arrive là. Du reste, cette parole de Jésus rappelle indirectement que tout l'ensemble des révélations de Dieu se divise en deux grandes parties : d'abord, la loi et les prophètes jusqu'à Jean-Baptiste, puis l'Evangile ou la bonne Nouvelle, ou la prédication du règne de Dieu; règne dont les bases furent posées par Jésus-Christ durant son ministère, qu'il inaugura par sa résurrection et par l'envoi du Saint-Esprit, et qui doit se continuer en cet état temporaire, jusqu'au moment où il paraîtra dans sa gloire éternelle.

3249. (17.) Ce n'est pas à dire toutefois que la loi de Dieu soit susceptible de variations et encore moins qu'elle puisse être anéantie. Les cieux et la terre passeront dès que Dieu le voudra; car il n'y a rien en Dieu qui s'y oppose, puisque les cieux et la terre ne sont pas lui et ne participent pas à son essence; mais il n'en est pas ainsi de sa loi (Matth. 5 : 18.) L'Eternel ne pourrait l'abroger sans se renoncer lui-même.

3250. La déclaration contenue dans le verset 18 ne se lie facilement ni à ce qui précède ni à ce qui suit. Peut-être Jésus savait-il que, parmi les moqueurs auxquels il avait affaire en ce moment se trouvaient des hommes, non moins coupables que la Samaritaine de Sichar, qu'il fallait obliger de rentrer en eux-mêmes; peut-être aussi lui firent-ils diverses questions au sujet de la loi dont il venait de parler et avons-nous ici une de ses réponses. En la comparant avec ce qui est écrit en saint Matthieu (5 : 31, 32), nous voyons toujours plus combien sont contraires à l'Evangile, les divorces qui n'ont pas de cause légitime, et jusqu'ici, selon le Seigneur, il n'y en a qu'une. En dehors de ce cas exceptionnel, le mari divorcé qui se marie commet adultère, aussi bien que la femme divorcée qui se donne à un autre époux. Il est donc certain que, pour des chrétiens, le mariage est une union indissoluble. Ce n'est pas à dire, je le répète, que les lois ne puissent en permettre la rupture, puisque le mariage est un acte civil en même temps que religieux; mais si de telles lois sont nécessaires, c'est, hélas! parce que tous ceux qui portent le nom de chrétiens ne sont pas vraiment à Jésus-Christ.

(**Luc 16** : 19-31.)

## CCXLVI. — Le mauvais riche.

3251. (Luc **16** : 19-31.) Le récit que nous avons sous les yeux doit-il être envisagé comme une histoire ou comme une parabole? Ceux qui veulent y voir un fait réel, se fondent sur ce que le Seigneur y introduit deux personnages dont l'existence n'est rien moins que fictive, Abraham et Lazare. Mais au moment où Jésus prononça ce discours, époque à laquelle il comptait déjà la famille de Béthanie au nombre de ses amis [3172], Lazare n'avait pas encore été couché dans le sépulcre. D'ailleurs, si le vrai Lazare, frère de Marthe et de Marie, ne possédait pas de grands biens, ce qui est plus que probable; rien, toutefois, ne porte à penser qu'il fût plongé dans une misère comme celle dont le Seigneur fait ici le tableau. C'est donc par mégarde qu'on s'est avisé de voir ici le Lazare de Béthanie; mais nous saurons bientôt pourquoi notre Seigneur a désigné sous ce nom le pauvre de la parabole.

3252. Le riche n'est pas nommé. On est convenu de l'appeler le Mauvais Riche. Tout ce qui nous est dit cependant à son sujet, c'est qu'il menait grand train et s'occupait peu des malheureux. Il s'accordait les jouissances que sa fortune comportait, et, comme tant d'égoïstes, il ne pensait pas qu'il y eût personne dans la souffrance, parce qu'il ne manquait lui-même de rien. Il était donc de ces gens qui « thésaurisent pour eux-mêmes » (**12** : 16-21), qui dépensent en une seule soirée de festin, de bal, de concert, de théâtre, plus qu'il ne faudrait pour nourrir pendant un mois vingt familles pauvres. Ce n'est pas dire que ce fût là tout son crime, car à ce genre de vie s'associent ordinairement bien des désordres secrets; mais n'eût-il commis que ce seul péché, encore est-il que c'était un mauvais riche.

3253. Tous les riches ne sont pas tels que celui-ci, et tous les pauvres non plus ne sont pas des Lazare. Ce nom est l'équivalent d'Eléazar. Il veut dire *Dieu aide,* raison probable qui l'a fait choisir par notre Seigneur; sans compter qu'il appartenait à un homme que tout le monde connaîtrait un jour comme ayant été particulièrement aimé de Jésus. Le choix de ce nom est d'ailleurs destiné, non pas à nous montrer que nous ne devons assistance qu'aux pauvres qui aiment Jésus et que Jésus aime, mais à opposer, dans la parabole, un riche qui est pauvre en Dieu, à un pauvre qui est riche en la foi. Or, ici-bas, le bonheur semble appartenir exclusivement à l'opulence et bien des

indigents s'y trompent; ceux-ci, d'un autre côté, sont quelquefois dans un état à attendrir les cœurs les plus durs. Mais si l'incrédulité et l'égoïsme des premiers ne les empêchent pas de goûter d'enivrantes délices, si la foi des seconds ne les préserve pas de douleurs amères; il y a, pour les uns et pour les autres, une fin qui vient bientôt.

3254. La misère abrége la vie. Lazare meurt; mais qu'est-ce pour lui que la mort? C'est l'entrée de l'éternel repos de Dieu, c'est l'admission au bonheur de la famille dont Abraham est spirituellement le père. Après le pauvre, le riche meurt aussi; il est enterré, et ses richesses, non plus que ses plaisirs, ne peuvent le suivre au sépulcre. Au lieu de cela, des tourments inexprimables dans le séjour des morts, dans l'*adès*, selon le grec, dans ce lieu invisible, dans cette demeure des trépassés, dont les mystères ne nous sont qu'en partie révélés par les Ecritures. C'est ici surtout qu'il importe de se souvenir que nous avons sous les yeux une parabole et non une histoire, comme le prouvent du reste tous les détails du tableau. Il est vrai qu'il existe entre cette vie-ci et la vie éternelle, entre ce monde et le monde à venir, un lieu, ou plutôt un état intermédiaire qui est appelé *l'*Adès ou l'*Invisible;* mais, quel que soit ce lieu ou cet état, il faut le distinguer de la rétribution finale. En s'appuyant sur un assez grand nombre de passages, bien des chrétiens pensent que, de la mort au jugement, les âmes des hommes sont dans un état comparable au sommeil, à ce sommeil profond où l'on perd tout sentiment de son existence. S'il en est ainsi, le sort des méchants serait momentanément le même que celui des justes, et l'on comprendrait que le Seigneur ait pu représenter Abraham, Lazare et le mauvais riche, comme tous les trois à la fois dans l'*adès*. Mais, en suivant cette même supposition, les habitants de l'*adès* ne sauraient, ni se voir, ni s'entretenir de leur commune destinée.

3255. Aussi, bien que le Seigneur y place les personnages de la parabole, il a réellement l'intention de nous montrer ce qu'il arrivera d'eux au jugement dernier. Mais encore, voyez comme il est évident que c'est par figures que Jésus parle. Il n'est nullement probable que, dans le séjour éternel de la gloire et de l'ignominie, il puisse y avoir des communications entre les élus et les réprouvés; il l'est encore moins que ceux-ci soient destinés à exister au sein de flammes dévorantes, puisque la misère des impies est comparée ailleurs à des ténèbres (Matth. 22 : 13; 25 : 30). Cette eau qui est près de là et à laquelle le mauvais riche voudrait se désaltérer, est aussi une image. Le mal-

heureux parle comme s'il avait une langue et un palais à rafraîchir; or, bien que nos corps doivent ressusciter, il est manifeste que toute notre économie physique sera considérablement modifiée. Enfin, ce qui décide la question, me semble-t-il, c'est le désir que témoigne le mauvais riche de voir ses frères se convertir, désir digne d'un ange, et non d'un fils de Satan (Luc 15 : 10).

3256. Ces fictions néanmoins cachent de solennelles vérités, comme nous l'avons déjà vu dans plusieurs paraboles, où les circonstances les plus improbables sont souvent celles qui présentent les instructions les plus frappantes [3001, 3200, 3227]. Ici donc, le Seigneur nous fait connaître, sous des images terribles, quel sort épouvantable sera celui des réprouvés. Quoi de pire, en effet, que d'être consumé par les flammes; et comment le Seigneur pouvait-il mieux s'y prendre pour nous faire sentir toute l'horreur de se voir rejeté de Dieu? Alors chacun comprendra ce qu'il a perdu par sa faute; alors on criera pour être délivré, mais ce sera trop tard.

3257. Non-seulement ce sera trop tard; mais encore il est très juste qu'il en soit ainsi, comme le montre la réponse d'Abraham. « Mon enfant, » dit-il au mauvais riche (il importait que les pharisiens comprissent qu'on peut être fils d'Abraham et aller en enfer), « mon enfant, souviens-toi que tu as reçu tes biens en ta vie. » Quel souvenir pour un homme qui avait fait de l'argent son dieu! « Tes biens » (tous les biens que tu désirais, car tu ne te souciais pas des autres, aussi n'y en a-t-il plus pour toi maintenant), « et Lazare pareillement y a reçu des maux » (non pas tous les maux possibles, ni tous les maux que le péché aurait pu attirer sur lui, mais des maux toutefois dont sa qualité d'enfant de Dieu aurait dû, semble-t-il, le préserver), « et maintenant il est consolé et toi tu souffres de grandes douleurs. » « Par-dessus tout cela, continue Abraham, organe de Dieu dans la parabole, par-dessus tout cela, un grand abîme a été fermement établi entre nous et vous, afin que ceux qui veulent passer d'ici vers vous ne le puissent, ni ceux qui sont de là, vers nous. » C'est-à-dire qu'il n'y a pas un purgatoire après cette vie, comme le rêvent les catholiques-romains, ou, en d'autres termes, que nous n'avons, pour nous convertir, que le temps de notre séjour ici-bas : après cela vient l'éternité, heureuse ou malheureuse. Quelle solennelle et redoutable pensée!

3258. La misère des réprouvés sera telle que, si la chose était moralement possible, ils feraient tout au monde pour en préserver leurs

anciens amis. Mais, hélas! ils ont bien pu se perdre avec eux, ils ne sauraient maintenant les sauver. Et pourquoi se sont-ils perdus? C'est parce qu'ils n'ont voulu écouter ni Moïse, ni les prophètes. Pourquoi tant d'âmes, au milieu de nous, se perdent-elles pareillement? C'est qu'elles refusent aussi d'écouter Dieu, parlant dans l'Evangile. Les saintes Ecritures nous disent tout ce qu'il nous faut pour notre salut. Un mort qui ressusciterait à nos yeux, n'aurait rien à nous apprendre de plus. La vue de ce nouveau miracle pourrait étonner, confondre la pensée; mais, par lui-même, il ne convaincrait pas ceux qui sont décidés à demeurer dans le péché. Voyez les Juifs, témoins de tant de merveilles et même de plusieurs résurrections; ceux qui ne croyaient ni Moïse ni les prophètes, ne crurent pas mieux Jésus-Christ, et il en serait tout autant de nos jours.

3259. Au reste, l'intention principale de notre Seigneur dans cette parabole, fut bien moins d'effrayer à salut les riches mondains et de consoler ses disciples pauvres, que de faire sentir encore une fois l'importance infinie de la conversion, en indiquant le moyen par lequel s'opère cette œuvre excellente de la grâce divine, à savoir par la Parole de l'Ancien et du Nouveau Testament, parole que le Saint-Esprit a dictée aux prophètes et aux apôtres dans ce but exprès. C'est pourquoi, prétendre qu'on ne demanderait pas mieux que de se convertir et néanmoins se refuser à lire la Bible, c'est ressembler à un homme qui voudrait bien ne pas mourir de faim, et qui pourtant repousserait avec obstination toute nourriture.

### CCXLVII. — Le scandale; le pardon des injures; le non-mérite des œuvres.

3260. (L. 17 : 1-3; M. 18 : 7.) Alors Jésus se tournant vers ses disciples : « Il est imposible, leur dit-il, qu'il n'y ait pas des occasions de chute, » ou des *scandales*, ce dernier mot signifiant, on s'en souvient, une pierre qu'on rencontre sous ses pas et qui fait tomber. La chose en effet est impossible, à cause du mal qui est dans le monde et auquel ne correspond que trop le mal qui est dans nos cœurs méchants. Mais malheur à l'homme par le moyen duquel le scandale arrive! Souvent celui qui est pour d'autres une occasion de chute n'en est pas responsable, car on peut s'être scandalisé de ce qu'il remplissait son devoir; mais ici, notre Seigneur n'a pas en vue cette sorte de scandale. Malheur, veut-il dire, malheur à ceux qui, par leur incré-

(**Luc 17** : 3, 4. **Matthieu 18** : 15-20.)

dulité et par leurs péchés, entraînent les âmes à leur ruine. Ils font un mal qu'il leur est impossible de réparer. La mort même la plus affreuse vaudrait mieux pour eux; car s'il y a une malédiction sur l'homme qui commet le péché, il doit y avoir une malédiction double sur celui qui, par son péché, entraîne les autres dans la mauvaise voie.

3261. Ce sont les « petits » surtout, ceux qui sont encore faibles en la foi, qu'une pierre du chemin fera plus facilement broncher et tomber; c'est aussi lorsqu'on tend des embûches sous les pas des « petits » qu'on est le plus coupable. Quant à ceux qui sont grands en la foi, bien instruits et fort en évidence, il est clair que leurs péchés, comme celui de David (2 Sam. **12** : 14), sont en plus grand scandale que ceux des mondains. Voilà pourquoi notre Seigneur dit à ses disciples : « Prenez garde à vous-mêmes, » paroles qui se lient mieux peut-être au verset 2 qu'au verset 3. Les disciples de Jésus ont donc à être sur leurs gardes, soit pour ne pas céder aux occasions de chute, soit pour n'être pas en scandale; car rien n'égale leur responsabilité.

3262. (Luc **17** : 3, 4.) Déjà précédemment, le Seigneur avait fait sentir à ses disciples la nécessité du pardon des injures. Ici, nous retrouvons, avec quelques modifications, le même enseignement. On peut le résumer en ce peu de mots : « Un racheté de Jésus ne doit pas se lasser de pardonner, surtout à ceux qui manifestent du repentir. Mais ce devoir de miséricorde n'exclut pas celui de la répréhension fraternelle. Au contraire, si c'est par amour que nous pardonnons, nous nous sentirons portés, par ce même amour, à provoquer chez nos frères le sentiment de leurs fautes, quelque pénible que soit cette tâche. Il est plus commode parfois de se taire et d'oublier. Quand la faute est de peu d'importance, il vaut mieux peut-être en agir de la sorte; avouons néanmoins qu'oublier n'est pas toujours pardonner et qu'il y a souvent plus d'amour à reprendre son frère qu'à fermer les yeux sur ses torts (Lév. **19** : 17).

3263. (Matth. **18** : 15-20.) C'est ce qu'on voit avec une nouvelle clarté dans le récit plus long et plus circonstancié que saint Matthieu nous fait de ce même discours. Ici, comme en saint Luc, il s'agit d'offenses personnelles et non pas de toute espèce de péchés. Lors donc que nous avons à nous plaindre personnellement et d'une manière grave de quelqu'un de nos frères en la foi, nous devons commencer par le reprendre en particulier; c'est la marche que le Seigneur trace

pour l'entier accomplissement du devoir, de ce même devoir recommandé en saint Luc. Si l'offenseur nous écoute, tout est fini, tout doit être oublié : nous avons retrouvé un frère. Dans le cas contraire, nous prendrons avec nous une ou deux personnes, que nous constituerons arbitres entre lui et nous : s'il ne les écoute pas, nous déférerons l'affaire à l'assemblée. Au moment où le Seigneur parlait, son assemblée, ce qu'on appelle communément son Eglise, n'était pas encore fondée et il ne pouvait y renvoyer ceux qui avaient à se plaindre de leurs frères. D'un autre côté, il est peu probable qu'il adressât ses disciples à la synagogue. Il suit de là que l'assemblée dont il parle doit être celle des disciples eux-mêmes, telle qu'elle existait alors; or, partout où il y a quelques croyants, il s'en forme de semblables. Mais remarquez toujours qu'il s'agit ici d'offenses personnelles, et que le Seigneur ne songeait nullement à ériger des frères en une sorte de tribunal ayant charge de prononcer sur tous les péchés et sur toutes les fautes possibles.

3264. C'est d'une manière analogue que doivent procéder les chrétiens de nos jours. L'assemblée, ou ce qui, je le répète, est la même chose, l'Eglise à laquelle ils soumettront leurs différents, sera naturellement celle dont ils font partie. Si elle est trop nombreuse, ce seront les anciens de cette assemblée, et même, suivant les cas, ce sera la portion de l'assemblée avec laquelle ils entretiennent des rapports plus intimes et plus habituels. Or, si leur frère, déclaré coupable, ne veut écouter personne, ils doivent le traiter comme un homme étranger à la foi, ce qui ne signifie pas qu'il leur soit permis de le haïr. Enfin, tout ce qui, dans cet esprit d'ordre et de charité, se fera par une assemblée chrétienne pour le maintien de la paix commune, sera certainement ratifié dans le ciel, nous dit notre Seigneur. Entendrons-nous par là qu'il ait voulu donner à son Eglise un pouvoir infaillible et sans limites? Estimerons-nous surtout qu'il ait eu la pensée d'en revêtir les apôtres et leurs successeurs, réels ou prétendus, à l'exclusion de tous les autres? Non sans doute. En rapprochant cet endroit de celui où Jésus avait fait entendre une parole semblable (**16** : 19), nous voyons que ce qu'il y a de divin et d'infaillible dans l'Eglise, consiste en ces deux points : savoir, que partout où Jésus est fidèlement annoncé, Dieu même, en quelque sorte, parle par la bouche de ceux qui l'annoncent; en second lieu, que toute assemblée chrétienne qui se conforme scrupuleusement aux ordres de son chef, est sûre de ses actes, comme si le Seigneur eût prononcé lui-même.

(**Matthieu 18** : 21, 22; 23-35.)

Pour montrer d'ailleurs qu'il n'entendait point attribuer à certaine classe de disciples le monopole de ses grâces et de sa force spirituelle, il déclare que là où deux d'entre eux s'accorderont dans une commune prière, il sera prêt à les exaucer, et que toute assemblée réunie pour son service, quelque peu nombreuse qu'elle soit, est certaine de le posséder au milieu d'elle.

3265. (21, 22.) En donnant à ces dernières paroles de notre Seigneur le sens étendu que je viens d'exprimer, je ne crois pas m'écarter de sa pensée. Toutefois, je ne serais pas étonné qu'il eût eu spécialement en vue les prières et les assemblées ayant pour objet la réconciliation des frères, tant l'importance en est grande. Ce fut bien là ce qui, dans tout le discours de Jésus, frappa le plus les disciples, et plût à Dieu que leurs successeurs eussent toujours fait de même. Pierre, homme naturellement vif et emporté, Pierre dont le cœur impétueux avait le plus de peine, peut-être, à s'accommoder de l'enseignement que Jésus venait de leur donner sur le pardon des offenses, Pierre s'approche et lui dit : « Seigneur, combien de fois mon frère péchera-t-il contre moi et lui pardonnerai-je? Jusqu'à sept fois? » — Les Juifs, pense-t-on, disaient ainsi; beaucoup de prétendus chrétiens disent même moins; mais le Seigneur répondit : « Non pas jusqu'à sept fois; mais jusqu'à sept fois septante fois : » c'est-à-dire, le nombre sacré le plus considérable, ou en d'autres termes, toujours. Et pour faire sentir la justice de cette loi de son royaume, il prononça la parabole connue sous le nom de *la parabole du débiteur insolvable.*

3266. (23-35.) Il se compare lui-même à un roi qui va régler compte avec ses esclaves; puis, ses disciples, tous pécheurs et incapables d'expier leurs péchés, il les compare à un esclave qui devrait dix mille talents, c'est-à-dire une somme énorme. Evalués au taux le plus bas, 10,000 talents feraient douze millions de francs! Comment un esclave pourrait-il jamais payer une telle dette? Aussi le roi, touché de compassion, la lui remet-il gratuitement! Cet esclave à son tour avait des débiteurs; car si nous offensons Dieu, il est bien des gens qui nous offensent. Seulement, tandis que la somme de nos péchés peut être assimilée à une dette de douze millions, les fautes dont nos frères se rendent coupables à notre égard ne sont que cent deniers, ou environ 70 francs; car nous ne sommes pas en la place de Dieu, comme disait Joseph (Gen. 50 : 19), et si notre prochain ne remplit pas tous ses devoirs envers nous, nous ne lui rendons pas non plus tout ce que nous lui devons; en sorte que les dettes se compensent.

(**Luc 17** : 5, 6; 7-10.)

Or, voici quelque chose d'horrible ! nous prétendrions être de ceux à qui Dieu pardonne leurs nombreux péchés, et nous serions sans pardon pour nos frères ! N'est-il pas juste que si nous ne remettons pas aux hommes leurs offenses, le Père de notre Seigneur Jésus-Christ ne nous remette pas non plus les nôtres? Parole sévère, mais sur laquelle il n'y a pas un mot à répliquer.

3267. (Luc **17** : 5, 6.) Ce fut alors probablement, qu'effrayés des torts dont tant de fois la dureté de leur cœur les avait rendus coupables envers leur prochain; non moins effrayés des immenses difficultés que présente l'accomplissement du devoir spécial qui leur était prescrit avec tant de force, les disciples dirent au Seigneur : « Augmente-nous la foi ! » hommage indirect rendu à la divinité de leur Maître, car qui peut donner la foi, si ce n'est Dieu? En même temps, comme ils reconnaissent bien que la foi seule peut nous mettre en état de remplir nos devoirs entièrement. Le Seigneur, par sa réponse, leur montra qu'ils avaient un juste sentiment de la vérité. En effet, pardonner sans cesse n'est pas plus facile que d'enlever un mûrier de sa place et de le transporter dans la mer en prononçant un seul mot. D'un autre côté, si nous regardons du cœur vers Jésus, tant faiblement soit-il, il est impossible que nous demeurions impitoyables.

3268. (7-10.) Il se peut que la parabole de l'esclave inutile n'ait été prononcée que plusieurs jours après le discours précédent; il est assez facile néanmoins de l'en rapprocher, comme le fait l'écrivain sacré lui-même en supprimant les circonstances intermédiaires. Ainsi que nous l'avons dit tout à l'heure, c'est un grand devoir et un devoir plein de difficultés, que le pardon des injures ! En général, ce sont de grands et difficiles devoirs que ceux auxquels le Seigneur appelle ses disciples. Ils en seraient absolument incapables sans la foi et sans la grâce de Dieu dont elle découle. Mais ces devoirs étant accomplis, quelle est notre situation devant Dieu? C'est à quoi répond la parabole actuelle.

3269. Dans une précédente, le Seigneur avait semblé dire tout le contraire de celle-ci [3200]. Là il représentait un maître qui se met à servir ses esclaves; ici, il déclare que nul maître n'en agirait de la sorte. Dans l'une et dans l'autre, toutefois, il nous parle de la grâce de Dieu; là de son incompréhensible grandeur, ici de son absolue nécessité. L'homme même qui aurait accompli tous ses devoirs sans manquer en un seul point, n'aurait fait autre chose que ce qu'il doit : il n'apporte aucun profit à Dieu. S'il pèche, il mérite d'être

(**Luc 17** : 11; 12-19. **Matthieu 19** : 1. **Marc 10** : 1.)

puni; mais s'il ne pèche pas, il ne mérite pas de récompense. Pour qu'un esclave fût de quelque profit à son maître, il fallait qu'il ajoutât à son travail obligé un surcroît de travail dont le maître touchait les bénéfices. Or, bien loin d'avoir fait tout ce qui nous est commandé, nous avons tous péché en mille manières; comment donc ne sentirions-nous pas la nécessité de la grâce du Seigneur?

### CCXLVIII. — Les dix lépreux; une prophétie; parabole du juge inique; celle du pharisien et celle du péager.

3270. (L. **17** : 11; M. **19** : 1; Mc. **10** : 1.) En rapprochant ces trois versets, on voit que le Seigneur, qui, depuis la fête des Tabernacles, avait pour ainsi dire erré dans la Judée, fuyant la haine de ses ennemis; qui, plus d'une fois peut-être avait marché du côté de Jérusalem comme pour y retourner [3211], et chaque fois avait changé de route, se décida finalement à y reparaître, mais en prenant un chemin par lequel on ne pouvait guère l'attendre. Se dirigeant au nord-est, il traversa toute la Samarie, coupa la Galilée au sud, et, passant le Jourdain, il redescendit le cours du fleuve sur sa rive gauche, avec l'intention de le passer de nouveau plus au sud pour se rendre à Jérusalem. Ce fut pendant cette marche qu'il opéra la guérison dont nous allons parler, prononça une de ses grandes prophéties et donna deux enseignements dont nos lecteurs sentiront aisément toute l'importance.

3271. (Luc **17** : 12-19.) Ce n'était plus le temps où les miracles naissaient pour ainsi dire sous les pas de Jésus. Cependant, comme il se rencontra sans doute près de quelque hôpital où l'on séquestrait les lépreux, il guérit dix de ces pauvres malades, et parmi eux se trouvait un Samaritain. Celui-ci fut le seul qui, poussé par une foi véritable et comprenant ce que signifiait cette grande délivrance, revint auprès de Jésus en donnant gloire à Dieu. Ce fut à lui seul aussi que le Seigneur fit entendre cette douce parole : « Ta foi t'a sauvé. » Il y a donc à conclure de ce récit que le Seigneur accorde souvent des grâces temporelles à ceux mêmes qui ne cherchent pas auprès de lui la vraie guérison; que la foi, nous l'avons vu déjà bien souvent, est le seul moyen de salut qui nous soit offert par la miséricorde divine; que celui qui est sauvé par la foi, ne manque pas de rendre à Dieu le culte de la reconnaissance; enfin, que ceux qui semblent les plus éloignés du royaume de Dieu, comme ce Samaritain, en sont quelquefois les plus rapprochés.

(**Luc 17** : 20, 21; 22; 23, 24.)

3272. (20, 21.) Sur son chemin aussi, Jésus rencontra de nouveau des pharisiens, car il n'y en avait pas seulement à Jérusalem. Ceux-ci convaincus, et avec raison, que, d'après les Ecritures, le royaume de Dieu devait une fois s'établir sur la terre, mais trop aveuglés par leurs passions pour voir dans l'œuvre de Jésus l'inauguration de ce beau règne, lui demandèrent quand donc elle aurait lieu. Sur quoi le Seigneur se contenta de leur répondre, qu'envisagé d'une certaine manière, le royaume de Dieu ne viendrait point avec éclat. Ce royaume est d'une nature toute spirituelle. C'est dans le cœur d'abord qu'il doit s'établir, et, par cela même qu'il est spirituel, il ne se limite pas à certains lieux. Cependant, la puissance et la majesté du Seigneur se déploieront aussi d'une manière extérieure et sensible pour la glorification de son peuple et l'abaissement de ses ennemis. C'est là-dessus que porte la prophétie qui vient ensuite et que Jésus adressa, non point aux pharisiens, mais à ses disciples. En voici le sens, autant du moins qu'il m'a été donné de la comprendre.

3273. (22.) Notre Seigneur doit être manifesté de nouveau dans son humanité : c'est pour marquer cela qu'il se désigne expressément sous le nom de Fils de l'homme. Sa venue toutefois n'est pas fixée à un jour seulement. Il y a plusieurs jours du Seigneur, ou, en d'autres termes, il manifestera sa présence et son action souveraine, en divers temps et de diverses manières. Ainsi, l'on pourra dire que le Seigneur vient, chaque fois qu'une abondante effusion de son Saint-Esprit opérera de grands réveils parmi les hommes; il vient encore lorsqu'il exerce des châtiments solennels sur ceux qui rejettent sa domination; il vient aussi pour une âme fidèle quand il la retire de ce monde de péché et de misères, afin de la recueillir dans le sein d'Abraham. Mais rien de tout cela n'est le grand jour de sa venue, bien qu'on puisse dire que chacune de ces manifestations de la puissance de la miséricorde du Seigneur est « un des jours du Fils de l'homme. » Or, entre les traits qui caractérisent la foi des disciples, un des plus saillants, c'est qu'ils désirent constamment de voir un de ces jours. Mais, par la raison que ce sont des jours, des jours rares et souvent séparés par de longs intervalles, il arrive fréquemment à ceux qui les attendent avec le plus de foi, d'être frustrés dans leur attente. Ceci néanmoins ne saurait se dire du grand et dernier jour de la venue de Jésus-Christ : c'est sur le temps et sur la manière seulement, qu'on est exposé à se faire illusion.

3274. (23, 24.) Il y aura des gens qui, abusés par leur imagination

(Luc 17 : 25; 26-36.)

ou spéculant sur la foi simple des fidèles, deviendront entre les mains de Satan les instruments d'affreuses déceptions. On verra des hommes se donner pour le Christ; d'autres qui, les croyant, s'évertueront à propager l'erreur ou l'imposture. Cette étonnante prophétie s'est réalisée plus d'une fois dans le cours des siècles. Mais les disciples sages et prudents se sont souvenus de la parole du Maître : « Ne sortez pas; ne les suivez pas. » Non, n'allez pas où l'on vous dit qu'est le Christ, car vous pourriez être pris au piége du Tentateur. Quand le Fils de l'homme viendra dans sa gloire, ce sera comme l'éclair qui sillonne toute l'étendue du ciel. Il n'y aura pas besoin qu'on dise : Il est ici, ou il est là; personne, au fait, n'aura le temps de crier : « Le voilà, » que sa splendeur n'ait déjà rempli le monde entier.

3275. (25.) Pour que ceux qui entendaient la prophétie comprissent tout à la fois, et que cette gloire du Fils de l'homme n'était pas près de paraître, et qu'elle se rattachait à son humiliation préalable, le Seigneur leur rappelle ce qu'il leur avait déjà dit sur ses souffrances et sur ceux qui en seraient les auteurs. Nous donc aussi, lorsque nous dirigeons nos pensées vers la gloire à venir de notre Sauveur, ne le faisons pas sans les reporter également sur la mort ignominieuse qu'il a soufferte pour nos péchés. Ce sera le moyen le plus sûr de nous préparer à partager cette gloire.

3276. (26-36.) Revenant, après cela, aux jours futurs de sa venue et les comparant avec ceux de Noé et de Lot, le Seigneur déclare qu'ils arriveront subitement, comme jadis les eaux du déluge sur le genre humain et comme la pluie de feu sur Sodome; qu'ils trouveront les mondains tout occupés d'affaires terrestres et sans aucun souci de leur âme; que ceux qui seront alors en cet état périront misérablement (31); qu'il n'y aura plus aucun moyen d'échapper et qu'à ce moment surtout, on verra quels furent ceux qui donnèrent leur cœur à Jésus (32), ou qui, semblables à la femme de Lot, voulurent concilier Dieu avec le monde, leur foi n'ayant été qu'une foi morte (33). Malheur donc à ceux qui font de la vie présente leur principale affaire : ils perdront tout. Heureux au contraire ceux qui tiennent pour rien cette vie, au prix de l'éternité : ils ont pour héritage assuré la véritable vie (34-36). Mais, hélas! au jour du Christ, comme à présent, la terre offrira le spectacle d'un triste mélange de foi et d'incrédulité. En sorte que, de deux individus le plus étroitement associés ici-bas, l'un sera sauvé et l'autre perdu! Ah! ne nous reposons donc pas, pour le salut éternel de nos âmes, sur les relations

(**Luc 17** : 37. **18** : 1-7; 8.)

que nous pouvons entretenir avec des personnes pieuses, quelque intimes que soient ces relations : c'est à Jésus-Christ qu'il faut que nos cœurs s'unissent, si nous voulons entrer dans son règne.

3277. (37.) « Où, Seigneur? » dirent les disciples après les dernières paroles de leur maître : où, laissé; où, pris? Il est difficile de deviner quelle était leur pensée, et pour le moins autant de comprendre la réponse du Seigneur. — « Où sont les cadavres, là s'assemblent les oiseaux de proie. » Le sens de cette sentence est-il que le monde entier étant habité par des pécheurs, la calamité devra fondre en tous lieux; ou bien faut-il penser avec quelques-uns, que, confirmant d'anciennes prophéties [1031, 2457, 2459], le Seigneur faisait allusion aux aigles romaines et à la destruction prochaine de Jérusalem, ce cadavre infect; ou bien, enfin, la prophétie a-t-elle à la fois ce double sens? C'est une question sur laquelle peut-être nos Etudes jetteront plus tard quelque jour.

3278. (Luc **18** : 1-7.) A moins d'un endurcissement ou d'une légèreté que je n'aime pas à supposer chez mes lecteurs, il me semble impossible qu'ils pensent au retour du Seigneur sans élever leur cœur en haut par de ferventes prières. Et comme nous devons vivre avec cette pensée habituelle [3201], il en résulte que la prière est l'état constant du chrétien. Pour nous faire sentir encore une fois la nécessité d'y persévérer, le Seigneur emploie une parabole pleine d'énergie. Oui, si le juge inique se laisse vaincre par les instances d'une pauvre veuve, qu'est-ce que Dieu, qui est tout amour et justice, ne fera pas pour ses élus? Ceux-ci ont immensément à souffrir de la part d'un monde incrédule; mais le Seigneur finira par prendre leur défense d'une manière éclatante. C'est notamment ce qu'il fera, le jour de sa venue, jour de gloire pour les siens et de confusion pour leurs adversaires. Maintenant, il use de longanimité envers ces derniers, soit parce qu'il a au milieu d'eux des élus à manifester, soit parce que les élus déjà manifestés ne cessent de prier en faveur de leurs ennemis; mais si Dieu montre ici-bas une telle patience envers le monde même, à cause de ses élus, c'est une raison pour que le jugement du monde et la délivrance finale des fidèles se fassent avec d'autant plus d'éclat.

3279. (8.) « Au reste, ajoute le Seigneur, quand le Fils de l'homme sera venu, trouvera-t-il la foi sur la terre? » — Encore une parole prophétique dont le sens précis est difficile à saisir, par la raison qu'elle n'est pas accomplie. Peut-être signifie-t-elle simplement que, quel

(**Luc 18** : 9-14.)

que soit le moment où le Seigneur viendra, la foi n'aura pas pris possession de tous les cœurs sur la face entière du globe, malgré des prophéties qui pouvaient sembler annoncer le contraire [2183]. Tout comme nous disons que la paix ne se trouve pas ici-bas, quoiqu'il y ait pourtant bien des âmes où, par la grâce de Dieu, elle règne; de même, il est vrai de dire que la foi n'est pas de ce monde et que, jusqu'à la fin, il y aura *de la foi* sur la terre, mais non pas *la foi*. Or c'est de cette dernière manière qu'il faut traduire l'original.

3280. (9-14.) A ces graves enseignements succède une parole où nous voyons quelle est la vraie base de la foi qui sauve, et en même temps ce que doit être la prière, le Seigneur ayant dit tout à l'heure qu'il faut prier sans cesse. Quand on veut s'estimer juste, on ne saurait manquer de tenir les autres pour rien, car c'est un moyen facile de se grandir à ses propres yeux; et quand on tient les autres pour rien, c'est une preuve qu'on se juge très favorablement soi-même, car celui qui voit le péché qui souille son âme, est tout au moins indulgent envers ses frères pécheurs. Or, avec de telles dispositions, on est fort loin de la foi et du salut; témoin soit le pharisien de la parabole. Il semble avoir de la piété, car il rend grâces à Dieu; mais par le fait il se croit juste devant lui. Parce qu'il n'a pas commis les plus horribles crimes; parce qu'il est, à plusieurs égards, supérieur à un péager, païen de naissance selon toute probabilité; parce qu'il accomplit, avec une grande régularité, certains devoirs extérieurs de la dévotion, il ne doute pas que Dieu ne lui soit favorable. Mais, que dit le Seigneur? Cet homme s'élève, il sera abaissé.

3281. Admirez au contraire le péager. Tandis que le pharisien a fait sa prière debout au milieu de la foule, il se tient humblement à l'écart, il n'ose pas lever les yeux au ciel, il se frappe la poitrine et il dit : « O Dieu! sois apaisé envers moi, pécheur! » Il ne voit que Dieu et lui; tout le reste du monde s'efface de son souvenir. S'il a fait quelque bien, il ne s'en souvient pas davantage; et quant à s'excuser, il n'y songe nullement. Il est pécheur; il le sent, il l'avoue; Dieu a le droit d'être irrité contre lui, et il le supplie de s'apaiser envers le pécheur. En un mot il s'abaisse; c'est pourquoi il sera élevé. « Celui-ci, dit Jésus, descendit en sa maison justifié plutôt que l'autre. » Comme c'est une parabole, le Seigneur ne la prolonge pas au delà de ce qu'il fallait pour son dessein, qui était de montrer que l'humble sentiment de sa misère est la vraie base de la foi qui sauve; mais, si l'on voulait convertir la parabole en histoire véritable et la compléter,

(**Jean 10** : 22; 23-30.)

on le pourrait aisément, selon l'esprit de l'Evangile, en disant : «Ainsi humilié, le péager rencontra Jésus qui se fit connaître à lui comme le Christ, le Sauveur du monde, et il crut; et le Seigneur lui dit : «Ta foi t'a sauvé, va-t'en en paix, tes péchés te sont pardonnés. »

—

## DE LA FÊTE DE LA DÉDICACE A LA SEMAINE SAINTE.

### CCXLIX. — Nouvelles déclarations de Jésus sur sa personne. Jésus dans la Pérée; il parle sur le divorce et bénit les petits enfants. Maladie et mort de Lazare.

3282. (Jean **10** : 22.) J'ai déjà dit que la fête de la Dédicace avait été instituée par Judas Macchabée, en mémoire de la restauration du temple après les profanations d'Antiochus Epiphane. Elle se célébrait le 25 de Cisleu, mois correspondant à notre mois de décembre [681]. Comme c'était une fête d'institution humaine, les Israélites ne se faisaient pas une obligation de s'y rendre. Toutefois elle attirait un certain concours de peuple, raison suffisante pour que notre Seigneur s'y rencontrât, car le temps se hâtait (**9** : 4).

3283. (23-30.) Il ne paraît pas cependant que le Seigneur ait fait autre chose cette fois-ci, que de se montrer quelques instants; mais le souvenir de son précédent séjour était resté comme une flèche dans le cœur de ses ennemis, en sorte qu'il put reprendre le fil de ses entretiens au point même où ils avaient été interrompus [3158]. Jésus s'était rendu au temple, lieu où les Juifs s'assemblaient en tout temps, et surtout lors des fêtes. Il allait et venait sous un des grands portiques qui entouraient le saint lieu et qu'on appelait le portique de Salomon, lorsque les Juifs l'invitèrent à déclarer s'il était vraiment le Christ? Mais, bien qu'il ne le leur eût pas dit, à eux, en propres termes, cela ne résultait-il pas de toutes ses déclarations? Ils le sentaient au fond de leur conscience; aussi Jésus se contenta-t-il de leur reprocher l'obstination qu'ils mettaient à le méconnaître (25), et, reprenant l'image dont il s'était servi deux mois auparavant (26), il oppose leur conduite à celle qu'ils auraient tenue s'ils avaient été de ses brebis; puis il rappelle à quoi l'on reconnaît celles-ci et les grands priviléges qui leur sont assurés (27-29). Et comme il venait de dire qu'il connaît ses brebis, qu'il leur donne la vie éternelle, que personne ne peut les ravir de sa main (car ce serait les ravir de la main même

(**Jean 10** : 31-38; 39-42. **Matthieu 19** : 1, 2. **Marc 10** : 1.)

de son Père), tout autant de choses qui attestaient sa divinité, il conclut par ces paroles solennelles : « Moi et le Père sommes un » (30), un seul et même être.

3284. (31-38.) Les Juifs saisirent très bien le sens de cette déclaration, car ils prirent des pierres pour lapider Jésus, comme s'il eût blasphémé. Mais le Seigneur leur dit avec une sainte et sublime ironie : « J'ai fait devant vous beaucoup de bonnes œuvres de la part de mon Père; pour laquelle de ces bonnes œuvres voulez-vous me lapider? » Sur quoi ils répondirent : « Ce n'est pas pour une bonne œuvre que nous voulons te lapider, mais c'est qu'étant homme, tu te fais Dieu. » Or, afin de détourner l'orage au moyen d'une question propre à les embarrasser, il leur cita le verset 6 du Psaume **82**, où le mot de « dieu » est appliqué aux juges du peuple, par la raison qu'ils étaient les organes de la justice divine, bien qu'ils fussent de simples mortels; et il leur demanda si, à prendre le mot dans sa moindre acception (ce à quoi ils auraient consenti, moyennant quelque bienveillance), il ne pouvait pas s'attribuer la qualité de Fils de Dieu, lui que le Père avait si manifestement marqué de son sceau et envoyé dans le monde? Ce n'est pas du reste qu'il voulût restreindre en aucune façon le sens qu'ils avaient mis eux-mêmes à ses paroles, car il termine en les reproduisant sous une autre forme : « Croyez, dit-il, que le Père est en moi et moi en lui, » ce qui revenait encore à ceci : « Moi et le Père sommes un. »

3285. (39-42; M. **19** : 1, 2; Mc. **10** : 1.) Ce fut bien de la sorte que l'entendirent les Juifs, car ils cherchèrent derechef à s'emparer de lui; mais il leur échappa, et il s'en alla de l'autre côté du Jourdain. C'était en ces lieux que Jean avait commencé son ministère, et ce fut là, pour ainsi dire, que Jésus acheva le sien. Il y demeura pendant au moins deux mois, janvier et février. Beaucoup de gens se rendirent auprès de lui, et la foi y faisait des progrès réjouissants. Les discours du Seigneur rappelaient ceux de Jean; mais ce que Jean n'avait pas fait, c'était des miracles. Ceux-ci se multipliaient sous les mains puissantes du Seigneur; puis, on voyait clairement que tout ce que Jean avait dit de Jésus était parfaitement véritable.

3286. Les évangélistes nous donnent d'ailleurs peu de détails sur cette courte portion du ministère de notre Seigneur. Deux traits seulement, qui paraissent appartenir à cette époque, nous le montrent toujours harcelé par des ennemis auxquels il ne se lasse pas de fermer la bouche; puis, toujours heureux d'instruire ses disciples et de

(**Matthieu 19** : 3-12; 13-15. **Marc 10** : 2-12; 13-16. **Luc 18** : 15-17.)

bénir les humbles. C'est d'abord, une discussion sur le divorce; ensuite, la bénédiction des petits enfants par l'imposition des mains.

3287. (M. **19** : 3-12; Mc. **10** : 2-12.) Vous vous rappelez que, précédemment déjà, le Seigneur s'était élevé contre les divorces si fréquents chez les Juifs (2855, 3250). Les pharisiens, ces hypocrites que Jésus retrouvait partout, bien qu'ils ne fussent nulle part aussi nombreux ni aussi puissants qu'à Jérusalem; les pharisiens, qui n'étaient sûrement pas innocents de cet abus, et qui ne cherchaient que les occasions d'embarrasser le Seigneur par leurs questions et de le tenter à parler contre la loi, lui firent remarquer l'opposition qui existait sur ce point entre sa doctrine et l'institution de Moïse. Sur quoi Jésus leur dit que si, par la permission de Dieu, leur grand législateur avait autorisé le divorce, c'était une de ces lois civiles dans lesquelles on est obligé de prendre en considération la méchanceté du cœur humain; que, d'ailleurs, ce même Moïse leur avait révélé de la part de Dieu comment l'Eternel, au commencement du monde, ne créa qu'un seul homme et qu'une seule femme, les unissant l'un à l'autre par un lien indissoluble; d'où il résultait que la répudiation de la femme par son mari aurait dû toujours être envisagée comme un cas extrême, au lieu de devenir une coutume dont on se prévalait sous le moindre prétexte.

3288. Rentrés dans la maison, les disciples l'interrogèrent de nouveau sur ce sujet. Ils lui représentèrent que ses principes tendaient à rendre fort dure la condition du mariage; en sorte qu'après tout, mieux valait ne pas se marier. Sans les approuver, Jésus leur dit pourtant qu'il était un cas, en effet, où l'homme faisait bien de se vouer au célibat; savoir, s'il s'agissait de se consacrer entièrement au service de Dieu et de l'Evangile; mais encore fit-il observer que pareil renoncement n'est pas donné à tout le monde. L'expression dont il se servit peut signifier aussi que l'élévation de sa pensée ne pouvait pas même être comprise de tous. Effectivement, on en est venu à l'entendre dans le sens des vœux monastiques, et certes ce n'était pas là ce que le Seigneur avait en vue.

3289. (L. **18** : 15-17; M. **19** : 13-15; Mc. **10** : 13-16.) A cette même époque, eut lieu une scène d'un grand intérêt et qui nous est racontée dans trois Evangiles, avec quelques différences. On amena vers Jésus de petits enfants, pour qu'il leur donnât sa bénédiction, en posant les mains sur eux ou seulement en les touchant. Quelques-uns de ceux qui exprimaient ce désir y mettaient peut-être plus de

superstition que de vraie foi. Dans tous les cas, les disciples ne comprenaient pas qu'on pût, à ce point, importuner leur Maître ; en sorte qu'ils s'efforçaient d'écarter ces enfants et ceux qui les conduisaient. Mais Jésus, toujours si bon pour ceux qui se confient en lui, fut indigné de la manière, dure sans doute, avec laquelle ces pauvres petits étaient repoussés. Il les fait venir, il les embrasse avec tendresse, il pose les mains sur eux et il les bénit, en prononçant une parole trop connue pour qu'il soit nécessaire de la transcrire.

3290. Cette parole de notre Seigneur mérite une sérieuse attention, et de la part des enfants, et de la part des personnes chargées de leur éducation. Il y déclare que sa doctrine et sa grâce sont destinées aux petits comme aux grands. Pour se croire dispensé de faire connaître l'Evangile aux enfants, il faudrait, ou bien qu'ils n'eussent pas besoin d'un Sauveur, ou bien qu'ils fussent hors d'état de comprendre les choses du salut. Or, quant au premier point, « ce qui est né de la chair est chair » (Jean **3** : 6), et sitôt que la conscience d'un enfant commence à parler, c'est-à-dire de très bonne heure, on doit, avec l'aide de Dieu, tâcher de la réveiller et de l'amener à Jésus par cette nouvelle naissance qui vient du Saint-Esprit. Quant à l'intelligence des choses du salut, il est manifeste que Dieu peut la donner à un enfant, et qu'il le fait souvent d'une manière très remarquable.

3291. Bien plus, on voit par cette même parole du Seigneur et par la déclaration solennelle dont il l'accompagne (Luc **18** : 17), que les enfants sont mieux qualifiés que personne pour devenir membres de son royaume, c'est-à-dire pour recevoir son salut et devenir ses disciples. Pécheur par le fait même de sa naissance, un petit enfant toutefois n'est point encore endurci dans le mal ; sa raison plus simple ne se laisse pas séduire par les sophismes des passions ; il est confiant ; il croit facilement ce qu'on lui dit ; il sent le besoin de secours, de protection, de délivrance. Aussi Jésus exprime-t-il nettement que si un homme, à quelque âge qu'il soit parvenu, ne revêt pas les dispositions d'un petit enfant, ces dispositions mêmes que je viens d'énumérer, il ne peut devenir son disciple, ni avoir part à sa gloire. — Après cela, Jésus partit, nous dit saint Matthieu (**19** : 15). Ce devait être son dernier voyage, et nous allons voir dans un autre Evangile quelle circonstance détermina le moment du départ.

3292. (Jean **11** : 1-3). On touchait au printemps ; les jours s'allongeaient et bientôt ils allaient égaler les nuits ; alors venait la Pâque, cette Pâque même qui devait être la dernière pour notre Seigneur.

(**Jean 11** : 4-10; 11-16.)

A ce moment, un des disciples bien-aimés de Jésus, Lazare, le frère de Marie et de Marthe, était tombé dangereusement malade, dans sa maison, à Béthanie, village voisin de Jérusalem. Marie, sa sœur, nommée la première, à cause sans doute du rôle plus éminent que lui a valu sa profonde piété, Marie était cette femme qui, au témoignage même de Jésus, avait choisi la bonne part (Luc **10** : 42); mais comme Jean ne raconte pas cette circonstance, il caractérise Marie par un fait qui eut lieu plus tard, ainsi que nous le verrons, et qui se lit dans son Evangile et dans deux autres. Lazare donc étant malade, ses sœurs le firent savoir à Jésus, en recommandant à ses compassions celui qu'il aimait. Est-ce donc que le Fils de Dieu ne sait pas toutes choses? Oui, sans doute; mais notre devoir est de nous adresser à lui dans nos peines. Le message de Marthe et de Marie ne signifiait pas nécessairement : Tu ignores que ton ami est malade; mais il signifiait : Nous avons besoin de ton aide et nous y recourons.

3293. (4-10.) Ce que le Seigneur dit alors prouve en effet que rien ne lui est caché [324]. Non-seulement il n'ignorait pas que Lazare était malade; mais encore il savait quelle serait l'issue de cette épreuve : il la voyait déjà tourner à la gloire de Dieu et à sa propre gloire, ce qui est tout un. Et puis, Jésus aimait Marthe et sa sœur et Lazare; Marthe, nommée cette fois la première, pour montrer que, devant le Seigneur, il n'y a pas d'acception de personnes, et que les faibles en la foi lui sont chers aussi. Or, quoi qu'il arrive à ceux que le Seigneur aime, on peut être assuré que c'est pour leur bien. Cependant Jésus laissa passer deux jours avant de quitter la Pérée. Les disciples étonnés, non pas de ce retard, mais de ce qu'il osait se montrer encore une fois à ceux qui avaient voulu le lapider, auraient désiré de le retenir; mais Jésus leur fit comprendre, en citant certains proverbes généralement répandus, qu'il y avait temps pour tout, comme nous le dirions, et qu'il savait bien ce qu'il faisait.

3294. (11-16.) Ensuite, le Seigneur apprit à ses disciples ce que lui seul pouvait savoir : et que leur ami Lazare était mort, et qu'il allait le rappeler à la vie. Il le leur dit en termes assez clairs; toutefois ils ne le comprirent pas d'abord. Parce que notre Seigneur avait parlé de sommeil, ce qui est le vrai mot pour désigner la mort, ils crurent que Lazare dormait réellement et ils pensaient que c'était le symptôme d'une prochaine guérison. Jésus fut donc obligé de leur dire tout ouvertement : « Lazare est mort. » En même temps, il leur fit entendre que cette mort serait pour eux un grand sujet de joie et

(**Marc 10** : 17; 17-27. **Matthieu 19** : 15; 16-26. **Luc 18** : 18-27.)

que, s'il ne s'était pas rendu plus tôt à Béthanie, c'était afin que le miracle dont Lazare allait devenir l'objet les frappât davantage. Mais Thomas, un des douze, dit aux autres disciples : « Nous aussi, allons, afin de mourir avec lui, » parole qui montre la tendre affection qu'il portait à son Maître; ce qui ne veut pas dire qu'il possédât toute la foi qui lui eût été nécessaire pour partager volontairement le sort funeste vers lequel Jésus lui paraissait courir. C'est donc l'exclamation d'un cœur ardent, mais qui ne se connaît pas.

### CCL. — Départ pour Béthanie; entretien avec un jeune magistrat; grandes promesses; parabole des ouvriers.

3295. (Mc. **10** : 17; M. **19** : 15.) Bien que les autres évangélistes se taisent sur la mort et la résurrection de Lazare, il est facile d'en intercaler le récit dans les leurs propres. Par Marc et Matthieu nous apprenons qu'après avoir béni les petits enfants, notre Seigneur partit du lieu où il était. Allant à Jérusalem, il devait passer par Béthanie, et voici quelques-unes des circonstances de son voyage. Ce fut le dernier; il doit avoir pour nous quelque chose de particulièrement solennel.

3296. (L. **18** : 18-27; M. **19** : 16-26; Mc. **10** : 17-27.) C'est d'abord un jeune homme, magistrat des Juifs, qui se jette à genoux devant Jésus, en s'écriant : « Bon Maître, quel bien faut-il que je fasse pour hériter la vie éternelle? » Tout dans la conduite de cet homme nous atteste que son âme était sérieuse; aussi la réplique du Seigneur le fut-elle à un haut degré. Pour lui faire comprendre que nous ne saurions obtenir la vie éternelle par nos bonnes œuvres, il commence en lui déclarant d'une manière indirecte, que Dieu seul étant bon, tout homme donc est méchant. Encore que l'interlocuteur de Jésus se fût mis à genoux devant lui, il ne reconnaissait pas en sa personne le Fils de Dieu. Il l'avait simplement salué du nom de Rabbi ou de docteur. Or, il n'entrait pas dans les intentions du Seigneur de lui annoncer, dès ce moment, sa divinité; mais, se plaçant à son point de vue, il lui dit : « Puisque tu ne vois en moi qu'un homme, sache que nul homme n'est bon; il n'y a qu'un seul bon, c'est Dieu. »

3297. (L. **18** : 18-27; M. **19** : 16-26; Mc. **10** : 17-27.) Cependant il fallait aller plus loin. Afin de convaincre cet honnête mondain qu'il ne pouvait avoir la vie éternelle par ses œuvres, Jésus lui rappelle les commandements de la seconde Table (Exode **20**), en re-

(**Luc 18** : 18-27. **Matthieu 19** : 16-26. **Marc 10** : 17-27.)

tranchant même le dixième, devant lequel il n'y a pas moyen de ne pas se reconnaître pécheur. La marche que suivit le Seigneur devait avoir pour effet de montrer à ce jeune magistrat combien il comprenait peu la loi de l'Eternel ; car, prise en son sens spirituel (Matth. **5**), qui prétendra l'avoir gardée de tout temps, même dans ce qu'elle a de plus élémentaire? Pour cela, il faudrait n'avoir jamais haï, n'avoir jamais menti, n'avoir d'aucune manière manqué d'égards envers père et mère. Le Juif à qui Jésus parlait, charnel comme tous ses frères et ne voyant que la lettre des commandements, affirmait les avoir observés dès sa jeunesse.

3298. Il est évident qu'il était dans une grande illusion; mais au lieu de le lui faire sentir par de longs raisonnements, Jésus, qui voulait d'ailleurs lui montrer combien il l'aimait, lui dit avec une grande affection : « Si tu veux être parfait, va, vends tout ce que tu as, et suis-moi » (Luc **12** : 33). Bien que ce jeune homme ne reconnût pas le Seigneur pour ce qu'il était, tout atteste qu'il l'envisageait comme un docteur envoyé d'en haut. Cela étant, si les vertus dont il se glorifiait avaient été le fruit d'une obéissance véritable envers Dieu, il n'aurait pas hésité à faire ce que Jésus lui ordonnait de sa part. Mais il était fort riche, et, tout attristé de ce qu'il venait d'entendre, il s'en alla. Il manquait une seule chose à ce jeune homme (et que ceux qui lisent ceci y prennent garde) ; il lui manquait une seule chose, mais cette chose est tout. Il n'avait pas rempli ses devoirs par amour pour Dieu, ce n'était pas la volonté de Dieu qu'il avait faite, mais la sienne propre. Si donc il avait vécu d'une vie honnête, il n'en était pas moins un mondain, comme le fils aîné de la parabole de l'enfant prodigue, avec moins d'égoïsme dans l'âme; mais enfin toute sa moralité n'était d'aucune valeur pour la vie éternelle.

3299. Alors, notre Seigneur déclara qu'il est difficile et, dans un certain sens, impossible aux riches de devenir ses disciples, tant est grande la tyrannie de Mammon sur ceux qui le servent. Mais les hommes qui entendirent cette parole, gens pauvres pour la plupart, en furent dans la stupéfaction. Ils avaient cru peut-être tout le contraire. Aussi s'écrièrent-ils : « Qui donc sera sauvé? » Il est vrai, semble répondre Jésus, il est vrai que les pauvres aussi mettent leur cœur aux choses de la terre; il est vrai, qu'au fond le salut est difficile pour tous; non pas difficile seulement, mais humainement impossible. Aussi le salut vient-il de Dieu; c'est lui qui sauve, et ceux qui sont sauvés le sont par la foi, non par les œuvres. « Les choses

(**Luc 18** : 28-30. **Matthieu 19** : 27-30. **20** : 1-16. **Marc 10** : 28-31.)

impossibles quant aux hommes sont possibles quant à Dieu. » C'est lui qui convertit et qui donne la vie à qui il lui plaît.

3300. (L. **18** : 28-30; M. **19** : 27-30; Mc. **10** : 28-31.) Après ce qui venait de se passer, l'apôtre Pierre, reportant son souvenir sur le jour où Jésus les avait invités, lui et ses collègues à le suivre; touché, je suppose, de la grâce que le Seigneur leur avait faite en triomphant des résistances de leur cœur charnel, Pierre, dis-je, lui demanda ce qu'il lui arriverait? Or, de quelque manière qu'on explique les termes de la réponse, il demeure évident qu'une grande gloire est réservée aux apôtres de Jésus pour le jour où Jésus lui-même entrera dans sa gloire. Mais ce n'est pas à eux seulement que sont faites les promesses. Tout homme qui, pour l'amour du Christ, aura renoncé aux objets de ses affections terrestres, les verra, dès ici-bas, remplacées par d'autres objets non moins capables de remplir son cœur, bien qu'avec toutes sortes de persécutions, est-il dit en saint Marc; et, après cette vie, c'est une éternelle félicité qui sera son partage. Ainsi, quoi qu'il nous soit absolument interdit de nous attacher à Jésus par calcul, il est sûr qu'il y a tout profit à lui faire les plus grands sacrifices.

3301. (Matth. **20** : 1-16.) Ici vient la parabole des ouvriers, parabole dont l'explication n'est pas facile. Peut-être faut-il l'envisager dans son ensemble, plutôt que dans ses détails. Précédée et suivie de cette maxime : « Beaucoup des premiers seront les derniers et des derniers, les premiers, » il semble qu'on doive surtout y voir l'éclaircissement de cette déclaration. Afin que les apôtres ne missent pas une confiance charnelle dans la prérogative qui leur avait été accordée d'entrer les premiers dans la vigne du Seigneur, Jésus leur fait entendre que d'autres y entreront plus tard, et que la grâce de Dieu qui les y appellera ne les laissera pas non plus sans récompense. D'une manière plus générale, quoiqu'il y ait des pécheurs que Dieu daigne convertir à lui dès les premières années de leur vie, il ne faut pas croire que ceux qu'il convertit sur leurs vieux jours ne seront pas tout aussi bien sauvés. Mais quelle preuve frappante que le salut est par la foi, et non par les œuvres; car si c'était par les œuvres qu'on fût sauvé, il est clair que celui qui se convertit au terme d'une carrière oisive (à la onzième heure, soit à cinq heures du soir) ne pourrait d'aucune façon être traité de pair avec celui qui a travaillé dès le matin.

3302. Ce n'est pas certes un encouragement à renvoyer de se con-

(**Luc 18** : 31-34. **Matthieu 20** : 17-19. **Marc 10** : 32-34.)

vertir, car le Seigneur suppose dans tous les cas un appel de Dieu; et, si nous repoussons les appels qu'il nous adresse *aujourd'hui*, rien ne nous garantit qu'il les renouvellera plus tard. Il est vrai que les ouvriers appelés à la onzième heure reçurent un denier aussi bien que les autres; mais s'ils étaient restés sur la place publique sans rien faire, c'est que personne ne les avait loués, ou engagés : dès que l'ouvrage leur fut offert, ils y coururent. Voilà ce qui, dans la parabole, se rapporte à cette déclaration : « Les derniers seront les premiers. »

3303. Quant à ces « premiers qui seront les derniers, » cela peut s'entendre des fidèles qui, faibles dans la foi et dans la vigilance, bien que depuis longtemps éclairés par le Seigneur, se voient devancés en foi et en sainteté par d'autres fidèles, convertis longtemps après eux. Cela peut s'entendre aussi des âmes qui, appelées également, à réitérées fois et de bonne heure, par la voix pressante du Seigneur, et ayant, en apparence, marché quelque temps avec lui, se trouveront finalement au nombre de ceux qu'il ne connut jamais (Matth. 7 : 21-23). A ce point de vue, il y aurait quelque rapport entre eux et le fils aîné de la parabole de l'enfant prodigue. Comme lui, ces ouvriers trouvent mauvais que le maître de la vigne donne une égale rétribution aux derniers venus, bien qu'il ne leur fasse à eux-mêmes aucun tort. Les uns ont travaillé en vue d'un salaire : ils avaient convenu avec le maître pour un denier; tandis que les autres sont allés de confiance et sans savoir ce qu'on leur donnerait. Chez les premiers est l'esprit mercenaire; chez les autres, la foi. Ainsi les premiers seront les derniers, et, en prenant la chose dans ce sens, on comprend pourquoi le Seigneur ajoute : « car il y en a beaucoup d'appelés, mais peu d'élus. »

## CCLI. — Jésus prédit de nouveau ses souffrances; prière des fils de Zébédée; guérison d'un aveugle à Jéricho; Zachée; parabole des dix mines.

3304. (L. 18 : 31-34; M. 20 : 17-19; Mc. 10 : 32-34.) Il n'y avait plus que quelques jours jusqu'à la fête de Pâques. Avec elle approchait le moment où notre Seigneur allait être livré aux sacrificateurs et aux scribes, et par eux aux nations, c'est-à-dire aux idolâtres, dans la personne de Pilate et de ses soldats. C'est ce que Jésus annonce

(**Matthieu 20** : 20-23; 24-28. **Marc 10** : 35-40; 41-45.)

d'une manière très expresse à ses douze disciples, dans le temps même que, tristes et préoccupés, ils faisaient route du côté de Béthanie, par conséquent vers Jérusalem. Il leur dit qu'on se moquera de lui, qu'on l'outragera jusqu'à le frapper au visage, qu'on le fera mourir, mais qu'il ressuscitera le troisième jour. Jamais encore le Seigneur n'avait parlé d'une manière aussi explicite. Plus l'événement approche, plus la prophétie est claire (observation que j'ai déjà présentée à l'occasion des prophéties de l'Ancien Testament). Toujours est-il que les disciples ne comprirent pas mieux cette fois-ci que les précédentes [3091, 3105, 3275], et nous allons voir dans Matthieu et dans Marc ce qui leur obscurcissait l'entendement.

3305. (M. **20** : 20-23; Mc. **10** : 35-40.) Jacques, Jean et leur mère s'étant approchés de Jésus et l'ayant adoré, lui firent une demande qui prouvait combien leurs pensées étaient aux choses de la terre. Ils rêvaient encore pour leur Maître un royaume temporel, et ils imploraient la faveur d'y occuper les premières places. Sur cela, Jésus, faisant allusion à ce qu'il venait de dire au sujet de ses souffrances, leur rappelle qu'avant d'entrer lui-même dans son règne, il avait à boire une coupe amère et à recevoir un baptême redoutable (Luc **12** : 50); puis il leur demande s'ils pouvaient à ce prix le suivre dans sa gloire? Présomptueux, mais pleins d'amour pour leur Seigneur, Jacques et Jean répondirent sans hésiter : « Nous le pouvons. » En effet, leur dit Jésus, vous souffrirez pour moi, vous partagerez mon ignominie (et nous verrons plus tard comment cette prophétie s'accomplit); « mais d'être assis à ma droite et à ma gauche, il ne m'appartient de le donner qu'à ceux auxquels cela est préparé par mon Père. » Cette parole, qui a son côté mystérieux, reporte toutefois avec force et clarté notre pensée sur un principe fondamental, savoir que Dieu est souverainement libre dans la distribution de ses grâces, ce que Jésus avait établi naguère par la parabole des ouvriers et ailleurs [2807, 3166].

3306. (M. **20** : 24-28; Mc. **10** : 41-45.) Les dix autres apôtres furent indignés des prétentions des deux frères. Mais ceux qui s'indignaient valaient-ils mieux que leurs collègues? Avaient-ils moins d'orgueil et de présomption? La suite nous le fera voir; et déjà nous en pouvons juger par la manière dont le Seigneur calma le mouvement de leur esprit. Il leur parle comme à des gens dont il faut rabattre la vanité, ou qui, du moins, vont se trouver dans une position dangereuse pour l'orgueil et l'ambition. Jésus, donc, faisant allusion à l'autorité dont les apôtres seraient revêtus dans son Eglise, leur dit nettement que

cette autorité serait d'une tout autre nature que celle des princes et des grands du monde. C'est par la parole et non par la contrainte qu'ils régneront; leur humilité et leur charité feront leur véritable grandeur, mot qui demeure vrai pour tous les disciples de Jésus, surtout pour ceux qui exercent quelque charge dans son royaume spirituel. Or, elle est bien frappante, la forme que le Seigneur donne ici à sa déclaration. Si quelqu'un, dit-il, veut être *grand*, qu'il soit *serviteur ;* s'il veut être le *premier*, qu'il soit *esclave :* qu'il fasse ce qu'a fait son Seigneur lui-même. Il s'est abaissé, il s'est anéanti; il s'est mis à notre service, et c'est en passant par le supplice des esclaves qu'il a « donné sa vie en rançon pour nous. »

3307. Ces derniers mots sont d'une grande importance. Je ne sais si les disciples y prirent garde; mais Jésus déclarait par là quel serait le véritable caractère de sa mort ou, si l'on veut, de quelle manière il est pour nous un Sauveur. Ce n'est pas, comme plusieurs le pensent, par la sublimité de sa morale et de son exemple que Jésus-Christ nous sauve; c'est par sa mort, mort expiatoire au moyen de laquelle nous sommes rachetés de la condamnation. Il y a deux manières de payer la rançon d'un esclave : ou par une somme d'argent, ou en se faisant esclave à sa place. C'est donc par expiation ou par substitution. Or il se trouve que Jésus nous a rachetés de ces deux manières; car il a pris sur la croix notre place, et il y a souffert ce qu'il fallait pour effacer nos péchés. Là est l'espoir des fidèles; là est aussi le principe de toute charité et de toute humilité.

3308. (Luc **18** : 35-43.) Peu après, Jésus, rentrant en Judée par le chemin de Josué et de David [1121, 1582], se trouva près de Jéricho, la ville de Rahab l'hôtelière. Un aveugle était assis sur la route, demandant l'aumône aux nombreux pèlerins qu'attirait la fête de Pâques. Ayant appris qu'au milieu des hommes qui passaient et dont il entendait les pas et les voix était Jésus de Nazareth, il se mit à crier : « Fils de David, aie pitié de moi. » Plus clairvoyant que la généralité de ceux qui accompagnaient le Seigneur, cet aveugle invoquait Jésus en lui donnant le nom sous lequel les Juifs attendaient avec raison le Messie promis à leurs ancêtres. Aussi se garda-t-il bien d'obtempérer aux sollicitations qu'on lui faisait de modérer ses cris, et Jésus, le guérissant, lui dit, comme à la pécheresse, comme au paralytique : « Ta foi t'a sauvé! » Par la foi, ce pauvre aveugle voyait en Jésus le Messie; par la foi, il implora sa grâce; par la foi, il persévéra malgré l'opposition; par la foi, ses péchés lui furent pardonnés et il obtint la

(**Luc 19** : 1-10. **Marc 10** : 46.)

faveur de voir, de ses yeux miraculeusement guéris, son puissant libérateur.

3309. (L. **19** : 1-10; Mc. **10** : 46.) A ce grand exemple de foi, l'Evangile en ajoute un autre, non moins remarquable. Un péager fort riche, nommé Zachée, païen de naissance comme le centenier de Capernaüm, avait été amené par la grâce de Dieu à reconnaître en Jésus le libérateur promis par les oracles dont les Juifs étaient les dépositaires [2964]. Il résidait à Jéricho, ville où devait se faire un grand commerce de transit, à raison de sa situation. Quand il apprit que le Seigneur passait, il courut en avant, et, comme il était de petite taille, il monta sur un sycomore pour le mieux voir. Il ne s'inquiétait guère des moqueries du monde, et il avait raison. La suite le montra clairement, car Jésus accepta devant tous et d'une manière éclatante l'humble hommage de sa foi. L'ayant invité à descendre de son arbre, il se rendit aussitôt avec lui dans sa maison, comme il l'aurait fait pour un ancien ami. Là-dessus, grands murmures au milieu de ces formalistes qui, selon leur coutume, ne comprenaient pas qu'on pût se mettre en relations avec un péager, avec un *pécheur* [2933], comme s'ils n'avaient pas été pécheurs eux-mêmes!

3310. (Luc **19** : 1-10.) Mais ce pécheur Zachée (dont le nom latin *Justus*, avait été probablement traduit en hébreu) avait de la foi, et une foi qui ne demeurait point oisive. Non par vanterie assurément, mais pour laver le Seigneur du crime qu'on lui faisait d'être entré dans la maison d'un péager, Zachée va lui dire une de ces choses qu'on ne dit guère, mais qu'on ne saurait cacher à Celui qui sait tout : « Je donne la moitié de mes biens aux pauvres, et si j'ai fait tort à quelqu'un, je rends le quadruple. » Bel exemple, assurément, de charité et de justice tout à la fois. C'est pourquoi Jésus s'écria : « Aujourd'hui le salut est arrivé pour cette maison, parce que celui-ci aussi est fils d'Abraham; car le Fils de l'homme est venu chercher et sauver ce qui est perdu. »

3311. Ainsi donc, malgré ses bonnes œuvres, Zachée avait besoin d'être sauvé, puisque Jésus dit : « Aujourd'hui *le salut* est arrivé pour cette maison. » Il déclare, à la vérité, que ce païen était aussi un fils d'Abraham; mais nous savons qu'Abraham fut justifié par sa foi et non par ses œuvres [291]. Il exprime d'ailleurs, très nettement, bien que d'une manière indirecte, que Zachée était une de ces brebis perdues qu'il est venu chercher et sauver, en donnant sa vie pour elles. Or, ce n'est pas Zachée seulement qui était perdu; nous le sommes

tous par nature; et si Dieu, dans sa grâce, n'était venu au-devant de nous, s'il ne nous avait donné un Sauveur, nous serions tous demeurés perdus. Non-seulement cela, mais encore c'est lui qui s'approche de nous pour nous appeler à Jésus afin d'avoir la vie, lui qui incline nos cœurs à recevoir le salut. Aussi, quelque misérable que soit une âme, comme après tout elle ne peut être plus que perdue, il ne faut pas que la considération de sa misère l'empêche de chercher la paix auprès de celui qui est venu chercher et sauver ce qui est perdu : ce doit être plutôt tout le contraire.

3312. (11, 12.) Jéricho se trouve à six lieues environ de Jérusalem. Notre Seigneur n'était donc plus qu'à une faible distance de la ville qui « avait si souvent tué les prophètes et lapidé ceux qui lui étaient envoyés. » Malgré les prédictions si claires par lesquelles il avait annoncé ses souffrances et sa mort, les disciples se flattaient toujours de le voir bientôt établir un royaume de Dieu tel que leur cœur charnel se le figurait. C'est pourquoi le Seigneur leur dit une parabole dont le sens, cette fois, n'est pas difficile à démêler. Qui est l'homme de grande naissance, sinon Jésus, Fils de Dieu quant à sa nature divine et né du Saint-Esprit quant à son humanité? La contrée éloignée c'est le ciel, séjour de la paix et de la gloire. Jésus devait y rentrer par sa résurrection et exercer de là sur son Eglise une autorité royale, jusqu'au moment où il reviendra pour juger la terre avec justice.

3313. (13.) Mais s'il est personnellement absent de ce monde, il y est représenté par ses esclaves. Il leur a remis en dépôt les vérités du salut. Ces vérités, ces promesses, ces préceptes sont les mêmes pour tous; chacun possède sa mine, ou son marc, valeur de cent deniers [3266], et chacun est appelé à faire valoir pour lui et pour les autres les grâces qu'il a reçues. Lorsque le Seigneur reviendra, il règlera compte avec ses esclaves.

3314. (14.) Cependant, si Jésus possède ici-bas des esclaves ou des disciples, il a aussi des adversaires en grand nombre, qui, semblables à la plupart des Juifs d'autrefois, ne veulent pas qu'il règne sur eux. Peut-être consentiraient-ils à être sauvés par lui, s'ils pouvaient continuer de vivre à leur fantaisie; mais les hommes aiment mieux obéir à Satan qu'à Jésus; ils prendront le premier venu pour roi, plutôt que lui : ils préfèrent la tyrannie de leurs passions à la douce autorité du bon Berger des brebis. Cependant le jour vient où ils devront, eux aussi, paraître en jugement devant Celui qu'ils ont rejeté.

3315. (15-23.) En ce jour, on verra clairement que notre Seigneur

(**Luc 19** : 24-26; 27; 28.)

eut ici-bas deux sortes de disciples : les esclaves fidèles, dans les mains de qui ses faveurs auront, par sa grâce, plus ou moins fructifié, et les méchants esclaves qui auront rendu inutile le trésor que le Maître leur avait remis en dépôt. Les premiers recevront une récompense en rapport avec leur fidélité et toutefois fort disproportionnée à leur travail (dix villes pour mille deniers !), parce que Dieu est riche en miséricorde. Quant aux autres, leur foi morte et conséquemment improductive, ne servira qu'à leur condamnation. Or, il importe de remarquer que leur perte même aura pour cause les idées injurieuses qu'ils se seront faites des dispositions du Seigneur à leur égard. S'obstinant à ne voir en lui qu'un maître, un législateur, un juge et non point un sauveur, comment auraient-ils pu l'aimer et se dévouer à son service? Et, ne l'aimant pas, comment s'étonner qu'ils n'aient rien fait pour lui, pas même ce qui était le plus à leur portée.

3316. (24-26.) S'il est dit que la mine du méchant esclave fut donnée à celui qui en avait dix, c'est pour amener l'admirable déclaration que, après avoir immensément béni et récompensé, Dieu peut bénir et récompenser encore plus. Sa grâce ne connaît point de bornes, et rien n'est plus propre à nous faire redoubler de zèle dans notre service. D'un autre côté, prenons garde à nous. Si nous nous en tenons à une connaissance stérile de Jésus-Christ et de son Evangile, si nous ne sommes chrétiens que par notre baptême et par une profession semblable à celle de la multitude, tout cet extérieur de religion nous sera ôté; et lorsque, au dernier jour, ce que la bonté divine nous accorde maintenant de lumières et de grâces nous aura été enlevé, il est bien évident qu'il n'y aura plus aucun moyen de conversion ni de salut pour nos âmes.

3317. (27.) Quant à ceux enfin, qui, décidément incrédules, marchent des deux pieds dans la voie large, il ne saurait y avoir de doute sur leur destinée finale. Pour qu'ils ne puissent raisonnablement se faire aucune illusion sur le sort qui les attend, notre Seigneur prononce leur condamnation en ces termes redoutables : « Egorgez-les devant moi. » — Ainsi la parabole des mines, comme au reste plusieurs autres endroits de l'Ecriture, range en trois catégories ceux à qui l'Evangile est annoncé : les vrais croyants, les chrétiens de nom ou d'apparence, et les incrédules. Les premiers seuls appartiennent réellement et pour toujours au royaume de Dieu, bien que les seconds fassent nombre parmi ceux qui s'y rattachent ici-bas [3000, 3005].

3318. (28.) Ce fut dans la maison de Zachée, paraît-il, que notre

(**Matthieu 20** : 29-34. **Marc 10** : 46-52. **Jean 11** : 17-19.)

Seigneur prononça cette importante parabole. Cela fait, il reprit son chemin du côté de Jérusalem; mais, comme nous le verrons bientôt, sans oublier son ami Lazare et ses deux sœurs. C'est donc à Jérusalem, la ville du grand roi David; à Jérusalem, illustrée par tant de prophètes, depuis ce même David jusqu'à Malachie; à Jérusalem, où tant de sacrifices et d'holocaustes avaient été offerts par de saints sacrificateurs : c'est à Jérusalem que nous allons suivre, pour la dernière fois, celui qui, étant le CHRIST, résume en sa personne tout ce qu'avaient été jadis les rois, les prophètes, les sacrificateurs et les victimes. Mais voyons auparavant, dans les autres Evangiles, ce qui précéda et retarda même quelque peu son entrée dans la sainte cité!

### CCLII. — Guérison de deux aveugles; résurrection de Lazare; prophétie de Caïphe; retraite à Éphraïm.

3319. (M. **20** : 29-34; Mc. **10** : 46-52.) Comme Jésus sortait de Jéricho, deux aveugles recoururent à sa miséricorde. On dit que, de nos jours encore, ces malheureux abondent en Orient. Ceux-ci, encouragés par l'exemple de leur compagnon d'infortune guéri quelques heures auparavant, se jetèrent sur les pas de Jésus, le suppliant, dans les mêmes termes, de leur accorder à eux aussi le précieux don de la vue. L'un d'eux, entre autres, se fit remarquer par la véhémence de ses cris, et c'est pour cela peut-être que Marc le nomme seul. Il se peut aussi qu'il n'y ait eu que deux aveugles guéris, l'un à l'entrée, l'autre à la sortie de Jéricho. Celui-ci s'appelait Bartimée, et rien n'est plus digne d'imitation que sa conduite. Voyez en effet la persévérance de ses prières, la fermeté de sa foi, sa promptitude à répondre aux appels du Seigneur et à se débarrasser de tout ce qui aurait pu retarder sa marche. Comme lui, mes chers lecteurs, ayez pitié de votre âme aveugle et pécheresse; comme lui, criez au Seigneur; comme lui, ne vous laissez pas détourner de votre dessein, mais affermissez-vous y à proportion de la grandeur des obstacles; comme lui, courez où la voix de Jésus vous appelle; comme lui, enfin, dépouillez-vous de vous-même, de tout ce manteau d'orgueil et de malice qui vous enveloppe, et le Seigneur vous dira comme à lui : « Ta foi t'a sauvé. »

3320. (Jean **11** : 17-19.) Après avoir opéré ces guérisons, et suivi d'un cortége qui allait se grossissant de tous ceux dont il faisait les objets de sa grâce, Jésus se remit en chemin, et, au bout de cinq heures de marche, il dut se trouver dans Béthanie, qui était entre Jéricho et

(**Jean 11** : 20-26; 27-31.)

Jérusalem, à quinze stades de cette dernière ville; c'est-à-dire moins d'une lieue. Pendant le temps qui s'était écoulé depuis que Marthe et Marie avaient envoyé leur messager à Jésus, Lazare était mort, ainsi que le Seigneur l'avait dit à ses disciples, et, depuis quatre jours, il était enterré. La famille qui, par là, se trouvait privée de son chef, était généralement aimée et estimée, ce que montre le grand nombre de visiteurs qui venaient de Jérusalem et des environs pour consoler les deux sœurs. Peut-être savait-on que Jésus approchait.

3321. (20-26.) Aussitôt que Marthe apprit l'arrivée du Seigneur, elle se leva; et, avec sa vivacité ordinaire [3172], laissant Marie à la maison, elle courut au-devant de Jésus et lui dit : « Seigneur, si tu eusses été ici, mon frère ne serait pas mort; mais, même à présent, je sais que tout ce que tu demanderas à Dieu, Dieu te le donnera. » Qu'est-ce donc qui autorisait cette femme à croire que Jésus n'aurait pas laissé mourir Lazare et à espérer qu'il y avait encore quelque moyen de le recouvrer? Il est difficile de dire autre chose sinon que telle était sa foi et que l'événement justifia son espérance. Le Seigneur donc qui ne trompe jamais l'attente qu'on met en lui, dit à Marthe : « Ton frère se relèvera. » Oui, dit Marthe, je le sais, au dernier jour; » car il y avait, semble-t-il, à ce moment, une sorte d'oscillation dans sa foi. Aussi, pour raffermir ses convictions et pour lui faire comprendre que le Seigneur était à cette heure ce qu'il sera au dernier jour : « Je suis le relèvement et la vie, dit Jésus; celui qui croit en moi, lors même qu'il serait mort, vivra; et quiconque croit et vit en moi, ne mourra pas pour toujours. Crois-tu cela? » Et vous mes lecteurs, croyez-vous cela? Non pas précisément, si l'on veut, que vous, vous-mêmes, actuellement, vous êtes relevés de votre mort spirituelle, et conséquemment de la condamnation méritée par vos péchés; mais croyez-vous qu'en Jésus est le relèvement? Regardez-vous du cœur à celui qui fait revivre les morts? Votre foi est-elle une vie, et vous fait-elle vivre en lui? S'il en est ainsi, vous êtes passés de la mort à la vie et vous ne mourrez point pour toujours : la parole du Seigneur est positive; elle vous autorise à vous réjouir de la grâce qui vous a été faite.

3322. (27-31.) La réponse de Marthe nous montre pourquoi Jésus l'aimait, malgré le reproche qu'il avait dû lui adresser jadis (L. 10 : 41). Elle croyait en lui, le reconnaissant pour le Christ, le Fils de Dieu venu dans le monde. Comme Jésus lui avait dit d'appeler sa sœur, elle courut à la maison ; mais à cause des gens qui étaient là, elle lui

(**Jean 11** : 32-36; 37-45.)

dit à voix basse que leur cher Maître l'attendait à l'entrée du village. Marie, de dispositions plus calmes que sa sœur, ne laissa pas d'obéir avec promptitude à l'invitation du Seigneur, et les Juifs, pensant qu'elle allait au sépulcre de son frère pour y pleurer, s'attachèrent à ses pas.

3323. (32-36.) Ce fut alors une scène fort touchante. Marie se jeta aux pieds de Jésus et, fondant en larmes, elle lui dit comme Marthe, mais avec moins de paroles : « Si tu eusses été ici, mon frère ne serait pas mort. » Tous ceux qui étaient présents mêlaient leurs lamentations aux siennes, et Jésus lui-même, ému jusqu'au fond des entrailles, demanda qu'on le conduisît vers le tombeau de Lazare. C'était une grotte taillée dans le roc, et l'entrée en était fermée par une pierre. On voit de nos jours, en Judée, quantité de ces cavernes qui servaient jadis de lieu de sépulture. Quand Jésus fut là, et avant même qu'on eût roulé la pierre, il se mit aussi à pleurer; trait fort touchant et plein de consolation pour nous, qui avons si souvent de la tristesse dans le cœur. Il y a donc des larmes qui sont légitimes et il ne faut pas croire qu'il soit indigne d'un homme d'en répandre! Dans nos peines, nous pouvons compter sur la sympathie de notre Sauveur, car il a connu tous les sentiments humains où il n'entre pas du péché. De tout temps, l'Eternel s'est dit le Dieu compatissant, et il ne l'est pas moins sans doute depuis qu'il a été en Christ réconciliant le monde avec lui-même! Oh! combien donc il nous est précieux de savoir que Jésus pleura sur le corps de son ami!

3324. (37-45.) Les Juifs de Jérusalem admirèrent l'affection que Jésus portait à la mémoire de Lazare et ils s'étonnaient de ce que, après avoir, quelques mois auparavant, ouvert les yeux de l'aveugle (9), il n'eût pas guéri son ami, un homme qui lui était si cher; car le cœur humain n'est que trop disposé à critiquer les voies du Seigneur. Or, représentez-vous ce qu'ils éprouvèrent à la vue du spectacle qu'ils eurent aussitôt sous les yeux. Ce Lazare mort depuis plusieurs jours, ce cadavre en pleine décomposition, cette pourriture sort de la tombe à la voix du Seigneur (5 : 28). Le voilà debout comme une statue, porté et soutenu par la puissance divine; car, selon la coutume, il avait les mains et les pieds liés avec des bandes et le visage enveloppé d'un mouchoir. Sur l'ordre de Jésus, on le délie et il marche. Celui qui était mort, est revenu à la vie. Aussi beaucoup de ceux qui se trouvaient là, ne purent s'empêcher de croire que Jésus était réellement le Christ, le Seigneur.

(**Jean 11** : 46-52; 53-57.)

3325. Il faut avouer en effet que la résurrection de Lazare est un des miracles les plus éclatants que notre Seigneur ait opérés, et l'on ne saurait méconnaître que, par cet acte solennel et authentique, il n'ait eu l'intention de préparer les esprits à la merveille de son propre relèvement d'entre les morts. C'est peut-être aussi parce qu'il portait ses regards sur sa fin prochaine, qu'en abordant le sépulcre de Lazare, il frémit au dedans de lui. Ce mouvement intérieur de Jésus ne s'explique pas facilement d'une autre manière. Il est vrai qu'il put pleurer Lazare au moment où il allait le ressusciter, comme nous pleurons nos amis chrétiens, quoique nous sachions qu'ils ne sont pas perdus pour toujours. Il est vrai encore que la mort devait être un spectacle particulièrement repoussant pour celui qui est la vie, et que le frémissement de notre Seigneur put venir de cette seule pensée : Voilà donc à quoi le péché réduit tous les hommes! mais c'est aussi à cause du péché des hommes qu'il allait bientôt souffrir lui-même des angoisses inexprimables et mourir d'une mort affreuse ; telle est, je pense, la véritable explication.

3326. (46-52.) Cependant, quelques-uns de ceux qui avaient été témoins de la résurrection de Lazare, se hâtèrent d'annoncer le fait aux pharisiens. Le Conseil des juifs s'assembla. Tout est perdu, pensaient-ils; le peuple va nous quitter pour le Nazaréen; et ces hypocrites, feignant de croire qu'alors Jésus se déclarerait roi, exprimèrent la crainte que les Romains ne vinssent les détruire. « Non pas, » leur dit Caïphe, le souverain sacrificateur de cette année-là, nommé récemment à cette place par l'empereur et tout dévoué à Tibère; « non pas : cet homme mourra, j'ose vous le prédire, et ainsi nous serons sauvés. » Ou bien, répondant à quelques-uns des membres du Conseil, qui auraient essayé de prendre la défense du Juste : « Vous n'y entendez rien, aurait-il dit, il faut que cet homme meure et qu'ainsi la nation soit sauvée. » Il attachait à ses paroles un tout autre sens que celui dans lequel elles s'accomplirent; mais, nous dit l'évangéliste, il plut à Dieu de prophétiser par la bouche de ce Balaam, les destinées glorieuses du peuple de Dieu et les fruits de salut que devait porter la mort de Jésus.

3327. (53-57.) En attendant, le Seigneur ne se pressa point d'entrer à Jérusalem. Comme il y avait encore quelques jours jusqu'à Pâques, il gagna des lieux écartés et se cacha dans une ville si peu connue, qu'on ne sait pas même aujourd'hui quelle en était la situation. Elle s'appelait Ephraïm. Pendant ce temps, le peuple des campagnes arrivait

(**Jean 12** : 1-8. **Matthieu 26** : 6-13. **Marc 14** : 3-9.)

en foule. Les habitants de la Galilée n'avaient pas revu Jésus depuis six mois ; ceux de la Judée et de la Pérée, au milieu desquels il avait vécu dès lors, le savaient parti en avant : tous s'étonnaient que Jésus ne fût pas encore à Jérusalem et ils l'attendaient avec impatience. D'un autre côté, et par cette raison même, les principaux avaient donné ordre de le dénoncer si l'on venait à savoir où il s'était retiré. Notre Seigneur était donc sous un arrêt de proscription, au moment où nous allons le voir reparaître pour marcher au sacrifice.

—

## LA SEMAINE SAINTE.

CCLIII. — *Le samedi avant la Pâque.* **Marie embaumant Jésus.** — *Le dimanche.* **Entrée triomphale à Jérusalem; glorification anticipée de Jésus.** — *Le lundi.* **Malédiction du figuier; nouvelle purification du temple; guérisons miraculeuses; acclamations des enfants; dernières proclamations de Jésus.**

3328. (J. **12** : 1-8 ; M. **26** : 6-13 ; Mc. **14** : 3-9.) Six jours avant la Pâque (ce devait être cette année-là un samedi), Jésus revint à Béthanie, où il fut reçu à souper chez un nommé Simon, dit le Lépreux. Sans doute que Simon avait eu cette maladie, et peut-être devait-il à Jésus même sa guérison. Là se trouvait Lazare que Jésus avait ressuscité, et, parmi les personnes qui servaient la table, Marthe, la sœur de Lazare. Avec eux aussi, une femme que Matthieu et Marc ne nomment point, parce qu'ils ne font nulle part mention expresse de Lazare et de ses sœurs, mais que Jean désigne par son nom de Marie, la sœur de Marthe, pour la distinguer de plusieurs autres. Elle s'approcha de Jésus pendant qu'il mangeait et répandit sur sa personne un vase de parfum exquis. Non-seulement elle en oignit sa tête ; mais, ayant brisé le vase, le parfum coula sur les pieds de Jésus, qui, selon l'usage, avait les jambes en arrière et non sous la table [2982]. Marie avait consacré beaucoup d'argent à ce parfum et elle le tenait en réserve pour embaumer le corps de Jésus, à sa sépulture. Mais, avertie par sa foi que le moment approchait, prévoyant peut-être que les circonstances d'un tel trépas ne lui permettraient pas d'effectuer son pieux dessein, elle voulut montrer que, pour elle, la mort de Jésus était tout autant qu'accomplie et qu'elle estimait plus que tous les biens du monde, les grâces qui devaient en découler. Telle est l'inter-

prétation que Jésus lui-même nous donne de l'action de Marie. Elle avait fait, d'ailleurs, une bonne œuvre à son égard; une œuvre qui se rapportait à lui uniquement, et dont il lui savait gré à cause de l'intention. Ah! combien ne serait-il pas à désirer que nous en fissions souvent de pareilles !

3329. Moins avancés que Marie dans la foi et dans l'amour, comme dans la connaissance des mystères du salut, les disciples, quelques-uns du moins, ne la jugèrent pas aussi favorablement. Il leur semblait qu'elle avait dépensé ce parfum à pure perte et qu'elle eût mieux fait de leur en remettre le prix pour le donner aux pauvres. L'un d'eux surtout, Judas l'Iscariote, plaidait cette cause avec une chaleur particulière. Ce n'était pas qu'il se souciât beaucoup des pauvres. Il était comme tant d'avares qui, pour colorer d'une sorte de piété les regrets que leur causent certaines pertes ou certaines dépenses, s'apitoient sur les pauvres, auxquels, disent-ils, cet argent serait si bien venu; et par le fait, leur fût-il resté, les pauvres n'en auraient pas eu davantage. Judas aussi était avare; or, dans sa passion, il se permettait, à ce qu'il paraît, des infidélités ou, pour le moins, des indélicatesses qui l'ont fait mettre par la Parole de Dieu au rang des larrons. C'est lui qui portait la bourse commune, bourse que l'aumône alimentait (Luc 8 : 3), et son cœur, ami de Mammon, eût bondi de joie en y voyant entrer tout à la fois trois cents deniers.

3330. Jésus connaissait parfaitement Judas (Jean 6 : 70); mais le moment de le démasquer n'était pas encore venu. Il se contenta donc de répéter cette parole de Moïse : « Vous avez toujours les pauvres avec vous » (Deut. 15 : 11). Ainsi, à l'époque même où le Seigneur allait instituer une société toute fondée sur la foi et sur l'amour, il reproduisit ce qu'il avait dit par son prophète, lorsque l'ancien peuple était sur le point d'entrer au pays où tous devaient avoir une part de territoire! Combien donc sont chimériques les plans de ceux qui croient pouvoir bannir d'ici-bas la pauvreté! C'est un des maux inévitablement attachés à l'humanité déchue, un effet très direct du péché, mais un mal toutefois qui n'est pas sans compensation (Luc 6 : 20) et qui, en particulier, fournit aux pauvres comme aux riches, s'ils sont dans la foi, l'occasion de montrer cette foi, les uns par leur renoncement, les autres par leur libéralité.

3331. (Jean 12 : 9-11.) Quand les habitants de Jérusalem eurent appris que Jésus était de retour à Béthanie, ils y accoururent en foule, afin de le voir, lui et Lazare qu'il avait ressuscité. On conçoit quelle

(**Luc 19** : 28-40. **Matthieu 21** : 1-9. **Marc 11** : 1-10. **Jean 12** : 12-19.)

dut être l'inquiétude croissante des principaux du peuple. Aussi nous est-il dit qu'ils s'assemblèrent de nouveau et qu'ils résolurent de se défaire non-seulement de Jésus, mais encore de Lazare. Pauvres aveugles! ils croyaient donc, comme les persécuteurs de tous les temps, qu'on peut tuer la vérité! Dans leur coupable matérialisme, ils s'imaginaient qu'une fois Jésus et Lazare morts, tout serait fini! Plus tard, ils purent se convaincre de leur erreur; mais, hélas! il s'en faut bien, qu'ils l'aient universellement reconnue; il s'en faut davantage encore que les incrédules des siècles subséquents aient profité de leur expérience. De nos jours, en effet, on voit des hommes qui, lorsqu'ils le peuvent et l'osent, persécutent à outrance les serviteurs de Jésus-Christ, ne pouvant plus s'attaquer à Jésus-Christ lui-même, et qui croient pouvoir en finir ainsi avec lui et avec sa doctrine.

3332. (L. **19** : 28-40; M. **21** : 1-9; Mc. **11** : 1-10; J. **12** : 12-19.) Il paraît que Jésus quitta ce soir-là Béthanie, pour se soustraire à la foule qui s'y accumulait. Mais le lendemain, jour correspondant à notre dimanche, il reprit sa route du côté de Jérusalem, où déjà une multitude d'Israélites de toutes les provinces se trouvaient réunis pour la fête. La faible distance qui sépare Béthanie de Jérusalem est occupée par une montagne déjà célèbre dans l'histoire sainte [1564] et qui l'est devenue bien davantage. Composé de trois collines d'inégale hauteur, collines qui vont du nord au sud, le mont des Oliviers avait sur son flanc oriental, vers le bas, le village de Béthanie; et, à cent pas environ du sommet de la colline moyenne, se trouvait celui de Betphagé, ou *des figues mal mûres*, nom qui lui venait sans doute, de ce que, par sa position, il était peu favorisé des rayons du soleil. Quand Jésus fut près de ce dernier village, il y envoya chercher un ânon que sa divine science y voyait attaché près de sa mère, et dont il disposa par la puissance qu'il exerce sur toutes choses. En accomplissant ainsi des prophéties d'ailleurs assez obscures (Es. **62** : 11; Zach. **9** : 9), il voulut attirer l'attention sur les faits qui allaient avoir lieu, même sur les plus insignifiants en apparence. Il fallait aussi que son entrée à Jérusalem se fît avec une solennité digne des grands événements qui devaient s'y réaliser, sans compter qu'il y avait dans cette pompe une figure de la gloire à venir du Roi-Messie.

3333. Tout arriva comme le Seigneur l'avait prédit et ordonné. Quand ses messagers furent de retour, on mit quelques manteaux sur l'ânon, puis Jésus s'assit dessus et il continua son chemin. Cependant la multitude qui, de la Galilée et d'ailleurs, était venue à la fête, sortit

de Jérusalem en apprenant que Jésus approchait. Tous portaient des palmes à leurs mains; ils tapissaient la route avec leurs vêtements et la jonchaient de feuilles et de fleurs. Puis, quand ils virent Jésus, ils le saluèrent de leurs acclamations. A leurs nombreuses voix, se joignirent les voix non moins nombreuses de la multitude qui, pendant le voyage d'Ephraïm à Béthanie, s'était accumulée autour de Jésus, et le bruit de ces cris de joie put facilement s'entendre jusque dans la sainte cité. Les acclamations étaient diverses; mais elles exprimaient toutes le même sentiment. Chez plusieurs, elles dénotaient une grande mesure de foi, bien que cette foi fût mêlée avec beaucoup d'ignorance sans doute. « Hosanna! Hosanna! » criaient les uns, c'est-à-dire : Sauve, je te prie! « Hosanna au fils de David! Béni soit celui qui vient au nom du Seigneur! » D'autres disaient : « Hosanna dans les lieux très hauts. » D'autres encore : « Béni soit le règne qui vient au nom du Seigneur, le règne de David notre père! » D'autres enfin : « Béni soit le roi qui vient au nom du Seigneur, le roi d'Israël; paix dans le ciel et gloire dans les lieux très hauts! »

3334. Les pharisiens, qui surveillaient tout ce mouvement, ne manquaient pas d'avoir leurs émissaires au milieu de la foule. De tels cris, on le comprend, ne pouvaient que les importuner. Aussi prièrent-ils Jésus d'imposer silence à ses disciples et de leur faire sentir l'imprudence dont ils se rendaient coupables. Mais ils purent comprendre par la réponse du Seigneur que tout cela se faisait de son aveu, qu'il lui fallait ce triomphe avant son ignominie, que la gloire de Dieu ne peut être sans cesse obscurcie, et qu'à défaut de ceux qui doivent la célébrer, l'Eternel donnerait plutôt du cœur et de la voix aux créatures inanimées (3 : 8). Atterrés de cette réponse, les pharisiens se retirèrent, convaincus, semble-t-il, que leur cause était perdue.

3335. (Luc 19 : 41-44.) Du haut de la montagne des Oliviers, on a sous ses pieds la ville de Jérusalem et ses saintes collines. Or, tandis que la foule des disciples se livrait à son enthousiasme et que chacun, sans doute, ne rêvait que bonheur à la vue de la cité royale et de l'entrée triomphale qu'y allait faire le Fils de David, Jésus, lui, se mit à pleurer. Lorsque ses yeux découvrirent la malheureuse ville, déjà si souvent châtiée à cause de l'impiété de ses chefs et de ses habitants, son cœur s'émut d'une profonde compassion sur ce cadavre, bien plus difficile à ressusciter que celui de Lazare. Il pleura comme Jérémie et, comme lui, il prophétisa les effroyables malheurs réservés à

(**Matthieu 21** : 10, 11. **Jean 12** : 20-36.)

cette coupable cité. Pour avoir méprisé le jour de la miséricorde, le plus beau de ceux qui eussent jamais lui sur ses murs, elle allait voir se lever contre elle le jour inévitable de la colère divine. Ici, la prophétie est parfaitement claire. Jérusalem essuiera un long siége; la population entière y périra; la ville sera détruite de fond en comble, et c'est ainsi que les Juifs seront punis de leur incrédulité. Ah! malheur à nous-mêmes, si, comme eux, nous méconnaissions les temps de la grâce du Seigneur!

3336. (Matth. **21** : 10, 11.) Cependant, Jésus reprit sa marche, lente à proportion de la masse de gens qui lui servait de cortége, et, quand il entra dans Jérusalem, l'agitation y était extrême. Qui est celui-ci? s'écriait-on de toutes parts, et des milliers de voix répondaient : C'est Jésus le prophète, Jésus de Nazareth en Galilée. Oui, un prophète, on n'en pouvait douter; mais la ville dans laquelle il entrait, avait tué plus d'un prophète.

3337. (Jean **12** : 20-36.) La foule était si considérable autour de Jésus, que tous assurément ne pouvaient l'approcher. Aussi quelques Grecs, païens de naissance, qui adoraient le Dieu d'Israël, mais auxquels il n'était pas permis de s'avancer à l'intérieur du lieu sacré, demandèrent à Philippe quand et comment ils pourraient voir son Maître. Philippe le dit à André, et l'un et l'autre firent à Jésus la commission de ces étrangers. Le vœu que l'Esprit de grâce et d'adoption avait mis dans leur cœur, fut l'occasion d'une des scènes les plus remarquables que nous retrace l'Evangile.

3338. Le Seigneur voit dans la question qui lui est adressée de la part de ces Grecs, le signe avant-coureur de la gloire qui lui était préparée ici-bas par l'établissement de son règne au milieu de tous les peuples, et cette gloire même reporte naturellement sa pensée sur la gloire éternelle qui lui était assurée dans le sein du Père (23). Il faut toutefois qu'il meure auparavant, comme le grain de blé qu'on jette dans le sillon afin qu'il fructifie (24-26). C'est pour cela que Jésus fait volontiers le sacrifice de sa vie. En lui, le tout premier, on verra que donner à Dieu sa vie terrestre, c'est la garder pour l'éternité. Si donc quelqu'un sert Jésus, qu'il le suive en sa mort; car c'est se préparer à partager sa gloire : le servir, tel est l'unique chemin des honneurs que le Père réserve à ses élus.

3339. Mais le grain de blé, simple et belle image de la mort féconde de Celui qui est le pain de vie [3070], ne nous dit pas tout ce que cette mort devait avoir d'affreux. Le trépas même d'une créature

humaine dans une douloureuse agonie, ne nous le dirait pas davantage. Jésus est l'Agneau de Dieu qui se charge des péchés du monde (1 : 29); il est venu donner son âme en rançon pour plusieurs (Matth. 20 : 28). C'est pourquoi il ne peut voir approcher l'heure suprême sans éprouver un frémissement dans tout son être (27, 28). Il aurait voulu oser demander à son Père d'être délivré de cette heure; mais il était venu pour cette heure même, la plus solennelle de toutes celles que les horloges ont marquées depuis que le monde existe, la plus heureuse pour nous, mais pour lui fort redoutable, et il ne saurait changer de volonté. Aussi s'écrie-t-il, comme nous devons le faire à son exemple, lorsqu'il se livre quelque grand combat dans notre âme: « Père, glorifie ton nom! » A cette prière, une voix du ciel répondit: « Et je l'ai glorifié, et je le glorifierai encore! »

3340. La confusion et le bruit de la foule étaient tels que tous n'entendirent pas distinctement ces paroles (29-33). C'était bien pour eux néanmoins qu'elles avaient été prononcées. Or, voici comment le Père allait être glorifié en son Fils. La mort que celui-ci devait subir sur la croix était destinée à montrer combien ce monde pécheur est coupable, et à donner en même temps au Fils de l'homme une victoire éclatante sur Satan. Car c'est en la croix que le monde est jugé et que le chef de ce monde est jeté dehors. Puis, le Seigneur étant élevé de la terre, élevé sur le bois infâme et de là élevé dans le ciel, devait tirer à lui, convertir par son Saint-Esprit et laver par son sang, des hommes de toutes nations et de tout caractère, à la gloire de la miséricorde de Dieu.

3341. (34-36.) Jésus ayant dit ces choses, on lui fit observer du milieu de la foule que, selon la loi (ici ce mot veut dire l'ensemble des Ecritures), le Christ devait demeurer à toujours (Ps. 45, 6, 7). On ne comprenait pas en conséquence qu'il pût être tout à la fois le Messie et le *Fils de l'homme,* supposé qu'il entendît se désigner lui-même par cette dernière expression. Sans répondre directement, Jésus exprime d'une manière assez claire d'où venaient toutes les difficultés qu'on lui faisait continuellement. La foi, la vraie foi manquait encore à la plupart de ses auditeurs. Cependant ils devaient se hâter tandis qu'ils avaient avec eux la lumière. Car il faut toujours en revenir là : nous ne disposons pas des grâces de Dieu; par conséquent nous devons les saisir lorsqu'il les met à notre portée. Sinon, malheur à nous! Semblables à des aveugles, nous ne savons où nous allons.

(**Jean 12** : 36; 37-41; 42, 43. **Marc 11** : 11; 12-14. **Matthieu 21** : 17; 18,19.

3342. (Jean **12** : 36. Mc **11** : 11. M. **21** : 17.) Ces dernières paroles, pense-t-on, furent dites lorsque le jour tendait à sa fin, circonstance à laquelle notre Seigneur aurait fait allusion dans son discours. Quoi qu'il en soit, dès qu'il l'eut achevé, il se retira secrètement du milieu de la foule qui l'avait accompagné au temple, et il retourna passer la nuit à Béthanie avec ses disciples. Ainsi, jusqu'au moment qu'il avait marqué lui-même, nous le voyons retarder l'heure solennelle de la catastrophe. Les précautions dont il s'entourait prouvent d'ailleurs que, s'il comptait autour de lui beaucoup d'amis, il continuait d'avoir des ennemis en plus grand nombre, surtout parmi les principaux du peuple. A cette occasion, l'évangéliste cite deux prophéties que nous avons étudiées précédemment (Es. **53** : 1 ; **6** : 9, 10), et il nous déclare en termes exprès (**12** : 37-41), que Jésus est ce même Seigneur, l'Eternel, dont Esaïe vit la gloire, lors de sa vocation à la charge de prophète (Es. **6** : 1).

3343. (42, 43.) Il s'en faut cependant que tous demeurassent dans la même incrédulité. Un grand nombre de Juifs, et même de ceux qui occupaient les premières places, déposaient peu à peu leurs préjugés; ils commençaient à comprendre que Jésus rendait témoignage à la vérité (comment avaient-ils jamais pu le mettre en doute?); mais tel était l'empire qu'exerçaient les pharisiens sur ces âmes mal décidées, que peu d'entre eux, aucun d'abord n'osait le confesser ouvertement. Or, pourquoi, dans le fond, cette timidité? L'évangéliste nous le dit, et sa parole est sérieuse : « Ils aimèrent mieux la gloire des hommes que la gloire de Dieu. » De nos jours, mes chers lecteurs, il n'en est pas autrement. Ceux qui, ayant pourtant quelque foi, ne laissent pas de cacher le plus qu'ils peuvent leurs convictions, et refusent de se joindre aux personnes que le monde méprise à cause de leur piété, se rendent coupables de cette hypocrisie, parce qu'ils ont plus à cœur de plaire aux hommes qu'à Dieu. Or, on avouera que ce n'est pas un faible péché que celui-là. Crainte des hommes! respect humain! combien d'âmes qui se perdent pour vous avoir consultés! [3193.]

3344. (M. **21** : 18, 19; Marc **11** : 12-14.) Le lundi matin, Jésus repartit pour Jérusalem. A peine avait-il eu le temps, la veille, de prendre quelque nourriture, et peut-être passa-t-il toute la nuit en prières. C'est pourquoi, pressé par la faim, il s'approcha d'un de ces nombreux figuiers qui croissaient jusqu'au bord des routes (2 Chron. **1** : 15). Ce n'était pas la saison des figues; mais comme le figuier

(**Luc 19** : 45, 46. **Matthieu 21** : 12, 13; 14-16. **Marc 11** : 15-17.)

pousse son fruit avant les feuilles mêmes, et que ce fruit n'est, dans aucun temps, absolument immangeable, on comprend que Jésus ait pu approcher la main de cet arbre sans trop étonner ses disciples; toutefois, il fallait qu'il eût une grande faim. D'un autre côté, puisque ce n'était pas la saison des figues, il est clair qu'on n'avait pas dépouillé l'arbre de son fruit; en sorte que s'il n'en portait point, c'est qu'il était réellement stérile. Or, notre Seigneur voulait répéter en action ce qu'il avait dit assez récemment en parabole. C'est pour cela sans doute qu'il était allé vers le figuier, bien qu'il n'ignorât pas l'état dans lequel il le trouverait. A sa parole donc, on vit les larges et vertes feuilles de l'arbre s'incliner vers la terre et les branches perdre leur élasticité; symbole sérieux du chrétien de nom qui ne montre pas sa foi par ses œuvres, proclamation non moins solennelle de ce qu'est la malédiction du Tout-Puissant.

3345. (L. **19** : 45, 46; M. **21** : 12, 13; Mc. **11** : 15-17.) Arrivé dans la ville, Jésus monta droit au temple, où il retrouva les vendeurs et les marchands qu'il en avait chassés trois ans auparavant, mais qui n'avaient pas eu de peine à s'y établir de nouveau [2741]. Comme la précédente fois, il renversa les tables des profanes, et s'il ne s'arma pas d'un fouet, il fit tonner les foudres de la Parole de Dieu. Personne, à ce moment, n'osa lui faire d'objection, parce qu'on était encore sous les impressions de la veille. Quant à notre Seigneur, s'il répéta vers la fin de son ministère un acte par lequel il avait signalé son entrée dans le lieu saint, c'est qu'il voulut rappeler que le but essentiel de sa venue est de purifier les cœurs des péchés qui s'en marchandent la possession.

3346. (Matth. **21** : 14-16.) Pour rappeler d'une autre manière encore l'œuvre de miséricorde qu'il est venu accomplir, il opéra dans ce même instant des guérisons miraculeuses qui sont comme le couronnement de son ministère public. A ce spectacle, les nombreux enfants qui avaient suivi Jésus jusqu'au temple, se mirent à crier, comme les hommes de la veille : « Hosanna au Fils de David! » Ainsi font généralement les enfants, le lendemain d'une scène qui a fortement agi sur leur imagination; ils la reproduisent de leur mieux, en imitant ce qu'ils ont vu et entendu. Mais il n'y avait pas ici une simple imitation. Ces enfants connaissaient la Bible comme les plus jeunes de mes lecteurs peuvent la connaître; ils savaient que, d'après la Bible, leurs pères attendaient un Messie, et, dans l'heureuse simplicité de leur cœur, ils ne doutaient pas que ce Messie ne fût

(**Jean 12** : 44-50. **Luc 19** : 47, 48. **Marc 11** : 18, 19. **Matthieu 21** : 17.) devant leurs yeux. C'est ce que Jésus lui-même fit entendre à ceux qui s'indignaient de ce tapage; car il leur cita les paroles d'un psaume tout messianique (Ps. **8** : 2). Le Seigneur accueillit les acclamations des enfants comme il avait accueilli les hommages que lui avait rendus la sœur de Lazare [3328], comme il accueille tout ce qu'on fait de bon cœur pour lui; mais on ne hasarde rien, en disant qu'il se plaît surtout au culte que lui rendent les petits, car il éprouve pour eux la plus vive tendresse.

3347. (Jean **12** : 44-50.) Ici paraît devoir se placer la dernière proclamation de notre Seigneur au peuple assemblé. Elle résume la plupart des discours qu'il lui avait tenus en divers temps, dans ces mêmes cours du temple (Jean **5**, **6**, etc.). Croire en lui, c'est croire en Dieu; le contempler, c'est contempler Dieu. Il est lumière, tandis que tout homme est ténèbres; donc, qui croit en lui est éclairé : qui ne croit pas demeure dans la nuit. Ce n'est pas pour juger le monde, mais c'est pour le sauver que Jésus est venu sur la terre; cependant, si quelqu'un, après l'avoir entendu, ne croit pas, la parole qu'il aura entendue le condamnera au dernier jour; car cette parole est selon la volonté du Père, et cette volonté est immuable...

3348. (L. **19** : 47, 48; Mc. **11** : 18, 19; M. **21** : 17.) Le peuple entier fut frappé d'étonnement, comme s'il eût entendu Jésus pour la première fois. Ceux qui n'avaient pas pris la ferme résolution de rester sourds aux appels du Seigneur, demeuraient, dit saint Luc, « suspendus à ses paroles. » Mais les principaux sacrificateurs, les scribes et les chefs, toujours plus irrités au contraire, ne pensaient qu'à le faire périr. L'exécution de leur affreux dessein devenait cependant de plus en plus difficile. A ce moment, l'enthousiasme était général, sans compter que le Seigneur avait toujours soin de quitter la ville avant la nuit. Ainsi, le soir du lundi, comme celui du dimanche, il regagna Béthanie ou tout au moins la montagne des Oliviers.

### CCLIV. — *Le mardi.* **La prière de la foi; parabole du père et de ses deux fils; celles des vignerons et du festin des noces; questions captieuses.**

3349. De la dernière semaine de notre Seigneur, ce jour-ci est celui dont les événements nous sont racontés avec le plus de détails et où le Seigneur se montra sous les aspects les plus divers. Il faut dire aussi que ce fut proprement ce jour-là que Jésus termina

(**Marc 11** : 20-26; 27-33. **Matthieu 21** : 20-22; 23-27; 28-32. **Luc 20** : 1-8.)

son ministère auprès du peuple. Dès lors, et jusqu'à sa résurrection, nous ne le verrons plus qu'au milieu de ses disciples, ou, victime expiatoire, entre les mains du prince des ténèbres et de ses agents.

3350. (Mc. **11** : 20-26; Matth. **21** : 20-22.) Reparti de Béthanie, le mardi matin, notre Seigneur passa près du figuier maudit la veille. Les disciples s'étonnèrent, non pas de ce qu'il s'était flétri, ce qui avait eu lieu sous leurs yeux mêmes, mais de ce que l'arbre était déjà sec jusqu'à ses racines, car rien n'est vivace comme la racine du figuier. Alors Jésus leur donna l'enseignement qu'il avait prémédité. Les apôtres recevront pour mandat d'opérer des merveilles plus grandes que le transport d'une montagne dans la mer; car, au seul moyen de la parole, ils convertiront des âmes par milliers. Or, le Seigneur leur annonce que s'ils se portent à cette œuvre avec une pleine foi, ils y réussiront infailliblement. Mais sa promesse s'étend plus loin. Il nous est permis d'y voir la garantie générale de l'exaucement des prières de la foi : j'entends les prières par lesquelles on demande, avec une entière confiance, l'accomplissement de ce que Dieu a promis. Car si l'on demande, même avec une grande foi, ce que Dieu n'a pas dit qu'il voulût faire, on n'est pas plus dans la prière de la foi que si l'on demandait, sans y croire réellement, ce qu'il a promis de la manière la plus formelle. Puis, remarquez comment notre Seigneur rappelle une des dispositions les plus essentielles à la prière [2896]. C'est qu'au fond, là où il n'y a pas de charité, il n'y a pas de foi non plus.

3351. (L. **20** : 1-8; M. **21** : 23-27; Mc. **11** : 27-33.) Arrivé de bonne heure au temple et avant peut-être que la foule s'y fût toute rassemblée, le Seigneur se vit entouré par les principaux sacrificateurs et par les anciens du peuple, lesquels, s'enhardissant et faisant allusion aux événements de la veille, lui demandèrent par quelle autorité il faisait ces choses. Or, à des questions où la malveillance et la mauvaise foi sont évidentes, le mieux est souvent de répondre par quelque interpellation propre à embarrasser les agresseurs. C'est ce que fit Jésus. La question qu'il leur posa revenait à ceci : Vous savez très bien par quelle autorité j'agis, mais vous vous obstinez à ne pas vouloir le reconnaître.

3352. (Matth. **21** : 28-32.) Cependant le Seigneur, dans sa bonté et dans sa fidélité, ne s'en tint pas là. Pour faire sentir à ces hommes égarés le crime et le danger de leur situation, il leur proposa deux paraboles dont le sens était si manifeste qu'ils n'eurent pas de peine

(**Luc 20** : 9-19. **Matthieu 21** : 33-46. **Marc 12** : 1-12.)

à le saisir, et cela d'autant moins que Jésus les mit lui-même sur la voie. D'abord la parabole de deux fils, dont l'un refuse d'obéir à son père, qui se repent et va travailler dans sa vigne; tandis que l'autre, après avoir dit oui, résiste de fait à la volonté paternelle; celui-là, représentant les pécheurs qui, longtemps rebelles aux appels de la grâce de Dieu, finissent par se convertir; celui-ci, les hommes qui s'estiment justes, honnêtes et pieux, ou ces âmes bien disposées, comme on s'exprime, qui ne manquent pas de bonnes intentions, qui paraissent consentir à tout ce qu'on leur dit de Dieu et de sa Parole, mais qui, en réalité, ne le servent nullement. Les premiers furent coupables, mais ils sont entrés enfin dans la bonne voie : c'est l'enfant prodigue; les seconds, semblables au fils aîné, se croient dans le vrai chemin, encore qu'ils soient perdus. Telle était la position des docteurs juifs. Ils pensaient appartenir à Dieu, parce qu'ils n'étaient ni païens ni proprement incrédules.

3353. L. **20** : 9-19; Matth. **21** : 33-46; Mc. **12** : 1-12.) La seconde parabole est celle des vignerons. Le pays de Canaan et les Juifs ses habitants, avec les saintes institutions que Dieu leur avait données, sont représentés sous l'image d'une vigne soigneusement close et plantée. Les vignerons sont les chefs du peuple : sacrificateurs, docteurs, anciens et scribes. Les serviteurs envoyés en divers temps par le Maître de la vigne, sont les anciens prophètes jusqu'à Jean-Baptiste. Quant au Fils, il est aisé de voir qui il est. — « Venez et tuons-le.» En ces mots, Jésus prophétise la catastrophe de plus en plus imminente qu'il avait annoncée nombre de fois, comme au reste bien des prophètes avant lui. — « Afin que l'héritage soit à nous; » c'est-à-dire afin que nous soyons nos propres maîtres, ce qui est encore à présent la vraie cause de l'incrédulité. Mais que fera le Seigneur de la vigne? « Il viendra; » car le jugement dont Dieu frappa trente-cinq ans plus tard la Judée fut comme un premier avénement du Seigneur [3273]; « il viendra, dis-je; il fera périr les vignerons, et il donnera la vigne à d'autres, la transportant à une nation qui lui fera mieux rendre ses fruits. » C'est ainsi que les Juifs seront rejetés et les Gentils appelés à leur place [233, 234].

3354. Le Saint-Esprit, parlant par la bouche d'Esaïe, avait déjà comparé Israël à une vigne plantée et cultivée par les tendres soins de l'Eternel (Es. **5** : 1-7); en sorte que les auditeurs de Jésus ne purent ignorer sur qui portaient les menaces de la parabole : « Qu'ainsi n'advienne, » s'écrièrent-ils donc. Mais lui, les ayant regardés, leur

rappela les prophéties qui avaient annoncé l'incrédulité avec laquelle ils recevaient le Messie (Ps. 118, 22). Il ne les leur cite pas toutes; il ne choisit pas même les plus saillantes; mais celle qu'il cite est caractéristique, et nous verrons les apôtres la reproduire, plus tard, à diverses occasions. Après quoi, le Seigneur, ne voulant laisser aucun doute dans l'esprit de ses adversaires, leur dit positivement que c'était d'eux en effet qu'il avait voulu parler. On comprend quelle dut être leur rage : la crainte seule du peuple put les empêcher de se saisir à l'heure même de notre Sauveur.

3355. (Matth. 22 : 1-14.) A cette parabole succéda celle des noces; semblable à la parabole du souper, que nous avons vue ailleurs (Luc 14 : 16-24) [3219], différente toutefois par plusieurs côtés importants. Ici, notre Seigneur entre dans moins de détails sur les motifs qu'on allègue pour repousser les appels de la grâce de Dieu; mais cette parabole dit plus nettement à quoi l'on s'expose en agissant de la sorte, elle a d'ailleurs pour point de départ, comme l'autre, l'incrédulité des Juifs; puis, elle est remarquable par les développements qu'y reçoit la prophétie.

3356. Voici donc ce qui doit se passer sous l'économie évangélique. Il y a un royaume spirituel et céleste dont l'Eternel, le Père de notre Seigneur Jésus-Christ, est le monarque. Jésus lui-même, l'Eternel notre Rédempteur, l'époux de l'Eglise, est le Fils, l'héritier, le possesseur de ce royaume, et tout le but de sa mission, comme Christ, est de s'acquérir par ses souffrances les âmes que le Père lui a données, et qui, dans leur ensemble, composent son Eglise. Par un effet de l'alliance traitée avec leurs ancêtres, les fils d'Israël, invités aux noces depuis longtemps, furent aussi les premiers à qui Jésus ait dit par Jean-Baptiste et par ses apôtres, comme par les soixante et dix disciples envoyés devant lui : « Venez aux noces, » ou en d'autres termes : «Convertissez-vous et croyez à l'Evangile. » Mais vous savez comment cet appel fut reçu par le plus grand nombre; car ceci était déjà de l'histoire au moment où Jésus prononçait la parabole. Voici maintenant la prophétie; vous remarquerez aisément qu'elle se rapporte à trois périodes différentes.

3357. Dans la première, le dîner est prêt, la victime a été immolée; Jésus a tout accompli, et, malgré le refus des anciens invités, il daigne encore les solliciter par ses messagers; c'est ce qu'il a fait au moyen des apôtres, après son ascension. Mais, au lieu de se convertir, le gros de la nation s'obstinera dans son incrédulité. Loin de se

(**Matthieu 22** : 15-22. **Marc 12** : 13-17. **Luc 20** : 20-26.)

rendre à la voix des prédicateurs de l'Evangile, les enfants d'Israël les persécuteront à outrance. Aussi le roi enverra ses armées contre eux ; il fera périr ces meurtriers et brûlera leur ville ; oracle qui s'est accompli d'une manière merveilleuse, lorsque Jérusalem fut consumée par un incendie à effrayer ceux mêmes qui auraient dû s'en réjouir, je veux dire les Romains, dont l'armée investissait depuis deux ans la sainte cité. Ce fut alors surtout que, la réjection des Juifs ayant été rendue manifeste, le règne de Dieu fit de grands progrès parmi les nations, et que le grain de sénevé se mit à devenir un grand arbre. « Méchants et bons » entrèrent dans la salle des noces, et ainsi se forma une assemblée ou une Eglise considérable, mais naturellement fort mélangée. C'est la seconde période de la prophétie, celle où nous vivons présentement et qui dure depuis bientôt dix-huit siècles.

3358. Mais voici une nouvelle phase du royaume des cieux. Le roi en personne paraîtra dans l'assemblée qui se compose de tous ceux que « ses esclaves » auront admis aux noces. Assisté de « ses serviteurs, » les anges, selon une autre parabole (**13** : 49), il séparera ses élus, reconnaissables à la robe de noces qui a remplacé leurs vêtements pauvres et déguenillés. Cette robe de noces, telle que la belle robe donnée à l'enfant prodigue, représente la foi et les saintes dispositions dont la foi est le principe. Selon l'usage des grands, en ces temps anciens, c'était l'époux lui-même qui donnait aux invités leurs habits de fête. D'où vient donc qu'il se trouve là, parmi les convives, un individu qui n'a pas la robe de purification et de pieuse joie? C'est qu'il ne l'a pas demandée en entrant, c'est qu'il s'est cru suffisamment vêtu par sa propre justice, c'est qu'au fond il a méprisé Celui qui avait daigné le convier. Aussi aura-t-il la bouche fermée, lorsque le Roi lui dira, non pas « mon ami, » comme portent la plupart des versions; mais «compagnon! » toi qui as voulu être de ma compagnie et de mon assemblée, « comment es-tu entré ici, sans avoir une robe de noces? » Ah! mes chers lecteurs, qu'il sera terrible et juste tout à la fois de se voir lier les pieds et les mains, et jeter dans les ténèbres de dehors, pour n'avoir pas voulu se revêtir de la parfaite justice de Jésus-Christ!

3359. (M. **22** : 15-22 ; Mc. **12** : 13-17 ; L. **20** : 20-26.) Les pharisiens, qui s'étaient retirés un moment pour délibérer sur ce qu'il y avait à faire, comprirent que leur meilleure politique était de compromettre Jésus auprès du peuple, ou auprès du magistrat romain qui gouvernait la

(**Matthieu 22** : 23-33. **Marc 12** : 18-27. **Luc 20** : 27-38.)

Judée. S'ils parvenaient à séparer le peuple de Jésus, il leur serait facile d'entreprendre contre lui tout ce qu'ils voudraient; si, à défaut de cela, ils pouvaient l'entraîner à quelque propos séditieux ou à quelque révolte contre l'autorité, ils connaissaient assez les Romains pour savoir que rien n'arrêterait leur vengeance. C'est pourquoi nous les voyons revenir avec les hérodiens, leurs ennemis personnels mais chauds partisans de l'empereur, dans l'intention de tendre à Jésus un piége auquel il ne semblait pouvoir échapper. Car s'il exhortait à payer le tribut, on se hâterait de le représenter au peuple comme un mauvais Juif, peu jaloux de l'indépendance de sa patrie; s'il autorisait à ne pas le payer, il serait aussitôt dénoncé au gouverneur. Pour le dire autrement, on voulait qu'il prît parti en politique; or, quelque parti qu'il embrassât, il y avait de quoi perdre, ou son autorité ou sa personne.

3360. La réponse du Seigneur est admirable. Non-seulement elle ne donnait aucune prise à ses adversaires, mais encore elle établit une grande vérité qu'on n'a que trop souvent oubliée. Les princes ont, quant aux choses de ce monde, un pouvoir auquel les disciples de Jésus-Christ doivent se soumettre sans hésiter; mais par-dessus l'autorité des princes et des lois humaines, domine l'autorité souveraine de Dieu. En sorte que nous sommes tenus d'obéir en même temps et à César et à Dieu. Or, pour que la chose soit possible, il faut manifestement, nul prince n'étant infaillible, que les lois civiles n'entrent pas dans le domaine de la religion. Celui-ci appartient exclusivement au Seigneur, et, à moins que César ne soit le simple exécuteur des lois proclamées par l'Eternel lui-même, ce qui ne s'est vu que sous la théocratie judaïque, il faut que le spirituel soit tenu à part du temporel, que l'Eglise se gouverne elle-même par la Parole de Dieu, laissant l'Etat se régir par ses propres lois. C'est alors que, sans confusion et sans conflit, on peut tout à la fois rendre à César ce qui est à César et à Dieu ce qui est à Dieu.

3361. (M. **22** : 23-33; Mc. **12** : 18-27; L. **20** : 27-38.) Aux pharisiens succédèrent les saducéens, matérialistes et moqueurs, qui crurent embarrasser Jésus en lui posant un problème au sujet du relèvement des morts, ou de la résurrection. Partant d'une loi de Moïse que mes lecteurs connaissent (Deut. **25** : 5-10), ils lui contèrent une histoire qui a tout l'air d'une fable, mais que le Seigneur accepta telle qu'on la lui proposait, par la raison précisément qu'elle lui fournissait d'autant mieux l'occasion de confondre ces impies. Il le fait de deux

(**Matthieu 22** : 34-40; 41-46. **Marc 12** : 28-34; 35-37. **Luc 20** : 39-44.)

manières : d'abord, en leur montrant qu'ils se formaient une idée grossièrement absurde de l'état des hommes après la résurrection; puis, en leur citant, dans Moïse même, une parole de Dieu qui suppose nécessairement que les morts revivront, car ils ne cessent même pas de vivre quant à Dieu. Nous donc, notons bien ces deux points : ceux qui auront part à la glorieuse résurrection des enfants de Dieu seront comme les anges dans le ciel, et pour obtenir cette grâce, il faut vivre de la foi qui anima les patriarches Abraham, Isaac et Jacob.

3362. (M. **22** : 34-40; Mc. **12** : 28-34; L. **20** : 39.) Alors un scribe, docteur de la loi, vint à son tour adresser une question à laquelle il pensait peut-être que Jésus ne saurait répondre sans amener une discussion dont il se promettait de sortir vainqueur. « Quel est le plus grand commandement de la loi? » Cédant à la tendance générale de l'humanité, et plus excusables que beaucoup d'autres peuples, les Juifs plaçaient les lois cérémonielles au-dessus de tout. Observer scrupuleusement les formes du culte établi par l'Eternel, leur paraissait le devoir suprême. Nous penserions probablement comme eux, si le Seigneur ne nous eût pleinement éclairés sur ce point; car, même après cela, combien d'hommes qui se font les idées les plus fausses des fondements de la morale. Selon notre Seigneur Jésus-Christ, la loi tout entière et la sagesse des prophètes reviennent à ceci : Adore Dieu et n'adore que lui, te souvenant que l'essence de cette adoration consiste à aimer Dieu de tout ton cœur et ton prochain comme toi-même. Heureux ceux qui acceptent cette doctrine, comme le fit le docteur de la loi, car ils s'approchent par là du royaume de Dieu. Bientôt ils sentiront le besoin qu'ils ont de la grâce de Jésus-Christ, soit pour effacer leurs péchés envers Dieu et le prochain, soit pour répandre dans leur cœur, par le Saint-Esprit, l'amour du Seigneur et de leurs frères.

3363. (M. **22** : 41-46; Mc. **12** : 35-37; L. **20** : 39-44.) Après avoir été interrogé de la sorte, Jésus voulut adresser aussi une question à ses interlocuteurs et ramener leur attention sur sa personne. Il s'agissait de savoir comment le Christ pouvait être à la fois le fils et le Seigneur de David, David lui attribuant cette dernière qualité dans le psaume **110**. La question est d'une haute importance, car elle résume tout le mystère de l'incarnation divine; elle est comme la clef de la voûte dans l'œuvre de notre rédemption. Un enfant, parmi nous, n'éprouverait aucun embarras à la résoudre, parce que nous savons

(**Matthieu 23** : 1-39. **Marc 12** : 38-40. **Luc 20** : 45-47.)

tous que Jésus est fils de David quant à son humanité, et Seigneur de David quant à sa divinité; mais elle embarrassa cruellement les docteurs auxquels Jésus s'adressait, et dès ce moment ils n'osèrent plus l'interroger.

### CCLV. — Apostrophe aux pharisiens. La pite de la veuve. Grande prophétie.

3364. (M. **23** : 1-39; Mc. **12** : 38-40; L. **20** : 45-47.) Quand on pense à tout le mal qu'avaient fait les pharisiens par leurs doctrines relâchées et par leur formalisme; quand on voit la haine profonde que leur orgueil portait au Seigneur Jésus; quand on sait l'acharnement avec lequel ils poursuivirent plus tard ses rachetés, et qu'on réfléchit au grand nombre d'individus qui, de siècle en siècle, ont continué, sous d'autres noms, l'odieuse secte des pharisiens, on ne s'étonne pas que notre Seigneur, avant de terminer son ministère, ait attiré de nouveau sur leurs personnes et sur leur système, l'attention du peuple et celle de ses disciples. Il fallait ouvrir les yeux de la multitude; il n'importait pas moins de prémunir contre l'esprit et les tendances pharisaïques, l'Eglise qui allait se former. Sans prétendre que Matthieu n'ait été conduit par le Saint-Esprit à reproduire ici quelques traits de discours prononcés antérieurement, il n'est point impossible que le Seigneur lui-même ne se soit répété, afin de mieux graver son enseignement dans le cœur de ceux qui déjà l'avaient entendu, sans parler de ses nouveaux auditeurs.

3365. Encore que les pharisiens défigurassent la loi de Moïse par leurs traditions, ils ne laissaient pas de la proposer au peuple; c'est pourquoi le Seigneur invite d'abord ses auditeurs à observer leurs paroles pour autant qu'elles étaient conformes à la Parole de Dieu, cela va sans dire, mais en même temps à ne pas imiter leur conduite. Que faisaient-ils en effet? Par une ignorance volontaire de la miséricorde divine et de la rédemption prophétisée à leurs pères, ils ne prêchaient que la loi. A cette loi parfaite, ils ajoutaient une foule d'observances de leur invention, fardeau qu'ils liaient sur les épaules des hommes et qu'ils n'avaient garde de porter eux-mêmes. Cependant, ils accomplissaient certaines œuvres de dévotion; mais c'était par pure politique, car il leur importait de paraître pieux, afin d'exploiter à leur profit les superstitions populaires. Ainsi, ils se distinguaient de la foule par la largeur des bandes de parchemin qu'ils attachaient à

(**Matthieu 23** : 1-39. **Marc 12** : 38-40. **Luc 20** : 45-47.)

leur bras gauche ou à leur front, lorsqu'ils se mettaient à prier, et par l'ampleur des franges de leurs robes (Nombr. **15** : 38 et suivants). Mais que tout cela eût pour principe l'orgueil et non pas une vraie piété, c'est ce que prouvait l'arrogance de leurs prétentions.

3366. Il suffit de connaître quelque peu l'histoire de l'Eglise pour savoir que l'esprit des pharisiens ne s'est pas éteint avec eux. On a vu et l'on voit encore des hommes qui cachent sous les dehors d'une fausse dévotion, les mêmes vices et les mêmes vues mondaines. Ils portent aussi des vêtements qui les séparent du commun des mortels; ils cherchent les salutations et les hommages d'un peuple abusé; il faut qu'ils aient partout les premières places, et ils se font appeler docteurs, révérends pères, directeurs, justement ce que le Seigneur a défendu. Les noms, il est vrai, n'importent guère; aussi est-ce la chose plus que le mot que notre Seigneur a condamnée. En conséquence, il n'est rien dont ses disciples, quels qu'ils soient, doivent plus se garder que de prendre sur les âmes une autorité qui appartient au Seigneur seul, ou de soumettre leur propre conscience à la parole et aux vues particulières d'un homme, quelle que soit l'apparente humilité dont il se revête. Ceci, on le conçoit, peut très bien se faire, tout en rendant à ses conducteurs spirituels et généralement aux chrétiens distingués par leur foi et par leurs lumières, le respect et la déférence qui leur sont dus.

3367. D'après ce qu'étaient les pharisiens, nous ne saurions nous étonner des maux dont le Seigneur les menace pour la dernière fois. Des hommes qui, faisant monopole des choses saintes, fermaient à leur prochain les avenues de la vérité et marchaient eux-mêmes dans le chemin de l'erreur, conséquence inévitable de leur criminelle audace; des hommes qui, sous prétexte de piété, ne songeaient qu'à accumuler de l'argent; qui s'efforçaient par tous les moyens, non pas de convertir les âmes, mais de se faire des prosélytes; qui, à force de subtilités, parvenaient à appeler le mal bien et le bien mal; qui se montraient pleins de zèle pour les moindres observances et pleins de relâchement dans l'accomplissement des plus grands devoirs; qui sanctifiaient les dehors de leur vie et demeuraient au dedans rongés de passions honteuses; des hommes enfin dont les mains s'apprêtaient à verser le sang du Saint et du Juste, comme leurs pères avaient répandu celui de maints prophètes; de tels hommes assurément ne pouvaient qu'attirer la malédiction divine sur la ville coupable dont les habitants se laissaient conduire par eux! Voilà ce que le Seigneur

(**Luc 21** : 1-4; 5-7. **Marc 12** : 41-44. **13** : 1-4. **Matthieu 24** : 1-3.)
avait déjà proclamé plus d'une fois, et ce qu'il voulut répéter en cette occasion solennelle.

3368. Solennelle en effet, car notre Seigneur allait cesser de faire entendre sa voix dans le saint lieu. Lorsqu'il avait, quelques mois auparavant, prononcé la même prophétie contre Jérusalem, il se trouvait éloigné de la ville, objet de ses divines menaces, et il n'avait pas pour auditoire, comme cette fois, le peuple entier de cette coupable cité. On aurait pu croire que sa parole s'était accomplie lors de son entrée triomphale [3333], car on l'avait précisément salué par les cris mille fois répétés de : « Béni soit celui qui vient au nom du Seigneur ! » Afin donc de montrer que la prophétie avait un sens différent et se rapportait à un temps plus éloigné, il la reproduit au moment où il sort du temple pour n'y plus rentrer, et il ajoute un mot qu'il n'avait pas dit la première fois: « Vous ne me verrez plus *dès maintenant*... »

3369. (L. **21** : 1-4; Mc. **12** : 41-44.) Jésus, se retirant du temple, s'assit un moment près du trésor, dans le parvis consacré aux femmes, et il se plaisait à voir l'empressement avec lequel chacun déposait ses offrandes volontaires pour l'entretien du temple. Les riches apportaient beaucoup d'argent sans doute, mais il leur en restait plus encore qu'ils n'en donnaient; c'est pourquoi Jésus fit remarquer à ses disciples une pauvre veuve qui jeta dans le tronc un quart de sou et dont l'offrande était réellement supérieure à celle des riches. Il savait, notre Seigneur, que son Eglise compterait plus de pauvres que de gens opulents, et il a voulu encourager ceux qui, ayant peu, ne sauraient donner à Dieu de grandes sommes. Qu'il est touchant de le voir couronner de cette manière les enseignements d'une si grande journée! Comme on apprend toujours mieux de quel prix sont à ses yeux les petits et les humbles! Et puis, quel encouragement à faire pour lui, pour son service, tout ce qui est en notre pouvoir, quand même ce que nous pouvons n'est jamais, hélas! que fort peu de chose!

3370. (L. **21** : 5-7; M. **24** : 1-3; Mc. **13** : 1-4.) Jésus sortit enfin des cours du temple, et, comme il s'en allait, ses disciples lui firent remarquer la splendeur des matériaux qu'Hérode avait employés pour la restauration de cet édifice, et la magnificence non moins grande des ornements dont la générosité des riches l'avait décoré. L'un d'eux surtout insistant là-dessus, Jésus lui dit, mais en s'adressant à tous : « Vous admirez cela! Les jours viendront où il ne sera laissé pierre sur pierre qui ne soit démolie. » Puis, quand ils furent sur la mon-

(**Luc 21** : 8-36, **Matthieu 24** : 4-51, **Marc 13** : 5-37.)

tagne des Oliviers, où l'on avait en face de soi le mont de Morija et les majestueux édifices qui le couronnaient, Pierre, Jacques, Jean et André lui demandèrent quand ces choses auraient lieu et quel serait le signe de sa présence et de la consommation du siècle? Ils unissaient dans leur pensée, et avec raison, la parole qu'ils venaient d'entendre à celle que Jésus avait prononcée avant de sortir du saint lieu (Matth. **23** : 37-39). Jérusalem sera désolée et le temple détruit de fond en comble; après quoi, le Seigneur reparaîtra au milieu des siens! Mais à quelle époque ces jugements et ce retour triomphal auront-ils lieu? Quel rapport existe-t-il entre ces événements et la fin du monde? C'est pour répondre à cette double ou triple question que notre Seigneur fit entendre à ses disciples une de ses plus belles prophéties, complément d'une prophétie précédente (Luc **17**) et qu'on pourrait appeler, par excellence, la prophétie du mont des Oliviers.

3371. (L. **21** : 8-36; M. **24** : 4-51; Mc. **13** : 5-37.) Le Seigneur ne voulant pas dire le temps précis de sa dernière venue, se borne à tracer un tableau général des faits qui devaient s'accomplir auparavant et qui, par leur nature même, seraient propres à remettre en mémoire ce grand jour, à le figurer d'avance, à le préparer. D'abord il s'élèvera de faux Christs, par lesquels beaucoup d'âmes seront séduites. Or, ces faux Christs désignent, ou des hommes, tels qu'il y en a eu, qui se sont donnés pour le Messie, ou des docteurs qui, au nom de Jésus, prêchèrent un faux Christ, c'est-à-dire un faux Evangile. A l'intérieur de l'Eglise, voilà donc les maux qui, avant le retour glorieux du Seigneur, menaceront son existence. Au dehors et dans le monde, des guerres et des tremblements de terre, des pestes, des famines; en sorte qu'il ne faudra pas attendre de longtemps le règne de paix et de prospérité prédit par les prophètes comme coïncidant avec le règne du Sauveur [2183]. Il ne fallait pas non plus que les disciples s'imaginassent, à la vue de ces désordres, que la fin était là; car tous ces jugements de Dieu sont peu de chose en comparaison de ceux qui précéderont « la consommation du siècle. » Alors, dit Luc, des événements épouvantables se passeront sur la terre, et il y aura de grands signes dans le ciel (Luc **21** : 11).

3372. Avant tout cela, savoir dès les premiers jours de l'économie évangélique; bien longtemps donc avant le retour glorieux du Seigneur, les prédicateurs du salut se verront traînés devant les conseils, devant les tribunaux civils et ecclésiastiques, devant les gouverneurs

(**Luc 21** : 8-36. **Matthieu 24** : 4-51. **Marc 13** : 5-37.)

des provinces et même devant les rois; ils seront battus de verges, jetés en prison, conduits à l'échafaud, à cause de Jésus. Cela même leur serait un témoignage de la véracité du Seigneur et de la méchanceté du monde, tandis qu'ils rendront ainsi témoignage à Dieu devant le monde par leurs souffrances mêmes. C'est dans ces circonstances que la bonne nouvelle sera prêchée à toutes les nations et alors seulement viendra la fin. En attendant, que les messagers du Seigneur ne se croient pas abandonnés par lui. Il leur donnera une bouche [640] et une sagesse qui confondront leurs adversaires, car c'est par le Saint-Esprit qu'ils parleront. Il est vrai qu'ils auront pour ennemis leurs plus proches parents; qu'en des temps postérieurs ils auront à lutter contre de faux prophètes, tels que le pape et Mahomet; que l'iniquité se multipliera dans le monde et que même l'amour se refroidira chez un grand nombre de chrétiens : il est vrai, pour tout dire en un mot, qu'ils seront haïs de toutes les nations à cause du nom de Christ; mais, comme Jésus l'avait dit ailleurs, sa protection ne laisse pas d'être assurée à ses serviteurs dans les moindres détails de la vie, jusqu'à un cheveu (Luc **12** : 7); par où il n'entend pas assurément que jamais aucun mal ne les atteindra, puisqu'il leur annonce au contraire des persécutions, même sanglantes : mais ce ne sera toutefois que s'il le permet et il leur tiendra compte de leurs moindres souffrances, pensée bien propre à les faire persévérer jusqu'à la fin, pour l'entière possession du salut.

3373. Parmi les événements avant-coureurs des derniers jugements de Dieu et du retour de Jésus-Christ, il ne devait pas y en avoir de plus frappants, ni qui dussent produire une impression plus durable, que la destruction de Jérusalem. C'est pourquoi nous voyons notre Seigneur revenir là-dessus, en répétant d'une manière plus expresse ses prophéties précédentes, et en rappelant que ce grand jugement de Dieu avait été prédit autrefois, notamment par le prophète Daniel (**9** : 26). Ici donc, il nous est déclaré que Jérusalem sera cernée par de puissantes armées; que la Judée entière se verra dévastée; qu'il n'y aura d'autre moyen que la fuite pour échapper à la ruine commune; qu'ainsi s'accompliront, dans toute leur étendue, des prédictions qui n'avaient été qu'à demi réalisées six cents ans auparavant [2306, 2492]; que l'épée n'épargnera ni les femmes ni les enfants à la mamelle; que les Juifs échappés à ce désastre seront dispersés et opprimés parmi tous les peuples, et que Jérusalem sera foulée aux pieds, occupée, tyrannisée par les nations, jusqu'à ce qu'il n'y ait plus de

(**Luc 21** : 28-36. **Matthieu 24** : 32-51. **Marc 13** : 28-37.)

nations étrangères à l'Evangile. Et le Seigneur ajoute que, même après de tels jugements, démonstration pourtant si manifeste de sa divinité, il y aurait encore de faux Christs et de faux prophètes. C'est pour la troisième fois que le Seigneur reproduit ce trait dans cette même prophétie, et cela après avoir prononcé un oracle tout pareil dans une autre circonstance (Luc **17** : 33, 34). Mais il insiste ici particulièrement sur les miracles par lesquels les faux Christs et les faux prophètes chercheront à séduire les élus mêmes, si la chose était possible; puis il ajoute : « Pour vous, prenez-y garde; voici, je vous ai tout prédit. » Il répète encore une parole qui doit constamment prémunir les fidèles contre les séductions de ceux qui disent : Le Christ est ici, ou le Christ est là; savoir que son apparition sera subite et évidente comme celle d'un éclair (Luc **17** : 24). Bien plus, elle se fera pour le monde entier tout à la fois, car « partout où est le corps mort, là s'assemblent les aigles (Luc **17** : 37).

3374. Plusieurs siècles se sont écoulés dès lors et bien des années s'écouleront peut-être encore jusqu'au grand et dernier jugement. Cependant le Seigneur en parle ici comme s'il eût été fort proche. C'est non-seulement parce que mille ans sont aux yeux du Seigneur comme un jour (2 Pierre **3** : 8), mais encore parce que la prophétie se rapporte à une série d'événements qui se sont succédé et se succéderont, toujours semblables et toujours nouveaux, jusqu'à la venue du Sauveur. Il a donc voulu que chaque génération de ses disciples vécût dans l'attente de ce jour. Quant à la manière dont il se passera et aux événements qui l'annonceront, notre Seigneur ne nous en dit ici que peu de mots. Il y aura sur la terre des calamités jusqu'alors inouïes. « Le signe du Fils de l'homme » paraîtra dans le ciel, sans qu'on puisse déterminer exactement ce que sera ce signe, à moins qu'il ne faille simplement entendre la merveille même de l'apparition du Seigneur dans sa gloire. Venant sur les nuées des cieux, il rassemblera ses élus de tous les pays et de tous les siècles et ce sera la grande journée prédite par tous les prophètes, jour de destruction pour les adversaires, jour de délivrance pour les enfants de Dieu.

3375. (L. **21** : 28-36; M. **24** : 32-51; Mc. **13** : 28-37.) Or, s'il a plu au Seigneur de nous révéler cet avenir, à la fois si sombre et si glorieux, ce n'est pas pour donner une vaine pâture à notre curiosité. Vous en pouvez juger par les exhortations dont il entremêle sa prophétie, et encore plus peut-être par celles qui la terminent. Ecoutez-les en effet, et vous y apprendrez dans quel sentiment les fidèles doivent

**(Matthieu 25 : 1-46.)**

voir se dérouler devant eux les catastrophes annoncées ici par le Seigneur. Il faut qu'ils regardent en haut et qu'ils lèvent leurs têtes, car chacune de ces calamités est un pas de plus vers la délivrance. Lorsque les apôtres essuyèrent leurs persécutions, c'étaient, selon la parabole, les feuilles du figuier qui poussaient. Il en fut de même quand vinrent de faux Christs, puis la destruction de Jérusalem, événements qui eurent lieu du vivant de cette génération. Feuilles du figuier, tout cela; et les traits de la prophétie qui s'accomplissent en nos jours ne sont pas autre chose non plus. Mais la pousse des feuilles annonce, bien que de loin, la saison qui amène le fruit à maturité, et les jugements de Dieu dont nous sommes les témoins, proclament le jugement final qui doit s'exercer sur ce monde. Les cieux et la terre finiront par une dernière et sublime catastrophe, mais les paroles de Jésus sont permanentes à jamais. Quant au jour et à l'heure, le Père seul les connaît; profond mystère sur lequel nous devons moins nous arrêter, que sur les conséquences pratiques dont nous trouvons l'exposition dans le discours même de notre Seigneur. Ne pas se laisser appesantir par la gourmandise, par l'ivrognerie et, remarquez-le bien, par les soucis de la vie, ne pas faire comme les hommes du temps de Noé, de peur d'être « pris » par le jour de Christ comme par un filet; veiller et prier en tout temps; se tenir prêt comme le ferait un maître de maison s'il savait que des larrons doivent venir l'attaquer, ou comme des esclaves qui attendent leur maître à toutes les heures de la nuit; éviter de passer sa vie à se disputer avec ses semblables ou à rechercher les jouissances du présent siècle; s'acquitter au contraire fidèlement de la tâche qui nous est dévolue dans le service de notre Maître : voilà ce qui est de devoir strict pour quiconque croit que le Seigneur reviendra certainement, afin de rendre à chacun selon ses œuvres : à ceux qui auront veillé et prié, la vie éternelle; à ceux qui se seront endormis ou livrés au désordre parce que le Maître ne venait pas, les pleurs et les grincements de dents.

## CCLVI. — La parabole des vierges, celle des talents et celle des brebis et des boucs.

3376. (Matth. **25** : 1-46.) Représentez-vous notre Seigneur assis avec ses disciples sur la montagne des Oliviers. Déjà, sans doute, le soleil s'était couché dans la mer Méditerranée; mais la lune, levée sur les

monts de Galaad, brillait avec éclat et jetait sa lumière mystérieuse sur la ville de Jérusalem. Il n'y avait plus que deux jours jusqu'à la fête de Pâque. Ce fut donc par une belle soirée du printemps que le Seigneur Jésus eut ces entretiens solennels avec ceux qu'il avait destinés à devenir les dépositaires de sa doctrine. Après leur avoir fait entendre des prophéties provoquées par leurs questions mêmes, il continue de les exhorter à la vigilance, en leur parlant encore de ce qui se passerait au jour de sa venue. Il y consacre trois paraboles que nous examinerons successivement, nous réservant de les rapprocher les unes des autres, à la fin de cette Etude.

3377. (1-13.) Les personnes dont se compose le royaume des cieux ici-bas, sont comparées par le Seigneur à dix jeunes filles qui, selon l'usage de ces temps, attendraient l'arrivée de l'époux d'une de leurs amies. Tous les chrétiens savent, en effet, que selon les Ecritures, Jésus-Christ doit revenir un jour pour juger les vivants et les morts. La lampe que chaque vierge tient en sa main, c'est donc la profession de l'Evangile, ou la foi, prise dans le sens général que ce mot reçoit de temps en temps [2747]. Celles qui n'ont pas d'huile dans leur lampe, représentent les chrétiens de nom, gens dont toute la foi est en paroles et en apparence ; les vierges sages représentent au contraire les personnes qu'anime une foi vivante, par l'onction du Saint-Esprit. Si l'on voit, dans la parabole, les dix vierges s'assoupir en attendant l'Epoux, ce n'est pas à dire que les fidèles puissent réellement oublier le jour de Christ au même point que ceux dont la foi n'est qu'apparente. Mais il est vrai qu'il y a souvent pour eux aussi des temps de relâchement; il est vrai que l'incertitude qui plane sur l'instant de notre rencontre avec le Seigneur, produit quelque vague dans l'attente que nous avons; en sorte que la vigilance habituelle des meilleurs chrétiens est comme une espèce de sommeil, en comparaison de ce qui leur arrive, quand le Seigneur, par quelque coup subit ou par le réveil de la piété, les avertit que sa venue approche.

3378. Quoi qu'il en soit, le fidèle ne saurait être pris au dépourvu, par la raison qu'il a de l'huile dans sa lampe; tandis que, si les autres ont pu se faire longtemps des illusions sur leur état, ces illusions doivent tomber au moment où le Seigneur les sommera de paraître devant lui. Ils verront alors que ce qui sauve, ce n'est pas une foi nominale, mais une foi réelle ; que cette foi, c'est le Seigneur seul qui la donne; qu'il sera trop tard de la vouloir au jour de sa venue; et, comme nul de nous ne sait à quelle heure le Seigneur arrivera, il

nous faut dès à présent rechercher sa grâce, si nous n'en jouissons pas encore, et, dans l'attente de son retour, nous tenir éveillés.

3379. (14-30.) Il est facile de voir la grande ressemblance qui existe entre la parabole des mines ou des marcs (Luc **19** : 11-27), et celle des talents, tout comme les rapports qui unissent celle-ci à la parabole des vierges. Les mêmes personnes qui, tout à l'heure, avaient pour symbole les vierges sages, reparaissent ici sous l'image d'esclaves auxquels leur maître remit, en partant, diverses sommes et qui les firent valoir à son profit; tandis que les vierges folles ont pour pendant un esclave qui, n'ayant qu'un talent, l'a enfoui, comme dans la parabole des marcs. C'est toujours la foi vivante opposée à la foi morte. Or, notre Seigneur, après avoir établi, par la similitude des marcs, que la foi vivante, savoir le regard du cœur vers Jésus-Christ, est au fond la même chez tous ceux qui croient véritablement, nous montre ici qu'elle est, en chacun, plus ou moins éclairée, plus ou moins ardente, plus ou moins ferme, plus ou moins efficace : à l'un cinq talents, à un autre deux. Il nous annonce de plus que ceux dont la foi aura fructifié avec le plus d'abondance, recevront de la grâce de Dieu une plus grande rémunération, encore que, pour l'essentiel, il y ait entre tous les croyants une grande égalité, puisqu'ils entendront tous ces excellentes paroles : « Bien! esclave bon et fidèle; tu as été fidèle « en peu de chose, je t'établirai sur beaucoup; entre dans la joie de « ton Seigneur. » Quant à ceux dont la foi aura été stérile, parce qu'elle n'était pas la véritable, ce qu'ils paraissaient avoir leur sera ôté, et leur part sera avec les incrédules dans les ténèbres de dehors, où sont les pleurs et les grincements de dents [413].

3380. (31-46.) La troisième parabole nous transporte plus complétement au dernier jour. Nous y voyons le Fils de l'homme dans son règne. Il est assis sur un trône. Les anges lui font un cortége magnifique, et toutes les nations sont assemblées devant lui pour recevoir leur jugement. Maintenant est venue l'heure de séparer l'ivraie du bon grain et de chasser de la salle ceux qui n'ont pas la robe de noces. C'est ce que va faire le Roi, ce roi, dis-je, qui est le berger des brebis. Il met à sa droite ceux que le Père lui a donnés (Jean **6** : 37) et pour lesquels il a, de toute éternité, préparé une place dans son royaume céleste; ceux qui, étant justifiés par la foi, ont aimé leur Sauveur et lui ont témoigné cet amour en faisant du bien à ses frères, c'est-à-dire aux enfants de Dieu, malades, pauvres, voyageurs et persécutés. Mais quant à ces prétendus chrétiens qui, n'ayant jamais rien fait pour

lui, montrèrent par là qu'ils ne croyaient réellement pas à son amour ni à son sacrifice, ils seront bannis de sa présence et réduits à l'état d'effroyable misère qui, pour toujours, est le partage de Satan et des anges de ténèbres; car il y a une punition éternelle, tout comme il existe une vie éternelle, et celle-ci ne peut appartenir qu'aux âmes devenues justes par une sainte et vraie foi.

3381. (1-46.) Pour reprendre ces paraboles dans leur ensemble, il est manifeste d'abord qu'elles se rapportent toutes les trois au jugement dernier; mais ce qui peut échapper au premier coup d'œil, c'est qu'il ne s'agit pas ici du jugement universel proprement dit. Bien qu'au verset 32, on voie toutes les nations assemblées devant le Seigneur, il ne peut être question que des hommes de toutes nations qui auront eu connaissance de l'Evangile et qui auront fait profession de le recevoir. Ils ne forment ensemble qu'un troupeau, et nous les avons déjà vus représentés par les vierges et les esclaves des deux autres paraboles. En général, il est à remarquer que si la Bible jette une vive lumière sur tout ce qui tient au jugement des peuples auxquels Dieu l'aura fait prêcher, elle parle peu du jugement des nations restées étrangères aux alliances divines. Cet admirable silence est facile à expliquer. La Bible ne satisfait en quoi que ce soit la vaine curiosité des hommes. Elle instruit ceux à qui elle s'adresse, mais elle ne leur parle guère que d'eux; et quand elle parvient à des peuples qui ne la possédaient point encore, elle est dès ce moment pour eux, comme pour les premiers dépositaires de ce trésor, une mine inépuisable d'avertissements et de consolations. Dans ces trois paraboles, il s'agit donc du royaume des cieux, comme il est dit au premier verset du chapitre, ou en d'autres termes du jugement des âmes auxquelles Jésus-Christ fut annoncé.

3382. On ne peut douter que ce jugement ne doive être rendu par Jésus-Christ lui-même, dans son humanité; et, quand on voit les images sous lesquelles il se désigne, on est obligé de reconnaître que nul n'est mieux qualifié pour cela. Non-seulement il est le Fils de l'homme, et de cette manière notre pair et notre semblable, garantie de compassion et d'équité, mais encore il est l'époux de l'Eglise rachetée par son sang; il est le Seigneur auquel nous appartenons, comme des esclaves qui appartiennent à leur maître et lui doivent tout; il est enfin le Roi-Pasteur, destiné à régner éternellement sur le trône de David son père.

3383. Le jugement que rendra le Seigneur, comme tout jugement

(**Matthieu 25** : 1-46.)

au reste, ne changera rien à l'état des choses; il ne fera que le constater et le corroborer. Ceux que le Seigneur recevra, récompensera, bénira, sont déjà reçus en grâce, enrichis des faveurs célestes et bénis d'en haut, par un effet de l'amour éternel du Père. Ils ont de l'huile dans leur lampe, ils font valoir leur talent, ils aiment leur Sauveur. Ils lui appartiennent donc dès à présent, et ils jouissent de tout le bonheur possible ici-bas. Le jour de la révélation de Jésus-Christ n'apportera pas dans leur situation un changement du tout au tout; il ne sera, pour eux, que la mise en possession des biens éternels dont ils jouissaient déjà par la foi. Quant aux autres, il en sera de même. Bien qu'en apparence près de Dieu, ils étaient loin de lui; enrichis de diverses grâces, ils n'en faisaient aucun usage; et, parce qu'ils n'aimaient pas, ils étaient malheureux. Au jour du Seigneur, ils se verront définitivement rejetés; les grâces dont ils jouissaient leur seront retirées; et, voués à une misère sans compensations, ce qui n'est pas leur cas maintenant, on ne voit pas ce qui pourrait mettre fin à cette misère.

3384. Qu'elle est saisissante et solennelle la déclaration par laquelle notre Seigneur termine ces trois paraboles! Dans quel religieux silence ceux qui l'entendirent ne durent-ils pas se lever pour descendre le mont des Oliviers et reprendre leur chemin du côté de Béthanie! Voici donc par quoi Jésus-Christ consomma les enseignements de cette grande journée : S'il y a une *vie éternelle*, il y a aussi une *punition éternelle!* Cette punition, le Seigneur la prononce en ces termes, dans la parabole des vierges : « Je ne vous connais point, » et dans celle des talents, par ces mots non moins terribles : « Otez à l'esclave inutile, même ce qu'il a; jetez-le dans les ténèbres de dehors; là seront les pleurs et les grincements de dents. » Il n'y a rien à retrancher de ces paroles, et il n'y a rien non plus à y ajouter. Les croyez-vous, ô mes chers lecteurs? S'il en est ainsi, vous demanderez aux trois paraboles de vous dire par quoi donc vos âmes peuvent être mises, dès maintenant, à l'abri de la colère à venir.

3385. Elles vous répondront que ce n'est pas par la nue possession de l'Evangile (3), mais par une foi vivante, opération secrète et intime du Saint-Esprit (4). Quand on est animé de cette foi, l'on se consacre au service du Seigneur, et l'on a particulièrement à cœur la gloire de son nom (35, 36) : les fruits qu'elle produit essentiellement sont des fruits de charité et d'humilité (37-39). Sur ce dernier point remarquez deux choses : d'abord, toute œuvre de bienfaisance n'est

(**Luc 21** : 37, 38. **22** : 1, 2. **Matthieu 26** : 1-5. **Marc 14** : 1, 2.)

pas un signe de vraie foi. Le Seigneur n'agrée que ce qui est fait pour lui et ce qu'on lui fait à lui-même dans la personne de ses rachetés. En d'autres termes, les œuvres de la foi supposent nécessairement la foi. Ensuite, ce ne sont pas ces œuvres qui nous sauvent, puisqu'elles ne viennent qu'après la foi par laquelle nous sommes sauvés, et puisque le royaume est préparé aux élus dès la fondation du monde (34). Cependant, si d'un côté c'est par la foi que nos péchés nous sont pardonnés et que nous sommes justifiés, c'est-à-dire tenus pour justes [291, 2984, 3299], on ne saurait oublier non plus que rien ne remplace les œuvres. Il faut que nous ayons une sainteté et une justice personnelles; mais cette justice elle-même est le fruit de la foi. En sorte que la foi en Jésus-Christ nous procure ces deux genres de justice : celle du pardon des péchés et celle de la sanctification. Elle nous justifie essentiellement en ce qu'elle nous fait tenir pour justes devant Dieu. Elle nous justifie aussi, l'on peut dire, en nous remplissant de justice et de sainteté.

3386. Croire en Jésus d'une foi vivante et efficace, d'une foi qui produise la vigilance, le dévouement au service du Seigneur et la bienfaisance envers ses rachetés, telle est donc la voie du salut, selon les enseignements uniformes de l'Evangile, enseignements résumés dans les trois paraboles de ce chapitre.

CCLVII. — *Le mercredi.* **Conseil tenu par les Juifs. Souper à Béthanie. Jésus lave les pieds de ses disciples. Il annonce la trahison de Judas et le reniement de Pierre.**

3387. (L. 21 : 37, 38; 22 : 1, 2; M. 26 : 1-5; Mc. 14 : 1, 2.) Durant les jours qui venaient de s'écouler, le Seigneur, nous dit saint Luc, avait passé tout son temps dans le lieu sacré; et, sortant de Jérusalem sur le soir, il s'était chaque fois retiré sur la montagne des Oliviers, soit à Béthanie, soit en quelque lieu solitaire. Il n'y avait plus que deux jours jusqu'à la Pâque, c'est-à-dire jusqu'au jour où commençait la solennité. Ce devait être le 12 ou le 13 de Nisan, correspondant, cette année-là, à notre mercredi. Il paraît que Jésus passa la journée à Béthanie, dans l'intimité de ses disciples, auxquels il annonça positivement que sa mort, ou pour mieux dire, son sacrifice, coïnciderait avec la fête. Ce n'était pas cependant la pensée de ceux qui s'apprêtaient à immoler la sainte victime; non que ce ne fût leur désir, car ils conféraient fréquemment à cette intention. Ce mercredi

(**Jean 13** : 1, 2. **Luc 22** : 3.)

même ils s'assemblèrent chez Caïphe pour en délibérer; mais ils craignaient le peuple, et ils décidèrent qu'on emploierait la ruse et non la violence pour s'emparer de Jésus. Ils résolurent en outre de laisser auparavant écouler la Pâque, afin que la ville se vidât du peuple des campagnes, particulièrement favorable au prophète de Nazareth. Voilà ce qu'ils étaient réduits à comploter; mais Satan les servit au delà de leurs espérances.

3388. (J. **13** : 1, 2; L. **22** : 3.) Pendant que les ennemis du Seigneur méditaient leurs sinistres projets et que leurs cœurs se nourrissaient de haine, lui, au contraire, sachant que l'heure de passer à son Père était venue, redoublait de témoignages d'affection envers ceux qu'il lui avait donnés; pécheurs bénis qu'il aima dès le moment où ils se joignirent à lui, ou plutôt qu'il avait aimés avant que le monde fût fait et qu'il doit aimer éternellement. Car tel est le caractère de l'amour du Seigneur envers les siens : rien ne saurait l'altérer ni le diminuer. Ce n'est pas un attachement à la manière des hommes : « Ceux qu'il aima dès le commencement, il les aime jusqu'à la fin. »

3389. La journée s'étant passée en des entretiens, des occupations et des prières que l'Evangile ne nous rapporte pas, le moment du souper arriva; c'était le principal repas et il se faisait vers le soir. Jésus se mit à table avec les siens, comme de coutume; mais ce repas allait avoir quelque chose de particulièrement solennel. — Tous étaient là; Judas Iscariot aussi bien que les autres; mais l'Evangile nous apprend que Satan avait déjà mis en son cœur de livrer Jésus entre les mains de ses ennemis. Judas, l'un des douze, était celui auquel notre Seigneur avait fait allusion précédemment, en des termes destinés à diminuer, pour les disciples, l'horrible scandale qui allait les épouvanter (Jean **6** : 70, 71). Judas, semblable aux vierges folles, n'avait point d'huile dans sa lampe. Au dehors, il semblait partager la foi des onze autres; mais son cœur était plein d'avarice, et vous savez que nul ne peut être esclave de deux seigneurs (Matth. **6** : 24). Comme la passion de Judas nous est révélée pour la première fois dans l'histoire de Marie et du parfum dont elle oignit Jésus [3328], Matthieu et Marc rapportent seulement ici cette circonstance intéressante, bien qu'elle se fût passée quatre jours auparavant. Peut-être qu'alors Judas méditait déjà son coupable dessein; peut-être même qu'à cette époque le crime avait déjà un commencement d'exécution. Dans tous les cas, ces deux faits semblent avoir été rapprochés

l'un de l'autre, afin de montrer que Judas, en livrant Jésus, ne fit que céder à une passion qui dès longtemps maîtrisait son âme. Il n'avait certes aucune raison de haïr le Seigneur; car Jésus lui avait témoigné une grande confiance, tout en le mettant à une forte épreuve [2889]. Mais, tandis qu'il aurait dû apprendre le désintéressement, par l'usage même que Jésus faisait des aumônes qu'on versait dans la bourse commune, Judas se mit à aimer l'argent toujours plus. Or, quand on se laisse dominer par une convoitise quelconque, on donne prise à Satan et l'on est capable de tous les péchés. Rappelez-vous là-dessus les nombreux exemples de l'Ancien Testament [83, 523, 1137, 1559, 1953, 1991].

3390. Pour comprendre le crime de Judas, il faut cependant tenir compte des illusions que ne manquent jamais de se faire ceux qui s'abandonnent à leurs vices. Il n'est nullement impossible que ce malheureux ne se soit dissimulé l'énormité de sa trahison. Il avait vu Jésus produire tant de miracles et si souvent échapper à ses ennemis; il était tellement convaincu de sa mission divine (exemple effrayant de ce qu'est la foi morte), qu'il pensait peut-être que son Maître saurait bien se soustraire à ses ennemis. En attendant, lui, Judas, leur aurait extorqué de l'argent, sans que personne au monde pût en avoir connaissance, du moins il le pensait. Si d'ailleurs l'Ecriture attribue à Satan le crime que méditait le traître, c'est que Satan est le père du meurtre et de toute fraude, c'est qu'il règne dans le cœur de ceux qui se laissent maîtriser par leurs passions. Je pense en outre que cela nous est dit pour nous rappeler l'ancienne prophétie, d'après laquelle la postérité du serpent devait blesser au talon la postérité de la femme. Oui, le moment de la grande lutte est arrivé. Satan va se mettre à l'œuvre, et jamais sa participation aux crimes des hommes ne fut plus manifeste.

3391. (Jean 13 : 3.) Jamais non plus il n'y eut de manifestations plus abondantes de l'amour de Dieu; jamais sa présence au milieu des hommes, dans la personne de Jésus-Christ, ne fut plus évidente. A cette table qu'il préside comme Seigneur et Docteur, Jésus va donner un spectacle bien fait pour frapper ses disciples. Ils l'avaient toujours vu parmi eux «doux et humble de cœur,» n'exigeant rien de personne et se donnant à tous; cependant, ils ne l'avaient point encore vu à leurs pieds pour leur rendre un office qui, dans les maisons des grands, appartenait aux derniers des esclaves. Or, ce n'était pas qu'il y eût rien de diminué dans la puissance qu'il avait reçue du Père en

(**Jean 13** : 4, 5; 6-9; 10, 11.)

sa qualité de Christ. Bien plus, comme c'était du Père qu'il venait, c'est à lui qu'il allait retourner avec une grande gloire. Mais, nonobstant cette infinie grandeur, ou plutôt, en suivant le texte, par cela même que sa grandeur est infinie et inaltérable, il voulut s'humilier et montrer, ainsi qu'il l'avait dit, que le Fils de l'homme est venu « non pour être servi, mais pour servir, et pour donner sa vie en rançon pour plusieurs. » Le voilà donc qui se lève de table et qui, dépouillant sa robe de dessus, demeure vêtu de la simple tunique d'un esclave (4, 5). Dans cet humble costume, il prend le bassin destiné aux ablutions, l'emplit d'eau, s'approche des disciples pour leur laver les pieds, et les essuie ensuite avec le linge dont il était ceint.

3392. (6-9.) Quand il fut arrivé à Simon Pierre (car il n'est point dit qu'il ait commencé par cet apôtre), il fut accueilli d'une manière qui ne doit pas nous surprendre. Pierre était celui de tous peut-être qui sentait le plus vivement les choses, et, quand il vit Jésus agenouillé devant lui, il s'écria : « Toi, Seigneur, tu me laves les pieds ! » Représentez-vous ce pêcheur de la Galilée, qui n'avait jamais eu d'esclave pour lui rendre un tel service, et vous entrerez parfaitement dans sa pensée. Il ne comprenait rien à ce qui se passait, et, véritablement, il ne devait rien y comprendre. Aussi le Seigneur lui dit-il : « Tu ne sais pas ce que je fais, mais tu le sauras dans la suite. » Si Pierre avait eu l'humilité de Jean-Baptiste [2686], il eût, dès ce moment, laissé faire son Maître. Au lieu de cela, il lui résiste en face : « Tu ne me laveras jamais les pieds, » lui dit-il. Or, si quelqu'un oppose au Seigneur une résistance absolue et prolongée, il ne saurait avoir aucune part avec lui. C'est ce que Jésus fit entendre à son disciple, et celui-ci, qui aimait pourtant son maître, qui aurait frémi à l'idée d'en être rejeté, se hâta de lui dire : « Seigneur, non-seulement les pieds, mais aussi les mains et la tête ! » Dans l'impétuosité de ses affections, il passe maintenant à un autre extrême ; il oublie que la véritable obéissance consiste à vouloir ce que Dieu veut, ni moins, ni plus, et à le vouloir comme il le veut et non d'une autre manière.

3393. (10, 11.) La réponse de notre Seigneur nous apprend que ce qu'il faisait là était un acte symbolique ou, pour le dire autrement, une parabole. Quand un homme revenait du bain, il avait besoin, en rentrant chez lui, de se laver de nouveau les pieds, à cause de la poussière qui s'y était attachée en chemin ; car les Orientaux ne portent pas, comme nous, des bas pour se garantir les jambes. De même en est-il de toute âme qui a été purifiée par la foi. Ses péchés lui

sont pardonnés, elle est réconciliée avec Dieu, elle possède une nouvelle vie par le Saint-Esprit; mais cela n'empêche pas qu'elle ne contracte chaque jour quelque souillure par le contact du monde, sans parler du péché qui demeure encore au dedans. D'où il suit que, si le pécheur régénéré n'a pas besoin d'une seconde régénération, et si le fidèle réconcilié n'a pas besoin que sa rançon soit payée encore une fois, il lui faut cependant chaque jour un renouvellement de la grâce de Dieu, par Jésus-Christ. « Celui qui est lavé n'a plus besoin que de se laver les pieds; mais il est pur tout entier. »

3394. « Et vous êtes purs, mais non pas tous. » Ces mots qu'ajoute notre Seigneur, cette déclaration générale et la restriction qu'il y apporte relativement à Judas, confirment notre commentaire. En même temps, elles nous certifient qu'à cette époque les douze apôtres, sauf Judas, étaient vraiment convertis. Par l'action du Saint-Esprit, les paroles de Jésus avaient pénétré dans leur cœur et ils croyaient. Ce n'est pas à dire que leur foi fût alors fort éclairée, ni leur sanctification très avancée. La suite nous montrera de reste tout ce qui leur manquait; mais Jésus les aimait, il avait commencé en eux la bonne œuvre, et il était désormais impossible qu'elle ne s'achevât pas.

3395. (12-16.) Ce fut par un autre motif encore que Jésus lava les pieds de ses disciples. Il voulut peut-être leur dire que nous devons, nous aussi, nous employer à la sanctification les uns des autres; mais qu'il faut pour cela savoir se mettre à genoux, humble et suppliant, devant ceux qu'on désire de purifier. En tout cas, il voulut leur donner l'exemple de l'abaissement volontaire par humilité et par charité; ou, si l'on veut, l'exemple du parfait dévouement. Oh! comme il éclate ce dévouement dans toute la vie de notre Sauveur, et comme il va nous paraître plus grand encore dans quelques instants! Il y a toutefois ici une abnégation de soi-même qui saisit la pensée d'une façon toute particulière, et qui nous offre un modèle plus en rapport avec notre position que tous les autres actes de la vie du Seigneur. Voici donc la conduite que nous devons tenir envers nos frères. Quelque supérieurs que nous leur puissions être par le rang, l'âge, les connaissances, la foi, la piété, il faut que nous sachions leur rendre les services les plus humbles et que nous le fassions avec l'empressement d'une vraie affection. Mais que parlé-je de supériorité? Plus nous serons réellement grands, plus nous nous estimerons petits devant Dieu et devant les hommes! Du reste, il est

(**Jean 13** : 17; 18-20; 21, 22.)

certains actes de dévouement et d'abaissement volontaire qui ont pour principe l'amour de la gloire et un grand fond d'égoïsme; il en est qui sont sans utilité véritable pour le prochain; ce n'est pas de ce dévouement-là, ni de cet abaissement, que le Seigneur Jésus nous a donné le modèle.

3396. (17.) Heureux ceux qui savent ces choses; plus heureux encore ceux qui les pratiquent! ou plutôt ces derniers seuls sont heureux! Hélas! nous savons tous plus que nous ne pratiquons. Or, celui qui sait et ne fait pas vit dans une contradiction continuelle avec lui-même. Si donc nous voulons goûter la paix que donne la foi, demandons au Seigneur, sans nous lasser, qu'il mette en nous les mêmes sentiments qui l'animèrent; afin que, humbles et aimant comme lui, nous possédions les vrais caractères et le vrai bonheur des enfants de Dieu.

3397. (18-20.) Voici le moment où Jésus va positivement déclarer qu'un de ceux qui entouraient la table avec lui était sur le point de le livrer. Cette révélation, nécessaire d'abord dans l'intérêt des disciples, pour qui, sans cela, le scandale eût été trop grand, ne l'était pas moins pour la gloire du Seigneur; car il ne fallait pas qu'on pût le croire dans l'ignorance de ce qui se tramait contre lui. Mais comme il en coûte à son cœur de prononcer le terrible mot! Il l'amène peu à peu; il y prépare lentement les esprits. Après avoir dit: « Vous n'êtes pas tous purs » (11); ce qui ne signifiait pas nécessairement qu'un d'entre eux était un monstre d'ingratitude et de fausseté, il ajoute: « Je ne parle pas de vous tous, je sais ceux que j'ai élus » (18). Puis, voici quelque chose de plus précis, mais qui demeure enveloppé dans le langage symbolique de la prophétie : « Celui qui mange le pain avec moi a levé le talon contre moi » (19; Ps. **41** : 9). Cela dit, il s'arrête pour expliquer les motifs qui le forcent à rompre le silence sur ce pénible sujet, et, comme s'il eût voulu en détourner sa propre pensée, il reproduit une de ses paroles d'autrefois, parole importante sans doute, mais dont la relation avec ce qui précède ne paraît pas facile à établir (20; Matth. **10** : 40).

3398. (21, 22.) Cependant, le malheureux Judas demeurait impassible, sous les yeux de son Maître. Celui-ci, plein d'affection et de douleur, sentit son âme sainte et charitable se troubler au dedans de lui. Il fallait, quel que fût le résultat, qu'il rendît témoignage à la vérité; mais jamais ce devoir ne lui avait coûté si cher : « Amen, amen, je vous dis que l'un de vous me livrera... » Quel coup pour les disci-

ples! Ils se regardent avec anxiété. Il y a un traître parmi eux et ils ne s'en doutaient pas! Il y a un traître! et ils se fiaient tellement les uns aux autres qu'ils ne savent sur qui diriger leurs soupçons! Judas n'était donc pas, comme on se le représente quelquefois, un de ces hommes dont la noirceur se peint sur la physionomie; qui sait même s'il n'était pas de tous, celui qu'on aurait le moins suspecté!

3399. (23-27.) L'apôtre Pierre cependant, vif et impétueux comme nous le connaissons, n'était pas homme à rester longtemps dans l'incertitude. Placé à une certaine distance du Seigneur, il fait signe à Jean de lui demander de qui donc il voulait parler. Jean, assis, ou plutôt couché à la droite de Jésus, ne pouvait se pencher en arrière sans que sa tête se trouvât comme posée sur la poitrine de son Maître Il lui fut donc facile de s'acquitter à voix basse de sa commission. « C'est celui à qui je vais donner un morceau trempé, » répond le Seigneur. En ce moment, Jésus tendait à Judas un morceau de pain, et alors aussi Satan prit l'entière possession du cœur de ce malheureux disciple.

3400. Admirons ici, bien qu'en sens divers, l'amour infini de Celui dont les saintes affections se voyaient ainsi trahies, et les effets lamentables de la passion et de l'endurcissement chez le malheureux qui le trahissait. C'était par charité, par pitié même pour Judas, que Jésus avait levé un coin du voile qui couvrait encore la turpitude de ses desseins; et vous avez vu combien son cœur y répugnait. Maintenant, contraint en quelque sorte par la question du bien-aimé disciple à jeter un nouveau jour sur ce sombre mystère, il y met tous les ménagements imaginables; et ce Judas à qui le Seigneur fournissait une si belle occasion de reconnaître, de confesser, de réparer sa faute, s'obstine au contraire dans sa coupable volonté. La pensée qu'il est découvert, que tout est perdu pour lui du côté de Dieu, le précipite toujours plus dans le crime : Satan se saisit avec une nouvelle force de son mauvais cœur. Il est vrai que le Seigneur lui dit, comme à Balaam : « Ce que tu fais, fais-le promptement » [973]; mais quel affreux malheur pour une âme, lorsque Dieu la livre à ses propres voies!

3401. Une observation d'une grande importance se présente naturellement ici. Après nous avoir dit tout à l'heure que Satan avait mis au cœur de Judas son horrible trahison, l'Evangile nous le montre, pour ainsi dire, entrant en lui avec le morceau trempé. Nous apprenons de là que Satan n'habite pas dans le cœur des méchants, comme le Saint-Esprit habite dans celui des fidèles. Satan entre et sort, puis

(**Jean 13** : 27-30; 31-33; 34, 35.)

il peut revenir, et quand il a fait une âme telle qu'il la veut, il la laisse aller son train de mort, sans plus se mettre en peine d'elle. Profond mystère que cette puissance malfaisante du calomniateur; toujours est-il qu'il ne maîtrise que ceux qui demeurent sourds aux invitations de la grâce de Dieu!

3402. (27-30.) Remarquez enfin ce que je pourrais appeler l'innocente candeur des disciples. Quand Jésus eut dit à Judas : « Ce que tu fais, fais-le promptement, » ils crurent qu'il s'agissait de porter quelque aumône à des pauvres ou de se procurer ce qu'il fallait pour la fête. Ils semblent n'avoir pas compris la nature du crime que Jésus vient d'imputer à Judas; surtout, ils ne se doutent pas que ce forfait soit en pleine exécution; peut-être même ont-ils peine à se persuader que Judas soit capable d'une indignité quelconque. En tout ceci, nous ne pouvons qu'admirer l'affection qui unissait les disciples et la simplicité de leurs sentiments. Il se peut, au reste, et je crois que la chose fut ainsi, il se peut qu'ils n'eussent entendu ni la question de Jean, ni la réponse de Jésus; car ces quelques mots s'étaient échangés entre eux, au moment où la confusion produite par la première déclaration de Jésus était générale. Ils n'avaient donc ouï que cette parole adressée de loin à Judas : « Fais promptement ce que tu as à faire. » De là l'incertitude et le vague dans lequel, comme nous le verrons, ils demeurèrent jusqu'au lendemain à pareille heure.

3403. (31-33.) Il était nuit quand Judas prit le morceau de pain de la main de son bon Maître et qu'il sortit, pour attendre sans doute, sous les arbres du mont des Oliviers, que le jour lui permît d'exécuter sa trahison. Or, chose admirable! ce fut le moment même du départ de Judas, que le Seigneur choisit pour déclarer sa gloire, en tant que Fils de l'homme. La trahison de Judas, qui semblait propre à l'obscurcir, ne devait que la rendre plus éclatante; car la gloire de Dieu allait sortir, sainte et majestueuse, des souffrances et de la mort du Rédempteur. Bientôt, dans peu de moments, le Seigneur serait là où lui seul, parmi les hommes, pouvait être; d'abord sur une croix infâme pour l'expiation de nos péchés, puis dans la gloire éternelle comme prix de ses souffrances. Mais, auparavant, il a un mot important à dire à ses disciples.

3404. (34, 35.) Ce mot, on s'étonne qu'il ne l'ait pas articulé plus tôt, car c'est le fond même de sa morale; ce mot, il ressortait de tout ce que Jésus avait dit et fait jusque-là, mais il l'avait réservé pour le moment suprême. Jamais les disciples ne durent être mieux préparés

à le comprendre; car le Seigneur leur avait multiplié, ce jour même, les témoignages de son affection, et, dans son expansive tendresse, il venait de leur donner un titre bien doux, en les appelant « ses petits enfants » (33). Maintenant, il ajoute : « Aimez-vous les uns les autres, aimez-vous comme je vous ai aimés, » savoir d'une sainte et constante affection, d'un amour réel et pratique, pour la gloire de Dieu. C'est « un commandement » que je vous donne, dit Jésus (car le Seigneur n'est pas uniquement venu pour accomplir et multiplier les promesses); et, bien qu'il se trouve déjà contenu dans la loi de Moïse (Lévit. 19 : 18), c'est un commandement « nouveau; » parce que, au cœur du croyant, toutes choses sont faites nouvelles, et nul ne sait vraiment ce que c'est qu'aimer, s'il ne l'a appris de Jésus. Aussi telle est la marque à laquelle on reconnaît infailliblement ses disciples, c'est l'amour qu'ils ont les uns pour les autres. On peut avoir été baptisé, avoir pris souvent la Cène du Seigneur, posséder à fond sa doctrine et n'être pas réellement à lui. Ceux, au contraire, qui ont appris de sa grâce à aimer leurs frères comme il nous aime lui-même, portent tous son image.

3405. (36-38.) Simon Pierre, caractère impétueux, vif dans ses affections, prompt dans ses discours, avait à peine écouté ce grave enseignement. Il était resté sous l'impression des paroles qui l'avaient précédé, et il y revint comme si Jésus n'y eût rien ajouté. Que signifie donc ceci : « Là où je vais, vous ne pouvez venir; non, pas plus vous que les Juifs? » « Où vas-tu, Seigneur? lui fit Pierre. — Là où je vais (sur la croix et dans la gloire), tu ne peux me suivre maintenant, mais tu me suivras dans la suite. » — Cette prophétie aurait dû remplir de joie l'âme du disciple; mais à peine si, dans sa promptitude, il se donne le temps de la comprendre. D'ailleurs, ce n'est pas d'un avenir éloigné qu'il se soucie. Commençant à entrevoir ce dont il avait toujours repoussé la pensée (Matth. 16 : 22), il déclare qu'aucun danger ne saurait le faire reculer et que, pour suivre son Maître partout, il était prêt à donner sa vie! Mais la vie! elle est chère à l'homme! Pour la quitter volontairement, il faut être animé d'une grande passion ou d'une grande foi, et Pierre, qui se croyait capable d'exposer ses jours dans la défense de son Maître, ne l'était pas de souffrir même des menaces pour la foi qu'il avait en lui. C'est la triste vérité que le Seigneur lui annonça d'une manière fort solennelle : une nuit approchait, durant laquelle Pierre renierait trois fois son Maître bien-aimé!

**Luc 22** : 3-6; 7-13. **Matthieu 26** : 14-16; 17-19. **Marc 14** : 10, 11; 12-17.)

CCLVIII. — *Le jeudi.* **La trahison de Judas. Préparation de la Pâque; consolations et exhortations.**

3406. (L. **22** : 3-6; M. **26** : 14-16; Mc. **14** : 10, 11.) Pendant que Jésus parlait aux onze de sa prochaine gloire, qu'il leur recommandait de s'aimer les uns les autres et qu'il annonçait à l'un d'eux une grande chute, que faisait le malheureux Iscariote? Hélas! il portait ses pas errants du côté de Jérusalem; il cherchait toujours plus à se dissimuler l'énormité de son crime; qui sait même s'il ne se persuadait pas qu'il faisait une bonne œuvre en facilitant l'accomplissement des prophéties de Jésus au sujet de sa mort,... le cœur de l'homme est si rusé! Il arrive enfin où Satan le conduit; il voit quelques-uns des sacrificateurs et des chefs militaires; il leur offre ce qu'ils n'auraient jamais osé lui demander, et ceux-ci, tout joyeux, acceptent avec empressement. Trente pièces d'argent, l'estimation juridique d'un esclave (Exode **21** : 32); tel est le vil prix de la trahison, et Judas se retire, mais sans qu'il y ait encore rien d'arrêté sur le jour, ni sur l'heure, non plus que sur la manière dont se consommera l'iniquité. Tout dépendra des circonstances. En attendant, et pour mieux cacher sa trame, le malheureux Judas va rejoindre les autres apôtres; car nous le verrons tout à l'heure au milieu d'eux.

3407. (L. **22** : 7-13; M. **26** : 17-19; Mc. **14** : 12-17.) C'était le 13e ou le 14e jour du mois de Nisan : dans tous les cas, le jour correspondant à notre jeudi. Le Seigneur, voulant faire la Pâque avec ses disciples avant de leur être enlevé, disposa, dans ce but, de la maison d'un habitant de Jérusalem qu'il comptait probablement au nombre de ses disciples. Il lui députa deux de ses apôtres, Pierre et Jean, en leur donnant des indications si précises, qu'ils durent admirer de nouveau la toute-science de leur divin Maître [3332] : en même temps, il le fit de telle sorte que Judas, qui était là, ne pût le déceler, s'il en avait eu la tentation. L'homme auquel Pierre et Jean furent adressés avait probablement préparé le local pour sa famille; mais il le céda volontiers à Jésus, comme dès cette époque, tant de chrétiens se sont estimés heureux d'ouvrir leurs demeures à leurs frères, pour rompre le pain en mémoire du Sauveur. Les deux apôtres firent donc les apprêts nécessaires au souper de la Pâque, puis ils rejoignirent leur Maître et leurs collègues à Béthanie ou en quelque lieu de rendez-vous sur la montagne des Oliviers. Ce fut alors que Jésus leur fit entendre les tou-

chantes paroles qui nous sont rapportées par Jean, un des auditeurs les plus attentifs sans doute, mais auquel il fallut bien que le Saint-Esprit remît plus tard en mémoire un discours si long et si difficile à retenir, vu sa profondeur et le trouble même où étaient les disciples.

3408. (Jean 14 : 1-4.) Personne ne s'étonnera que les événements des journées précédentes eussent jeté beaucoup d'agitation dans leur âme. Maintenant qu'il s'agit de retourner à Jérusalem, non plus le matin pour en revenir le soir, mais vers le soir pour n'en pas revenir peut-être ; maintenant qu'ils ne peuvent plus se faire d'illusion sur le sort qui attend leur docteur bien-aimé et qu'ils ne savent trop quels risques ils auront eux-mêmes à courir; à ce moment où Pierre et Jean reviennent en disant : Tout est prêt pour célébrer la Pâque, ce qui était dire en quelque sorte que tout se préparait aussi pour l'immolation de Jésus, leur cœur dut être près de défaillir, et ce fut alors que le Seigneur leur dit : « Que votre cœur ne soit point troublé ! »

3409. Pour les rassurer, il commence par raffermir la foi qu'ils avaient en lui. Bien qu'il aille mourir, il n'en est pas moins Celui en qui l'on doit mettre sa confiance à l'égal de Dieu, celui qui seul peut donner aux âmes le calme et le repos. De plus, bien que, de tous ceux qui ont été hommes, nul autre que lui n'ait, de droit, une demeure dans la maison du Père céleste, il y va, leur dit-il, préparer une place à ceux qui croient en lui. Enfin, s'il quitte ce monde, c'est pour y revenir un jour. Alors, il prendra près de lui ceux en faveur desquels il mourut et qu'il représente dans le ciel jusqu'à cette journée. Voilà des paroles bien consolantes pour qui sait où Jésus est allé et quel est le chemin qui y conduit.

3410. (5-7.) Thomas, dont la foi était, paraît-il, chancelante, fit là-dessus une question que le Seigneur avait sûrement prévue et à laquelle il répondit en des termes que nous ne saurions trop peser. C'est Jésus lui-même qui est le chemin par lequel on va au ciel, comme il est la vérité en personne et la source de toute vie véritable. Ceux qui ne croient pas en lui sont hors du chemin, par cela même qu'ils ne sont pas dans la vérité et qu'ils demeurent étrangers à la vie de Dieu. Si, au contraire, nous le connaissons, si nous le comprenons, si nous le recevons, si nous l'aimons, par lui nous avons en Dieu un Père plein de miséricorde. Or, tout ce que Jésus a dit et a fait, tout ce qu'il a été et tout ce qu'il est, tend à nous donner cette connaissance et cette possession de Dieu.

(**Jean 14** : 8-14; 15-20; 21.)

3411. (8-14.) Philippe, un des premiers disciples, dans l'ordre de la vocation divine (1 : 44), ne comprit point une déclaration qui, pour en convenir, est d'une grande profondeur. « Montre-nous donc le Père, » dit-il à Jésus. Eh ! quoi, depuis si longtemps que Philippe était avec le Seigneur, il n'avait pas compris que c'est par lui seul que le Père se fait connaître, que le Père et le Fils sont un, que les paroles sorties de la bouche de Jésus sont les paroles mêmes du Père, et que ses œuvres sont du Père à l'égal de ses discours ! Eh bien ! s'il leur faut quelque chose de plus pour les convaincre, cela même leur sera donné. Par la foi en Jésus, ils feront des miracles non moins grands que les siens et même de plus importants encore, car c'est à eux qu'appartient la conversion du monde. Ils prieront le Père au nom du Fils, et le Fils leur accordera tout ce qu'ils auront demandé pour la gloire du Père. Alors, sans doute, il leur sera pleinement démontré qu'il est en son Père et que le Père est en lui.

3412. (15-20.) Une autre manière encore de connaître ce qu'est Jésus, c'est de l'aimer et d'observer ses commandements. Il ne s'agit pas de cet amour aveugle qui, procédant du cœur naturel et tout en impressions, se manifeste par des transports passionnés; mais il s'agit d'un amour de dévouement et d'obéissance. Le Seigneur prie pour ceux qui l'aiment de la sorte, et le Père leur donne l'Esprit de la vérité, le consolateur de ceux qui pleurent [2829], ou le défenseur de ceux que Satan attaque et calomnie. Jésus lui-même est notre consolateur et notre protecteur (M. 11 : 28-30; J. 10 : 28), mais l'Esprit de la vérité est « un autre consolateur, » qu'il donne à ses disciples. Jésus ne devait pas toujours être en personne avec les siens : à sa place, l'Esprit est éternellement présent dans leur âme. Le monde, tout à la matière, n'apprécie que ce qu'il voit et touche : il méconnaît l'Esprit et il ne peut le recevoir. Les fidèles, au contraire, le connaissent, par cela même qu'ils le possèdent. De cette manière, ils ne sont point orphelins, bien que séparés de Jésus; et d'ailleurs cette séparation ne durera qu'un temps. Jésus est toujours vivant ; ceux qui croient en lui participent à sa propre vie; en conséquence, ils le verront quand il reviendra dans sa gloire. Ainsi, aimons le Seigneur, soyons-lui obéissants; moyennant cela le Saint-Esprit, l'Esprit de la vérité, nous fera connaître que Jésus est en son Père par essence, que nous sommes en lui par la foi et qu'il est en nous par l'Esprit qui nous le fait aimer.

3413. (21.) Revenons avec le Seigneur lui-même, sur une idée qu'il

tint à mettre en saillie dans son discours. La nécessité d'aimer Jésus est sentie par tous ses disciples; mais tous ne se rendent pas également compte de ce qui caractérise l'amour qui lui est dû. Encore une fois, il n'est pas ici question d'extases, ni de sentiments passionnés. L'amour, qui se nourrit, il est vrai, des promesses de Dieu, n'a pas pour unique fruit, ni même pour fruit principal, la paix et la joie que donnent ces promesses; il se montre essentiellement par la soumission à la volonté du Seigneur. Obéir, c'est aimer. Avoir les commandements de Dieu dans le cœur, y penser souvent, les prendre au sérieux, en faire la règle de sa vie, se sentir mal à l'aise chaque fois qu'on s'en écarte, y revenir avec bonheur; telle est la vie de l'amour. Or le Seigneur ne saurait aimer que ceux qui l'aiment de cette manière; car toute autre façon de l'aimer est une offense : c'est précisément ce que l'Ecriture appelle le péché.

3414. (22-25.) A ces mots, que les disciples commençaient, paraît-il, à comprendre, l'un d'eux, Judas, surnommé Lebbée et aussi Thadée, propre frère de Jésus [2951], interrompit le Seigneur pour lui demander par quel motif il se ferait connaître à eux et non pas au monde. Grande question que celle-là; comme au reste toutes celles qui se rapportent aux conseils secrets du Très-Haut. Or, soit que notre Seigneur ne jugeât point à propos d'entrer alors en matière sur ce sujet difficile, soit plutôt qu'il voulût montrer encore une fois que le côté pratique de ces questions est ce qu'il y a de plus important pour nous [3211], il se contenta de répéter ce qu'il venait de dire. En effet, tout ce qu'il nous faut savoir, c'est que si nous aimons le Seigneur, nous observerons sa Parole et le Père nous aimera. Et comme notre amour pour le Seigneur se montre par l'obéissance, ou, en d'autres termes, par l'abandon que nous lui faisons de notre volonté propre, son amour et celui du Père se montrent en ce qu'ils se donnent l'un et l'autre à nous, et qu'ils habitent en nous par le Saint-Esprit. Arrive-t-il, au contraire, que nous n'aimions pas le Seigneur Jésus, nous sommes du monde et nous n'avons aucune part, ni avec lui ni avec le Père.

3415. (26.) Si, du reste, notre Seigneur n'entra pas dans plus de détails avec ses apôtres, ce n'était point qu'il voulût leur cacher quelque point de sa doctrine, même en ce qu'elle a de plus profond, pourvu que la connaissance leur en fût nécessaire; mais ces indications suffisaient pour le moment. Plus tard le Saint-Esprit, que le Père leur enverrait en son nom, c'est-à-dire pour l'amour de lui, ce

(**Jean 14** : 27; 28-31.)

Consolateur dont il parlait tout à l'heure devrait achever leur instruction. Non-seulement cela, mais encore il les ferait ressouvenir des paroles qui étaient sorties de la bouche de leur Maître, paroles qu'ils n'avaient point mises par écrit à mesure et que même ils avaient si rarement comprises. Or, il n'est aucun de nous qui n'ait besoin d'une pareille grâce. Il faut non-seulement que le Saint-Esprit nous donne l'intelligence de la Parole de Dieu, mais encore qu'au moment convenable, il rappelle à nos souvenirs ses promesses, ses menaces et ses lois.

3416. (27.) Voici maintenant ce que le Seigneur donne à ceux qu'il aime. C'est la paix. Sa propre paix, par laquelle tous les troubles de l'âme se dissipent. Le monde aussi offre une paix dont il amuse ses adhérents; paix mensongère et funeste, qui ne saurait durer plus que le monde lui-même. Cette paix on la trouve dans l'oubli de Dieu et de l'éternité, dans les illusions du vieil homme et dans les déceptions du péché, tandis que celle de Jésus-Christ est toute fondée sur la vérité. Pour la goûter, le fidèle n'a pas besoin de jeter un voile sur ses transgressions ni sur l'avenir qui l'attend, parce qu'il sait de la part de qui ses iniquités sont couvertes et cachées, et qu'il n'a aucune raison de redouter la présence de son Juge, ce Juge étant son Sauveur lui-même. Ce n'est pas à dire que le pauvre cœur des fidèles soit à l'abri de toute agitation, car ils sont comme un navire que les flots balancent sur ses ancres; mais ils croient en Jésus (1-4).

3417. (28-31.) Tout devient un sujet de joie pour celui qui croit et qui aime. Les disciples avaient à se réjouir du prochain départ de leur Maître; car il rentrait ainsi dans la gloire dont il s'était dépouillé pour revêtir notre nature et, par ce triomphe même, la foi de ceux qui croyaient ne pouvait que s'affermir. Pourtant ce départ devait être accompagné de circonstances bien humiliantes. Jésus, livré aux mains des méchants, allait tomber sous les coups de celui qui est leur prince et leur chef. Le Fils de Dieu, pour un moment à la merci de Satan! Voilà ce qui avait été prédit dès le commencement, mais ce qui n'en est pas moins quelque chose de prodigieux. Et cela d'autant plus que Satan « n'a rien en lui; » rien de commun avec lui, nulle prise naturelle sur lui, ni aucune puissance légitime, ce qui n'est pas le cas de l'homme pécheur. Pourquoi donc Jésus a-t-il voulu descendre dans cet abîme? Pour nous sauver sans doute; mais aussi (et c'est une autre manière de dire la chose), pour montrer au monde qu'il aime le Père et que, par amour, il obéit. Si donc le Sei-

(**Luc 22** : 14-20. **Matthieu 26** : 20-29. **Marc 14** : 17-25.)

gneur nous demande de l'aimer d'un amour d'obéissance, vous voyez qu'il ne nous demande après tout que ce qu'il rend lui-même à son Père! Quels sublimes enseignements!

3418. Ce discours achevé, Jésus dit : « Levons-nous, partons d'ici. » Or c'était « afin que le monde connût qu'il aimait le Père et qu'il faisait toutes choses selon le commandement de son Père. » Eh! oui, c'est là ce qui lui faisait prendre avec courage le chemin de Jérusalem, de cette ville où il ne devait plus rentrer qu'une fois après celle-ci, et garrotté comme un malfaiteur.

### CCLIX. — Célébration de la Pâque. Institution de la Cène.

3419. (L. 22 : 14-20; M. 26 : 20-29; Mc. 14 : 17-25.) Quel cœur que celui de Jésus! Il souffre évidemment de devoir bientôt quitter ses disciples; et que dirons-nous du sort qui l'attendait! C'est évidemment ce qui lui fait éprouver le besoin de se fortifier, en prenant, avec ceux que le Père lui avait donnés, ce repas sacré, ce dernier repas. La Pâque était une grande fête, soit par les délivrances qu'elle rappelait, soit par les grâces encore plus excellentes qu'elle figurait! Notre Seigneur y fait allusion, je suppose, en parlant d'une Pâque qui devait s'accomplir dans le royaume de Dieu. Sa pensée me paraît avoir été la même au fond lorsque, ayant fait circuler, selon l'usage, la coupe qu'on offrait au commencement du repas, il déclara qu'il ne boirait plus du produit de la vigne que le royaume de Dieu ne fût venu. Quelques personnes entendent par là que Jésus reviendra sur la terre « mangeant et buvant » (Luc 7 : 34), comme au temps passé; mais c'est, me paraît-il, méconnaître le langage figuré dont il s'est presque toujours servi en parlant du siècle à venir.

3420. Voici maintenant ce qui devait remplacer, pour les disciples de Jésus, la Pâque ancienne avec ses pains sans levain, son agneau immolé et ses herbes amères; voici ce que le Seigneur avait eu principalement en vue, lorsqu'il les avait réunis autour de lui pour ce dernier souper et ce qui le lui avait fait désirer avec tant d'ardeur. La Pâque finie, il prit du pain; puis, ayant prononcé des actions de grâces et une bénédiction, il le rompit et, le distribuant aux apôtres, il leur dit : Prenez, mangez, ceci est mon corps qui est donné pour vous; faites ceci en mémoire de moi. Prenant ensuite la coupe, il rendit grâces et la leur donna, en disant : Buvez-en tous; car ceci est la nouvelle alliance en mon sang, c'est mon sang qui est répandu pour

(**Luc 22** : 14-20. **Matthieu 26** : 20-29. **Marc 14** : 17-25.)

vous et pour un grand nombre d'âmes, en rémission des péchés. Et ils en burent tous. — Luc fait remarquer, à l'occasion de la coupe, que ce fut après le souper, afin de distinguer cette distribution de celle qui avait eu lieu avant la Pâque et dont les autres évangélistes ne parlent pas.

3421. Tel est le simple récit de cette institution, si simple elle-même et si belle tout à la fois. On ne saurait douter que les apôtres n'aient dû y voir avant tout une prophétie, ainsi que l'avait été l'ancienne Pâque, le jour de son institution. Jésus parle de lui comme s'il eût été déjà mort; mais ses auditeurs, habitués au langage des prophètes, ne durent voir rien d'étrange à ce discours, car ils savaient parfaitement que Dieu parle souvent des choses qui ne sont point comme si elles étaient. Bien que notre Sauveur leur eût plus d'une fois annoncé ses souffrances, et tout récemment encore, nous avons vu qu'ils ne pouvaient accepter cette idée; il importait cependant qu'ils s'en pénétrassent à raison même de ce qui allait suivre, et rien n'était plus propre à produire cet effet, que l'acte symbolique auquel le Seigneur les fit participer.

3422. Comme dans l'ancienne Pâque, il y eut aussi un commandement, et pour le présent et pour l'avenir. « Prenez, mangez, buvez-en tous; » c'est ce que les disciples durent exécuter à l'instant même! « Faites ceci en mémoire de moi : » voilà un ordre qui suppose évidemment que la cérémonie devait se répéter après la mort de Jésus. Nous verrons même plus tard (1 Cor. 11 : 26) quelques paroles qui éclaircissent parfaitement la pensée du Seigneur. Les apôtres, dans tous les cas, ne purent avoir aucun doute sur ses intentions. Le pain rompu et mangé, la coupe distribuée, figures de ce qui allait bientôt avoir lieu, devaient être, jusqu'au retour de Jésus, un mémorial des choses accomplies en sa mort.

3423. Figure ou mémorial, ce repas sacré se rapporte donc évidemment à un fait unique : la mort du Seigneur. Il exprime le but et les résultats de ce fait, savoir le pardon des péchés. Il montre à qui ce pardon est offert : c'est à tout homme qui sait pourquoi Jésus-Christ est mort. Il nous dit enfin ce que doivent faire les pécheurs auxquels la mort de Jésus est prêchée, s'ils veulent que cette mort leur profite : il faut que, par une foi véritable, ils se nourrissent spirituellement de sa chair et de son sang [3074], qu'ils les reçoivent dans leur cœur. C'est ce qu'il a voulu marquer en ne se contentant pas de rompre du pain et de répandre du vin, acte qui eût été pourtant fort impressif.

(**Luc 22** : 19, 20. **Matthieu 26** : 26-28. **Marc 14** : 22-24.)

Ce repas sacré est ainsi le sceau de la nouvelle alliance, nouvelle relativement à celle que Dieu daigna traiter avec Israël par le ministère de Moïse, et aucune autre alliance ne remplacera celle-ci. Elle se consommera par le retour de notre Seigneur, la Cène étant le gage précieux de ce retour, en même temps qu'elle est comme les arrhes de la vie éternelle dont Jésus-Christ nous a enrichis au moyen de sa mort.

3424. Il importe peu de savoir si les apôtres se rendirent compte, dès le premier moment, de la vraie signification et de la valeur de cette cérémonie. Plus tard du moins, ils la comprirent telle que je viens de l'exposer, et c'est bien ainsi que le Seigneur l'entendit. De là résultent diverses conséquences pratiques que nous devons indiquer. — D'abord, la Cène suppose chez ceux qui la célèbrent une certaine connaissance de ce qu'est notre Seigneur Jésus-Christ et de ce qu'il a fait pour nous. On ne saurait donc y admettre que ceux qui ont une instruction suffisante, au jugement des personnes à même de prononcer. Ensuite, il est manifeste que, pour la célébrer dignement, il faut plus que cela. Le sentiment de ses péchés, une foi vivante en Jésus-Christ, un amour vrai pour sa personne et un cœur désireux de posséder ses grâces; voilà ce qui, en un degré quelconque, doit caractériser ceux qui participent à ce saint repas. Mais ici, nul homme ne saurait se constituer le juge d'autrui. D'où il suit que chacun doit s'examiner soi-même avant de manger de ce pain et de boire de cette coupe (1 Cor. 11 : 28). Toujours est-il que, pour être admis à le faire, il faut qu'on soit au nombre des disciples du Seigneur, comme l'étaient les douze. Ceux qui n'appartiennent en aucune manière à l'Eglise de Jésus-Christ, ne peuvent, en aucune manière non plus, lui rendre le culte qu'il a établi.

3425. Or, que la Cène du Seigneur soit un des actes du culte chrétien, et le plus solennel, c'est ce qui est de la dernière évidence. Il nous tient lieu de tous les sacrifices de l'ancienne loi, et, s'il a encore quelque signification typique, c'est dans le siècle à venir que le type se réalisera. Rien n'est plus propre à élever et à sanctifier nos pensées; car tout, dans ce repas, nous rappelle l'amour du Seigneur, la grandeur de son salut et la nature céleste de notre vocation. Evidemment, ce n'est pas pour nourrir notre corps que nous nous approchons de cette table; ce ne peut donc être que dans l'intérêt de notre âme : culte vrai et spirituel par excellence (Jean 4 : 24).

3426. Quant à la manière de célébrer cette portion du culte chré-

(**Luc 22** : 19, 20. **Matthieu 26** : 26-28. **Marc 14** : 22-24.)

tien, plus on y mettra de simplicité, et plus on fera la Cène comme le Seigneur l'institua. Il s'agit donc de ne pas l'envelopper de formes incompatibles avec l'esprit de la nouvelle alliance. Pour ce qui concernait la pâque des juifs et leurs diverses cérémonies, tout était plein de pompe ou du moins chaque chose était réglée dans le plus grand détail par la loi de l'Eternel; ici, au contraire, toutes choses presque demeurent indéterminées. Les chrétiens jouissent d'une entière liberté quant au choix du jour, de l'heure, du local. Prendront-ils la Cène debout, à genoux, ou assis? Faudra-t-il que l'assemblée soit nécessairement nombreuse et publique? Devra-t-elle être présidée d'office par un homme mis à part pour cette charge? Toutes ces questions et d'autres encore qui pourraient se présenter, ne trouvent aucune réponse précise dans le Nouveau Testament. Ce qu'on y voit clairement, c'est que les disciples de Jésus-Christ doivent rompre le pain et le manger, distribuer la coupe et la boire, en souvenir de leur Sauveur et en signe de son retour; puis, qu'ils sont appelés à le faire aussi souvent que possible : le reste est d'une moindre importance.

3427. Il n'est rien qui ne se gâte dans les mains de l'homme, tant nous sommes des êtres déchus et méchants; on a remarqué même que, plus une chose est excellente, pire elle se fait quand nous nous mettons à la dénaturer. Qui aurait pu croire qu'une institution comme celle qui nous occupe, deviendrait une source de discordes interminables, et, par la manière dont elle se pratique en certains lieux, une véritable abomination? C'est que toute la doctrine du salut et toute la foi de l'Eglise se concentrent et se peignent dans la Cène du Seigneur, en sorte que l'Eglise n'a pu dégénérer, sans imprimer à cette cérémonie sublime le sceau de sa propre indignité. Or, si quelques personnes osaient penser que le Seigneur se serait montré plus sage en réglant tout, de telle sorte que l'Eglise eût été dans une sorte d'impossibilité de communiquer ses souillures au culte institué par lui, nous leur rappellerions que c'est, au contraire, un des traits les plus admirables de sa divine sagesse de ne l'avoir pas fait. Il est de l'essence d'un culte spirituel de tirer sa principale valeur des dispositions qu'y apportent, par la grâce de Dieu, ceux qui y participent. Le Seigneur n'a donc pas voulu que le nouveau culte pût être essentiellement meilleur que ceux qui le célèbrent; parce qu'autrement ils auraient pu se croire dans l'ordre, tandis qu'ils n'y étaient pas. D'ailleurs, il fallait que la Cène pût se célébrer partout et toujours, dans toutes les conditions imaginables et sans aucun obstacle résul-

(**Luc 22** : 19, 20. **Matthieu 26** : 26-28. **Marc 14** : 22-24.)

tant de la chose même. Or, c'est ce qui n'aurait pu avoir lieu, si l'institution avait été surchargée de règlements.

3428. Sans rassembler ici des détails historiques qui doivent faire l'objet d'autres Etudes, il nous suffira de prendre les choses au point où elles en sont aujourd'hui, et d'opposer brièvement à la pratique générale des Eglises actuelles, l'institution primitive du Seigneur. Pour commencer par l'Eglise romaine, chacun sait qu'elle a voulu faire de la sainte Cène un véritable sacrifice expiatoire qui doit se renouveler et qui, dans son opinion, se renouvelle en effet chaque jour. Parce que Jésus-Christ a dit : « Ceci est mon corps, ceci est mon sang, » les romanistes prétendent que les communiants, convertis ou non, mangent tous le corps même de notre Seigneur, et que, sans cela, il n'y a point de salut. La Cène est pour eux un *mystère*, le grand mystère de la religion. Or, non-seulement ils oublient ce que Jésus avait dit précédemment au sujet de sa chair et de son sang (Jean **6** : 63), mais encore ils donnent aux paroles qu'il prononça dans l'institution de la Cène, un sens qu'elles ne pouvaient absolument pas avoir. Jésus est là en personne ; il prend du pain, il le rompt, il le distribue par fragments, et, parce qu'il dit prophétiquement : « Ceci est mon corps, » il est de toute impossibilité que les disciples aient pu croire qu'ils mangeaient le corps même du Seigneur, ce corps que leurs yeux voyaient ; ni qu'ils buvaient son sang qui n'avait point encore été répandu, et encore moins, qu'ils se nourrissaient matériellement de la personne entière du Sauveur, de son âme aussi bien que de son corps, et de sa divinité aussi bien que de son humanité, ce qui est pourtant le dogme absurde et révoltant des catholiques-romains.

3429. Il y aurait sur cette grave erreur beaucoup de choses à dire qui se présenteront d'elles-mêmes dans la suite de ces Etudes ; je me borne, pour le présent, à montrer, par la seule manière dont l'Eglise romaine célèbre la messe, qu'elle ne fait pas la Cène du Seigneur. Au lieu de pain rompu, elle se sert d'une sorte de gaufre préparée exprès et portant une empreinte convenue ; et cette pâte, elle l'appelle une *hostie*, c'est-à-dire *une victime*. Au lieu de remettre le pain dans la main du communiant, comme fit Jésus, et de le lui donner à mâcher, ce qu'elle regarderait comme un sacrilége, le prêtre place l'hostie sur la langue de celui qui communie, pour qu'il l'avale sans la broyer. L'Eglise romaine veut, en outre, qu'on adore ce pain et ce vin, acte réel d'idolâtrie ; elle ne le donne qu'à ceux qui s'y sont préparés par la célébration de deux autres sacrements de son invention ; la con-

(**Luc 22** : 19, 20. **Matthieu 26** : 26-28. **Marc 14** : 22-24.)

fession au prêtre et la pénitence ; il faut de plus que les communiants soient à jeun, pour que le corps du Seigneur ne se mêle pas avec d'autres aliments, tandis que les disciples avaient soupé quand Jésus leur rompit le pain ; et ce qui achève de démontrer l'erreur de cette Eglise, c'est qu'elle refuse la coupe au peuple, bien que Jésus ait dit positivement : « Buvez-en tous, » et qu'il nous soit raconté d'une façon non moins expresse, que « tous en burent. » Or, malgré ce que j'ai dit, il n'y a qu'un moment, de la latitude que le Seigneur nous a laissée sur la manière de célébrer la Cène, il est facile de comprendre que cela ne peut aller jusqu'à nous permettre de la dénaturer. Nous remarquerons plus tard que cette erreur se lie à tout un système, qui, sous le nom de foi catholique, est diamétralement opposé à l'Evangile.

3430. On n'a pas moins dénaturé la Cène du Seigneur en faisant de ce repas sacré une sorte d'institution civile, telle qu'on la voit encore dans un grand nombre de pays soi-disant chrétiens. Là, on communie, non par motif de conscience, mais par obéissance aux lois de l'état ou par respect pour l'opinion, et souvent par pure politique. Là, des convives à la sainte table se recrutent annuellement, comme on recrute les armées, en donnant la Cène à tous les jeunes gens d'un certain âge, quelles que soient leurs dispositions. C'est peu s'ils ne sont qu'ignorants ou indifférents, et leur répugnance à communier serait extrême, qu'on n'en tiendrait aucun compte. Là, enfin, une multitude d'hommes, scandaleux par l'impiété qu'ils professent ou par les désordres dans lesquels ils vivent, profanent régulièrement le repas sacré, et, si l'on faisait mine de leur en refuser l'accès, ils s'envisageraient comme lésés dans un de leurs droits de citoyens. Il est parfaitement sûr que le Seigneur n'a pu entendre la chose de cette manière.

3431. On voit à côté de cela des Eglises qui passent à l'autre extrême. N'admettant dans leur sein que des personnes vraiment converties, autant du moins que l'homme en peut juger, et faisant outre cela de la Cène du Seigneur le principal lien ecclésiastique, elles ne reçoivent naturellement à ce repas sacré que les membres de leur association, ou peu s'en faut ; c'est-à-dire donc les personnes seules qui paraissent réellement converties, et qui se soumettent à ce qu'elles nomment « l'ordre de l'Eglise. » Or, s'il n'est pas douteux que, dans l'état actuel de la chrétienté, les Eglises sont appelées à prendre quelques mesures de précaution pour que la Cène du Seigneur ne soit

(**Luc 22** : 21-23. **Matthieu 26** : 21-25. **Marc 14** : 18-21.)

pas indignement profanée, rien ne saurait justifier un mode de vivre qui peut avoir pour résultat d'exclure de la table sainte des individus que le Seigneur a pourtant pris à lui, et qui fait d'un acte de culte commun à toute l'Eglise de Christ, l'acte du culte particulier de certaines congrégations. Mais, après tout, cette erreur est la moins grave de celles que j'ai signalées, et la pratique de ces Eglises a du moins pour effet de protester contre l'abus effroyable que tant de gens font de la Cène du Seigneur.

### CCLX. — Judas est démasqué. Derniers entretiens de Jésus avec ses disciples.

3432. (L. **22** : 21-23; M. **26** : 21-25; Mc. **14** : 18-21.) Parmi ceux qui, ce soir encore, étaient assis à la table du Seigneur, se trouvait un homme qui n'y fut que pour sa condamnation. Jésus n'avait pu parler de sa mort prochaine sans penser à celui qui allait en être un des principaux instruments, et, comme il avait démasqué avec une sainte hardiesse l'hypocrisie des scribes et des pharisiens, il fallait aussi qu'il achevât de démasquer celle du perfide Judas. La scène de la veille avait d'ailleurs laissé les disciples sous une vague impression d'effroi dont il fallait les tirer en leur désignant le traître. C'est pourquoi, reprenant ce qu'il avait dit là-dessus, mais s'exprimant avec plus de clarté : « L'un de vous, dit-il, un des douze, un de ceux qui mangent avec moi et qui trempent leur pain dans le même plat, c'est lui qui me trahit! Quant au Fils de l'homme, il s'en va selon qu'il est écrit de lui; mais malheur à l'homme par le moyen de qui le Fils de l'homme est livré! il lui eût été bon de n'être pas né, à cet homme-là. » Oh! quel mystère de Dieu! Il a donné la vie à Judas, à celui qui devait livrer Jésus, à un homme qui, par sa faute assurément, mais non contre la prescience de Dieu, s'est plongé dans un malheur éternel!!!

3433. Dès les premiers mots de cette terrible révélation, Jésus s'était vu interrompre par les disciples qui, non contents cette fois de se regarder les uns les autres et de demander : Qui est-ce? s'écrièrent tous, un à un, dit Marc : Est-ce moi? Est-ce moi? Si bien que Judas ne put faire autrement que de dire à son tour : Est-ce moi? Qu'elle est terrible la condition d'un homme qui médite le crime! Ce n'est que de déguisements en déguisements qu'il y parvient, et c'est par l'effronterie qu'il doit suppléer à l'innocence. Mais, en présence de

(Luc 22 : 24-30; 31-34.)

celui qui sonde les cœurs et qui connaît toutes choses, un Est-ce moi? dans la bouche du méchant, équivaut à C'est moi. « Tu l'as dit; » telle fut toute la réponse du Seigneur. Après cela, il est probable que Judas s'esquiva de la salle, sans qu'il pût venir à personne l'idée de l'en empêcher. Les Evangiles ne parlent pas de son départ; mais ils nous le montrent, quelques heures après, se rendant en Gethsémané, escorté de sergents et de soldats, comme il en était convenu avec les principaux du peuple.

3434. (Luc 22 : 24-30.) Quelle douleur et quel soulagement tout à la fois pour les onze autres disciples. Misérable Judas ! durent-ils se dire; mais enfin c'était lui et non pas eux. Cette dernière pensée fut, paraît-il, celle qui domina dans leur âme en cet instant, et même elle y prit un caractère prodigieusement charnel. Heureux de savoir qu'aucun d'eux ne tomberait dans un pareil crime, fiers de la fidélité dont leur cœur battait pour leur divin Maître, ils en revinrent, comme jadis, à rêver de grandeur et de prééminence à la manière du monde. Or, remarquez ce que le Seigneur leur dit à cette occasion. Tout en les rappelant à l'humilité, par la considération même de la position qu'il avait prise la veille, au milieu d'eux, il ne laisse pas de leur annoncer la gloire qui les attendait, effet même du privilége qu'ils avaient de partager ses épreuves. Après avoir souffert avec lui, ils régneront avec lui : c'est en ces deux mots qu'on peut traduire le langage de notre Sauveur, et nous verrons plus tard qu'une semblable promesse est faite à tous ceux qui croient en lui ; mais, dans aucun cas, leur gloire ne consistera, comme celle des rois de la terre, à dominer sur les peuples, ni à recueillir les louanges de la flatterie. Cependant, combien d'hommes, hélas ! qui se sont donnés pour les successeurs des apôtres et dont toute l'ambition fut de gouverner les nations et les rois, en plaçant leur nom au-dessus de tous les noms de la terre !

3435. (31-34.) Mais, encore que magnifiques et immuables, les promesses de Dieu ne nous mettent pas absolument à l'abri du danger et ne nous dispensent pas de la vigilance. Si nous sommes dans la foi, Jésus a prié pour nous et notre foi ne saurait absolument défaillir; mais, d'un autre côté, si nous sommes dans la foi, nous écouterons les avertissements que sa charité nous donne, nous craindrons les entreprises de Satan sur nos âmes, et nous comprendrons que, par nous-mêmes, nous sommes sans force contre ses séductions. Jésus ayant dit aux apôtres la gloire certaine qui leur était réservée, voulut leur faire entendre qu'ils n'y parviendraient pas toutefois sans

(**Luc 22** : 35-38. **Matthieu 26** : 30. **Marc 14** : 26.)

de rudes combats. D'abord, contre Satan lui-même, qui avait déjà « criblé » Judas et qui ne ménagerait pas les autres disciples, s'ils lui donnaient la moindre prise. Pierre surtout, Pierre, que Jésus appelle ici par son ancien nom, Pierre, si zélé mais si inconsidéré, si jeune de caractère et par conséquent si facilement présomptueux, Pierre avait besoin d'avertissements plus que les autres. Il pouvait avoir oublié ceux de la veille. Jésus donc les lui réitère, et cette fois il lui déclare que le moment de sa chute est proche : « Aujourd'hui même tu nieras trois fois de me connaître. » En effet, on était alors au jeudi soir, après le coucher du soleil; par conséquent, selon la manière de compter des Juifs, le vendredi avait commencé. Mais voyez combien le Seigneur est bon envers son disciple! Il ne lui annonce pas sa chute, sans lui annoncer auparavant qu'il en serait relevé et qu'il n'en aurait que plus de zèle à affermir ses frères dans le bon chemin (32).

3436. (35-38.) Un autre genre de lutte à laquelle les disciples allaient être appelés désormais, c'était la lutte avec le monde, lutte dans laquelle le Seigneur les avait précédés; mais tandis que, pour lui, elle était à son terme (37), c'était seulement alors qu'elle allait commencer pour eux. Dans leur première mission [3035] ils avaient rencontré partout des gens qui ne demandaient pas mieux que d'entendre parler du Messie; maintenant ils devront annoncer comme le Christ un homme « mis au rang des malfaiteurs, » et porter à toutes les nations sa doctrine pure et sainte. Que de privations et de dangers n'avaient-ils pas en perspective! A quelle rude guerre ne devaient-ils pas se préparer! C'est ce que Jésus leur fit entendre en des termes figurés qu'ils prirent au pied de la lettre, selon leur coutume, et, selon sa coutume aussi, le Seigneur voulut laisser aux événements le soin d'expliquer sa pensée. Au bout d'assez peu d'instants, les apôtres virent bien que deux épées étaient plus que suffisantes pour une lutte qui ne comporte pas l'emploi de telles armes.

3437. (M. 26 : 30. Mc 14 : 26.) Les Juifs avaient coutume, à la fête de Pâques, de chanter quelqu'un des psaumes de David : le 113e, le 115e, le 118e ou le 136e, psaumes d'actions de grâces tous les quatre, et l'un d'eux psaume messianique par excellence. Or, rien n'était plus convenable que de se conformer à l'usage, au moment où le Christ lui-même venait d'instituer la Cène, nouvelle Pâque qui publie avec tant de force les délivrances du Très-Haut, et à laquelle on a donné par cette raison le nom d'Eucharistie ou d'Actions de

(**Jean 15** : 1-8; 9.)

grâces. Jésus donc et ses disciples chantèrent le cantique, ils le chantèrent à un moment d'ailleurs bien lugubre, nous enseignant ainsi que, quelles que soient les circonstances extérieures d'une Eglise, la louange et les bénédictions ne doivent pas cesser de sortir de la bouche et du cœur des fidèles. Puis, nous disent Matthieu et Marc, ils partirent pour la montagne des Oliviers; mais ce ne fut pas sans que le Seigneur leur adressât auparavant de nouvelles exhortations et de nouveaux encouragements.

3438. (Jean **15**.) Comme il avait insisté le matin même, avec beaucoup de force, sur l'obéissance qu'il réclame de ses disciples, il veut maintenant leur rappeler quelle est la source de cette obéissance. Dans ce but, il se désigne lui-même sous l'image d'un cep (1), arbuste précieux, mais de pauvre apparence. A ce cep appartiennent des sarments de deux sortes (2); les uns, semblables aux vierges folles, au serviteur inutile de la parabole des marcs et de celle des talents, ne portent pas de fruits : ils doivent être retranchés; les autres, plus ou moins chargés de fruits, sont les objets particuliers des soins du cultivateur : il les nettoie et les émonde, afin que les grappes en acquièrent d'autant plus de vigueur (3). « Vous, mes vrais disciples, dit Jésus, vous êtes purs à cause de la parole que je vous ai annoncée, » et que vous avez reçue, ce qui se sous-entend de soi-même. Croire en Jésus selon sa parole, voilà donc ce qui purifie le cœur. Après cela, il s'agit que nous demeurions en lui par la foi, et qu'il demeure en nous par son Esprit; car nous ne pouvons qu'à cette condition produire quelque œuvre vraiment bonne (3-6). Au contraire, nous séparer de lui, c'est aller au-devant du feu destiné au sarment sec, dont on ne peut faire aucun autre usage. Si d'ailleurs nous demeurons en Christ par la foi et que sa parole demeure en nous par l'Esprit, les prières que, dans l'intérêt de notre sanctification, nous adresserons à Dieu, doivent nécessairement être exaucées (7, 8), quelle qu'en puisse être l'ambition apparente. C'est par l'abondance de nos bonnes œuvres que le Père est glorifié, c'est par elles aussi que nous nous montrons de vrais disciples de Jésus; or, quelle est la volonté de Dieu, si ce n'est que nous appartenions véritablement à Jésus-Christ, pour la gloire de Celui qui l'a envoyé!

3439. (9). Demeurer dans l'amour de Jésus, c'est tout à la fois être aimé de lui et l'aimer sans cesse. Voyez quel est son amour pour les siens! C'est un amour saint et éternel comme l'amour du Père pour le Fils. Puis, voyez de nouveau combien il est vrai qu'aimer le Sei-

(**Jean 15** : 10, 11; 12-15; 16, 17.)

gneur et lui obéir sont une même chose (10), puisque c'est aussi par son obéissance aux commandements du Père que le Fils lui-même demeure dans son amour. Or, cette grande doctrine, le Seigneur la proclame, afin que, l'Esprit demeurant en nous par l'amour et par l'obéissance de la foi, sa joie, une entière joie, y demeure également (11). — Oh ! vous qui lisez ces lignes, quelles sont les impressions que produit sur vous la pensée du devoir, de l'obéissance, du commandement? L'écartez-vous, cette pensée? Vous attriste-t-elle? Etes-vous de ceux qui ne veulent entendre parler que des promesses de l'Evangile et non de ses préceptes? Ah! s'il en est ainsi, je crains fort que vous n'ayez une grande ressemblance avec le sarment improductif. Vous paraissez attachés à Christ, mais non pour tirer à vous la sève fécondante qui sort de lui. Son discours tout entier nous rappelle que l'Evangile a des commandements et non pas seulement des promesses. Ce n'est pas, il est vrai, notre obéissance aux commandements qui nous sauve, c'est la foi en Jésus-Christ; toujours est-il que si notre foi ne produit pas l'obéissance, elle n'est pas la véritable et nous ne sommes pas sauvés. Il est dans l'essence même des promesses de Dieu de nous procurer la joie; mais pour que cette joie soit sûre et parfaite, il faut qu'elle puisse subsister en présence du commandement. Or, celui-ci étant l'expression même de ce qu'est le Seigneur (car il ne peut vouloir que ce qui est conforme à sa nature), il est clair que si nous aimons le Seigneur, nous nous réjouirons de ses commandements et non pas seulement de ses grâces.

3440. (12-15.) Que le commandement soit l'expression même de ce que Dieu est, nous le voyons clairement ici. Le Seigneur est amour : il nous a aimés, jusqu'à donner sa vie en notre faveur; il nous traite non en esclaves, mais en amis; c'est à ce titre qu'il nous a révélé ses propres pensées et celles de notre Père céleste, nous ayant ouvert son cœur sans réserve. Mais sommes-nous ses amis, si nous négligeons volontairement une partie quelconque de ses ordres? Le sommes-nous surtout si nous ne savons pas nous aimer les uns les autres comme il nous a aimés?

3441. (16, 17.) A ces considérations, notre Seigneur en ajoute une de très grande portée. Les onze étaient devenus ses disciples en vertu du choix qu'il avait fait de leurs personnes, lorsque eux-mêmes n'y songeaient en aucune manière, et ceci est vrai de tous les fidèles aussi bien que des apôtres. Or, dans quel but le Seigneur appelle-t-il à lui ses élus, si ce n'est pour qu'ils le servent? Par cela même qu'il

(**Jean 15** : 18-20; 21; 22-25; 26, 27.)

les a élus, ils peuvent compter sur le secours de sa grâce et leurs prières seront certainement exaucées; mais, s'ils prient, il leur sera donné d'obéir au commandement du Seigneur, lequel est, comme le répète Jésus-Christ, de nous aimer les uns les autres.

3442. (18-20.) Les disciples doivent d'autant plus s'aimer qu'ils n'ont aucune affection à attendre de la part du monde. Celui-ci les hait, à raison de ce qu'autrefois ils lui appartenaient, et que, par l'effet de l'élection du Seigneur, ils ne lui appartiennent plus. Le monde les hait par les mêmes motifs qui ont fait et font encore de Jésus l'objet de son aversion, et parce qu'il voit en eux des serviteurs de Jésus; or, comme le Seigneur l'avait dit la veille à ses disciples, en leur lavant les pieds : « L'esclave n'est pas plus grand que son maître. » Ceux qui ont écouté le Maître écouteront sans doute les serviteurs; mais ceux qui l'ont persécuté ne les ménageront pas à leur tour.

3443. (21). C'est un beau nom que celui de Jésus, puisqu'il veut dire *Sauveur!* Toutefois c'est un nom que les mondains n'aiment pas, quand ils comprennent ce qu'il signifie; parce que ce nom même les fait souvenir de leurs péchés et de la condamnation qu'ils méritent. Si donc quelqu'un, se montrant réellement disciple de Jésus au milieu du monde, invoque le nom que le monde hait, il ne saurait manquer d'attirer sur soi l'animadversion générale. Tout cela vient, dit le Seigneur, de ce que le monde ne connaît pas Dieu, non pas le Dieu abstrait et imaginaire qu'il se plaît à inventer; mais ce qu'il hait, parce qu'il ne le connaît pas, c'est le Dieu et le Père de notre Seigneur Jésus-Christ.

3444. (22-25.) D'ailleurs, semblables aux Juifs d'autrefois, les hommes auxquels parvient l'Evangile commettent, en le rejetant, un péché qui aggrave tous les péchés et par conséquent leur condamnation. Or ils le sentent en leur conscience, et c'est pour cela qu'ils haïssent celui qui leur paraît n'être venu que pour leur malheur; en le haïssant, ils haïssent de plus en plus le Père qui l'a envoyé. Toujours est-il que leur haine est sans excuse. (Ps. 35 : 19); car le Seigneur n'est pas venu pour condamner le monde, mais pour le sauver.

3445. (26, 27.) C'est auprès de ce monde et malgré ses violences, que les apôtres devaient être des témoins de la vérité de Dieu en Jésus-Christ, et cela de deux manières. D'abord par le don qui leur serait fait du Saint-Esprit, lequel leur parlerait de Jésus et au moyen duquel ils parleraient de Jésus au monde; puis, par le fait même

qu'ils avaient été avec lui durant tout le cours de son ministère. Quand nous en serons à l'histoire des apôtres, nous verrons effectivement que l'autorité de leur parole repose à la fois sur l'inspiration divine dont ils furent revêtus, et sur le privilége qu'ils avaient eu de voir et d'entendre si longtemps notre Sauveur.

3446. (**16** : 1-4.) On ne saurait trop admirer la bonté et la sagesse des avertissements que le Seigneur donne à ses apôtres, et, dans leur personne, aux fidèles de tous les temps. S'il ne leur avait pas prédit la haine du monde, leur foi aurait été bien ébranlée quand cette haine se manifesta; tandis qu'elle dut, au contraire, s'affermir et s'épurer en passant par le creuset de la persécution. L'Evangile n'a pas de plus forte preuve de sa vérité que l'aversion dont le monde l'honore. Cette aversion même confirme tout ce que nous dit la Bible sur la chute de l'homme et sur la profonde dépravation du cœur humain. Puis, quand on voit la parole de l'Ecriture s'accomplir dans les crimes mêmes de ses détracteurs et faire son œuvre malgré leur hostilité persévérante, on est de plus en plus assuré que cette parole est de Dieu! Du reste, si Jésus n'avait pas, dès le commencement, prévenu ses apôtres de l'opposition qui les attendait; si du moins, jusqu'à ce jour, il ne le leur avait jamais dit en termes aussi explicites, c'est qu'il était avec eux; c'est que, pour le présent, la haine du monde se portait tout entière sur sa personne; mais, désormais, ses ennemis ne pouvant plus l'atteindre, ne manqueraient pas de décharger leur fureur sur ceux qu'il avait pris à son service.

3447. (5-11.) Jésus, en effet, allait rentrer dans la gloire de son Père. Il l'annonce à ses disciples; et, tandis que ceux-ci auraient dû n'éprouver que de la joie à cette nouvelle, ils ne pouvaient au contraire dissimuler leur douleur. C'est pourquoi Jésus se met à leur dire tout ce que cet événement aurait d'avantageux pour leurs âmes. En expiant leurs péchés par ses souffrances, il va leur acquérir les grâces de l'Esprit-Saint et, du ciel où il retourne, il les leur enverra. Ils ne seront donc pas seuls au milieu du monde méchant; mais le Saint-Esprit sera avec eux. Par lui, ils convaincront le monde « de péché, » car son incrédulité même l'en accusera; « de justice, » car si Jésus monte au ciel, c'est pour en revenir comme Juge des vivants et des morts; « de jugement » enfin, car Satan est déjà condamné, et ceux qui suivent ses traces ne sauraient échapper au tribunal de Dieu.

3448. (12-15.) Ces dernières paroles du Sauveur étant difficiles à

comprendre, je ne m'assure pas d'en avoir parfaitement rendu le sens. Mais les heures de la nuit s'écoulaient et Jésus avait hâte d'achever son discours. Il resserre donc sa pensée, et celle-ci devient de plus en plus profonde. C'est pour cela qu'il finit par renvoyer les disciples aux futurs enseignements du Saint-Esprit. Nous verrons, en effet, dans les Actes des apôtres, dans leurs épîtres surtout, avec quelle clarté et quelle abondance il leur fut donné de prêcher Jésus-Christ, bien qu'ils le connussent encore si mal, lors de son départ.

3449. Quant à cet Esprit de vérité, le Défenseur, ou comme nos versions ordinaires traduisent, le Consolateur, qui devait communiquer aux apôtres la connaissance du Christ dans sa plénitude, et les mettre en état de proclamer sa gloire et celle du Père, il est facile de voir, par le passage qui est sous nos yeux, qu'il ne s'agit pas ici simplement d'une influence divine ou d'une pure action de Dieu sur les âmes. Le Saint-Esprit, c'est évidemment *quelqu'un* et non pas *quelque chose*. C'est quelqu'un qui servira de guide aux apôtres; quelqu'un qui, non plus que le Fils, ne parlera pas de par lui-même; quelqu'un dont l'office est de glorifier le Christ, en empruntant tout de lui ou du Père. C'est dire la même chose de deux manières différentes, parce que tout ce que possède le Père est également au Fils, et que le Saint-Esprit est, avec le Père et le Fils, un seul Dieu béni au siècle des siècles.

3450. (16-22.) Il est sûr que, pour ce qui concernait les choses divines, l'intelligence des apôtres était bien peu développée; car ils ne comprirent rien à une prophétie que nous avons ici et qui nous paraît maintenant fort simple. Il est vrai qu'elle s'est accomplie par la mort et par la résurrection de Jésus; or, une prédiction non accomplie, quelle qu'elle soit, ne saurait avoir la clarté de l'histoire. Fidèle à sa méthode d'enseignement, notre Seigneur saisit cette occasion pour annoncer aux disciples les grandes émotions par lesquelles ils allaient passer. A sa mort, le monde des impies éprouvera une vive joie, tandis que les disciples seront dans la douleur; mais à cette douleur succédera une allégresse que personne ne pourra leur ravir; en sorte qu'il leur arrivera comme à une femme qui devient mère, après les terribles souffrances de l'enfantement. C'est une bien vraie image des travaux et des angoisses de l'Eglise au milieu du monde; c'est aussi l'histoire de tout pécheur qui se convertit : la tristesse avant la joie.

(**Jean 16** : 23-28 ; 29-33.)

3451. (23-28.) Mais, pour la tristesse comme pour la joie, il faut que l'Esprit de Dieu agisse au dedans de nous. En d'autres termes, la tristesse du pécheur qui est sollicité à se convertir et la joie du fidèle qui s'est tourné vers Jésus, sont des grâces de Dieu que nous devons lui demander avec instances au nom de son Fils. A cette occasion, le Seigneur reproduit les magnifiques promesses qui sont faites à la prière de la foi (**15** : **7**), et, afin que ses disciples comprissent avec quelle assurance ils devaient invoquer le Père céleste, il leur rappelle l'amour que ce tendre Père a pour eux. Il est vrai que, si nous sommes de ceux qui aiment Jésus et qui croient en lui, il intercède en notre faveur ; mais s'il ose prier pour des créatures telles que nous, c'est que le Père lui-même nous aime, vérité largement démontrée par le don qu'il nous a fait de son Fils. Quant à ce bon et miséricordieux Sauveur qui, étant sorti du Père, est venu de sa part dans le monde à diverses époques, il a de nouveau quitté le monde (**3** : 13) ; et, après avoir terminé son œuvre, il est retourné à son Père : ce sont là des articles élémentaires de la foi.

3452. (29-33.) Ces paroles étaient si claires, que les disciples n'eurent pas de peine à les comprendre, celles-ci du moins : « Je suis sorti de Dieu. » Aussi s'écrièrent-ils : « Nous croyons cela, Seigneur ! » « Vous croyez ! » leur dit Jésus avec une sorte de douleur, non pas comme s'il eût douté de la sincérité de leur foi, mais parce qu'il connaissait leur faiblesse, « vous croyez maintenant ! Voici, l'heure vient, et elle est là tout près, que vous serez dispersés, chacun de son côté, et que vous me laisserez seul ! » Seul ! non pas entièrement, car le Père ne pouvait cesser d'être avec lui..... A le voir dans son ensemble, le discours que le Seigneur venait de prononcer était de nature à répandre une grande paix dans le cœur agité de ses pauvres disciples. Maintenant, ils savent où il va ; ils savent ce qu'il veut leur donner après son départ ; ils savent qu'ils l'auront toujours avec eux, bien que d'une autre manière. Il est vrai qu'ils essuieront des tribulations ici-bas ; mais encore était-il bon de ne pas l'ignorer. Puis, quel encouragement n'y a-t-il pas dans ces derniers mots de leur bon Maître : « J'ai vaincu le monde ! » Oui, il est beau et consolant de voir notre Seigneur, au moment où le chef de ce monde va comme l'écraser sous ses coups, déclarer que c'est le monde et non pas lui qui sera vaincu ! Nous donc, si nous croyons, apprenons dans quel esprit nous devons soutenir la lutte avec Satan, le monde et le péché. Notre Chef a remporté la victoire, et, par la foi,

(**Jean 17** : 1-26; 1-5; 3.)

il nous est permis de nous envisager, dès à présent, comme victorieux en lui.

## CCLXI. — La prière sacerdotale.

3453. (Jean **17** : 1-26.) Notre Seigneur termina ses admirables discours par une prière plus admirable encore. Nous savons qu'il se retirait fréquemment à l'écart pour prier et même qu'il y passait des nuits; ici, nous apprenons ce que pouvaient être ses prières. Jésus, souverain Sacrificateur de la nouvelle alliance, établi pour glorifier Dieu auprès des hommes et pour réconcilier les hommes avec Dieu, s'est acquitté de cet office par la mort qu'il a soufferte, mais aussi par les prières qu'il a présentées au Père. Ses prières se rattachent à son sacerdoce comme sa mort même, et c'est ainsi que l'Eglise l'a de tout temps entendu.

3454. (1-5.) La prière que nous avons devant les yeux porte sur trois objets principaux. D'abord, le Seigneur se montre tout occupé de la gloire de Dieu. L'heure est venue où il faut que le Fils soit glorifié, afin que le Père le soit aussi par lui. Or, la gloire du Fils consiste en ce que le Père lui a donné autorité et puissance sur toute chair, en ce qu'il use de cette autorité pour donner la vie éternelle à ceux que le Père lui a donnés, et en ce que cette vie éternelle se trouve dans la connaissance du Père par le Fils. Tout dans le ministère de Jésus-Christ : ses discours, ses œuvres, sa manière de vivre, tout, dis-je, avait eu pour but de manifester la gloire de Dieu, c'est-à-dire sa puissance, sa sagesse et surtout son infinie miséricorde. Maintenant, le Seigneur s'envisage déjà sur la croix; l'œuvre est consommée, et ce qu'il demande pour prix de son travail, c'est d'être réintégré dans la gloire dont il avait joui de tout temps auprès du Père.

3455. (3.) Reprenons, avant d'aller plus loin, l'espèce de parenthèse dans laquelle notre Seigneur déclare où se trouve le bonheur éternel. Pour posséder ce bonheur, il ne suffit pas sans doute de savoir qu'il y a un seul Dieu et que Jésus-Christ est son envoyé. *Connaître* Dieu et Jésus-Christ, c'est autre chose que cela. Connaître, dans le langage de l'Ecriture, c'est sentir, c'est aimer, c'est posséder; connaître Dieu, c'est se nourrir de lui et participer à sa vie [1305]. Aussi, notre Seigneur ne dit pas seulement que cette connaissance est le chemin de la vie éternelle, il dit qu'elle est la vie éternelle même. Celui qui possède et le Père et le Fils, est passé de la mort à la vie; il est vivant au siècle des siècles, comme le Seigneur auquel il croit.

**(Jean 17 : 6-19.)**

3456. (6-19.) La prière de notre souverain Sacrificateur a pour second objet les disciples avec lesquels il venait d'avoir son dernier entretien. Avant d'être à lui, ils étaient du monde; mais alors déjà, ils appartenaient au Père par un effet de son bon plaisir. C'est pourquoi, lorsque Jésus leur eut appris à connaître Dieu comme Père, et qu'il leur eut parlé de sa part, ses instructions, peu comprises il est vrai, trouvèrent cependant le chemin de leur cœur, et maintenant ils n'hésitaient plus à voir en lui le propre Fils du Père et le parfait organe de son amour. C'est donc pour eux qu'il prie; parce que le Père les aime, qu'il les lui a donnés et qu'ils auront pour office de le glorifier. Ce qu'il demande, c'est que le Père les garde, qu'il les préserve du mal, qu'il les sanctifie, grâces qui sont les grâces mêmes dont a besoin toute âme qui appartient à Jésus-Christ par la foi.

3457. Ici se présentent quelques observations de détail. Toute connaissance du Père nous est donnée par le Fils, et nul ne va au Fils que par la grâce du Père; puis, le signe auquel on reconnaît les personnes que le Père donne à son Fils, c'est qu'elles observent sa parole (6).

3458. Ceux qui sont du monde et qui veulent demeurer dans le péché ne se soucient pas des prières de Jésus; aussi est-il vrai qu'il ne prie point pour eux (9). Ce n'est pas à dire que le pécheur, même le plus abandonné en apparence, ne doive pas se réclamer de l'intercession du Sauveur. S'il le fait, il y a tout lieu de penser qu'il est une de ces âmes que le Père a données à son Fils et qui, bientôt, seront entièrement à lui.

3459. En vivant pour le Seigneur, les siens le glorifient, et en le glorifiant ils glorifient le Père; car tout ce qui est au Fils appartient au Père et tout ce qui est au Père appartient au Fils (10.) Ces dernières paroles sont une preuve bien forte de la divinité de Jésus-Christ.

3460. Quand on pense que le chef de l'Eglise romaine se laisse donner par ses adhérents le titre même de Saint-Père (11), se mettant ainsi à la place de Dieu, l'on ne peut retenir un sentiment d'horreur et d'indignation!

3461. Que penser ensuite des hommes dont toute la religion est une affaire du présent siècle et qui sont mondains jusque dans leur culte? Ah! certes ils ne se montrent pas les successeurs des apôtres, ni les héritiers de leur foi. Hélas! les plus fidèles même et les plus éclairés d'entre les chrétiens, ont beaucoup à s'humilier de mériter encore si peu l'honneur insigne que Jésus leur fait, en disant qu'ils

ne sont pas du monde, comme lui-même n'est pas du monde (16); car ce qu'il déclare ici est vrai de tous ses disciples réels aussi bien que des apôtres. Ceux-ci étaient alors fort indignes du rapprochement que le Seigneur établit entre eux et lui : voyons-y au moins l'excellence de la vocation qui leur était adressée et qui nous l'est comme à eux.

3462. L'erreur et le mensonge ne sauraient porter aucun fruit de sainteté. Rien n'est donc plus important que la connaissance et la profession de la saine doctrine. Celle-ci ne se trouve nulle part ailleurs que dans la Parole de Dieu. Si donc nous voulons être sanctifiés, cherchons auprès du Sauveur la sanctification, non moins que les autres grâces, et n'oublions pas qu'il la communique par sa Parole (17).

3463. Il n'y a que lui qui ait pu se sanctifier lui-même, et encore se sanctifier pour autrui (19). Il n'a pas eu à se dépouiller du péché, mais il a dû lutter contre les tentations. Sa vie tout entière fut une vie de sainte obéissance à son Père. C'est ainsi qu'il se consacra ou se sanctifia lui-même, et que sa sainteté toute divine est la source où nous devons puiser notre propre sanctification.

3464. (20-26.) Enfin, la prière du Seigneur a pour objet les fidèles de tous les temps et de tous les lieux. Ses œuvres lui sont connues dès l'éternité; vous pouvez donc, vous qui lisez ces lignes en regardant du cœur à Jésus-Christ, vous dont la foi est son œuvre, vous pouvez vous dire qu'il a prié pour vous personnellement il y a dix-huit siècles, d'une prière éternelle comme lui et dont l'efficace est infaillible. Ce qu'il a demandé en faveur de ceux qui croiraient en lui par la prédication et par les écrits des apôtres, c'est tout ce qu'il venait de demander pour les apôtres eux-mêmes; notamment, qu'il y eût entre eux une unité parfaite et qu'ils fussent admis à partager la gloire qui lui appartient de toute éternité. Puis il termine en promettant de leur faire de plus en plus connaître Dieu comme leur Père, afin qu'ils soient animés de l'amour même dont le Père l'a aimé et que sa vie à lui devienne leur propre vie.

3465. O mon âme! arrête-toi quelques instants ici, car on y respire à ciel ouvert les doux parfums de la grâce de Dieu! As-tu quelqu'un qui t'aime plus et mieux que le Seigneur ne t'aime? Connais-tu quelque bien plus grand que ceux dont il veut t'enrichir? Est-il quelque crainte dont le souvenir de cette prière ne doive te dépouiller? Où porteras-tu tes regards et tes pensées pour trouver rien de plus ma-

gnifique en consolations et en semences de sainteté? Et si, rachetée par Jésus, ta foi t'autorise à penser que tu fus un des heureux objets de sa miséricorde dans la prière de son cœur, n'est-il pas sûr que cette terre est pour toi le chemin du ciel ou plutôt le ciel même ?

3466. Quant à l'unité qui doit exister et qui existe effectivement entre tous ceux qu'anime l'Esprit de Christ (21-23), c'est manifestement l'unité de la foi et de l'amour, unité spirituelle et non matérielle ou extérieure, puisqu'elle est semblable à celle qui lie le Père et le Fils. Toutefois elle se manifeste par des faits; car il faut qu'elle soit connue du monde, pour la gloire de Dieu.

3467. Voyez aussi ce qu'il faut entendre par la gloire promise aux fidèles (22-24). C'est la gloire même de Jésus. Les âmes qu'il a rachetées sont sa couronne; mais c'est une couronne qui tire tout son éclat de celui qui la porte. Aussi voyons-nous que Jésus mêle exprès ces trois idées : l'unité des fidèles, leur unité avec lui, la gloire qui leur est réservée. Que ces grandes pensées remplissent donc aussi nos âmes, dans une sainte et sublime confusion!

3468. Je ne saurais me séparer de ce sujet sans l'accompagner de quelques réflexions générales. — D'abord, vous aurez dû remarquer la simplicité de cette prière. Rien de plus profond dans la pensée; rien de plus uni dans l'expression. Apprenons du Seigneur à prier. Quand nous parlons à Dieu, ce n'est pas le moment des grandes et belles phrases. La foi et le cœur vont haut et loin sans beaucoup d'apprêts. La simplicité toutefois n'exclut pas l'ordre. Celui qui prie doit savoir ce qu'il veut demander et, s'il ne le sait pas, le Saint-Esprit le lui enseigne. C'est ainsi que les prières des fidèles, tout l'opposé des vaines redites, seront abondantes et non pas surchargées : elles passeront aisément d'un objet à un autre, en donnant à chacun sa place et son importance.

3469. Après cela, voyez, dans la prière de notre Seigneur, comment sa divine pensée et ses saints désirs se développent et s'expriment chacun de la manière qui lui est propre; toutefois, en faisant reparaître fréquemment les mêmes expressions. Ces expressions méritent d'être comptées et pesées. Elles composent, pour ainsi dire, tout le vocabulaire du chrétien, en résumant d'une manière admirable les doctrines de la foi.

3470. C'est pour la *gloire* de Dieu que toutes choses existent et que le Christ a tout accompli. *Connaître* le Seigneur, c'est la vie éternelle, et les grâces de *la vie éternelle* sont, sans exception, un *don* de Dieu.

(**Luc 22** : 39. **Matthieu 26** : 30-36. **Marc 14** : 26-32. **Jean 18** : 1.)
Dieu a *donné* son Fils, il lui *donne* ceux qu'il veut sauver, et il leur *donne* la foi qui les sauve. Par cette foi ils *sont à Dieu*, et le genre humain tout entier ne se compose que de deux classes de personnes : le *monde* et *ceux qui*, étant à Dieu, *ne sont pas du monde*. Ce qui caractérise ces derniers, c'est qu'ils *aiment* comme ils ont été *aimés;* qu'ils sont *un* comme le Père et le Fils sont un; qu'ils sont *sanctifiés*, consacrés, mis à part et purifiés. Enfin l'organe par lequel cette œuvre tout entière se produit, c'est la VÉRITÉ. — Voilà tout un ensemble d'idées que la prière de notre Seigneur livre à nos méditations. Je ne puis que les indiquer, mais je me repose sur l'Esprit de Dieu pour les approprier aux besoins spirituels de mes lecteurs.

## CCLXII. — Jésus en Gethsémané.

3471. Nous arrivons enfin au terme de la carrière terrestre de notre Sauveur, à cet instant solennel où la postérité du serpent brisa le talon de celui qui est né d'une femme [102]; où le Père céleste mit sur le bûcher son Fils, son unique, celui qu'il aime, son Isaac [353, 363]; où le représentant des pécheurs fut élevé sur une croix comme le serpent d'airain au haut d'une perche (Jean **3** : 14); où le Saint et le Juste fut frappé pour l'iniquité de nous tous et mis au rang des malfaiteurs [2246, 2247]; où le Christ se vit retranché de la terre des vivants mais non pas pour lui [2457], et où l'Agneau de Dieu s'offrit en sacrifice d'expiation pour les péchés du monde (Jean **1** : 36). Quatre lieux principaux devinrent successivement le théâtre de cette longue mort du Seigneur : Gethsémané, le palais de Caïphe, le Prétoire et le Calvaire. C'est là que nous devons le suivre avec un redoublement d'attention.

3472. (L. **22** : 39; M. **26** : 30-36; Mc. **14** : 26-32; J. **18** : 1.) En rapprochant les quatre Evangiles, on voit que Jésus ayant traversé le torrent de Cédron, qui coule entre Jérusalem et le mont des Oliviers, entra avec ses disciples dans un jardin où il s'était plus d'une fois retiré et que Judas connaissait parfaitement. Ce lieu s'appelait Gethsémané ou le *Pressoir à huile :* c'est là que Jésus va se trouver seul à fouler au pressoir (Es. **63** : 3). Chemin faisant, ou peu après être arrivé à sa destination, le Seigneur, toujours plein de sollicitude pour ses disciples, veut les avertir encore une fois des dangers dont cette nuit terrible les menace. Il leur rappelle une prophétie messianique à laquelle ils n'avaient peut-être jamais pris garde (Zacharie **13** : 7-9) et,

(**Luc 22** : 40-46. **Matthieu 26** : 37-46. **Marc 14** : 33-42.)

pour relever en même temps leur courage, il leur parle de sa résurrection, leur donnant un prochain rendez-vous dans la Galilée, ce pays dont le souvenir devait leur être cher à tant de titres. Mais voyez quels péchés la présomption peut produire. Pierre et les dix autres avec lui, n'osèrent-ils pas donner à leur maître une sorte de démenti! Et quand Jésus, de plus en plus explicite, eut dit à celui d'entre eux qui se vantait le plus : « Aujourd'hui, en cette même nuit, avant que le coq ait chanté deux fois, tu me renieras trois fois, » le malheureux Pierre ne se mit-il pas à répéter encore plus fortement : « Lors même qu'il me faudrait mourir avec toi, je ne te renierai pas! » Cette réponse aurait rempli de joie tout autre que Jésus; mais il savait ce qui est dans l'homme, et des protestations où il y avait tant d'orgueil, bien que mêlées de tant d'amour et de zèle, ne purent que l'affliger profondément.

3473. (L. **22** : 40-46; M. **26** : 37-46; Mc. **14** : 33-42.) Cependant le Seigneur, qui, après cette longue journée, avait pitié de la fatigue de ses disciples, fatigue qu'il ressentait plus que la sienne propre, leur dit de s'asseoir sous les arbres du jardin pendant qu'il se mettrait en prière à l'écart, les invitant à prier de leur côté, pour ne pas succomber aux tentations qui approchaient. Il prit toutefois avec lui ses trois témoins particuliers, Pierre, Jacques et Jean [3094], et, se sentant saisi d'une profonde angoisse : « Mon âme, leur dit-il, mon âme est enveloppée d'une tristesse de mort; demeurez ici et veillez avec moi. » Alors il se détourna d'environ un jet de pierre; se mit à genoux; se prosterna même le visage dans la poudre, priant le Père d'éloigner de lui la coupe des souffrances si la chose était possible, et se montrant néanmoins tout résolu à faire la sainte volonté de son Dieu. Après cette prière, il rejoint les trois disciples, qui, accablés eux-mêmes de douleur, mais d'une douleur tout autre, s'étaient laissé surmonter par le sommeil, comme des enfants. « Eh! quoi, vous dormez! » dit Jésus, en s'adressant particulièrement à Pierre : Levez-vous, veillez, priez. Où sont vos résolutions? Ah! je vous l'avais dit : « L'esprit est prompt, mais la chair est faible! »

3474. Le Seigneur ayant témoigné de la sorte aux disciples que ses angoisses ne l'empêchaient pas de s'occuper d'eux, retourne à sa prière, et, après l'avoir répétée comme la première fois, il revient à Pierre et à ses collègues, toujours si assoupis qu'ils ne savaient que lui répondre. Enfin, il se prosterne de nouveau contre terre, et, cette fois, son agonie est telle que des grumeaux de sang se mêlent à sa

(**J. 18** : 2, 3; 4-9; 10, 11. **L. 22** : 47, 48; 49-51. **M. 26** : 47-50; 51-54. **Mc 14** : 43-46; 47.) sueur et découlent sur le sol; en sorte qu'il fallut un ange du ciel pour le fortifier. Combien de temps dura cette lutte, mystérieuse autant que terrible, c'est ce qui ne nous est point dit et ce qui n'importe guère. Courte ou longue, il est évident que Jésus y souffrit au delà de ce qu'on peut exprimer. Mais, relevé par la main même du Père, il rejoignit aussitôt ses disciples. A présent, leur dit-il, dormez, si cela vous est possible : « Voici, celui qui me trahit approche. »

3475. (J. **18** : 2, 3; L. **22** : 47, 48; M. **26** : 47-50; Mc. **14** : 43-46.) Judas, en effet, Judas, qui n'avait pas dormi, arrivait accompagné d'un gros de soldats, avec des officiers de justice envoyés par les sacrificateurs et les chefs du peuple. Bien que ce fût au milieu de la nuit, une foule de gens grossissait le cortége. Ne se fiant pas à l'incertaine clarté de la lune, ils portaient des lanternes et des flambeaux, et, comme s'ils eussent pu craindre quelque résistance, ils étaient armés d'épées et de bâtons. C'était une espèce d'émeute nocturne, bien plus qu'une exécution judiciaire. Judas, audacieux et calme en apparence, s'approche de Jésus; puis, selon la coutume des disciples, coutume où l'on voit l'affectueuse intimité qui régnait entre eux, il l'embrasse et le salue du nom de docteur ou de maître. C'était ainsi qu'il avait convenu de le désigner aux chaînes qui l'attendaient, et s'il avait ajouté : « Emmenez-le sûrement, » peut-être cela signifiait-il que, dès lors, il ne répondait plus de lui. Cette indignité n'arracha d'autre parole à Jésus que celle-ci : « Toi, mon compagnon (et non pas mon ami, comme on a traduit généralement), que fais-tu ici? [3358.] Trahis-tu le Fils de l'homme par un baiser? »

3476. J. **18** : 4-9; 10, 11; L. **22** : 49-51; M. **26** : 51-54; Mc. **14** : 47.) A cet instant, le Seigneur va au-devant des soldats, et quand, à sa demande, ils lui disent qu'ils ont ordre de saisir Jésus de Nazareth, il leur répond : « C'est moi, » tant il entrait peu dans sa pensée de songer à leur échapper. Pour montrer, cependant, qu'il en aurait eu le pouvoir, cette simple parole : « C'est moi, » produisit sur les soldats l'effet que la présence de Jésus doit produire, un jour, sur le monde des impies. Ils reculent et tombent à la renverse. Puis, quand ils sont relevés, Jésus leur demande de l'emmener seul, car il paraît qu'ils faisaient mine de saisir aussi les apôtres, et la chose était assez naturelle; mais l'événement se passa selon la parole du Seigneur et non pas selon leur volonté. Ce fut donc de Jésus seul qu'ils s'emparèrent. Les disciples, voyant cela, lui demandèrent s'ils devaient frapper de l'épée, et, sans attendre la réponse, Pierre, toujours impétueux

(**Luc 22** : 52-54. **Matthieu 26** : 55-57. **Marc 14** : 48-50.)

et irréfléchi, Pierre, plein de courage en présence de cette multitude armée, mais d'un courage tout charnel, Pierre frappe du glaive et emporte l'oreille d'un nommé Malchus, esclave du souverain sacrificateur. Défendre Jésus avec l'épée! Croire qu'il a besoin d'une telle protection! Méconnaître à ce point le sens profond de ce qui se passait en ce moment! Ah! pauvres disciples, comme ils auraient mieux fait de veiller et de prier selon les avertissements de leur bon Maître!

3477. (L. **22** : 52-54; M. **26** : 55-57; Mc. **14** : 48-50.) Cependant, Jésus avait guéri miraculeusement le blessé, nouvelle preuve qu'il n'avait rien perdu de sa puissance et qu'il se livrait volontairement. Puis, au moment de partir, il voulut que ces gens sentissent pourtant l'indignité de leur conduite. Il y avait là, mêlés avec la foule, des sacrificateurs et des magistrats, qui avaient tenu, paraît-il, à s'assurer que tout irait comme Judas s'y était engagé. Or, n'était-il pas bien extraordinaire qu'ils s'y prissent de la sorte pour s'emparer d'un homme qu'ils avaient vu plusieurs jours de suite dans le temple, enseignant publiquement au milieu d'eux! Il est vrai qu'ils avaient eu peur du peuple; mais pourquoi le peuple, jusque-là, s'était-il déclaré en faveur de Jésus? Pourquoi, si Jésus était criminel, n'avait-on pas commencé par en convaincre le peuple? Mais non; il fallait d'abord le lier, le condamner, lui donner l'air d'un coupable, le saisir en secret et de nuit : la nuit était le temps particulièrement convenable pour cette œuvre du prince des ténèbres! Après cela, quel admirable accomplissement des prophéties (Es. **53** : **12**). On prenait Jésus en Gethsémané, comme on aurait pris un brigand dans sa caverne; et ce fut à la manière des voleurs de grand chemin qu'on emmena Jésus, les mains garrottées et traîné par une corde. A ce moment terrible, il faut en convenir, tous ses disciples l'abandonnèrent et s'enfuirent, d'autant plus effrayés qu'ils s'étaient d'abord montrés plus téméraires; et voilà Jésus seul, comme il l'avait annoncé quelques instants auparavant.

3478. Dans cette portion de l'histoire du Seigneur, de même, au reste, que dans toutes les autres, il est intéressant de noter la ressemblance qu'ont entre eux les quatre Evangiles, malgré d'assez notables différences. Ainsi, Matthieu ne raconte pas ce qu'il y eut de principal dans l'agonie de Jésus, savoir la sueur de sang et le secours de l'ange, traits qui sont rapportés seulement par Luc. Mais Matthieu enregistre cette parole importante du Sauveur, importante au même point de

vue : « Mon âme est de toutes parts saisie de tristesse jusqu'à la mort, » tandis que Luc la supprime. Ni Matthieu, ni Marc ne disent la chute des soldats, non plus que la guérison de Malchus; c'est Jean qui, seul, a mis au jour le premier de ces miracles, et Luc, seul avec lui, qui ait parlé du second. Sur quoi il est à observer que Pierre et Malchus ne sont nommés que par l'évangéliste qui écrivit le plus tard, vu qu'alors, pense-t-on, il n'y avait aucun inconvénient à mettre en scène ces deux hommes. — Mais, après ces observations, nous en avons de plus importantes.

3479. Dans la crise qui vient de se dérouler à nos yeux, le Seigneur Jésus se présente sous un aspect qui, au premier abord, peut avoir quelque chose d'étrange. Habitués que nous sommes à le voir pauvre et persécuté, nous ne le sommes pas jusqu'ici à le voir dans un état voisin du désespoir. Avez-vous remarqué comme il sollicite ses faibles disciples à le soutenir par leur présence, comme il se prosterne humblement dans la poussière, comme il supplie le Père de l'épargner? Plus il montre au fond de résignation, plus ses cris accusent l'intensité de ses souffrances. Eussions-nous d'ailleurs quelques doutes à cet égard, le sang qui jaillit de ses pores et l'assistance que dut lui prêter un ange du ciel, suffiraient pour nous en convaincre. Or, rien ne saurait expliquer cette agonie, sinon qu'on n'admette les déclarations des saintes Ecritures sur le but essentiel de la manifestation du Fils de Dieu dans notre chair mortelle. Notre Seigneur a mis son âme en oblation pour le péché, suivant les prophéties; l'Eternel a fait venir sur lui nos iniquités à tous; victime sainte, il a traversé le feu de la colère divine. Telle est la cause, telle est aussi la vraie nature de ses souffrances. Si donc nous voulons savoir ce que c'est que le péché et ce qu'il mérite, allons en Gethsémané.

3480. Allons-y pareillement pour apprécier l'amour incompréhensible du Seigneur, qui passa par cette agonie à cause de nous, et qui, après de telles souffrances, se montra si patient envers Judas et ceux qui venaient le saisir, comme envers le téméraire Simon. Considérons la puissance dont il disposait à ce moment encore, et l'usage qu'il en fit pour montrer, je le répète, que son sacrifice était volontaire, comme pour rappeler ses précédents miracles et les droits qu'il avait à la reconnaissance d'un peuple qui allait se tourner contre lui. Remarquez de plus, non-seulement avec quelle bonté il mit ses pauvres disciples à l'abri de tout mal, mais encore par quelle intention pleine de sagesse il voulut souffrir seul le supplice qu'on lui destinait. S'il l'eût partagé avec les siens, on n'aurait pas vu aussi nettement en sa

(**Jean 18** : 12-18. **L. 22** ; 54-58. **Matth. 26** : 58 ; 67-72. **Mc 14** : 51-54 ; 66-69.)

personne la victime de propitiation, l'Agneau de Dieu qui ôte les péchés du monde.

3481. Passant de Jésus à ceux qui sont près de lui dans cette histoire, les onze nous apparaissent tels que nous les avons toujours vus : pleins de bonne volonté et d'ignorance ; faibles et présomptueux, surtout Simon ; croyants, mais mal affermis ; aimant leur Maître, mais d'une affection terrestre encore. Ils avaient tous dit qu'ils ne l'abandonneraient point, dussent-ils mourir, et les voilà qui l'abandonnent, lorsqu'au fond il n'y avait plus de danger à le suivre. Mais il fallait, ici comme ailleurs, que les prophéties fussent accomplies. Cela ne signifie pas que les apôtres, non plus que Judas et les chefs du peuple, aient été obligés de faire ce qu'ils ont fait ; mais ce qu'ils ont fait, connu de Dieu dès l'éternité, avait été annoncé par les prophètes, et, de cette manière, nous sommes sûrs que les plans de l'Eternel se réalisaient par leurs péchés, non moins que par l'obéissance du Sauveur [611].

3482. Si, des onze nous allons à Judas et à la troupe qu'il conduisait, nous n'avons rien de fort surprenant à signaler. Au point où en étaient les choses, le malheureux Judas ne pouvait agir autrement. Le crime a ses nécessités comme la vertu. Il fut un moment où le traître pouvait confesser son forfait et rebrousser chemin, mais, malheur à ceux qui étouffent la voix de Dieu dans leur conscience ! le pied leur manque au bord du précipice, et rien ne les arrêtera qu'ils ne soient au fond de l'abîme. Quant aux pharisiens et à ceux qu'ils tenaient sous leur dépendance, nous avons vu ailleurs l'explication de leur conduite. Depuis longtemps ils avaient, en leur cœur, versé le sang de Jésus [2948] ; l'occasion seule leur manquait. Si le Seigneur s'était encore une fois soustrait à leur haine, le crime qu'ils méditaient n'en aurait pas été moins réel devant Dieu. Or, ce crime est celui de toute personne qui, de nos jours même, rejette Jésus et sa doctrine, son salut et sa vie, pour suivre de préférence la voix de ses passions.

### CCLXIII. — *Le vendredi.* **Jésus chez Caïphe. Reniement de Pierre.**

3483. (J. **18** : 12-18 ; L. **22** : 54-58 ; M. **26** : 58, 67-72 ; Mc. **14** : 51-54, 66-69.) Voilà donc notre bien-aimé Sauveur garrotté et traîné, comme un malfaiteur, dans cette ville de Jérusalem, sainte et coupable cité, qui avait tué maints prophètes et où, cinq jours auparavant, il avait fait son entrée royale. C'était au milieu de la nuit.

(Jean 18 : 19-24.)

L'escorte de Jésus ne se composait que de gens gagnés par les pharisiens, et sans doute on faisait le moins de bruit possible, afin de ne pas attirer la foule de ses partisans. Plusieurs cependant durent être éveillés sur la route. Marc nous raconte qu'un jeune homme, entre autres, sorti brusquement de son lit et enveloppé de sa couverture, se mit à courir après Jésus. Si l'on en croit la tradition, cet individu aurait été Marc lui-même. En voyant cette espèce de fantôme, quelques-uns de ceux qui étaient là voulurent s'emparer de sa personne; mais il leur abandonna son linceul et s'enfuit.

3484. C'est chez Caïphe, le souverain sacrificateur de cette année-là, qu'on menait le Sacrificateur de l'alliance éternelle. Mais Caïphe avait un beau-père nommé Anne, ou Annas, qui avait aussi été souverain sacrificateur, homme méchant et plein d'influence, chez lequel il paraît qu'une partie du conseil s'était réunie, dès le soir, pour attendre la suite des événements. Sa maison était probablement plus voisine des portes de la ville que celle de Caïphe. Après une courte halte, on arriva chez celui-ci. Pierre, qui n'avait pas tardé à rougir de sa lâcheté, suivait Jésus de loin avec un autre disciple. Celui-ci, connu du souverain sacrificateur et de ses gens, était entré sur les pas de Jésus, tandis que Pierre demeura dehors. Mais bientôt, Jean (car c'était lui, comme on le pense généralement), Jean obtint l'entrée de Simon et la portière lui ouvrit. Or, Pierre avait souvent attiré l'attention sur sa personne par sa vivacité; et, lorsqu'il se fut approché du feu qui était allumé dans la cour à cause de la fraîcheur de la nuit, cette femme lui dit, peut-être sans mauvaise intention : « N'es-tu pas des disciples de cet homme? » Pierre, qui ne s'attendait pas à cette question et qui ne se donnait jamais le temps de réfléchir, y vit comme une menace de mort; ou, craignant simplement qu'on ne le fît sortir, il mentit en disant : « Je n'en suis point. » Peu après, cette même servante et d'autres gens avec elle, regardant Pierre en face, reproduisirent la même observation. Pierre nia de nouveau, et le coq chanta pour la première fois. Il n'était donc pas encore jour. Alors le pauvre disciple, inquiet et mal à son aise, bien que peut-être il n'eût pas pris garde au chant du coq, sortit de la cour avec la conscience chargée de deux grands péchés, et il se glissa dans la foule qui remplissait le vestibule du palais de Caïphe.

3485. (Jean 18 : 19-24.) C'était par là que notre Seigneur avait dû passer pour entrer dans la salle où l'on était assemblé en grand nombre, mais fort irrégulièrement, puisque le Sanhédrin avait plutôt

(**Matth. 26** : 59-63; 73-75. **Mc 14** : 55-61; 70-72. **L. 22** : 59-62. **J. 18** : 26,27.) pour lieu de ses séances l'un des bâtiments du temple. Le souverain sacrificateur commença par interroger Jésus sur sa doctrine et sur ses disciples. Mais comme ce n'était certainement pas au prévenu de dresser lui-même son acte d'accusation, Jésus répondit qu'il avait enseigné publiquement et qu'on devait interroger ses nombreux auditeurs. Rien de plus simple ni de plus légitime que cette réponse; mais les passions étaient si vivement émues que les seuls accents de cette voix détestée, suffisent pour enflammer la colère des assistants. Un des gardiens de Jésus, fidèle valet de ses maîtres, lui appliqua immédiatement un grand coup sur la joue. Or, Jésus, calme dans l'ignominie comme dans la souffrance, se contenta de lui dire : « Si j'ai mal parlé, rends témoignage de ce mal; et si j'ai bien parlé, pourquoi me déchires-tu? » car il résulte du mot employé dans le texte, que ce sergent l'avait frappé de sa verge et peut-être jusqu'au sang.

3486. (M. **26** : 59-63; Mc. **14** : 55-61.) On fit alors entrer des témoins. Mais il paraît qu'on ne les avait pas assez exactement instruits; car leurs témoignages étaient insuffisants, soit qu'ils ne portassent que sur des choses de peu de valeur, soit qu'ils ne fussent pas d'accord. Il en vint enfin qui accusèrent Jésus d'avoir menacé de détruire le temple de l'Eternel. Ils dénaturaient ses paroles, tant il est aisé de calomnier sans qu'il y paraisse; car il n'avait pas dit : « J'abattrai, » mais, « abattez ce temple » (Jean **2** : 19). D'ailleurs, c'était de son propre corps qu'il avait parlé, et ses adversaires l'avaient mieux compris que les disciples; nous le verrons bientôt. Puis, en comparant les Evangiles, on s'aperçoit que les uns rapportaient la prophétie d'une manière et les autres d'une autre; en sorte que leur témoignage manquait effectivement de la parfaite concordance exigée par la loi ou par la coutume. Or, le conseil, qui voulait avoir l'air de rendre un jugement juste, ne pouvait passer outre, et il s'irritait de ce que Jésus demeurait sans rien dire. Mais s'il ne disait rien, c'est précisément parce que l'accusation n'était pas encore formulée; car, chez les Juifs, il n'y avait et il ne pouvait y avoir d'autres accusateurs que les témoins.

3487. (L. **22** : 59-62; M. **26** : 73-75; Mc. **14** : 70-72; J. **18** : 26, 27.) Une heure avait été employée à l'interrogatoire de Jésus et à l'audition des témoins. Du vestibule où il était entré, Pierre avait pu voir et entendre une partie au moins de ce qui s'était passé, et il n'était pas homme à dissimuler ses impressions. Quelques personnes donc

(**Luc 22** : 63-65; 66-71. **Matthieu 26** : 67, 68; 63-66. **Marc 14** : 61-64; 65.)
l'ayant remarqué, l'avaient inquiété par les observations qu'elles faisaient sur son compte, lorsque vint un parent de ce Malchus qu'il avait frappé de l'épée. En entendant sortir de sa bouche cette terrible interpellation : « Ne t'ai-je pas vu dans le jardin avec lui? » Pierre eut décidément peur et tout autre aurait eu peur à sa place, car il avait répandu le sang. C'est pourquoi, ô quelle chute! il nia, avec serment et avec des imprécations contre lui-même, d'avoir jamais connu le Seigneur. Et le coq chanta pour la seconde fois. Il n'est pas probable que Pierre l'entendît mieux qu'auparavant : il devait avoir l'esprit trop préoccupé. Mais Jésus n'oubliait pas son pauvre disciple; il avait prié pour lui, et qui, mieux que lui, sut joindre l'action à la prière! Au moment où il vient d'être renié d'une manière si outrageuse, il regarde Pierre : les yeux du Maître et ceux du disciple se rencontrent! Ah! qui dira tout ce qu'il y avait de tendres reproches dans ce regard de Jésus, et tout ce qu'il y eut de confusion sur le front de l'apôtre? Touché jusqu'au fond de l'âme, Pierre sortit aussitôt et pleura amèrement.

3488. (L. **22** : 63-65; M. **26** : 67, 68; Mc. **14** : 65.) Ce qui avait momentanément rapproché le Maître et le disciple dans cette scène de commune humiliation, mais d'une humiliation bien différente, ce fut, me semble-t-il, l'incertitude où dut se trouver le conseil, en voyant que Jésus refusait de répondre sur sa doctrine et qu'il ne se présentait d'ailleurs contre lui aucun témoignage suffisant. De là un temps d'arrêt dans la procédure, temps pendant lequel le Seigneur aurait été conduit quelques moments hors de la salle. Ce serait alors qu'il aurait fait tomber sur Pierre son regard de miséricorde, et alors aussi que ceux qui gardaient Jésus se seraient permis à son égard les plus grandes indignités. Le frapper, lui cracher au visage, lui bander les yeux et lui demander de prophétiser ou de deviner qui le frappait, en entremêlant d'ailleurs tout cela de paroles insultantes et de blasphèmes contre le Saint et le Juste : voilà quelle fut l'impie joie de ces méchants! Par la comparaison des Evangiles, on pourrait croire que cette horrible scène se renouvela lorsque le conseil eut déclaré Jésus digne de mort, et la chose n'est point impossible; dans cette supposition, le troisième reniement de Pierre n'aurait eu lieu qu'à ce moment.

3489. (L. **22** : 66-71; M. **26** : 63-66; Mc. **14** : 61-64.) Le jour commençait maintenant à luire, et qui ne serait saisi à la pensée des événements sur lesquels le soleil, notre soleil, allait répandre sa clarté!

(**Matthieu 27** : 1. **Marc 15** : 1.)

Abandonnant la manière de procéder qu'il avait d'abord suivie, le conseil demanda formellement à Jésus, par la bouche de son président, s'il persistait à se donner pour le Christ. Mais pourquoi cette question puisqu'ils étaient résolus à ne pas croire? C'est ce que le Seigneur leur fit sentir, tout en disant qu'il aurait aussi de son côté des questions à leur présenter, et que, s'il y renonçait, c'était par la raison qu'il connaissait l'obstination de leur mauvais cœur. Sur cela, le souverain sacrificateur l'interpella, au nom du Dieu vivant, de répondre à l'interrogation qu'on lui avait adressée : « Es-tu le Christ, le Fils de Dieu? — Tu le dis, répond le Seigneur. — Tu es donc le Fils de Dieu! — Tu le dis; je le suis. Bien plus, je vous dis que, dans la suite, vous verrez le Fils de l'homme assis à la droite de la Puissance et venant sur les nuées du ciel! » En sorte que, si Jésus avait d'abord refusé de répondre, c'était afin d'imprimer à sa réponse une plus grande solennité, et il craignait si peu de déclarer ce qu'on voulait, qu'il finit même par dire plus qu'on ne lui avait demandé. Les ennemis de Jésus avaient donc ce qu'ils désiraient. Un misérable Nazaréen qui se dit le Christ! Un homme lié de cordes qui se prétend le Fils de Dieu! Quel blasphème! Ce crime méritait la mort et la sentence fut bientôt proclamée, d'une voix confuse qui parut unanime.

3490. (M. **27** : 1; Mc. **15** : 1.) Cependant il s'agissait d'exécuter l'arrêt qu'on venait de porter contre Jésus; mais, pour conserver certaines formes de justice, il fallait le lapider (Lévit. **24** : 10-16) de jour, publiquement, et là se retrouverait le peuple assemblé, ce peuple que les principaux redoutaient. Il en fut d'eux comme il arrive souvent aux méchants : ils marchent, marchent dans le crime, sans penser qu'un moment vient où toute issue échappe. Si seulement le gouverneur romain voulait prendre sur lui cette affaire! Il disposait de moyens d'intimidation qui manquaient à Caïphe et à ses acolytes, et, une fois Jésus entre ses mains, ils étaient sûrs que le peuple ne songerait pas à le lui enlever. Ils résolurent donc de s'adresser à Pilate pour cette exécution; mais ils durent attendre que le jour fût entièrement venu. — Avant de suivre Jésus devant ce second tribunal, nous avons à recueillir quelques instructions des scènes dont nous venons de retracer le souvenir.

3491. Que ne peut la haine de l'impiété et combien d'hypocrisie elle recèle quelquefois! Ils semblent pleins de zèle pour la gloire de l'Eternel, ces sacrificateurs et ces anciens du peuple juif. Ils déchirent leurs

vêtements, en entendant les prétendus blasphèmes de Jésus-Christ; tandis qu'au fond ils haïssent Dieu et tout ce qui le leur rappelle. Voilà le vrai fruit du pharisaïsme et du saducéisme de tous les temps. Ni la vie la plus sainte, ni les réponses les plus douces, ni le droit le plus évident, ni la patience la plus inaltérable ne purent, en aucun siècle, réconcilier les formalistes et les impies avec Jésus-Christ et ses vrais disciples. Dans le but d'atténuer ce qu'a d'odieux la persécution, ils ont toujours su la colorer de quelque prétexte religieux; et, pour qu'on soit traité par eux comme de vils criminels, il suffit qu'on rende témoignage à la vérité de Dieu et qu'on s'oppose à leurs tendances immorales.

3492. Ce fut bien en effet comme un criminel qu'ils traitèrent le Seigneur. Il paraît devant eux lié et escorté par des hommes en armes. Interrogé avec l'indignation qu'excitent les grands forfaits, il est condamné au milieu des frémissements de l'horreur, vraie ou feinte, qu'il inspire; mais, ce qu'on n'aurait pas fait peut-être pour un vrai coupable, on l'insulte et on le maltraite à qui mieux mieux. Ce ne sont pas les principaux eux-mêmes qui commettent ces indignités; toutefois ils les tolèrent et, par conséquent, ils en sont responsables. C'est leur haine que servent tous ces subalternes, et les chefs ne se plaignent pas d'être trop bien servis. Pareilles choses sont arrivées plus tard à une foule de disciples du Sauveur, selon la parole qu'il leur avait dite (Jean **13** : 16 ; **15** : 20).

3493. Quant à lui, quel spectacle à la fois triste et sublime il nous présente! Parlerons-nous de sa patience et de sa fermeté? Nous les connaissons de longue date et elles n'ont rien qui nous étonne. Remarquerons-nous encore une fois le tendre soin qu'il prend jusqu'à la fin de son pauvre disciple Pierre? Mais nous nous y attendions (Jean **13** : 1). Admirerons-nous la majesté de sa personne et de son langage prophétique devant ses juges? Mais nous savons assez que ces derniers avaient beau être assis sur des siéges élevés et lui debout en leur présence, il ne laissait pas d'être Celui qui les jugera au dernier jour. Arrêtons donc plutôt notre pensée sur ce qui constitue, en ce lieu, sa passion proprement dite, et considérons-le comme subissant un jugement à notre place. C'est nous, en effet, qui, par nos péchés, méritons d'être traduits devant un tribunal et de nous y voir condamnés au dernier supplice. C'est nous qui sommes les dignes objets du mépris et de la moquerie. Or, tout ce que nous méritons d'opprobres, est tombé sur Jésus. Il est notre représentant; il a été condamné, afin de nous procurer l'absolution; il a subi l'ignominie,

afin de nous ouvrir le chemin de la gloire! La différence est que, pour le condamner, il a fallu un tribunal composé de juges iniques, et que nous, au contraire, un juge inique pourrait seul nous absoudre.

3494. En ce qui concerne l'apôtre Pierre, son reniement nous offre une grande leçon sur les dangers auxquels on s'expose, avec les meilleures intentions du monde, lorsqu'on est plein de présomption et qu'on n'écoute pas les conseils de la sagesse divine. Je ne partage pas l'opinion de ceux qui trouvent qu'il s'effraya de peu. A la vue des traitements qu'on faisait à son Maître, il lui était permis de croire que, s'il tombait lui-même entre les mains de ces méchants, ils n'auraient garde de l'épargner. Jésus avait prédit à ses disciples de terribles persécutions, et qui pouvait savoir si elles n'allaient pas commencer? Mais, que Pierre eût moins compté sur ses forces, sur ses bonnes intentions, sur l'amour qu'il portait à son Seigneur, et il eût veillé et prié; alors, gardé par l'Esprit de Jésus, il eût évité bien des fautes. Son épée ne serait pas sortie imprudemment du fourreau; il ne se serait pas exposé à la tentation en suivant Jésus chez Caïphe, ou bien il aurait obtenu la grâce de n'y pas succomber. Au lieu de quoi, voilà sa conscience chargée d'un crime énorme (Luc 12 : 9); et, si le Seigneur n'avait fait abonder sa miséricorde là où le péché avait été si grand, c'en était fait de Pierre pour toujours. Mais le bon Berger rappela sa brebis égarée. Comme il y avait dans le fond du cœur de l'apôtre une foi véritable, il sentit vivement sa faute et ainsi commença son relèvement; car il n'y a pas de vrai relèvement sans la repentance.

3495. Si nous avions écrit nous-mêmes cette histoire, nous n'aurions pas manqué de dire ce que fit Jean, tandis que Jésus nous sauvait et que Pierre se perdait. Mais, conduits par l'Esprit de Dieu, les historiens sacrés nous parlent du Seigneur plus que d'eux, et, quand ils parlent d'eux, ils nous racontent plutôt leurs péchés que leur obéissance. Jean, qu'on se représente avec un caractère plus doux et plus timide que celui de son collègue, n'était peut-être pas tel qu'on se l'imagine, à en juger du moins par le surnom que Jésus lui avait donné ainsi qu'à son frère (Marc 3 : 17), comme par l'intolérance, par les dispositions violentes et par l'ambition qu'il manifesta en trois circonstances dont on peut se souvenir [3109, 3114, 3305]. Mais Jean, particulièrement aimé du Seigneur (Jean 13 : 23), fut aussi particulièrement ménagé. Peut-être que, retiré dans un coin, il ne fut remarqué de personne; peut-être, si on le lui demanda, avoua-t-il

(**Luc 23** : 1. **Matthieu 27** : 2. **Marc 15** : 1. **Jean 18** : 28; 28-32.)
franchement ses relations avec Jésus, et fut-il préservé par sa sincérité même; peut-être enfin s'était-il mis à prier pendant que Pierre, tout hors de lui, s'aventurait au milieu du monde. Quoi qu'il en soit, et bien qu'il ne s'en vante pas, tout nous atteste que son cœur était plus près de Jésus et qu'il puisait en sa foi la vraie force; car nous allons le retrouver dans un lieu dont les amis de Jésus osèrent bien peu s'approcher.

## CCLXIV. — Jésus devant Pilate et devant Hérode.

3496. (L. 23 : 1; M. 27 : 2; Mc. 15 : 1; J. 18 : 28.) Pontius Pilatus, chevalier romain, gouverneur de la Judée à cette époque, occupait l'ancien palais d'Hérode, lorsqu'il venait à Jérusalem aux jours des grandes fêtes. La foule d'Israélites qui s'y rassemblait alors faisait toujours redouter quelque révolte, et le représentant de l'empereur s'y rendait avec une forte troupe. Or, quoique Pilate ne se mêlât pas du culte des Juifs ni de leurs débats religieux, il avait sûrement entendu parler de Jésus, et il n'ignorait pas la haine que son nom seul inspirait aux principaux de la nation.

3497. (Jean 18 : 28-32.) Ceux-ci, toujours très scrupuleux en ce qui touchait aux formes, et cela d'autant plus que leur conscience était peu scrupuleuse sur les grands points de la morale, ne voulurent pas entrer dans un palais occupé par des idolâtres, de peur de se souiller. C'était de grand matin. Ce jour était la préparation de la Pâque, la veille d'un grand sabbat; ou parce que, cette année, le sabbat de la Pâque, c'est-à-dire la Pâque elle-même, tombait sur le septième jour de la semaine; ou, comme on le pense généralement, parce que ce sabbat acquérait une importance particulière de ce qu'il était le lendemain de la Pâque. Ainsi la préparation de ce sabbat serait tombée sur le jour de Pâques, et cette préparation aurait eu par là une double solennité. Pilate sortit donc et ils lui présentèrent Jésus comme un malfaiteur qu'il devait, sans autre information, envoyer au supplice. Mais, trop fier pour se constituer leur humble instrument, Pilate exigea qu'ils lui dissent de quel crime on l'accusait. Eux, à leur tour, refusaient de s'expliquer, soit qu'ils y missent aussi une certaine fierté, soit plutôt parce qu'ils avaient qualifié Jésus du nom de malfaiteur, ce qui, devant Pilate, ne pouvait signifier ni un blasphémateur, ni un faux prophète; en sorte qu'il s'agissait d'imputer à

(**Jean 18** : 33-38. **Luc 23** : 3, 4. **Matthieu 27** : 11. **Marc 15** : 2.)
leur victime quelque forfait contre les lois humaines, et, sur ce point pourtant, ils hésitaient, se bornant à répéter que Jésus était un malfaiteur et que, sans cela, ils ne l'auraient pas livré. Pilate comprit tout de suite de quelle espèce de crime l'homme qu'il avait sous les yeux pouvait être accusé par ces gens-là. « Prenez-le vous-mêmes, leur dit-il, et jugez-le selon votre loi. » Ce n'était pas là ce que voulait le conseil [3490]. Aussi les anciens des Juifs rappelèrent-ils au gouverneur qu'il ne leur était pas permis de faire mourir personne; et il est vrai en effet que, sous la domination romaine, le droit de vie et de mort n'appartenait plus à leurs tribunaux en matière civile. Il n'est pas aussi sûr qu'ils l'eussent perdu en matière religieuse, et c'est pour cela que Pilate leur dit : « Jugez-le selon votre loi. » Mais il leur importait de présenter Jésus comme un malfaiteur, dans le sens ordinaire de ce mot, et par là il est clair que toute l'affaire devait revenir aux mains du chef de la province. Ainsi s'accomplit ce que notre Seigneur avait dit sur la nature de son supplice et sur ceux qui le lui infligeraient (Matth. **20** : 18, 19). Exécuté par les Juifs, il eût été lapidé, la peine du crucifiement n'étant usitée que chez les Romains.

3498. Or, de quoi les principaux du peuple accuseront-ils Jésus? Encore une fois, il n'y avait nulle apparence que Pilate s'empressât de faire mourir un homme pour avoir blasphémé un Dieu et une religion que, en sa qualité de Romain et de philosophe, il ne pouvait que mépriser. Mais si l'on parvient à lui persuader que cet homme excite le peuple à la révolte, ils connaissent Pilate et ils ne doutent pas de ce qu'il fera [3207]. C'est pourquoi, cessant leurs hésitations et rejetant toute pudeur, ils le lui dénoncent comme un séditieux qui soulevait la nation et empêchait de payer les impôts à César; comme un usurpateur qui se disait le Christ, le Roi (Luc **23** : 2). Mes lecteurs remarqueront d'eux-mêmes ce qu'il y avait de vrai et de faux dans cette accusation, et comment le faux dont elle était mêlée lui ôtait toute vérité. Ils remarqueront surtout avec quelle adresse ces hommes surent intéresser la politique dans une question toute religieuse, tactique qui n'a que trop souvent été suivie dès lors par les adversaires de l'Evangile.

3499. (J. **18** : 33-38; L. **23** : 3, 4; M. **27** : 11; Mc. **15** : 2.) Pilate étant rentré dans le prétoire afin d'interroger Jésus en particulier, lui demanda s'il prétendait effectivement à la qualité de roi des Juifs. Pour éviter toute méprise, le Seigneur voulut que Pilate dît s'il entendait la chose au sens romain ou au sens juif; c'est-à-dire, s'il

(**Marc 15** : 2, 3-5. **Jean 18** : 38. **Luc 23** : 4, 5. **Matthieu 27** : 12-14.)
avait en vue une royauté dans le genre de celle que possédait l'empereur, ou la royauté spirituelle qu'avaient annoncée les prophètes. Naturellement, Pilate lui fit observer qu'il n'était pas Juif, et que si on l'avait déféré à son tribunal, il fallait bien que ce fût pour avoir aspiré à la royauté, dans le sens ordinaire du mot. Cela expliqué, Jésus déclare à son juge qu'il est réellement roi, mais que son royaume n'est pas à la manière des royaumes de ce monde. Pour preuve, il lui fait remarquer qu'il aurait pu armer ses nombreux adhérents, de la main desquels il avait jadis refusé la couronne [3065]; mais le règne qu'il est venu inaugurer est d'une nature toute spirituelle : il a pour base la vérité et non la force; c'est de la vérité qu'il tire toute sa puissance.

3500. (Marc **15** : 2.) Pilate, évidemment intéressé par ce qu'il venait d'entendre, fit à Jésus une question fort sérieuse, mais qui n'était plus celle d'un juge à un prévenu, tant il y avait d'autorité dans la parole du Seigneur. Il lui demanda ce que c'était que la vérité. Beaucoup de philosophes avaient épuisé leur génie à la recherche du vrai; en sorte que, au temps de Pilate, un doute universel s'était emparé des esprits, et le chevalier romain, élevé dans les écoles du siècle, eut un moment l'idée que l'homme simple et grave qu'il avait devant lui saurait peut-être lui dire enfin où se trouve la vérité. Mais quelle apparence qu'un misérable Juif eût dépassé les Socrate et les Aristote et les Zénon et tant d'autres! Emporté donc par la légèreté d'un homme du monde, pressé d'ailleurs d'en finir au sujet d'une affaire dont il aperçut tout de suite l'odieux, Pilate sortit pour déclarer qu'il ne trouvait en Jésus aucun sujet de condamnation.

3501. (J. **18** : 38; L. **23** : 4, 5; M. **27** : 12-14; Mc. **15** : 3-5.) Cependant, une foule considérable s'était assemblée devant le prétoire. Jusqu'à ce moment, on avait fait le moins d'éclat possible; et même, à cette heure matinale, il s'en fallait bien que toute la population de Jérusalem pût savoir ce qui se passait. Pourtant il est facile de comprendre que, dans cette grande ville, regorgeant de Juifs étrangers à l'époque de fêtes, le rassemblement pouvait être alors déjà fort nombreux. Ce fut devant tout ce monde que Pilate proclama l'innocence de Jésus. Contrariés et exaspérés, comme on le conçoit, les principaux du peuple insistèrent en disant que, depuis la Galilée jusqu'à Jérusalem, cet homme n'avait cessé de soulever le peuple. Ils ajoutaient à cela plusieurs autres griefs, disant tout ce que la passion la plus aveugle pouvait leur inspirer. C'est pourquoi le Sei-

gneur ne fit nulle réponse, au grand étonnement de Pilate. Mais Jésus avait dit tout ce qu'il avait à dire; ce qu'il aurait ajouté n'eût fait qu'enflammer toujours plus la haine de ses adversaires.

3502. (Luc 23 : 6-16.) Le gouverneur éprouvait un embarras manifeste. Il voyait bien que Jésus était accusé injustement; mais plus on se montrait passionné contre l'innocent, moins il osait rompre en visière aux chefs de la nation. Il était leur maître, sans doute; d'ordinaire, ces misérables tremblaient devant lui; mais il faut dire aussi que Pilate s'était rendu coupable dans son gouvernement de malversations si énormes, qu'il avait besoin de ménager des gens qui, à l'occasion, pouvaient le perdre auprès de l'empereur. Il aurait voulu, comme tant de magistrats faibles, protéger l'innocence, toutefois sans se compromettre, ou, pour me servir d'une expression bien connue, sans se faire des ennemis. Il cherchait donc quelque moyen de se tirer de là, lorsque, ayant entendu prononcer le mot de Galilée, il se souvint fort à propos qu'Hérode, avec lequel d'ailleurs il était en de très mauvais termes, y exerçait une sorte de juridiction, et que cet Hérode était maintenant à Jérusalem pour la fête : aussitôt donc il lui envoya Jésus.

3503. C'était le même Hérode qui avait fait décapiter Jean-Baptiste; Hérode Antipas, fils de celui qui avait tenté d'étouffer le Christ dans son berceau. Vous vous souvenez que notre Seigneur s'était toujours tenu éloigné de ce prince, comme au reste des grands de ce monde; aussi, quand Hérode apprit qu'on le lui amenait, il ressentit une grande joie. Mais ce n'était pas la joie d'un pécheur qui soupire après des paroles de salut; c'était la joie de l'homme léger qui cherche partout du plaisir, afin d'amuser sa conscience agitée. Il espérait que Jésus lui donnerait le spectacle de quelque merveille. Il avait sous les yeux la plus grande de toutes; mais son cœur était trop enveloppé de ténèbres pour y prendre garde. Il fit donc à Jésus diverses questions, la plupart sans doute fort oiseuses, et le Seigneur demeura devant lui bouche close, parce qu'il savait bien à quoi tout cela devait aboutir. Les chefs du peuple, de leur côté, qui n'avaient eu garde de perdre de vue leur victime, durent être fort surpris de ce qu'Hérode, au lieu de faire droit à leurs accusations de plus en plus excessives, finit par se moquer de Jésus avec son entourage et par le renvoyer purement et simplement à Pilate. Toutefois, les égards que le gouverneur semblait avoir montrés à Hérode dans cette affaire, rapprochèrent celui-ci du représentant de l'auto-

(**Luc 23** : 17-22. **Matthieu 27** : 15-23. **Marc 15** : 6-14. **Jean 18** : 39, 40.)
rité romaine, et ces deux hommes devinrent amis : comme on voit encore les gens les plus opposés de caractère et de convictions se donner la main dans une haine commune contre l'Evangile.

3504. (L. **23** : 17-22; M. **27** : 15-23; Mc. **15** : 6-14; J. **18** : 39, 40). Quand Jésus eut été reconduit au prétoire, Pilate fit venir les principaux Juifs et leur exprima l'impossibilité où il se voyait de condamner un homme que ni Hérode ni lui ne trouvaient criminel. Mais, pour leur donner quelque satisfaction, il annonça qu'il allait lui infliger la peine du fouet. C'était une lâcheté de la part de Pilate, et de plus, une véritable iniquité; mais on y voit du moins que sa conviction sur l'innocence du Seigneur et sur l'injustice de la haine de ses accusateurs était pleine et entière. A ce moment, le peuple, poussé peut-être par quelques amis secrets de notre Sauveur, fit ressouvenir à Pilate que, selon la coutume de la fête, il devait leur relâcher un prisonnier, et Pilate saisit avec empressement le nouveau moyen qui s'offrait à lui pour sortir d'embarras. Les prisons renfermaient un voleur fameux qui avait excité une sédition et trempé dans un meurtre commis à Jérusalem. Cet homme, peu intéressant à coup sûr, pouvait bien compter quelques partisans au sein de la populace; mais Pilate ne doutait pas que, s'il fallait choisir, le peuple ne se prononçât pourtant en faveur de Jésus, comme s'il n'arrivait pas sans cesse, dans le monde, qu'on préfère à un homme pieux le méchant le plus déterminé. Pilate tenait d'autant plus à la réussite de son plan, qu'il venait de recevoir un avis auquel, superstitieux à la manière des païens, même philosophes, il attachait une grande importance. Sa femme avait eu un songe fort pénible au sujet de ce Jésus dont elle avait aussi ouï parler, et elle suppliait son mari de prendre garde à ce qu'il allait faire de cet homme.

3505. Cependant les sacrificateurs et les scribes s'acharnant sur leur sainte victime, travaillèrent tellement la multitude, qu'ils parvinrent à lui faire demander la libération de l'indigne Barrabas. Oh! comme ils se vengeaient des censures que Jésus leur avait adressées, et comme, en même temps, ils les justifiaient! « Que voulez-vous donc que je fasse de ce Jésus, appelé le Christ et qui se dit votre roi? — Fais-le mourir! Crucifie-le! » tel fut le cri de la foule qui, à l'instigation de ses chefs, ne se montrait pas moins cruelle, ni moins impie qu'eux. « Impossible! » répond Pilate, car il n'a rien fait qui mérite la mort. C'est pourquoi, j'en reviens à ma première idée : il sera battu de verges, après quoi je le relâcherai. » Battu de verges!

(**Jean 19** : 1-3; 4-15. **Matthieu 27** : 27-30. **Marc 15** . 16-19. **Luc 23** : 23.)
c'est-à-dire, remis aux mains de la troupe, afin que chaque soldat fasse tomber, à son tour, sa baguette sur le dos du patient, ou que, attaché à une colonne, ses épaules mises à nu reçoivent les coups multipliés de lanières de cuir, armées d'éperons en fer aiguisé. Battu de verges! c'est-à-dire, livré à la colère d'hommes impitoyables, auxquels il sera permis de le déchirer jusqu'au sang et d'ajouter à la souffrance physique les outrages les plus grossiers!

3506. (J. **19** : 1-3; M. **27** : 27-30; Mc. **15** : 16-19.) La chose se passa de cette manière. Le Seigneur fut mis à la merci de la cohorte romaine qui formait la garnison de Jérusalem, et ces fiers soldats, jaloux de la gloire et de la puissance de leur empereur, dont on leur disait que Jésus avait songé follement à renverser le trône, le couvrirent d'insultes, après l'avoir flagellé. Ils lui affublèrent, par dérision, les insignes du pouvoir royal et, reprenant de sa main le jonc qu'ils y avaient mis en guise de sceptre, ils frappaient sur sa tête, où ils enfonçaient ainsi les épines de sa couronne! Au milieu de tout cela, le Seigneur n'ouvrit pas la bouche; son sang coulait, mais ses douleurs ne lui arrachaient ni murmures, ni menaces.

3507. (J. **19** : 4-15; L. **23** : 23.) Ce fut dans ce triste état que Jésus, conduit par Pilate lui-même, reparut devant la multitude. Le Romain, tout païen qu'il était, pensait qu'un tel spectacle amollirait les Juifs et éteindrait leur haine. Mais il ne connaissait pas le cœur de l'homme. Il ne savait pas que, plus on accorde aux passions, plus elles deviennent exigeantes. Les chefs et leurs adhérents, excités par la vue du sang, continuaient à demander avec violence la mort de Jésus. Ils le tenaient maintenant, et ils n'étaient pas gens à laisser échapper leur proie. Comme Pilate répétait encore qu'il ne trouvait aucun crime en lui, ils articulèrent enfin l'accusation qu'ils avaient tue jusqu'à cette heure. « Il ne s'agit pas de savoir ce que tu en penses. Nous avons une loi, et, d'après cette loi, il doit mourir, parce qu'il prétend être le Fils de Dieu. » C'était le moment, pour Pilate, de leur redire : « Eh! bien, jugez-le vous-mêmes. » Mais, après ce qui venait de se passer dans la cour du prétoire, il ne pouvait guère se récuser; puis, il faut dire que les dernières paroles des dénonciateurs de Jésus lui avaient causé une émotion qui imprima un nouveau cours à ses pensées.

3508. Les païens, dans leurs fables, racontaient que les dieux étaient souvent descendus sur la terre et que plusieurs hommes illustres avaient été leurs fils. Il paraît que Pilate se demanda si Jésus

(**Jean 19** : 16. **Luc 23** : 24, 25. **Matthieu 27** : 24-26. **Marc 15** : 15.)
n'était pas un de ces demi-dieux, ou de ces héros issus de quelque divinité. C'est pour cela qu'il voulut savoir précisément d'où il était, ou, en d'autres termes, quelle était son extraction. Le Seigneur désirait d'en finir; Pilate devait être suffisamment éclairé; sa question partait d'idées absurdes que ce n'était pas le moment de réfuter : Jésus garde donc le silence, et, Pilate s'en étonnant, le Seigneur lui fait ouïr une parole où brille de nouveau toute sa charité, en même temps qu'elle aurait dû, semble-t-il, réveiller la conscience du gouverneur romain. Comme celui-ci parlait de son pouvoir, Jésus lui rappelle un pouvoir supérieur au sien; et, tout en lui reprochant indirectement de méconnaître l'autorité d'en haut, il lui dit pourtant, par un ménagement bien admirable, qu'il y avait des hommes plus coupables que lui : on comprend de qui il voulait parler.

3509. (J. **19** : 16; L. **23** : 24, 25; M. **27** : 24-26; Mc. **15** : 15.) Enfin Pilate se présente pour la dernière fois sur son tribunal, érigé au milieu de la place publique, selon la coutume des Romains; il essaye encore de délivrer Jésus; on le menace indirectement de le dénoncer à César; le tumulte croît autour de lui; il hésite un instant : il succombe. Puis, il fait apporter de l'eau et s'en lave les mains, comme pour les nettoyer de ce crime. Le peuple crie : « Que son sang soit sur nous et sur nos enfants! » et Pilate leur livre Jésus pour le crucifier. Quant à Barrabas, il est élargi.

3510. Quel tableau que celui qui vient de se dérouler à nos yeux : l'histoire n'en offre point de pareil. Au premier plan, nous avons le Seigneur Jésus-Christ, placé au-dessous d'un malfaiteur et néanmoins toujours grand, toujours vrai et plein de charité, toujours admirable par sa douceur et sa patience; victime sainte dont le sang coule dans la cour du prétoire, comme il avait coulé en Gethsémané. Près de lui, successivement, deux grands de ce monde, Pilate et Hérode, l'un païen, l'autre Juif; celui-ci plus dégradé que celui-là : léger, moqueur, profane, tandis que Pilate se montre plutôt faible, parce qu'il ne connaît pas Dieu, parce qu'il n'a pas la conscience nette, parce que sa moralité n'est pas assez élevée pour dominer les passions de la multitude. Autour de son tribunal, qu'ils assiégent, sont les sacrificateurs et les anciens d'Israël, hypocrites, rusés, si ardents à satisfaire leur haine, qu'en vue de leur but, ils vont jusqu'à feindre un grand zèle pour les intérêts de l'empereur, bien qu'ils détestent son autorité; et cet empereur était l'odieux Tibère. Enfin, sur la place Pavée, où se dresse le tribunal de Pilate, nous voyons un peuple immense

que les intrigues des chefs poussent, agitent, fanatisent et qui appelle hardiment sur lui-même et sur sa postérité les jugements de Dieu, pour prix du sang dont il réclame l'effusion !

3511. Et si vous me demandiez comment il s'est fait que la mort de Jésus ait été sollicitée avec tant d'instances par ce même peuple qui, cinq jours auparavant, l'avait introduit en triomphateur dans Jérusalem, je vous répondrais que ce ne fut pas, les deux fois, la même portion du peuple. Là était essentiellement la foule joyeuse des Israélites venus des provinces pour la fête, la multitude des disciples (J. 12 : 12; L. 19 : 37); ici, nous avons plutôt les Juifs de la ville et probablement la lie de son immense population. Qu'il y ait eu parmi eux quelques hommes qui, après avoir crié : Hosanna! hosanna! crient maintenant : « Crucifie-le! » ou comme on dirait de nos jours : A bas! à bas! c'est ce qui est très possible. Toûjours est-il que là où les hommes se comptent par centaines de milliers, il y a foule pour toutes choses et pour tous les partis.

3512. Si vous me demandiez encore ce qu'étaient devenus, au milieu de cela, les disciples et les partisans du Seigneur, je vous répondrais que beaucoup d'entre eux devaient ignorer ce qui se passait dans cette lugubre matinée. Plusieurs sans doute étaient montés au temple et y attendaient Jésus. Quant à ceux qui se trouvaient mêlés avec la foule du prétoire, la tristesse, la crainte, que sais-je? le doute même devaient leur fermer la bouche; et qu'est-ce que les plus sages d'entre eux avaient de mieux à faire, si ce n'est de prier dans leur cœur, en regardant à Jésus?

## CCLXV. — Désespoir de Judas. Jésus à Golgotha.

3513. (Matth. 27 : 3-10.) Judas, qu'une terrible fièvre devait consumer, attendait avec des angoisses faciles à concevoir la fin de ce procès sans exemple. Il se persuadait que Jésus échapperait de quelque manière à la haine des Juifs. La chose est évidente; car en apprenant la condamnation de son bon Maître, il se repentit et reporta les trente pièces d'argent aux principaux sacrificateurs et aux anciens. « J'ai péché, leur dit-il, j'ai péché, en livrant un sang innocent. » Si nous ne savions déjà qu'il y a plus d'une sorte de repentance, ce récit nous l'apprendrait de reste [1386, 1954]. Judas se repentit à la manière de Saül ou d'Achab, ou plutôt encore à la manière d'Ahitophel [1572]. Il s'approche plus qu'eux, je l'admets, de la vraie repen-

tance, puisqu'il restitue le fruit de son crime et qu'il répare ses torts autant qu'il lui était possible, en déclarant publiquement l'innocence de celui qu'il avait livré ; il dit même comme l'enfant prodigue : J'ai péché ; néanmoins cela ne suffit pas pour donner à sa douleur le caractère de celle d'un enfant de Dieu. Ce furent des regrets, des remords, une certaine repentance, si l'on veut, mais une repentance toute charnelle, une repentance morte comme l'était sa foi. Ce qui le prouve, c'est la suite.

3514. « Que nous importe, lui dirent ceux qui avaient profité de sa trahison, tu y pourvoiras. Arrange-toi comme tu le voudras; c'est ton affaire, cela ne nous regarde pas.... » Ainsi parle le monde aux âmes qu'il a perdues. O vous qui vous laissez entraîner par les séductions des méchants, ne pensez pas qu'ils s'inquiéteront beaucoup de vos angoisses quand le remords viendra. Pour qu'ils pussent vous débarrasser de l'aiguillon du péché, il faudrait qu'ils n'eussent pas eux-mêmes à soutenir les assauts de la conscience; et plaise à Dieu que votre fin ne soit pas alors comme celle de Judas. Au lieu d'aller vers Jésus, qui seul pouvait lui parler de paix et lui faire trouver grâce, vers ce Jésus qui avait dit autrefois devant Judas : « Je ne mettrai point dehors ceux qui viendront à moi, » et encore : « Tout blasphème contre le Fils de l'homme peut être pardonné » (J. 6 : 37; M. 12 : 31, 32), le malheureux Judas, jusqu'au bout victime de Satan, qu'il avait écouté plus que le Seigneur, s'échappe du temple et va s'étrangler. Ah! pour le répéter, voilà donc où peut conduire une passion, une seule, la plus commune, lorsqu'on en fait sa vie et qu'on se laisse dominer par elle.

3515. De cet argent, que Judas jeta dans le temple aux pieds des sacrificateurs et des anciens, ils achetèrent le champ d'un potier pour servir de sépulture aux étrangers. Ces hypocrites! Habitués à avaler le chameau et à filtrer le moucheron (Matth. 23 : 24), ils ne s'étaient fait aucun scrupule de payer une trahison, et maintenant ils tiennent pour profane la somme qui en avait été le prix. Toutefois, dans cet acte même, ils accomplirent, sans y songer, une prophétie bien frappante de l'Ancien Testament (Zach. 11 : 12, 13). Cette prophétie est attribuée à Jérémie, soit par une très ancienne faute de copiste, soit peut-être parce qu'on désignait l'ensemble des derniers prophètes sous le nom du principal d'entre eux, comme nous disons les Psaumes de David, bien qu'ils ne soient pas tous de lui, ou comme Jésus-Christ lui-même a dit « *la loi,* » pour désigner l'Ancien Testament (Jean 10 : 34).

(**Luc 23** : 26-46. **Matthieu 27** : 31-50. **Marc 15** : 20-37. **Jean 19** : 17-30.) Quoi qu'il en soit, la prophétie existait, obscure, il est vrai, mais suffisamment précise, et l'accomplissement, opéré par le concours de tels hommes, est des plus remarquables. — Tout ceci est raconté par Matthieu d'abord après le reniement de Pierre, dans une intention de rapprochement facile à discerner; car, quel contraste entre la repentance du présomptueux et celle du traître! Ces événements, toutefois, ne durent se passer que plus tard dans la matinée, puisqu'il se trouvait déjà au temple des sacrificateurs et des anciens. On comprend d'ailleurs qu'il devait rester à Judas quelque espérance, aussi longtemps que Pilate n'avait pas prononcé. Mais que sont, hélas! les espérances qui ne reposent pas sur une vraie foi!

3516. (L. **23** : 26-46; M. **27** : 31-50; Mc. **15** : 20-37; J. **19** : 17-30.) Les Juifs avaient conduit Jésus devant Pilate à la naissance du jour; mais, dans ces climats, les crépuscules sont de courte durée, en sorte que le soleil était sûrement levé quand le gouverneur parut. Ce pouvait être donc environ six heures du matin. Le débat fut long, pénible, orageux; l'incident du renvoi de Jésus à Hérode dut prendre assez de temps; aussi l'arrêt définitif ne fut-il prononcé que dans la seconde moitié de la matinée, assez tard. En disant que c'était la troisième heure, Marc nous apprend en effet que ce fut dans la seconde moitié de la matinée; car on désignait quelquefois de la sorte, l'intervalle de neuf heures du matin à midi, parce que cette portion de la journée commençait à la troisième heure, l'heure sainte du sacrifice. Jean, de son côté, fait connaître que ce fut assez tard dans cette portion du jour, en disant que c'était environ la sixième heure ou midi. On peut donc estimer que le crucifiement eut lieu entre neuf heures et midi, mais plus près de midi que de neuf heures; et si Marc, pour indiquer le moment, se sert d'une détermination assez vague, c'est probablement par l'avantage qu'elle offrait de rappeler qu'en ce temps même on venait d'offrir, dans le temple, l'holocauste perpétuel du matin, un des beaux types du sacrifice de Jésus-Christ [822].

3517. Il n'est pas de supplice à la fois plus infamant ni plus douloureux que celui de la croix. La loi de Moïse y avait attaché une flétrissure particulière (Deut. **21** : 22, 23). Les Romains, chez lesquels il était en usage, ne l'infligeaient qu'aux esclaves et aux plus grands criminels; encore fallait-il que ceux-ci ne fussent pas citoyens de Rome. L'opprobre de ce supplice consistait surtout en ce que le malheureux qui le subissait, demeurait exposé pendant un temps fort long à la vue et aux insultes du public. Cette souffrance morale pou-

(**Jean 19** : 17. **Luc 23** : 26. **Matthieu 27** : 31, 32. **Marc 15** : 20, 21.)
vait n'être que peu de chose pour des hommes endurcis à toute honte : il s'y ajoutait, quoi qu'il en fût, des souffrances physiques qui devaient être vraiment atroces. Suspendu par les mains et les pieds; cloué de cette manière à deux pièces de charpente, l'une verticale et l'autre horizontale, le patient mourait bien moins par la perte du sang qui coulait de ses plaies, que par les déchirements et les convulsions horribles qui, dans cet état d'immobilité forcée, devaient finir par briser sa vie. Mais la lutte était longue quelquefois, et l'on a vu des crucifiés supporter cette torture pendant cinq ou six jours.

3518. Tel fut le genre de mort auquel notre Seigneur se dévoua pour l'amour de nous et dont il avait fait lui-même le choix, comme le prouvent maintes prophéties et les paroles sorties plus d'une fois de sa bouche (M. **20** : 19; **26** : 2; J. **3** : 14; **8** : 28; **12** : 32, 34). Cependant, si les Juifs, je le répète, avaient eux-mêmes exécuté leur arrêt, Jésus eût été lapidé et non crucifié. Mais, par là, sa mort eût été moins cruelle et moins ignominieuse tout à la fois; ses os eussent été brisés (Ex. **12** : 46); son corps, recouvert d'un monceau de pierres, n'aurait pu être enseveli, et il eût été bien plus difficile de constater sa résurrection : surtout, son sang n'aurait pas coulé à la vue de tout le peuple, et Jésus n'aurait pu, au moment de sa mort, prononcer les belles paroles que nous allons étudier, paroles qui achèveront de nous montrer ce qu'il est et ce qu'il a fait pour nous. Or, remarquez par quelle suite admirable d'événements les prophéties relatives à ce point de détail se sont accomplies. Pour que le Christ fût crucifié, il fallait, entre autres grandes choses, que les Romains se rendissent maîtres de la Judée. Lors donc que la quatrième monarchie prédite par Daniel prit pied dans l'Orient [2573, 2585], celui qui aurait compris les prophéties comme nous les comprenons, maintenant qu'elles sont réalisées, aurait pu voir, dans ce fait inattendu, le moyen par lequel Dieu préparait l'œuvre de notre rédemption, œuvre plus grande que la conquête de l'Asie par la république romaine. Et quelle merveille vraiment, que d'aveugles païens, amenés de si loin dans le pays de la promesse, aient planté cette croix même qui est devenue l'arbre de vie pour tant de pécheurs!

3519. (J. **19** : 17; L. **23** : 26; M. **27** : 31, 32; Mc. **15** : 20, 21.) Le lieu dans lequel notre Seigneur dut être crucifié se trouvait hors de la ville, et ainsi s'accomplit le type du bouc émissaire [887]. Cet endroit s'appelait en hébreu Golgotha ou la place du Crâne, le Calvaire. Après que les soldats eurent dépouillé Jésus du manteau d'écarlate,

(**Luc 23** : 27-31 ; 32. **Matthieu 27** : 38. **Marc 15** : 27, 28. **Jean 19** : 18.)
ils l'emmenèrent, chargé de sa croix, selon la coutume. C'était un lourd fardeau pour le Seigneur, qui ne fit jamais de miracle dans le but d'alléger sa peine. Il n'avait pris aucune nourriture depuis la veille ; or, si vous repassez dans votre souvenir ses fatigues et ses douleurs de la nuit et de la matinée, vous comprendrez qu'il dût succomber sous le faix. Aussi eut-on pitié de ses genoux fléchissants ; et, afin de le soulager, on contraignit le premier homme venu à porter sa croix et à marcher derrière lui. Cette tâche, ignominieuse aux yeux de la chair, mais honorable pour la foi, fut imposée à un nommé Simon, Juif, de Cyrène [2567], qui, logé à la campagne, rentrait seulement alors dans la ville, ignorant sans doute ce qui s'y était passé. Il résista d'abord, et cela se conçoit ; mais, si cet homme était un disciple de Jésus, il ne dut pas tarder à sentir son bonheur. Et nous, quand nous nous verrons exposés à quelque opprobre pour le nom de Christ, souvenons-nous du bienheureux Simon de Cyrène.

3520. (Luc **23** : 27-31.) Vous pouvez bien croire que la foule amoncelée devant le prétoire n'avait pas diminué, et qu'elle se grossit encore pendant la marche. Des femmes, souvent plus courageuses et moins menacées en de telles conjonctures, plus désireuses aussi de fortes émotions, cheminaient assez près de Jésus, dont elles n'étaient probablement séparées que par les soldats. En contemplant cette victime de l'iniquité, elles ne pouvaient retenir leurs larmes. Jésus se tourna de leur côté, et il leur adressa des avertissements qui attestent que, dans ce moment suprême, il était moins occupé de son propre sort que de celui des autres. Les paroles du Seigneur ont d'ailleurs un rapport trop étroit avec les cris horribles de la multitude (Matth. **27** : 25) et avec ses propres prédictions sur la ruine de Jérusalem, pour que j'aie besoin de le faire observer. Mais elles ont une plus grande portée encore. Jésus est le bois vert, plein de sève et de bons fruits, qui, naturellement, n'était pas destiné au feu ; mais nous, hélas ! nous sommes tout le contraire. Or, s'il a souffert de tels maux quand il s'est donné pour nous, que nous arrivera-t-il, pensez-vous, si nous rejetons son salut, ou si nous n'y croyons que d'une foi morte ?

3521. (32 ; J. **19** : 18 ; M. **27** : 38 ; Mc. **15** : 27, 28.) Il y avait deux criminels qu'on menait au supplice en même temps que Jésus. Ce n'était point fait à dessein d'augmenter sa honte ; car on avait sans doute la coutume, qui ne s'est que trop conservée, de procéder aux exécutions criminelles les jours où il y avait le plus de peuple ras-

(**Matthieu 27** : 33, 34. **Marc 15** : 22, 23. **Luc 23** : 33, 34.)

semblé. Il semble toutefois qu'on prît à tâche d'accomplir de point en point toutes les prophéties (Es. 53 : 12); or il est sûr qu'on n'y songeait guère, et l'accomplissement n'en est que plus remarquable.

3522. (M. 27 : 33, 34; Mc. 15 : 22, 23.) Quand vint le moment de crucifier Jésus, on lui offrit une boisson qui devait avoir pour effet de l'étourdir, sinon de l'enivrer, afin qu'il sentît moins vivement la douleur. On fit probablement la même chose aux deux criminels. Notre Seigneur ayant approché la coupe de ses lèvres, afin qu'on vît qu'il savait bien ce qu'on lui présentait, refusa positivement d'en boire. Non-seulement il ne convenait pas qu'il atténuât d'une manière quelconque les souffrances qu'il avait à endurer pour l'expiation de nos péchés, mais en outre il était impossible qu'il se plaçât dans une situation où il n'aurait plus eu l'entier usage de ses facultés. C'est ainsi que nous devons éviter nous-mêmes, dans nos maladies, l'emploi de remèdes qui ne peuvent, sans troubler l'âme, endormir les souffrances du corps.

3523. (Luc 23 : 33, 34.) Ce fut donc alors qu'on crucifia notre Seigneur. Après l'avoir dépouillé de ses vêtements, on le coucha sur une poutre, les bras étendus sur une autre poutre transversale et, à grands coups de marteau, ô horreur! on enfonça des clous dans ses mains et dans ses pieds. Cela fait, on éleva la croix, on la ficha en terre, et notre Seigneur demeura suspendu, porté tout entier par les clous qui déchiraient ses mains et ses pieds, parties du corps où les moindres blessures causent quelquefois d'affreuses douleurs. Or, pendant qu'on le martyrisait ainsi, Jésus avait prononcé cette sublime prière : « Père! pardonne-leur; car ils ne savent ce qu'ils font. » En parlant de la sorte, notre Seigneur ne disait pas que ces hommes fussent sans péché; car s'ils avaient été tels, il n'y aurait pas eu besoin d'implorer leur pardon. Puis, il est permis de penser que ce n'était pas en faveur de Caïphe et de ses pareils que Jésus venait d'intercéder. Ces hypocrites, sans doute, n'avaient pas mesuré toute l'étendue du mal dont ils se rendaient coupables, et, dans un autre sens, ils ne pressentaient pas l'immensité du bien qu'ils faisaient involontairement; toujours est-il qu'il y avait chez eux plus d'iniquité que d'ignorance. Restaient les soldats et beaucoup de gens entraînés et séduits; or nous verrons bientôt comment la prière du Sauveur fut exaucée pour plusieurs d'entre eux. Il est sûr, en tout cas, que sa mort a expié premièrement nos péchés d'ignorance; mais ces péchés mêmes ne sont pardonnés qu'à ceux qui croient en lui.

(**L. 23** : 38 : 34 ; 35-37. **M. 27** : 37 ; 35, 36 ; 39-43. **Mc 15** : 26 ; 24 ; 29-32. **J. 19**.)

3524. (38; M. **27** : 37; Mc. **15** : 26; J. **19** : 19-22.) C'était la coutume de marquer, au-dessus de la croix, en aussi peu de mots que possible, la cause de la condamnation des suppliciés. Pilate fit donc écrire sur celle de Jésus : « Celui-ci est Jésus de Nazareth, le roi des Juifs, » ce qui, dans sa pensée, revenait à dire : « Voilà comment les Romains traitent un homme qui se prétend roi des Juifs. » Mais les sacrificateurs, effrayés de l'impression que pouvait produire sur le peuple une inscription conçue en ces termes, coururent au prétoire, sollicitant de Pilate la correction de l'écriteau. Le gouverneur, ennuyé de leurs instances et jaloux de se montrer ferme en quelque chose, déclara que ce qui était écrit demeurerait écrit. Il résulta de là que, sans trop y songer, Pilate rendit jusqu'à la fin un éclatant témoignage à Jésus-Christ; et, comme s'il eût voulu le proclamer roi devant tous les peuples de la terre, il avait fait rédiger l'inscription, non-seulement dans l'idiome du pays, mais encore dans les deux langues qui, à cette époque, se partageaient la plus grande partie du monde connu.

3525. (L. **23** : 34; M. **27** : 35, 36; Mc. **15** : 24; J. **19** : 23, 24.) Les soldats païens rendirent à Jésus un témoignage plus éclatant encore et d'une manière bien plus involontaire. La dépouille des suppliciés leur appartenait. Ils se mirent donc à partager les vêtements de Jésus : tout ce qu'il possédait. Ils étaient quatre qui l'avaient cloué sur la croix. Il paraît qu'ils décousirent son manteau pour en faire des lots; mais comme sa tunique était d'une espèce de tricot ou de feutre sans couture, ils la laissèrent intacte et la tirèrent au sort. Par là, ils accomplirent une prophétie dont ils ne pouvaient avoir aucune connaissance, Dieu voulant que les bourreaux mêmes du Seigneur le signalassent comme le Christ annoncé par David et par les prophètes (Ps. **22** : 18).

3526. (L. **23** : 35-37; M. **27** : 39-43; Mc. **15** : 29-32.) D'autres prédictions s'accomplirent aussi d'une façon bien inattendue. La foule qui entourait le bois maudit, de plus en plus excitée par les chefs, insultait Jésus, se moquait de lui et le défiait de descendre de cette croix, offrant, par dérision, de croire en lui s'il opérait ce nouveau miracle. Or, habitués qu'ils étaient au langage de la Bible, et l'employant sans trop y prendre garde, comme le font beaucoup d'incrédules de nos jours, ils insultaient et provoquaient Jésus dans les termes mêmes que le Saint-Esprit avait dictés à David, lorsqu'il dut prédire ces mystérieuses scènes de la croix (Ps. **22** : 7, 8). Ainsi tous

(**Luc 23** : 39-43. **Matthieu 27** : 44. **Marc 15** : 32. **Jean 19** : 25-27.)
s'accordaient pour le glorifier au sein de l'ignominie (Jean **12** : 28; **17** : 1).

3527. (L. **23** : 39-43; M. **27** : 44; Mc. **15** : 32.) Entraînés par les cris de la multitude, exaspérés par leurs souffrances, irrités probablement par la patience de Jésus si différente de leurs blasphèmes, échauffés aussi par la liqueur enivrante qu'on leur avait fait boire, les criminels crucifiés avec lui, l'un à sa droite, l'autre à sa gauche, se mirent également à l'insulter, car aucun opprobre ne devait lui faire défaut. L'injure était grave, en ce qu'ils traitaient Jésus de pair à compagnon, et cette injure est dans le cœur de quiconque voudrait être sauvé par lui, tout en vivant de la vie du péché. D'abord, les deux malfaiteurs tinrent le même langage; mais pour l'un d'eux ce ne fut que l'erreur d'un instant, et voilà sans doute pourquoi Luc ne fait pas mention de la première circonstance. Touché par la grâce du Seigneur, celui qu'on appelle « le bon brigand, » ne tarda pas à montrer les dispositions d'un cœur vraiment renouvelé. Il reprit d'un ton grave le complice de ses crimes, et, reconnaissant la justice de leur jugement, il proclama l'innocence de Jésus. Non-seulement cela, mais, éclairé par une lumière divine, il vit en lui le Messie dont il avait ouï parler dès son enfance; puis, avec une foi qui ne laisse rien à désirer, il lui dit : « Seigneur, souviens-toi de moi, quand tu seras dans ton règne. » Ce fut là-dessus que Jésus lui fit une promesse qui est comme le complément des paroles de grâces qu'il avait prononcées en de semblables occasions (Luc **5** : 20; **7** : 48) : « En vérité, je te dis que tu seras aujourd'hui avec moi dans le paradis, » c'est-à-dire dans le véritable Eden. Il voulut ainsi que ses souffrances et sa mort prochaine eussent pour premier fruit la conversion et le salut d'un homme envisagé avec justice comme un très grand pécheur; il voulut par un fait si frappant confirmer la vérité qui résume tout l'Evangile (J. **1** : 29; L. **19** : 10; J. **5** : 24; **11** : 25); et pourtant, il n'y a rien là qui puisse endormir notre conscience à nous, car enfin le brigand se convertit aussitôt qu'il y fut appelé par la grâce de Dieu [3302].

3528. (Jean **19** : 25-27.) Cependant, si le Seigneur avait autour de lui tant d'ennemis déclarés, son cœur pouvait y discerner aussi quelques amis; mais, cachés dans la foule, la plupart observaient de loin et la bouche fermée. Il s'en trouva pourtant quelques-uns qui eurent le courage de se glisser fort près de la croix; entre autres, l'apôtre Jean, le disciple que Jésus aimait, et plusieurs femmes, parmi lesquelles la mère du Sauveur. L'Evangile ne nous avait pas reparlé de

(**L.23** : 44, 45; 46. **M.27** : 45; 46, 47; 48-50. **Mc15** : 33; 34, 35; 36, 37. **J.19** : 28, 29.) celle-ci depuis fort longtemps, et elle n'était, semble-t-il, venue à Jérusalem que pour accomplir la prophétie de Siméon (Luc **2** : 35). Marie devait avoir au moins cinquante-cinq ans. Le Seigneur, toujours plein de tendresse pour les siens et oubliant en leur faveur les souffrances croissantes qu'il endurait, voulut que Jean prît Marie chez lui et qu'il devînt l'appui de ses vieux jours, nouvelle preuve que Joseph était mort probablement depuis longtemps [2726]. C'est pourquoi, désignant sa mère comme il l'avait fait lors de son premier miracle (Jean **2** : 4) : « Femme, lui dit-il, femme, voilà ton fils; » puis il dit à Jean : « Voilà ta mère, » et dès ce moment elle demeura près de lui.

3529. (L. **23** : 44, 45; M. **27** : 45; Mc. **15** : 33.) Le soleil, cependant, avait atteint la moitié de sa course, et ses ardeurs venaient augmenter la fièvre qui, selon les paroles du Psaume (Ps. **22** : 15), dévorait le pauvre crucifié. Il se fit alors des ténèbres qui couvrirent tout le pays durant trois heures; ténèbres surnaturelles, car, la lune étant en son plein, ce ne pouvait être une éclipse. Cette obscurité était d'ailleurs en parfaite harmonie avec l'incrédulité du peuple et avec l'œuvre de ses coupables conducteurs. Mais, à la fin, il y eut quelque chose de plus extraordinaire encore. Tout à coup on entendit Jésus prononcer à haute voix les premiers mots du psaume **22** (M. **27** : 46, 47; Mc. **15** : 34, 35), de ce même psaume dont tant de traits venaient de s'accomplir en ce même temps. Nous n'essayerons pas d'expliquer ce qui se passait alors dans l'âme du Seigneur; la chose serait impossible. Disons seulement avec un apôtre, qu'il a été maudit pour nous (Galat. **3** : 13), et que ce fut en cet instant même que se consomma l'œuvre intérieure d'expiation commencée, la nuit précédente, en Gethsémané.

3530. (J. **19** : 28, 29; M. **27** : 48-50; Mc. **15** : 36, 37; L. **23** : 46.) En entendant les premiers mots du texte cité par Jésus, quelques-uns se persuadèrent, ou feignirent de croire qu'il invoquait le secours du prophète Elie et ils dirent, les uns par ironie, les autres peut-être avec sincérité : « Voyons si Elie viendra le délivrer! » Rien de pareil ne devait avoir lieu, car il fallait que le sacrifice s'achevât jusqu'au bout; mais afin qu'il y eût encore une prophétie accomplie à la lettre (Ps. **69** : 21), Jésus, consumé par la souffrance, dit ces deux mots : « J'ai soif, » et quand il eut aspiré le vinaigre qu'on lui tendit avec une éponge, il prononça cette parole solennelle : « Tout est accompli » (Jean **19** : 30). Oui, tout ce qu'il fallait pour l'expiation de nos péchés; tout ce qu'il fallait pour montrer que Jésus était réelle-

ment le Messie souffrant annoncé par les prophètes; tout ce qu'il fallait pour glorifier l'infinie miséricorde de l'Eternel : tout le plan conçu par lui avant la création du monde et en prévision de la chute de l'homme; tout cela était accompli. Aussi Jésus, puisant en son âme une force surhumaine, après tant de souffrances et un tel épuisement, poussa un grand cri : « Mon Père, je remets mon esprit entre tes mains, » et, baissant la tête, il expira. Jésus, fils d'Adam selon la chair, mourut comme lui-même et comme toute sa postérité, sauf Enoch et Elie; il mourut, aussi bien qu'eux, parce qu'il est devenu homme; mais il mourut d'une mort bien plus terrible que celle des fidèles, même que celle d'Abel, parce que « l'Eternel avait fait venir sur lui l'iniquité de nous tous (Esaïe 53 : 6).

### CCLXVI. — Les sept paroles; merveilles qui accompagnèrent la mort de Jésus; honneurs rendus à sa dépouille mortelle. — *Le samedi.*

3531. C'est avec raison qu'on aime à repasser dans sa pensée les dernières paroles d'un mourant, surtout si elles ont cette beauté et cette sainteté que la grâce de Dieu peut seule leur communiquer. On comprend donc que l'Eglise ait mis, dans tous les temps, un intérêt tout particulier et tout religieux à se souvenir de celles que notre Seigneur prononça sur la croix et même à les compter. Elles sont au nombre de sept, nombre sacré depuis la création du monde; mais si ce rapprochement est, selon toute apparence, conforme à la pensée du Seigneur, il n'est pas indiqué par les évangélistes, car aucun d'eux ne donne les sept paroles. Pour les avoir il faut les prendre dans les quatre Evangiles, dans trois au moins.

3532. Des sept paroles, il en est trois qui ont pour objet immédiat quelques-uns de ceux qui entouraient Jésus; les quatre autres le concernaient personnellement, lui et son œuvre. Dans leur ensemble, elles achèvent le sublime portrait que les Evangiles nous tracent de Celui qui, Fils de l'homme et Fils de Dieu tout à la fois, est venu chercher et sauver ce qui était perdu. En les étudiant, on admire par quelle sagesse il a plu au Père que sa Parole éternelle fît entendre sa voix dans le monde, jusqu'au dernier instant de sa souffrante incarnation. Ici, à la vérité, il ne pouvait plus s'agir de longs discours; mais quelques mots, en de telles conjonctures et sortant d'une telle bouche, disent plus que des volumes.

3533. Après le sérieux avertissement donné par le Seigneur aux

femmes qui le suivaient en pleurant, avertissement que leur devait d'ailleurs sa charité, il n'y eut plus, sur les lèvres du crucifié, que des paroles de grâce et de compassion pour les pécheurs et pour les affligés. Il ne censure, ni ne menace, ni ne condamne personne; au contraire, vous l'entendez prier pour ses bourreaux, promettre le ciel au brigand converti, consoler Jean son disciple et Marie sa mère. Il fait briller aux yeux des méchants les attraits de sa miséricorde; il accueille les pécheurs qui se repentent et tournent leur cœur vers lui; il prend soin de ceux qui, par la foi, l'aiment et se confient en son amour. Là, nous le voyons médiateur entre Dieu et les hommes : « Père, pardonne-leur, car ils ne savent ce qu'ils font; » ici, disposant du royaume céleste en faveur de ses rachetés, parce qu'il est le Fils de Dieu : « Je te dis, en vérité, que tu seras aujourd'hui avec moi dans le paradis; » ailleurs, manifestant la bienveillance de son cœur envers ceux que le Père lui a donnés : « Femme, voilà ton fils; Jean, voilà ta mère. » Si la première et la troisième de ces paroles ne suffisaient pas pour achever de nous convaincre que Jésus est l'Homme de Dieu par excellence, il n'y aurait qu'à méditer attentivement la seconde. Qui est celui qui, avec tant de calme et d'assurance, promet le ciel au brigand converti? Vraiment, à ne supposer en Jésus qu'une moralité tout ordinaire, on doit reconnaître qu'il est le Christ; car il n'y a que l'impie le plus endurci qui puisse se jouer du ciel et de l'enfer, à l'article de la mort. Quant au fait lui-même, ah! s'il n'avait pas été vrai, croyez bien que Luc n'aurait eu garde de l'inventer; car c'était dire au monde que Jésus-Christ, mourant sur un bois infâme, n'avait pas eu honte de prendre un brigand pour son compagnon de voyage vers le royaume éternel!

3534. On fera des réflexions analogues sur les quatre dernières paroles de notre Sauveur. S'il crie : « Mon Dieu, mon Dieu, pourquoi m'as-tu abandonné? » c'est que la chose était vraie bien que profondément mystérieuse, et peu lui importaient les inférences qu'on pouvait tirer d'une exclamation si voisine des cris du désespoir. Sil demande à boire, afin d'attirer l'attention sur les prophéties, c'était une nouvelle manière de se déclarer le Christ, déclaration qu'il confirme en disant : « Tout est accompli. » Or voyez comme c'est bien en la présence de Dieu qu'il fait ces actes solennels; car tout se termine par cette parole d'une âme pieuse et sûre de son avenir : « Père, je remets mon esprit entre tes mains. » Jésus-Christ est donc certainement le Fils de Dieu, son unique; mais il est tout aussi véritablement homme, l'homme de douleur, le représentant de l'humanité péche-

(**Matthieu 27** : 51-53; 54-56. **Marc 15** : 38; 39-41. **Luc 23** : 45; 47-49.)
resse, la sainte victime substituée par l'amour de Dieu aux pécheurs que sa grâce a voulu sauver.

3535. (M. **27** : 51-53; Mc. **15** : 38; L. **23** : 45.) A l'instant où Jésus expira, diverses merveilles durent avertir le monde que ce n'était pas simplement un homme, celui qui venait de mourir sur la croix; tout comme on l'avait vu, dans l'humiliation de sa naissance, entouré d'une gloire éclatante, pour montrer que ce n'était pas un simple fils d'Adam qui naissait. Afin de marquer que, par cette mort, le ciel était désormais ouvert aux pécheurs et que les fidèles de la nouvelle économie posséderaient une connaissance des choses spirituelles fort supérieure à celle qu'en avait eue l'ancien peuple, le voile qui séparait le lieu saint du lieu très saint fut déchiré du haut en bas, ce qui figurait aussi l'entrée dans le ciel de notre souverain Sacrificateur. Puis, la terre trembla et des rochers se fendirent, en signe tout à la fois des jugements de Dieu, prêchés avec tant de force par les souffrances expiatoires de Jésus, et de l'effet que la foi en son sacrifice devait produire sur les cœurs les plus endurcis. Enfin, comme c'est par sa mort que nous avons la vie, plusieurs des trépassés ressuscitèrent au moment où il rendait le dernier soupir, et ils furent vus le surlendemain par beaucoup de personnes à Jérusalem. Ils s'étaient endormis dans la foi aux promesses de Dieu, et, en les réveillant avant le temps, le Seigneur voulut montrer que les saints, c'est-à-dire les fidèles de l'ancienne alliance comme ceux de la nouvelle, sont sauvés par son sang.

3536. (L. **23** : 47-49; M. **27** : 54-56; Mc. **15** : 39-41.) Le spectacle de ces merveilles ne fut pas perdu pour tous ceux qui en furent les témoins. Le capitaine romain et ses soldats montrèrent un grand effroi; ils donnèrent gloire à Dieu; le capitaine en particulier prononça cette parole remarquable : « Certainement cet homme était juste; il était véritablement le Fils de Dieu. » Cet étranger, ce païen, avait vu et entendu tout ce qui s'était passé au prétoire; or, sans pouvoir déterminer le sens précis qu'il attachait à ses exclamations, on ne saurait douter qu'il n'y eût dans son âme et dans celle des soldats, quelque chose qui venait de l'Esprit de Dieu, en vertu même de la prière que Jésus avait prononcée quand on le crucifiait et par laquelle il avait voulu montrer qu'il ne mourait pas pour des Juifs seulement, mais aussi pour des Gentils (Jean **17** : 20). Ce n'est pas tout, le peuple, jusque-là si échauffé contre Jésus, s'éloignait de Golgotha en se frappant la poitrine; et, certes, ils avaient bien de quoi s'affliger et s'effrayer! Pendant ce temps, les amis du Seigneur, surtout

(**Jean 19** : 31-37; 38-42. **Luc 23** : 50-54. **Matth. 27** : 57-60. **Marc 15** : 42-46.) les saintes femmes qui l'accompagnaient d'ordinaire, calmes comme on l'est quand une catastrophe longtemps et anxieusement attendue est parvenue à son terme, laissaient la foule s'écouler et demeuraient en Golgotha pour ne rien perdre du spectacle solennel qu'ils avaient sous les yeux.

3537. (Jean **19** : 31-37.) Or quelques-uns des Juifs, désireux de mettre fin à une scène qui, dans tous les cas, devait leur être à charge, s'étaient rendus auprès de Pilate avant que Jésus eût expiré, et, par la raison que le sabbat allait commencer, ils demandèrent qu'on achevât les suppliciés et qu'on enlevât leurs corps. C'était en effet un grand sabbat que celui qui devait s'ouvrir au coucher du soleil, soit que, cette année, le sabbat ordinaire coïncidât avec celui qui se célébrait le premier jour de la fête de Pâques, soit, comme je l'ai dit plus haut, qu'il tombât sur le lendemain même de la fête [3497]. Des soldats furent donc envoyés et, comme ils s'apprêtaient à rompre les os de Jésus, ainsi qu'ils le faisaient aux deux malfaiteurs, ils furent très surpris de le trouver déjà mort. Ils ne comprenaient pas qu'il avait donné lui-même sa vie et choisi l'heure du sacrifice (Jean **10** : 15, 18; **13** : 1). Toutefois, l'un d'eux lui porta un coup de lance dans le côté et, de la plaie, il sortit, par une nouvelle merveille, du sang et de l'eau, le moyen et le signe de la purification des pécheurs. L'apôtre Jean était là; il le vit de ses propres yeux et c'est lui qui nous le raconte, rappelant à cette occasion deux prophéties fort remarquables, et dont l'accomplissement est d'autant plus frappant qu'il eut pour auteurs des hommes qui ignoraient, de la manière la plus complète, les oracles déposés dans les saintes Ecritures (Ex. **12** : 46; Zach. **12** : 10).

3538. (L. **23** : 50-54; M. **27** : 57-60; Mc. **15** : 42-46; J. **19** : 38-42.) Un Israélite, nommé Joseph, natif d'Arimathée, l'ancienne Rama de Samuel, se transporta de son côté chez Pilate dès que notre Seigneur eut rendu le dernier soupir, et il demanda qu'il lui fût permis de disposer du corps de Jésus. Joseph était un homme considéré qui n'avait point trempé dans le complot et qui était, en secret, disciple du Seigneur. Pilate n'avait rien à lui refuser. Quand il eut appris du centenier, alors de retour, que tout était fini et bien plus promptement qu'on ne pouvait s'y attendre, il ordonna qu'on livrât à Joseph la dépouille mortelle du crucifié.

3539. Le temps pressait, car Jésus était mort à trois heures, l'heure même de l'holocauste de chaque soir, l'heure aussi en laquelle com-

(**Luc 23** : 55, 56. **Matthieu 27** : 61; 62-66. **Marc 15** : 47.)

mençait l'immolation générale des agneaux pascals. C'est pourquoi Joseph acheta promptement un linceul blanc et courut au Calvaire pour ensevelir ce précieux corps, qu'il lui tardait de soustraire aux insultes des impies. Il était accompagné d'un homme que nous avons perdu de vue depuis quelque temps, mais que nous ne saurions avoir oublié [3127]. Nicodème, dont la foi s'était peu à peu développée, se rangea formellement au nombre des disciples, dans le moment où il y avait peut-être quelque danger à le faire, ou, tout au moins, plus d'ignominie que de gloire à recueillir. Ces deux serviteurs de Dieu, aidés sans doute du petit nombre d'hommes fidèles qui étaient présents, déplantèrent la croix, déclouèrent les mains et les pieds de Jésus, l'enveloppèrent d'un linceul et d'un suaire, lui firent un premier embaumement et le transportèrent dans un jardin qui appartenait à Joseph. Ce jardin n'était pas loin de Golgotha, et là se trouvaient quelques roches où l'on avait creusé les sépulcres de la famille. Or il arriva, par une direction d'en haut, que, depuis peu, l'on avait taillé une nouvelle grotte dans laquelle nul encore n'avait été déposé, et, sans songer probablement à la prophétie qui s'accomplissait par leurs mains (Es. **53** : 9), ce fut là qu'ils placèrent le corps de leur Maître bien-aimé. Ils roulèrent une grosse pierre vers l'entrée, et, cela fait, ils se retirèrent; car le sabbat allait décidément commencer.

3540. (L. **23** : 55, 56; M. **27** : 61; Mc. **15** : 47.) Les femmes, qui avaient vu tout ce qui s'était passé, remarquèrent avec d'autant plus de soin le lieu où l'on mit Jésus, que leur intention était d'y revenir, pour achever de l'embaumer. Mais cette œuvre, sainte et pieuse s'il en fût, pouvait sans inconvénient se renvoyer au surlendemain; c'est pourquoi elles se reposèrent le jour du sabbat, selon la loi. Quelle journée ce dut être pour elles et pour tous les disciples! Ils avaient certes besoin de repos après les émotions et les fatigues du vendredi; mais, dans l'état de leur foi, surent-ils jouir pleinement du calme que la circonstance leur ménageait? Ne furent-ils pas au contraire comme un lac dont les eaux demeurent émues et limoneuses près des bords, lors même que le vent a cessé de souffler?

3541. (Matth. **27** : 62-66.) Quant aux ennemis de Jésus, il est bien sûr que leurs passions ne se reposèrent pas. La haine qui les animait ne se montra jamais plus active, ni plus prévoyante; mais ce ne fut que pour accomplir encore une fois, sans le vouloir, les desseins de la sagesse de Dieu. Il nous est raconté que le jour qui suivit la mort

(**Matthieu 27** : 62-66.)

de Jésus (par où l'on peut entendre le soir même du vendredi), depuis six heures (2795), les principaux sacrificateurs et les pharisiens allèrent ensemble vers Pilate et lui représentèrent que, « ce séducteur » ayant prédit sa résurrection pour le troisième jour, il importait de prendre des précautions, de peur que ses disciples n'enlevassent son corps et ne prétendissent qu'il était revenu à la vie ; imposture, pensaient-ils, qui serait plus dangereuse que la première. Mais rien de plus absurde; car c'était supposer chez les disciples un courage et une résolution, bien plus, une mauvaise foi qui n'étaient point dans leur caractère. Après quoi, pour qu'ils fissent plus de mal que Jésus (je me place au point de vue des pharisiens), il fallait qu'ils parvinssent à parler comme il avait parlé lui-même, si ce n'est mieux, et à faire des miracles semblables aux siens, sinon de plus éclatants. Mais suffisait-il pour cela qu'ils enlevassent furtivement le corps de Jésus? De deux choses l'une : ou les apôtres croyaient à la prochaine résurrection de leur Maître, ou ils n'y croyaient pas, faute de l'avoir compris. S'ils y croyaient, qu'avaient-ils d'autre à faire que d'attendre, et, en attendant, de laisser son corps où il était? Et s'ils ne croyaient pas, que pouvaient-ils raisonnablement espérer de l'enlèvement d'un cadavre? Cette tromperie les tromperait-elle eux-mêmes et leur procurerait-elle les dons du Saint-Esprit? Quoi qu'il en soit, Pilate donna des gardes aux Juifs, et ceux-ci les placèrent devant le sépulcre, après avoir scellé la pierre par laquelle on en avait fermé l'entrée. Ils ne pouvaient pas mieux s'y prendre pour que, Jésus venant à ressusciter, il fût bien constaté que personne n'avait fait disparaître son corps.

3542. Voilà donc, ô mes chers lecteurs, voilà le Seigneur Jésus dans le mystère de la tombe! Voilà cette bouche divine momentanément fermée, ces mains puissantes privées de toute force, et ce cœur aimant qui a cessé de battre! Le voilà, lui, le Prince de la vie, réduit à l'état des morts! Voilà un autre Abel qui tombe sous les coups d'hommes plus méchants que Caïn! Mais répétons que si Jésus mourut, ce n'est pas uniquement parce qu'il avait revêtu notre nature : Enoch et Elie nous attestent qu'on peut avoir été fils d'Adam et ne pas mourir. Ce n'est pas non plus qu'il y ait eu du péché en lui, est-il besoin de le dire? Ce n'est pas davantage à raison seulement de sa parfaite sainteté et de la haine que les impies et les hypocrites conçurent par là contre lui. Non, Jésus n'est pas un simple martyr : il mourut comme représentant de l'humanité et au bénéfice des élus de

Dieu. Ce sont nos propres péchés qui l'ont cloué sur la croix, et c'est par nos péchés qu'il a été tué.

3543. Reconnaissons en conséquence, à la louange de la grâce de Dieu, que Jésus-Christ a fait, par sa mort, l'expiation de nos offenses; en sorte que ni nos souffrances, ni notre repentir, ni notre foi, ni nos bonnes œuvres, ni notre mort ne sauraient y ajouter quoi que ce soit. Cette victime est d'un prix infini, et ce serait insulter à son excellence que de vouloir la compléter d'une manière quelconque, comme si l'œuvre du Rocher n'était pas parfaite (Deut. **32** : 4). Tel est donc le privilége de celui qui est véritablement uni à Jésus par une foi vivante. Il sait que ses nombreuses transgressions ont été effacées sur la croix; qu'en Jésus, il fut maudit; qu'avec lui il descendit au sépulcre, comme, en Adam, il pécha et devint mortel; qu'il ne saurait donc être condamné au jour du jugement, puisque ce serait dire qu'un débiteur est tenu d'acquitter sa dette après qu'un ami compatissant l'a payée, ou plutôt qu'on peut être puni deux fois pour le même crime.

3544. Un autre privilége du fidèle, c'est de pouvoir désormais regarder la mort d'un œil calme, sans s'effrayer de ce qu'elle a de plus terrible. La chair frissonne à la pensée qu'on deviendra un cadavre, froid et roide comme le marbre, mais non pas incorruptible tel que lui, et que ce cadavre, enfermé dans un cercueil, sera déposé sous terre. Regardons à Jésus, et toute cette horreur s'évanouira. Pourrions-nous craindre d'éprouver la mort après lui et de passer partout où il passa lui-même? (Jean **12** : 24.) Mort pour nous et avant nous, il sera certainement en la mort et au sépulcre avec nous? Si d'ailleurs nous demeurons en lui par la foi et qu'il demeure en nous par sa grâce (Jean **15** : 4, 5), ne voyez-vous pas avec quelle douce assurance nous pourrons, au moment du départ, dire avec notre puissant Rédempteur : « Père, je remets mon esprit entre tes mains! »

3545. Il n'y a rien peut-être dont la Bible nous parle plus que de la mort. Elle semblerait quelquefois ne nous avoir été donnée que pour nous révéler les mystères de cette grande catastrophe. Dès ses premières lignes elle nous dit pourquoi l'homme meurt; et nous verrons ses dernières pages concentrer toutes nos pensées sur ce même sujet (Apoc. **20**, **21**). C'est qu'en effet vous ne sauriez concevoir rien de plus grand ni de plus solennel. La mort n'est pas la fin de toutes choses, il s'en faut de beaucoup; c'est au contraire le vrai commencement de la vie, d'une vie éternellement heureuse ou misérable. Mais si la mort est notre tout, on peut dire qu'il en a été de

même pour Jésus, envisagé comme Fils de l'homme, comme le Christ, le Sauveur. Son activité se résume à ce point suprême. Il est né pour mourir, et, en mourant, il a consommé ce qui fut l'objet de son existence humaine. Ici donc se termine l'œuvre expiatoire de Jésus-Christ. Ce qui suit, bien que s'y rattachant de la manière la plus étroite, est pourtant d'une tout autre nature.

—

## DEPUIS LA RÉSURRECTION DE JÉSUS-CHRIST JUSQU'A SON ASCENSION.

### CCLXVII. — Résurrection de Jésus; il se montre aux femmes qui l'avaient suivi.

3546. Après tant de souffrances et une telle humiliation, il fallait, selon les prophéties (Es. 53 : 11, 12), que le Christ recueillît les fruits de son travail. Pour lui comme pour nous, mais avec des différences essentielles, la carrière se divise en deux parts : celle qui finit à la mort, et celle qui commence à ce moment suprême : suprême, parce qu'il est le dernier ici-bas; suprême aussi, parce qu'il est de tous le plus décisif. Quant à nous en particulier, c'est le moment où cessent toutes nos relations avec la terre. Il n'en fut pas ainsi du Fils de Dieu. Avant de revêtir réellement notre humanité, il s'était, dès les temps anciens, manifesté comme l'Ange et le Médiateur de l'alliance éternelle. Or, après être venu habiter parmi les hommes, souffrir et mourir comme eux et pour eux, il n'était pas possible qu'il les abandonnât sans retour. Il fallait au contraire qu'il demeurât avec ses rachetés, pour les bénir plus et mieux encore que les fidèles d'autrefois. Si, d'ailleurs, en sa qualité de Fils de Dieu, il a de toute éternité joui d'une gloire ineffable dans le sein du Père, il fallait qu'après être descendu au dernier degré de l'ignominie, il reçût, dans son humanité instantanément humiliée, une gloire proportionnée à cette humiliation. Vous l'avez vu, sur la croix, terminant sa vie dans les gémissements et dans la honte; vous avez accompagné son corps au lieu sombre où le déposa la piété de ses amis; maintenant vient le triomphe, ou plutôt une suite non interrompue d'actes de puissance et de miséricorde, avant-coureurs de la gloire actuelle du Rédempteur de nos âmes et de nos corps. En tête de ces faits se place sa résurrection.

3547. Si l'œuvre de Jésus fut achevée par son trépas, en ce qui

(**Marc 16** : 1. **Matthieu 28** : 1. **Jean 20** : 1.)

concerne l'expiation des péchés, il s'en manquait bien qu'elle le fût quant à l'appropriation de ce salut aux âmes que le Père lui a données. Il fallait, dès ce moment et de siècle en siècle, que ces âmes fussent amenées à la foi; pour cela, il fallait encore, comme vous le pressentez, une foule de choses que le Seigneur seul pouvait effectuer. En l'état où il laissa les disciples, lorsqu'il leur fut ravi par la main des méchants, aucun d'eux, est-il besoin de le dire? aucun, pas même Jean, Pierre encore moins, n'était capable de reprendre l'œuvre commencée, de la poursuivre, de la compléter, d'élever, en un mot, l'édifice indestructible dont Jésus-Christ est le fondement, comme il en est devenu, par sa résurrection, l'architecte. Il avait d'ailleurs annoncé qu'il se relèverait d'entre les morts. Bien plus, il avait dit : « Je suis, moi, le relèvement et la vie (Jean **11** : 25). Après la révélation que les Ecritures de l'Ancien Testament et des Evangiles nous font de sa personne, rien n'est plus naturel ni moins surprenant que sa résurrection. Ce qui serait, à la lettre, inconcevable et inadmissible, c'est qu'il fût demeuré dans le sépulcre. La vraie merveille est qu'il ait consenti à y descendre; mais nous savons par quel grand amour il l'a fait.

3548. (Mc. **16** : 1; M. **28** : 1; J. **20** : 1.) Ce fut donc le premier jour de la semaine, le troisième jour depuis et y compris celui de sa mort, que Jésus se rendit à lui-même la vie; car il avait le pouvoir de la reprendre, comme il avait celui de la donner (Jean **10** : 18). Après avoir été trente-six heures environ dans cet état mystérieux que nous appelons la mort et que l'Ecriture appelle fréquemment un sommeil, il se réveilla et se releva de la tombe. Or, voici comment les disciples en furent informés; puis, comment, après beaucoup de doutes, ils finirent par en acquérir la certitude. Le récit se trouve dans les quatre Evangiles; mais toujours avec certaines différences qui, loin d'affaiblir le témoignage, ne font que le fortifier. Il y eut, à ce moment, une sorte de confusion dans les mouvements des disciples, et la marche de la narration semble s'en ressentir.

3549. Les personnes qui figurent au premier plan, dans ce simple et sublime tableau, sont les femmes qui avaient d'habitude suivi le Seigneur, particulièrement Marie de Magdala. Des autres, il n'y a de nommées que Marie, mère de Jacques, le neuvième des apôtres; Jeanne, femme de Chuzas [2986] et Salomé, femme de Zébédée, par conséquent mère de l'autre apôtre Jacques et de Jean son frère. Le vendredi déjà, elles avaient acheté quelques aromates pour embaumer le corps de

(**Jean 20** : 1, 2; 3-10. **Matthieu 28** : 2-4. **Luc 24** : 12.)

leur bien-aimé docteur; mais on voit ici que, le sabbat passé, c'est-à-dire le samedi dans la soirée, elles retournèrent à l'emplette ; puis, elles durent naturellement attendre que la nuit fût écoulée, pour achever l'œuvre pie qui, la veille, n'avait pu être qu'ébauchée par Joseph d'Arimathée et par Nicodème. Il est facile de supposer que cette nuit leur parut longue; aussi les deux Marie se hâtèrent-elles vers le sépulcre avant même qu'il fût jour, dans le but de « voir, » nous dit Matthieu, la sainte demeure où l'on avait déposé le corps de Jésus et qu'elles n'avaient pu visiter depuis, à cause du sabbat : les autres femmes ne devaient pas tarder à les suivre avec les aromates.

3550. (J. **20** : 1, 2; M. **28** : 2-4.) Arrivées au sépulcre, les deux Marie virent que la pierre au moyen de laquelle on en avait fermé l'entrée, était roulée de côté; or comme elle était considérable, cela supposait l'emploi d'une certaine force. Elles ne doutèrent donc pas un instant que les ennemis du Seigneur ne fussent venus enlever son corps durant la nuit. C'est pourquoi, sans pousser plus loin leurs perquisitions, d'autant qu'il faisait encore obscur, l'une et l'autre, ou du moins, Marie de Magdala, plus vive que sa compagne, se hâtèrent d'aller raconter à Pierre et à Jean ce qu'elles avaient vu et la crainte qui les préoccupait. Or ce qu'elles ignoraient, parce que cela s'était fait avant leur arrivée, c'est qu'un ange du Très-Haut avait roulé la pierre, qu'un tremblement de terre était survenu et que les soldats romains placés en sentinelle devant le sépulcre, avaient été chassés de leur poste par cette redoutable manifestation du pouvoir divin. Ces guerriers, tant de fois intrépides devant l'ennemi, n'étaient pas faits à de telles scènes et l'on conçoit quelle avait dû être leur épouvante. On conçoit également que notre Seigneur, qui n'est pas venu dans le monde pour effrayer mais pour consoler, ait voulu qu'il y eût entre lui et ces pauvres païens un ministre de sa gloire, plutôt que sa gloire elle-même; car il eût pu, s'il l'avait voulu, se frayer son propre chemin au dehors du sépulcre et chasser devant lui ceux qui le gardaient, comme le soleil levant dissipe la brume du matin.

3551. (J. **20** : 3-10; L. **24** : 12.) Pierre et Jean qui, s'étant rejoints après que tout fut fini, avaient sans doute passé ces deux nuits chez quelque ami de Jérusalem, le plus près possible du lieu où reposait la dépouille mortelle de leur cher Maître, Pierre et Jean n'ont pas plutôt entendu Marie, qu'ils prennent leur course du côté du jardin. Jean, le plus jeune des deux, arrive le premier; il voit sur la terre les linges qui avaient enveloppé le corps de Jésus, mais il n'entre pas

(**Luc 24** : 1-9. **Matthieu 28** : 5-8. **Marc 16** : 2-8.)

dans la grotte. Pierre, toujours plus impétueux et plus résolu, s'y précipite au contraire; il voit, comme Jean, les linges qui sont sur le sol ; mais, de plus, il aperçoit dans un lieu à part, le mouchoir dont on avait couvert la tête de Jésus. Alors Jean s'avance à son tour et, persuadés l'un et l'autre par ces indices qu'il n'y avait pas eu enlèvement du corps de leur Maître, mais qu'en revenant à la vie, il s'était lui-même dépouillé de son vêtement de mort, ils crurent à la réalité de sa résurrection et, pour la première fois, ils comprirent le sens de la prophétie qu'il avait, à plusieurs reprises, prononcée sur ce sujet. Il n'y avait donc plus rien à faire au sépulcre; aussi regagnèrent-ils immédiatement leur domicile.

3552. (L. **24** : 1-9; M. **28** : 5-8; Mc. **16** : 2-8.) Cependant, la nuit avait déposé ses derniers voiles, le jour commençait à luire et même le soleil était levé; car, en ces régions, le crépuscule est de courte durée. Les femmes porteuses des aromates s'avançaient par un autre chemin, fort inquiètes de la manière dont elles s'y prendraient pour rouler la pierre du sépulcre. Elles l'eussent été bien davantage, si elles avaient su qu'on y avait placé des gardes; mais il leur arriva comme à nous, lorsque, non content d'aplanir les difficultés prévues, le Seigneur écarte celles qui nous auraient ôté tout courage, si nous en avions connu l'existence. Non-seulement les femmes ne trouvèrent pas au sépulcre les gardes dont le seul aspect les aurait fait reculer, non-seulement elles voient que la pierre qui en fermait l'entrée avait été roulée; mais encore, l'ange par qui le Seigneur avait agi et qui était demeuré invisible aux premiers visiteurs, cet ange que les soldats avaient vu assis sur la pierre et dont la présence les avait si fort terrifiés, cet ange était maintenant avec un de ses compagnons de service dans l'intérieur de la grotte, et, au moment où les femmes y entraient, il leur fit entendre ces paroles rassurantes : « Pour vous, ne craignez point » [2606].

3553. Ce furent donc les femmes qui eurent la première nouvelle positive de la résurrection de Jésus et qui l'ouïrent de la bouche d'un ange, comme autrefois les bergers de Bethléhem avaient appris sa naissance. Après avoir calmé leur premier effroi, le messager céleste leur reproche, avec une grande douceur, le tort dont elles se rendaient coupables en cherchant dans le sépulcre Celui qui leur avait prédit si clairement sa résurrection; puis il les invite à porter la connaissance de ce fait aux disciples et de leur rappeler que Jésus les attendait en Galilée (Marc **14** : 28). Ce n'était pas qu'il refusât de se montrer à eux

(**Jean 20** : 11-17. **Marc 16** : 9.)

auparavant; mais il voulait qu'ils se revissent surtout dans le pays de leur naissance; dans le pays où il les avait pris à lui, où ils l'avaient vu et entendu si souvent exercer sa miséricorde, où ils avaient passé près de lui tant de journées bénies et dont le nom seul devait réveiller en eux de précieux souvenirs. Chargées de cette commission pour les disciples, le cœur plein de saintes émotions, craintives et joyeuses tout à la fois, les femmes s'acheminèrent aussitôt du côté de Jérusalem; mais, dans l'agitation de leur âme, elles se gardèrent bien de dire quoi que ce soit aux gens qu'elles rencontraient. Ennemis de Jésus, pour la plupart, ils n'auraient pas manqué de se rire d'elles et de leur vision.

3554. (J. **20** : 11-17; Mc. **16** : 9.) Pendant que ces choses se passaient, Marie de Magdala, qui n'avait pu suivre Pierre et Jean dans leur course, avait eu le temps enfin de regagner le jardin. Soit qu'elle y fût déjà lorsque les autres femmes arrivèrent, soit qu'elle les y eût seulement rejointes, il paraît que Marie de Magdala, celle qui fait le sujet principal du récit de saint Jean et dont Marc nous dit qu'elle fut la première personne à qui Jésus se montra, n'entra point dans le sépulcre avec ses compagnes. Celles-ci, en sortant de la grotte, ne prirent pas garde à Marie, ou Marie ne prit pas garde à ce qu'elles purent lui dire. Elle était restée sous cette douloureuse impression : « On a enlevé le corps de notre bon Maître! » Avait-elle revu Pierre et Jean, ou, ce qui est plus probable, était-elle revenue par un chemin différent du leur? On l'ignore. Quoi qu'il en soit, elle persistait dans sa triste pensée. C'est pourquoi, elle se tenait dehors, auprès du sépulcre, et elle pleurait. Tout en pleurant, et comme par un mouvement machinal, elle avance la tête du côté de la grotte; elle y incline ses yeux pleins de larmes et, à son tour, elle voit les deux anges qui lui disent : « Femme, pourquoi pleures-tu? » Et Marie de répéter : « Parce qu'on a enlevé mon Seigneur et que je ne sais où on l'a mis. »

3555. Pour s'étonner que la vue des deux anges et leur question n'aient pas mis Marie sur la voie des consolations, il faudrait n'avoir jamais réfléchi aux effets de la douleur quand elle est extrême. Tout entière à l'objet de son affliction, l'âme qui désespère ne voit, n'entend, ne sent rien de ce qui pourrait la ramener. D'ailleurs, si ces deux personnages avaient des vêtements blancs, rien ne montrait avec certitude qu'ils fussent autre chose que de simples mortels. Marie demeura donc sous le poids de ses douloureuses préoccupations et, se retirant du sépulcre, elle tourna la tête comme pour s'en aller.

(**Jean 20** : 11-17. **Marc 16** : 9.)

A ce moment elle aperçoit quelqu'un de la bouche duquel sort cette même parole : « Femme, pourquoi pleures-tu? » avec cette autre question encore : « Qui cherches-tu? » Or, c'était le Seigneur qui lui parlait.

3556. Tels sont donc les premiers mots que prononça notre Seigneur ressuscité. C'est à une femme, à une pauvre pécheresse, de laquelle il avait chassé sept démons (Luc **8** : **2**); à une âme profondément affligée et affligée à cause de lui, qu'il les fait entendre. Il y a bien un reproche dans sa double question; car si Marie avait eu plus de foi et d'intelligence de la vérité, elle eût été dans la joie et non dans les larmes; elle aurait tout au moins attendu en pleine paix le retour de son Seigneur, au lieu d'aller, dévorée d'inquiétude et de chagrin, là où il ne devait pas demeurer longtemps. « Pourquoi pleures-tu? Qui cherches-tu? » Mais combien il y a de douceur dans ce reproche, et comme, sous ce léger nuage, brillent les compassions éternelles du Rédempteur! C'est qu'après tout Marie croyait et aimait : sa douleur même en est la preuve; car, à ce moment, si quelqu'un se livrait à la joie, c'étaient plutôt les ennemis de Jésus (Jean **16** : 20).

3557. Marie était si loin de penser que le Seigneur fût ressuscité, elle avait les yeux tellement inondés de larmes, ses oreilles étaient alors si peu disposées à entendre, qu'elle ne reconnut point celui qui venait de lui parler. Ne jugeant pas qu'à cette heure matinale, il pût y avoir dans le jardin quelqu'un d'autre que celui qui le cultivait : « Seigneur, » dit-elle à l'individu qu'elle prenait pour le jardinier, « Seigneur, » c'est-à-dire Monsieur, « si tu l'as emporté, dis-moi où tu l'as mis et je l'ôterai... » Pauvre femme! elle croit que chacun doit comprendre de quoi elle parle, sans même qu'elle nomme cet objet si cher à son cœur; dans son affliction, il lui semble que tout le monde est capable de la lui avoir causée, et, oubliant sa faiblesse, elle ne doute pas que, si on lui montre le corps de son Maître, elle ne puisse l'enlever dans ses bras et le porter en lieu sûr! Vous voyez comme sa douleur l'égarait. Le moment était donc venu de la ramener à plus de calme. C'est ce que le Seigneur fit par un seul mot; mais qui dira la puissance de l'accent qu'il sut lui donner : « Marie!... » Elle ne regardait pas même son interlocuteur; mais en s'entendant appeler par son nom et d'une voix que, cette fois, elle ne put méconnaître, l'heureuse femme se retourne et, de sa poitrine oppressée, de la plénitude de son cœur, il ne peut sortir non plus qu'une parole, parole qui nous a été conservée dans le langage même du pays :

(**Jean 20** : 11-17. **Marc 16** : 9.)

« Rabbouni, » c'est-à-dire docteur, mais avec un degré de respect plus grand que dans le simple mot Rabbi (Jean 1 : 39).

3558. Jésus lui fit alors une défense qui, à raison surtout du motif dont il l'appuie, a de tout temps exercé la sagacité des interprètes de la Bible, sans qu'on ait obtenu des résultats fort satisfaisants. Peut-être Marie allait-elle se livrer aux élans d'une joie aussi exagérée que l'avait été sa détresse; peut-être y avait-il dans les mouvements de son cœur quelque chose non pas de répréhensible assurément, mais de trop humain toutefois; afin donc de la placer dans la disposition d'allégresse sainte et recueillie où il la voulait, afin que tout en elle devînt de plus en plus spirituel et céleste, Jésus lui dit, sous cette forme mystérieuse qui, à elle seule déjà, sait donner à nos pensées le cours qu'elles doivent avoir en présence du Seigneur et des révélations de sa gloire : « Ne me touche pas, car je ne suis pas encore monté vers mon Père. »

3559. A cela le Seigneur ajoute : « Mais va vers mes frères et dis-leur : Je monte vers mon Père et votre Père, et vers mon Dieu et votre Dieu. » Voilà donc Marie chargée, à son tour, d'un message pour les disciples. Personne jusqu'ici ne pourra mieux qu'elle leur attester la résurrection du Seigneur, puisqu'elle l'a vu. Elle devra de plus leur annoncer sa prochaine ascension, événement dont Jésus parle comme d'un événement actuel, soit parce que, en effet, le ciel fut dès lors sa résidence, soit parce que son ascension proprement dite, bien que future, n'avait pas l'incertitude que l'avenir terrestre a toujours pour nous. Mais ce que la parole du Seigneur a de particulièrement remarquable, c'est la déclaration qu'il fait de la communauté d'intérêts qui existait entre ses disciples et lui, et que sa résurrection avait rendue plus étroite, bien loin de l'affaiblir. Non-seulement il les appelle, pour la première fois, ses frères; mais encore il dit que son Père est leur Père et que son Dieu est leur Dieu. Il était impossible de s'identifier avec eux d'une manière plus intime. N'était-ce pas leur dire qu'il demeurait porteur de leur humanité; que sa gloire ne les séparait point de lui; que, leurs péchés étant maintenant expiés par son sacrifice, ils devenaient plus que jamais ses frères; que, grâce à lui et à leur commune fraternité, ils étaient sûrs maintenant d'avoir un Père dans le ciel; enfin que si Jésus, en tant que le Christ, le Fils de l'homme, avait un Dieu, le Dieu qu'il avait servi et annoncé, le Dieu qui était en lui, réconciliant le monde avec lui-même, ce grand et bon Dieu était certainement aussi le Dieu de ceux qu'il daignait appeler ses frères.

(**Matth. 28** : 9, 10; 11-15. **Luc 24** : 10, 11. **Marc 16** : 10, 11. **Jean 20** : 18.) Que ce soit bien le sens admirable des paroles du Seigneur, c'est ce dont nous acquerrons la certitude par la lecture des écrits des apôtres. Or, voyez s'il n'y a pas dans cette pensée : « Jésus est mon frère ! » une source inépuisable de saintes consolations pour toute âme qui croit en lui !

3560. (Matth. **28** : 9, 10.) Ce que je viens de raconter se fit en infiniment moins de temps que je n'en ai mis à l'écrire et que mes lecteurs n'en ont mis à lire ces pages. C'est pourquoi, avant que les autres femmes eussent pu regagner leur demeure, Jésus, qui ne voulait pas que Marie seule pût dire : « Je l'ai vu, » se présenta sur leur chemin, les saluant de la manière la plus propre à porter la joie dans leur âme; et, après leur avoir dit comme l'ange : « Ne craignez point, » il leur répéta, mais en moins de mots et sous une forme un peu différente, la commission dont le messager céleste les avait chargées auprès de ses disciples. Voilà donc quels furent, par la volonté du Seigneur, les premiers prédicateurs de sa résurrection, tant il se plaît à choisir de faibles instruments pour produire de grands effets. Ces femmes, il est vrai, n'étaient pas envoyées auprès du monde; mais elles l'étaient toutefois auprès d'hommes que des préoccupations charnelles fort invétérées avaient empêchés de comprendre leur Maître, et qui allaient se montrer rebelles à la vérité, autant du moins qu'il était possible à des gens qui, pourtant, n'étaient pas des incrédules : la tâche des messagères du Seigneur n'était donc pas aussi facile qu'on pourrait se l'imaginer au premier abord.

3561. (L. **24** : 10, 11; Mc. **16** : 10, 11; J. **20** : 18.) Les femmes étant arrivées et ayant raconté les merveilleux événements de la matinée, elles trouvèrent en effet des cœurs très peu disposés à recevoir leur témoignage. Les disciples aimaient mieux croire sans preuve à l'enlèvement du corps de Jésus, que d'admettre les discours persuasifs de leurs sœurs et de leurs mères, plus affligées maintenant de cette incrédulité qu'elles ne l'avaient été d'abord en trouvant le sépulcre vide. Mais quoi ! ces pauvres femmes ! elles leur débitaient des contes ! elles avaient rêvé ce qu'elles prétendaient avoir vu et entendu ! elles prenaient pour une réalité le désir de leur cœur ! qui sait même si quelque malveillant ne s'était pas joué de leur simplicité ! Hélas ! telles sont bien souvent les misérables ressources auxquelles on a recours quand on veut résister à l'évidence.

3562. (Matth. **28** : 11-15.) Voici, d'autre part, celles dont l'incrédulité proprement dite dispose contre la vérité. Les gardes ayant fait

(**Luc 24** : 13-32. **Marc 16** : 12.)

à ceux qui les avaient placés devant le sépulcre un rapport fidèle de ce qui était arrivé, il fut convenu, à prix d'argent, que les soldats prétendraient s'être endormis, ce qui était bien invraisemblable. Ils déclareraient toutefois que, durant leur sommeil, et naturellement sans l'interrompre, les disciples de Jésus avaient dérobé le corps de leur Maître; circonstance qu'ils ne pouvaient savoir d'aucune manière, s'ils avaient réellement dormi. Ce conte, dont l'absurdité est palpable, circula cependant, comme tant d'autres, au milieu d'un monde qui se repaît volontiers de mensonges. Selon la coutume, les adversaires de la vérité firent tous leurs efforts pour avoir l'air de croire à la fable qu'ils avaient inventée, et la multitude finit par l'accueillir. C'est encore ce que prétendent les Juifs de nos jours, comme si l'enlèvement de ce corps mort pouvait expliquer le changement moral qui se fit chez les apôtres : leur foi, leur courage, leur persévérance, leurs lumières, leur sainteté, sans parler de leurs miracles et des succès de leur prédication ! Mais tout ceci reviendra plus tard dans nos Etudes; continuons, pour le moment, à voir ce qu'étaient les disciples de Jésus le jour de sa résurrection.

## CCLXVIII. — Jésus se montre plus d'une fois encore à ses disciples en ce même jour.

3563. (L. **24** : 13-32; Mc. **16** : 12.) Je ne saurais trop répéter que, s'il y avait tant d'incrédulité dans le cœur des apôtres, on ne saurait toutefois voir en eux des incrédules proprement dits. Aussi le Seigneur fit-il pour eux ce qu'il ne fera jamais pour des hommes qui, aimant mieux les ténèbres que la lumière afin de pouvoir demeurer dans leurs péchés, sont décidés à ne pas croire, quoi qu'il arrive. Prenant pitié de leur faiblesse, Jésus leur multiplia les témoignages de sa résurrection, jusqu'à ce qu'ils fussent obligés de se rendre; mais ce fut avec un sage progrès qu'il voulut porter la conviction dans leur cœur. D'abord, deux d'entre eux avaient pu s'assurer que son corps n'était plus dans le sépulcre et que tout attestait qu'il n'en avait pas été furtivement arraché; puis, les femmes, informées par des anges et ayant vu le Seigneur lui-même à deux reprises, étaient venues raconter l'événement; eh bien ! puisque cela ne suffit pas, Jésus va se montrer à leurs yeux, et il commencera par deux disciples qui, malgré ce qu'avaient dit les femmes, avaient quitté Jérusalem, ce matin même, avec l'intention sans doute de n'y pas revenir. Il s'agissait donc,

avant tout, de ramener les plus découragés, et c'est ce que fit Jésus.

3564. (Luc 24 : 13-32.) L'un des deux s'appelait Cléopas ou Alphée (c'est le même nom), père probablement de l'un des deux apôtres nommés Jacques [2952], et frère, à ce qu'on croit, de Joseph, le père adoptif de Jésus; Marie, celle qui s'était rendue au sépulcre avec Marie de Magdala, était sa femme (Jean 19 : 25). Accompagné d'un autre disciple, il marchait vers Emmaüs, bourgade située sur le chemin de la Galilée, à trois lieues de Jérusalem. Comme ils s'entretenaient, dans une profonde tristesse et pourtant avec une certaine vivacité, des événements de la matinée, Jésus les atteignit, et, pour lier conversation, il leur demanda quel était le sujet qui les préoccupait à ce point. Or, par un effet même de leur préoccupation, ils ne reconnurent pas celui qui venait de leur adresser la parole. Quand on dirait que, depuis sa résurrection, le visage de Jésus avait pris quelque chose de céleste qui devait, selon les cas, en dérober les anciens traits aux yeux de la chair, on dirait probablement une chose très fondée; mais il n'en serait pas moins vrai que, si les disciples ne le reconnurent pas, c'est précisément parce qu'ils n'avaient alors, pour le voir, que les yeux de la chair et qu'il leur manquait ceux de la foi. Ainsi en arrive-t-il souvent à ceux qui lisent l'Ecriture ou qui écoutent une prédication, l'esprit et le cœur pleins de pensées terrestres : ils ne comprennent pas les vérités les plus simples. Ecoutez la réponse des disciples et vous verrez bien que telle était la cause de leur aveuglement.

3565. Après avoir exprimé leur surprise de ce qu'un homme qui paraissait venir de Jérusalem aussi bien qu'eux, ne connût pas les grands événements qui s'y étaient passés, ces jours mêmes, ils racontent comment Jésus le Nazaréen, cet homme, ce prophète puissant en œuvres et en parole, avait été condamné à mort, puis crucifié, et comment cette catastrophe avait renversé toutes les espérances qu'ils fondaient sur lui. Après cela, ils disent, du moins en partie, ce qui était survenu aux femmes et même la visite que Pierre et Jean avaient faite au sépulcre; mais ils font bien remarquer que, si les femmes prétendent avoir été informées par des anges que ce Jésus était vivant, si les deux disciples ont trouvé les lieux dans l'état qu'on leur avait dit, il demeurait certain qu'ils ne l'avaient pas vu lui-même.

3566. Observez, je vous prie, les divers traits de ce discours. Cléopas en est à ce point de découragement qu'il ne donne plus à Jésus d'autre nom que celui par lequel tout le monde, et des ennemis

(**Luc 24** : 13-32.)

même, le désignaient. C'est bien toujours à ses yeux un homme qui fut un grand prophète; il ne saurait oublier ses étonnants miracles, ni ses discours plus étonnants encore, tous marqués du sceau divin et généralement admirés par le peuple; mais le voilà mort : il a été condamné par les principaux sacrificateurs et par les magistrats, qui l'ont ignominieusement crucifié! Cléopas semble prêt à penser que les organes de la religion et de la loi n'ont fait peut-être que ce qu'ils devaient. Quoi qu'il en soit, Jésus n'est plus. Cléopas, toujours plein de foi en la promesse d'un libérateur pour Israël, ne désespère pas qu'il n'y ait une délivrance; mais, avec bien d'autres, il s'était flatté qu'elle s'accomplirait par le moyen de cet homme, de ce prophète, et maintenant il faut renoncer à cette douce pensée, car voilà le troisième jour depuis et y compris celui où on l'a vu expirer sur la croix. Si Cléopas avait suffisamment pris garde aux prophéties de Jésus-Christ, il n'aurait pu prononcer ces derniers mots sans se les rappeler; surtout il n'aurait pas accueilli avec tant d'indifférence le rapport de sa femme et des compagnes de Marie, puisque Jésus avait dit expressément qu'il ressusciterait le troisième jour.

3567. Mais, dans la manière dont il raconte ce qui était arrivé aux femmes, il y a plus que de l'indifférence; il y a, par incrédulité, beaucoup d'inexactitude. Cléopas ne dit pas tout; et l'on se rend très bien compte de ses réticences. S'il parle des anges que les femmes prétendaient avoir vus, il se tait sur l'apparition même du Seigneur, dont elles avaient aussi rendu témoignage. Et pourquoi cela? Parce que Pierre et Jean sont revenus du sépulcre, sans que Jésus se soit offert à leurs regards! La mention même qu'il fait de cette dernière circonstance prouve que le récit des femmes, en ce qui tenait à l'apparition du Seigneur, n'était pas loin de son souvenir; mais, avec tous les autres, il les avait accusées de rêveries, et il ne comprenait pas que Jésus ne se fût pas montré à deux de ses principaux disciples, s'il avait réellement accordé cette grâce à Marie de Magdala et aux autres après elle. C'est pourquoi il lui plaisait de tenir cette partie de leur relation comme de nulle valeur. Quand on ne veut pas comprendre, on ne comprend pas; et quand on ne veut pas se souvenir, on oublie.

3568. Il ne faut pas s'étonner, après cela, de ce qu'il y eut de sévère dans le reproche qu'adressa Jésus à ses deux disciples. Pour lever le voile qui couvrait leurs yeux, il commence par diriger leurs pensées sur les prophéties de l'Ancien Testament, leur montrant que,

(**Luc 24** : 13-32.)

depuis la première jusqu'à la dernière, elles avaient toutes annoncé les souffrances du Christ comme les préliminaires indispensables de sa gloire. Cette instruction dut être assez longue, et l'on se prend quelquefois à regretter qu'il n'ait pas plu au Saint-Esprit de nous la conserver. S'il ne l'a pas fait, ce n'est pas sans doute par la seule raison qu'elle eût arrêté trop longtemps le cours d'une narration où les faits ont plus d'importance que les paroles; mais c'est essentiellement parce qu'il nous suffit de savoir, par la bouche même de Jésus, que Moïse et tous les prophètes ont parlé de lui. Après cette déclaration, notre devoir est de chercher Jésus-Christ dans l'Ancien Testament, aussi bien que dans le Nouveau. C'est ce que j'ai fait, grâces à Dieu, en étudiant les livres de la loi et des prophètes, et mes lecteurs ont pu s'assurer, en effet, que presque toutes les pages de l'Ancien Testament ont trait à Jésus-Christ. Les hommes qui, à l'époque de sa venue, attendaient la consolation d'Israël, ce Cléopas en particulier et son collègue, n'ignoraient pas que Moïse et les prophètes avaient tous parlé du Christ, du Messie, du Libérateur d'Israël (Jean 1 : 46); mais leur tort était de n'avoir pas voulu saisir le vrai sens de la mission du Rédempteur, le véritable caractère de son œuvre et de son règne. Ils avaient aggravé leur tort en persistant dans leur point de vue charnel et judaïque, après avoir contemplé et entendu Jésus-Christ; voilà ce que le Seigneur leur reproche. Là se trouvait la cause manifeste de leur incrédulité actuelle, comme c'était ce qui les avait empêchés de comprendre précédemment les prophéties de Jésus sur sa mort et sur sa résurrection.

3569. Avec de telles dispositions, ils eussent mérité que le Seigneur les abandonnât à eux-mêmes; aussi, quand ils furent près d'Emmaüs, « il fit comme s'il eût voulu aller plus loin. » Mais tandis qu'il leur avait parlé, sa grâce s'était ouvert un chemin dans leur cœur, et, entraînés par un attrait irrésistible, ils ne consentirent point à ce qu'il les quittât. « Ils le contraignirent, » est-il dit, lui faisant cette sainte violence que nous ne devons pas craindre d'employer lorsqu'il s'agit du salut et de la gloire de Dieu. D'ailleurs, le soleil descendait vers l'horizon, et il ne leur semblait pas qu'il fallût pousser plus loin, ce jour-là. Heureux les disciples qui, luttant avec l'Ange comme Jacob, le retiennent lorsqu'il a l'air de vouloir les abandonner et ne le laissent point aller qu'il ne les ait bénis! Le Seigneur se mit à table avec Cléopas et avec son compagnon; et là, faisant entre les deux la fonction d'un père de famille, il prit le pain, prononça une

(**Luc 24** : 33-35. **Marc 16** : 13. **Jean 20** : 19. **I Cor. 15** : 5.)

bénédiction, le rompit et le distribua. C'était le moment qu'il avait choisi pour dessiller les yeux des disciples; ils le reconnurent, mais il disparut aussitôt, avec l'intention de les rejoindre peu après à Jérusalem, comme nous le verrons dans un instant.

3570. Pour expliquer le changement qui s'opéra dans le cœur, dans l'intelligence, dans la faculté de voir des disciples, il faudrait pénétrer les mystères de l'action divine sur les âmes. Cependant, soit l'exposition que Jésus leur avait faite des Ecritures, toujours si puissantes auprès des cœurs droits, soit l'acte même par lequel il termina l'entrevue et qui était de nature à leur rappeler tant de repas pris avec lui, pour ne pas parler du dernier, durent écarter insensiblement les obstacles qui les avaient empêchés de reconnaître le Seigneur. Ce qui leur arriva s'est répété dès lors pour bien des âmes, et plaise à Dieu qu'il y ait beaucoup de mes lecteurs qui se reconnaissent ici. Quand on lit avec prières les saintes Ecritures, l'erreur et les préjugés tombent peu à peu, si ce n'est même quelquefois tout d'un coup. Puis, il ne faut souvent qu'une conjoncture inattendue pour que le Seigneur se révèle pleinement. Alors on s'écrie comme Siméon : « O Eternel, mes yeux ont vu ton salut. » Alors aussi, en recueillant dans son esprit le souvenir des choses passées, on se rappelle maintes occasions où, sans qu'on pût se rendre compte à soi-même de ce qu'on éprouvait, on se sentait le cœur tout brûlant au dedans de soi, par l'effet de la Parole du Seigneur et de son Esprit agissant en secret. Alors enfin, on se lève à l'heure même, comme les disciples d'Emmaüs, pour joindre l'assemblée de ceux au milieu desquels on peut espérer de trouver le Seigneur.

3571. (33-35; Mc. 16 : 13; J. 20 : 19; 1 Cor. 15 : 5.) Ce fut sans doute d'un cœur léger et d'un pas rapide que les deux disciples refirent le chemin qu'ils avaient suivi si tristement le matin même. Bientôt ils furent à Jérusalem, et, se rendant au lieu où ils savaient que leurs amis se tenaient cachés par crainte des Juifs, ils les trouvèrent assemblés, non-seulement les apôtres, nommés ici les onze, bien que Thomas y manquât, mais encore beaucoup de frères et de sœurs avec eux; ils les trouvèrent, dis-je, prolongeant leur repas du soir et tout émus du grand événement de la journée. Comment eût-il pu en être autrement, car depuis le départ de Cléopas, sans qu'on sache à quelle heure ni en quel lieu, Jésus s'était aussi fait voir à Pierre. Il résultait de là que la foi en sa résurrection gagnait du terrain. Qu'on juge donc de l'impression que dut causer sur cette assemblée le récit

(**Luc 24** : 36-43; 44-49. **Jean 20** : 19, 20; 21-23. **Marc 16** : 14.)

des disciples d'Emmaüs. Cependant, il y en avait encore qui ne croyaient pas; non-seulement Thomas, absent, mais d'autres encore parmi ceux qui étaient là. Peut-être le témoignage de Pierre leur était-il suspect, après son reniement; peut-être leur paraissait-il étrange que Jésus se fût montré aux deux fuyards d'Emmaüs plutôt qu'à eux; quoi qu'il en soit, ils résistaient encore.

3572. (L. **24** : 36-43; J. **20** : 19, 20; Mc. **16** : 14.) L'épreuve que le Seigneur avait voulu qu'ils fissent des misères de leur cœur étant à son terme, il leur montra que sa grâce marchait de pair au moins avec leur incrédulité. Comme Cléopas et l'autre disciple parlaient encore, Jésus parut au milieu d'eux, en prononçant un mot qui devait réveiller chez eux de bien doux souvenirs : « La paix soit avec vous! » (Jean **14** : 27.) Mais non; ce n'était pas assez pour calmer leur agitation, ou plutôt la subite présence du Seigneur ne servit au premier instant qu'à l'augmenter. Les voilà s'imaginant que peut-être c'est une ombre, une vaine apparence, un esprit qu'ils ont devant les yeux. « Eh! non, leur dit Jésus, dans son infinie bonté, voyez mes mains et mes pieds, touchez mon corps et assurez-vous que c'est bien moi qui vous parle. » S'il est vrai qu'on croit facilement ce qu'on désire, il ne l'est pas moins que, bien souvent, on n'ose croire ce qu'on désire avec une extrême ardeur. Maintenant donc les disciples craignent que leurs mains ne les trompent aussi bien que leurs yeux, tant ils espéraient peu le bonheur inouï qui leur arrive. C'est pourquoi le Seigneur leur demanda quelque peu de la nourriture qui se trouvait là, et il voulut manger devant eux; puis il leur fit, sur la dureté de leur cœur incrédule, les justes reproches que leur devait sa charité.

3573. (L. **24** : 44-49; J. **20** : 21-23.) Oui, c'est dans son amour que Jésus reprend ses disciples, car tout aussitôt il leur dit pour la seconde fois : « La paix soit avec vous! » Dès ce moment sans doute, paisibles et recueillis, ils purent écouter les paroles qui devaient donner à cette première entrevue une si grande importance. Fort semblables à celles qui avaient porté la lumière et la consolation dans le cœur des disciples d'Emmaüs, elles eurent toutefois quelque chose de plus direct, par la raison que le Seigneur n'était plus obligé de ne parler de lui qu'à la troisième personne. En effet, il leur rappela ce qu'il leur avait dit précédemment sur la manière dont les anciennes prophéties devaient s'accomplir, et il leur montra de nouveau comment, d'après Moïse, et les prophètes et les psaumes, il fallait que le Christ souffrît, qu'il se relevât d'entre les morts le troisième jour, et

(**Luc 24** : 45; 46, 47. **Jean 20** : 22.)

qu'on prêchât en son nom la conversion et le pardon des péchés parmi toutes les nations, en commençant par Jérusalem [2592. *Prophéties messianiques*]. Voilà donc ce qu'il s'agissait de faire maintenant, pour l'entier accomplissement des prophéties; voilà ce dont les disciples allaient être les instruments par le simple récit des choses dont ils avaient été témoins. D'un autre côté, il était impossible que leurs prédications ne produisissent pas leur effet, parce qu'ils recevraient du Saint-Esprit les lumières et la force que Jésus leur avait promises au nom du Père (Jean **16** : 12-15). C'est pourquoi, ils pourront garantir le pardon des péchés à tous ceux qui recevront leur témoignage, ce témoignage emportant comme conséquence, que celui qui croit possède la vie éternelle; mais à ceux qui ne croiront pas, ils devront au contraire déclarer la certitude de leur condamnation [2772].

3574. (L. **24** : 45; J. **20** : 22.) A ces paroles, Jésus ajoute un acte sans lequel il aurait encore une fois parlé en vain. Soufflant sur les disciples, il leur dit : « Recevez l'Esprit-Saint, » et « il leur ouvrit l'entendement pour qu'ils comprissent les Ecritures. » De ce fait, qui rappelle d'ailleurs l'acte premier de la création de l'homme et la part qu'y prit Celui qui est la Parole éternelle du Père (Gen. **2** : 7; J. **1** : 3), ressortent trois doctrines importantes. L'une, que l'entendement humain est, par lui-même, fermé aux vérités divines; la seconde, que non-seulement ces vérités doivent nous être révélées, mais encore qu'elles ne sauraient pénétrer dans notre intelligence sans l'action du Saint-Esprit; la troisième enfin, que Jésus, le grand révélateur de la vérité auprès des hommes, est aussi le Médiateur par qui vient à ses rachetés la grâce de comprendre et de recevoir la Parole de Dieu. Nous pourrions ajouter, en nous appuyant sur quelques faits précédents, faits dont nous verrons bientôt la confirmation, que le Saint-Esprit agit progressivement dans les cœurs. Les disciples de Jésus avaient déjà ressenti ses influences; elles furent, à ce moment, plus sensibles que jamais; cependant, ils devaient en être pénétrés bien davantage par la suite.

3575. (Luc **24** : 46, 47.) Remarquez encore dans le discours de notre Seigneur comment tout le développement de la grâce de Dieu, ayant pour point de départ les souffrances de Jésus-Christ et le pardon des péchés, a pour terme ici-bas la conversion des pécheurs. Remarquez avec quelle miséricorde, avec quelle fidélité, avec quelle sagesse, le Seigneur ordonne que la conversion et le pardon soient

(**Luc 24** : 46, 47.)

d'abord prêchés à Jérusalem; à Jérusalem, cette ville si coupable; à Jérusalem, objet toutefois de tant de promesses, et où il était convenable qu'on prêchât le plus tôt possible la résurrection de Celui qui y avait été crucifié, afin qu'on ne pût pas accuser les apôtres d'avoir craint un démenti! Voyez enfin la simplicité du rôle que le Seigneur destine à ses disciples. Sans doute que le Saint-Esprit les fera devenir des docteurs pour Israël et pour le monde entier, jusqu'à la fin des siècles; mais au fond, ce par quoi ils agiront le plus efficacement sur les âmes, c'est en rendant purement et simplement témoignage de ce qu'ils ont vu et entendu. Et nous aussi, mes chers lecteurs, disons-nous bien que la meilleure manière de prêcher l'Evangile, et celle-ci est à la portée de tout fidèle, c'est de vivre et d'agir de telle sorte que notre personne même rende témoignage à la grâce et à la puissance du Seigneur. Qu'il soit impossible au monde de ne pas reconnaître que Jésus a touché notre cœur, qu'il a changé nos habitudes et qu'il vit avec nous. Par là nous rendrons témoignage à son relèvement d'entre les morts; car il faut bien qu'il soit vivant, Celui qui répand ainsi la vie dans les âmes!

3576. Tel fut le premier dimanche. Jusqu'à cette époque, chaque premier jour de la semaine avait pu rappeler aux fidèles de l'ancien peuple le moment sublime où, par sa Parole puissante, l'Eternel fit sortir la lumière du sein des ténèbres : à partir de l'heure non moins solennelle où Jésus reprit la vie, le premier jour de la semaine fut, pour le nouveau peuple de Dieu, le jour où la Parole faite chair, Celui qui est la lumière du monde, sortit de l'obscurité de la tombe pour reparaître, plein de miséricorde, au milieu des siens. Depuis dix-huit siècles que ce jour est célébré par les disciples de Jésus-Christ, qui dira les bénédictions dont il a été la source pour des millions d'âmes immortelles! Combien de pécheurs à qui le Seigneur s'est manifesté ce jour même pour les faire passer de la mort à la vie; combien qu'il a relevés et consolés comme Marie de Magdala; combien qu'il a ramenés de leurs égarements comme les disciples d'Emmaüs; combien auxquels il a dit, en ce jour-là, comme à l'assemblée de Jérusalem : « C'est moi, ne craignez point; la paix soit avec vous! » — Le Seigneur se montra cinq fois dans le cours de ce premier dimanche. D'abord à Marie, puis aux autres femmes; ensuite à Pierre; peu après, à Cléopas et à son compagnon de route, jusqu'à ce qu'il se fit voir enfin aux disciples réunis. Chaque fois nous le retrouvons tel qu'il fut toujours avec les siens : « plein de grâce et de vérité. »

(**Jean 20** : 24, 25; 26-29.)

**CCLXIX. — Nouvelles apparitions de Jésus; seconde pêche miraculeuse; réintégration de Pierre; prophétie relative à Pierre et à Jean.**

3577. (Jean **20** : 24, 25.) Thomas, surnommé le Jumeau, fut, de tous les apôtres, celui qui eut le plus de peine à croire que Jésus eût réellement repris la vie. Il est vrai que ses collègues non plus n'avaient accepté ce fait que vaincus par le témoignage de leurs yeux et de leurs mains. Celui des femmes, bien que confirmé par Pierre et par les disciples d'Emmaüs, les avait laissés pleins de doutes. Thomas, à son tour, résistait au rapport unanime, non-seulement de ses collègues, mais encore de toute l'assemblée du dimanche. Pourquoi, d'ailleurs, ne s'était-il pas trouvé dans cette assemblée? L'Evangile ne le dit pas; mais Thomas était un de ces hommes dont le cœur s'ouvre difficilement aux vérités de la foi, et il est probable qu'il avait quitté Jérusalem dès la nuit où Jésus fut livré [3410]. Dans cette supposition, ce serait seulement en Galilée que les dix autres l'auraient retrouvé, qu'ils lui auraient raconté les scènes émouvantes du jour de la résurrection, et qu'il leur aurait manifesté sa résolution de ne pas croire, s'il ne voyait et ne touchait celui qu'ils prétendaient avoir vu et touché eux-mêmes : la distance qui sépare Jérusalem du lac de Tibériade pouvait très bien se franchir en cinq jours. Il se peut aussi que Thomas n'eût quitté que momentanément la cité sainte et avec l'intention d'y rejoindre ses collègues pour retourner avec eux en Galilée. C'est ce qu'il aurait fait dans le courant de la semaine, et, de cette manière, les disciples seraient encore restés huit jours à Jérusalem avant de retourner dans leurs villages.

3578. (26-29.) Huit jours donc après l'assemblée du premier dimanche, les disciples étant de nouveau réunis, ou à Jérusalem, ou en Galilée, et Thomas se trouvant cette fois au milieu d'eux, le Seigneur leur apparut, avec la même salutation que la précédente fois. Mais, pour qui ne croit pas, il n'y a pas de paix possible. Jésus donc, toujours tendre et compatissant, voulut délivrer Thomas de ses doutes et apaiser ainsi le trouble de son âme. Or, non-seulement l'apôtre se rendit à l'évidence, mais il lui arriva comme, en général, à ceux qui ne reçoivent le salut qu'après beaucoup de combats, ce fut avec une grande clarté de vue, avec une grande force d'impression qu'il sentit et exprima la vérité que lui révélait enfin la résurrection de son

(**Jean 20** : 30, 31. **21** : 1-23.)

Maître. « Mon Seigneur et mon Dieu! » s'écria-t-il, le cœur plein d'amour et de reconnaissance. Cependant, les disciples des temps à venir devaient apprendre de la bouche même du Sauveur que la foi n'est pas la vue, et que, s'il a voulu joindre ces deux grâces dans la personne de Thomas et de ses collègues, ce fut par exception. Il était absolument nécessaire, sans doute, que les apôtres vissent le Seigneur après sa résurrection, afin qu'ils pussent dire au monde, non pas seulement : Nous le croyons vivant; mais : Nous savons qu'il l'est. Dans tous les cas donc, Jésus devait se montrer à eux. Ce qu'il aurait fallu, toutefois, c'est qu'ils crussent d'abord en sa résurrection selon les prophéties, et qu'après cela ils le vissent. Or, voilà, mes chers lecteurs, à quoi nous sommes appelés. Croyons en Jésus sur la parole de ses apôtres, et, plus tard, nos yeux le contempleront. Qu'il soit, dès à présent, notre Seigneur et notre Dieu; dès à présent aussi, nous serons heureux d'avoir cru sans avoir vu. Hélas! combien d'hommes qui virent le Seigneur et qui ne laissèrent pas de le rejeter! Nous n'avons donc pas à envier le sort de la plupart de ceux qui furent les témoins oculaires de sa puissance, ni même le bonheur de ceux qui, l'ayant vu, finirent par croire en lui.

3579. (30, 31). Croire en Jésus; croire qu'il est le Christ, l'objet et le centre de toutes les promesses, de tous les types, de toutes les histoires de l'Ancien Testament; croire qu'il est le Fils de Dieu, la parfaite image du Père, l'Eternel notre Rédempteur : tel est donc le fondement de notre salut, ou, comme le dit saint Jean, la source de la vie éternelle, la vie même dès ici-bas. Or, le moyen par lequel la foi nous est donnée, dit encore l'apôtre, c'est la Parole de Dieu, en tant qu'elle rend témoignage à Jésus-Christ; c'est tout particulièrement l'Evangile. Les apôtres, envoyés pour annoncer le salut, ont mis par écrit, sous l'inspiration divine, une partie des choses qu'ils avaient vues, entendues et prêchées; et, bien qu'ils n'aient pas dû consigner dans leurs livres tout ce qui fut dit ou fait par le Seigneur, bien que Jean surtout ait fort peu parlé des miracles de Jésus-Christ, les Evangiles ne laissent pas de contenir les fondements de la vie éternelle, et celui de Jean plus peut-être qu'aucun des trois autres. Vous donc qui désirez avoir part à ce grand salut, lisez et relisez avec de ferventes prières le volume sacré. Si vous négligez ce devoir, ne dites pas que vous vous souciez réellement du salut de votre âme.

3580. (Jean 21 : 1-23.) C'est à l'occasion de Thomas que Jean présente, comme en passant, l'observation générale sur laquelle je

(Jean 21 : 1-23.)

viens de m'arrêter un instant, car son récit n'est pas terminé. Après avoir raconté comment Jésus se fit voir pour la seconde fois à ses disciples, huit jours après sa résurrection, dans une assemblée qui s'était certainement formée en mémoire de ce fait, il nous transporte près de la mer de Tibériade, où nous attend un touchant spectacle. Cette mer, ou ce lac, dont les rives et les eaux mêmes avaient vu tant de merveilles, dont les barques avaient servi de chaires à Jésus-Christ, et qui mêla si souvent aux entretiens du Maître et de ses disciples le bruissement de ses ondes, ce lac devait encore une fois parler de la puissance et de l'amour du Seigneur.

3581. En attendant l'accomplissement des promesses, les apôtres étaient retournés dans leurs villages et à leurs premières occupations. Un jour qu'ils étaient réunis au nombre de sept, Pierre parla d'aller pêcher et les six autres le suivirent. C'étaient Thomas, qui ne songeait plus à s'évader; Nathanaël, l'Israélite sans fraude, dont il n'avait plus été fait mention depuis au delà de trois ans, à moins que ce ne soit le même que Barthélemy [2952]; puis l'auteur de notre Evangile et Jacques son frère; deux autres encore dont les noms ne nous sont pas donnés. Comme une précédente fois, mais circonstance fort rare sur un lac si poissonneux, ils passèrent la nuit entière sans rien prendre, et pourtant c'était là tout leur gagne-pain. Etait-ce donc que le Père céleste les aurait oubliés? (Matth. 6 : 26.) Si cette coupable pensée avait pu leur venir, ils furent bientôt détrompés.

3582. Le jour commençait à poindre, lorsque quelqu'un, criant du rivage, leur demande s'ils n'ont rien à manger. C'était Jésus. Mais soit à cause de l'obscurité qui régnait encore et de la distance qui les séparait, soit parce qu'il plut au Seigneur de n'être pas reconnu tout de suite, les pêcheurs répondirent négativement, sans savoir qui leur parlait. La même voix parvient jusqu'à eux et leur dit de jeter le filet du côté droit de la barque. A tout hasard, ils en font l'essai, et quelle n'est pas leur surprise en le sentant plein d'une telle quantité de poissons, qu'ils ne pouvaient presque le remonter à bord. Jean, l'apôtre à qui Jésus avait toujours témoigné l'affection la plus tendre, Jean, moins préoccupé peut-être que les autres de cette riche capture, parce que son cœur était plus habituellement auprès de son Maître absent, Jean dit à Pierre : « C'est le Seigneur ! » Pierre, de son côté, cédant à l'impétuosité de ses mouvements, se précipite dans le lac pour aller à Jésus : il pêchait, nu-bras et nu-jambes, ayant sa tunique pour tout vêtement. Un autre eût jeté sa robe avant d'entrer dans l'eau; mais

lui, au contraire, il la remet sans y prendre garde, tant il se possède peu, ou tant il est pénétré du respect qu'il doit au Seigneur.

3583. Les disciples, renonçant à amener le filet sur la barque et le traînant après eux, eurent bientôt franchi à la rame les cent vingt pas environ qui les séparaient en ce moment de la rive. Or, afin de leur montrer qu'il disposait de plus d'un moyen pour leur procurer le nécessaire, notre Seigneur avait là du poisson rôti et du pain à leur offrir lui-même. Cependant il voulut qu'ils vissent ce que contenait le filet et qu'ils admirassent le nombre et la grosseur des poissons qui s'y étaient jetés. Ce qui ne dut pas les frapper moins, ce fut de voir qu'aucune des mailles du filet ne s'était rompue. Après cela, ils firent ensemble leur frugal dîner, ou repas du matin, et pendant un certain temps, les disciples, bien que reconnaissant leur Maître, respectèrent le mystère dont il entourait sa personne. Comme tout cela devait leur faire battre le cœur, dans l'attente de ce qu'il avait à leur dire et qu'il préparait avec tant de solennité.

3584. C'était, dit l'évangéliste, la troisième fois que Jésus, réveillé d'entre les morts, apparaissait à ses disciples (14). Cependant, nous l'avons vu se montrer à Marie de Magdala, aux femmes, aux fugitifs d'Emmaüs, à l'assemblée du premier dimanche et à celle du dimanche suivant; nous aurions donc plutôt ici la septième apparition de notre Seigneur. Cela est vrai; mais c'était seulement la troisième fois que Jésus se montrait à ses disciples *réunis*, et voilà manifestement ce qu'a voulu dire saint Jean. Si d'ailleurs il ne nous raconte pas l'entretien qu'ils eurent avec lui pendant le repas, il me paraît assez facile de suppléer à son silence. Le Seigneur leur parla sans doute dans le sens du prodige qu'il venait de faire éclater à leurs yeux. Non-seulement il les assurait par là qu'ils ne manqueraient pas de pain dans son service; mais, en leur rappelant le miracle tout semblable opéré trois ans auparavant, au même lieu et devant les mêmes personnes ou peu s'en faut; en leur rappelant de plus l'importante série de paraboles qui se termina par celle du filet (Matth. 13), ce nouveau et dernier signe leur disait que le moment était définitivement arrivé où ils deviendraient pêcheurs d'hommes vivants; que leur prédication allait étendre un réseau qui recueillerait dans ses nœuds une foule de gens, et que, malgré les efforts qu'on ferait, du dedans comme du dehors, pour déchirer et altérer la parole prêchée et écrite par eux, cette Parole sainte demeurerait ferme et immuable. Il est d'ailleurs à remarquer que si, jusqu'à ce moment, des milliers de pé-

cheurs s'étaient approchés de Jésus, que si plusieurs d'entre eux avaient trouvé la paix auprès de lui, l'Eglise proprement dite ou l'assemblée des croyants ne s'était pas encore formée et organisée; la foule qui se pressait autour du Seigneur se dispersait bientôt après; elle se rompait, en quelque sorte, comme le filet de la première pêche. Il ne devait pas en être de même à l'avenir, et voilà, je suppose, ce que signifiait aussi la seconde pêche miraculeuse.

3585. Le repas terminé, et le Seigneur s'étant fait connaître au moment peut-être où il avait, comme à Emmaüs, rompu le pain pour le distribuer, il demanda par trois fois à Pierre s'il l'aimait. Ce fut en le désignant par son vieux nom de Simon, fils de Jonas, et non par celui de Céphas ou de Pierre qu'il l'interpella de la sorte, reportant ainsi la pensée de l'apôtre vers les temps antérieurs à sa vocation. Puis, s'il lui dit : « M'aimes-tu *plus que ceux-ci?* » ce fut avec l'intention marquée de lui rappeler sa promesse présomptueuse : « Quand tu serais pour tous les autres une occasion de chute, tu ne le serais pas pour moi. » Il est à observer en outre que, dans ses premières interrogations, Jésus paraît s'être servi d'une expression que Pierre n'osa pas répéter, tant il avait appris à douter de lui-même depuis la chute où l'avait amené sa présomption. C'est une nuance que nos anciennes versions n'ont pas conservée; mais qui, difficile à rendre, ne laisse pas d'offrir un grand intérêt. « M'aimes-tu? » dit Jésus à Pierre. Encore une fois, « m'aimes-tu? — Si je t'aime, semble répondre le pauvre disciple, je n'ose trop l'affirmer; cependant, oui, Seigneur! je me sens dans le cœur de l'affection pour toi. — Est-il bien sûr seulement, reprend Jésus, que tu aies quelque affection pour moi, quelque amitié, quelque attachement, à défaut de l'amour entier qui m'est dû? » Là-dessus, que fera Pierre, si ce n'est d'en appeler à la toute-science de Celui qui l'avait si bien averti de son triple reniement : « Seigneur, tu sais toutes choses, tu sais que j'ai de l'affection pour toi. »

3586. Quant au motif qui engagea le Seigneur à placer son disciple sous ce douloureux interrogatoire, on le découvre sans peine. C'était pour dire à ses serviteurs de tous les temps que l'amour doit être le mobile essentiel de leur activité; mais il y avait là quelque chose de plus encore. Notre Seigneur n'ignorait pas ce qui se passait dans le cœur de Simon : ni l'amour qu'il y avait fait naître lui-même dès le commencement, ni la repentance que son regard de miséricorde y avait excitée dans la cour de Caïphe, ni enfin la joie avec laquelle

(Jean 21 : 1-23.)

Pierre avait, un des premiers, accueilli sa résurrection. Pour nous, nous avons besoin qu'on nous dise si l'on nous aime, et encore pouvons-nous craindre d'être trompés par de vaines protestations d'attachement; le Seigneur, au contraire, lui, dont l'Esprit même produit en nous toute sainte disposition, le Seigneur sait parfaitement ce qu'il y a de bon dans notre âme. Mais Pierre avait renié par trois fois, après avoir déclaré qu'il mourrait plutôt que de commettre une telle indignité; il s'était rendu coupable d'un péché qui semblait l'exposer à une condamnation inévitable (Luc 12 : 9); il avait été particulièrement en scandale à ses collègues; plusieurs, peut-être, parmi les simples fidèles, se demandaient si Pierre, même repentant, pouvait encore être compté au nombre des apôtres. Par toutes ces raisons, Jésus lui demanda, trois fois de suite, s'il l'aimait plus que ne l'aimaient les autres, ce qui ne voulait pas dire que ceux-ci ne l'aimassent pas; et, à trois reprises aussi, il lui donna charge de paître ou de conduire ses agneaux et ses brebis, agneaux et brebis qui appartiennent à Jésus et non à Pierre, remarquez-le bien. Puis observez que si le Seigneur remet à Pierre ses chères brebis, ce n'est pas qu'il entende lui conférer une prééminence quelconque sur ses collègues : c'est simplement pour lui rendre au milieu d'eux la place dont son reniement aurait dû le priver.

3587. Pierre comprit la pensée du Seigneur. On le voit dans son humilité, dans sa tristesse, dans la douceur et la persévérance de ses réponses, notamment dans la forme qu'il leur donne : « Tu sais que j'ai de l'affection pour toi; tu connais toutes choses. » Il est manifeste que Pierre se rappelle la double prédiction par laquelle le Seigneur avait annoncé qu'il le renierait. Ah! si je t'avais cru, semble-t-il dire, si je m'étais défié de moi-même, si j'avais veillé et prié comme tu m'y invitais!... Voilà, mes chers lecteurs, les humiliations qui attendent les cœurs présomptueux. Pierre en essuya de deux sortes : celles qui lui arrachèrent tant de larmes dans la cour de Caïphe et celles qui le couvrirent de confusion devant ses frères. Les unes et les autres furent de véritables bienfaits pour son âme. Les secondes, en particulier, tout en mettant le sceau à son relèvement, nous disent de réfléchir avec sérieux sur les voies du Seigneur envers les siens. Lorsque ceux-ci commettent quelque faute, ils doivent regarder comme une grâce de Dieu les humiliations qui en sont la suite; et si, même après s'être repentis, ils sont humiliés de nouveau pour des péchés qu'ils savent cependant leur avoir été pardonnés par le Père

céleste, ils recevront avec douceur cette nouvelle marque de son amour; car, après tout, il est bon de se souvenir qu'on est pécheur : nous devons donc bénir la voix qui nous le rappelle et la main qui nous le fait sentir.

3588. Non content de l'avoir réintégré dans son apostolat, Jésus voulut annoncer à Simon de quelle mort il glorifierait Dieu, après l'avoir, tout le reste de sa vie, glorifié par son repentir et par son zèle. Il mourra d'une mort violente, dit le Seigneur; car on le liera par le milieu du corps pour le traîner au supplice. Bien plus, il mourra les bras étendus, c'est-à-dire cloués sur une croix. Et pour marquer encore mieux la chose, Jésus lui dit : « Suis-moi, » ou, en d'autres termes : Ta mort sera semblable à la mienne. Or, si l'on accepte une tradition qui paraît respectable, Pierre aurait effectivement terminé ses jours sur une croix, à l'époque d'une terrible persécution. Il ne renia donc plus son Maître; mais, après avoir affermi bon nombre de ses frères, il donna réellement sa vie pour lui. Il paraît d'ailleurs que la prédiction relative à la mort de Pierre n'était pas encore accomplie à l'époque où Jean écrivait son Evangile; car le texte porte : « de quelle mort il glorifiera Dieu, » et non pas « il devait glorifier Dieu. »

3589. Il est facile de voir par ce qui précède que, sous l'influence du Saint-Esprit, Pierre devenait de plus en plus un homme nouveau. Toutefois, les premiers traits du caractère ne s'effacent jamais complétement, et le Seigneur n'entend pas que ses disciples soient tous jetés dans le même moule. Ne vous étonnez donc pas si cet esprit vif et curieux, si ce cœur aimant et pourtant mobile se détourne promptement des pensées qui auraient semblé devoir l'absorber, pour se diriger sur Jean, le plus jeune des disciples, auquel Pierre, le plus âgé de tous, pense-t-on, portait un intérêt particulier. Jean marchait derrière Jésus avec Pierre, quand celui-ci manifesta le désir de savoir aussi le sort qui était réservé à son jeune collègue. « Que t'importe? » lui répond le Seigneur; et ces mots, avec ceux qui suivent, signifiaient : « Ne te distrais pas si vite de ce qui te concerne personnellement. Quant à lui, il deviendra fort âgé, plusieurs même croiront qu'il ne mourra point; dans tous les cas, il sera encore de ce monde lorsque je viendrai pour détruire Jérusalem; et toi, Pierre, tu seras mort à cette époque. » Tel était, dis-je, le sens de la prophétie, comme l'événement l'a démontré. Jean, qui écrivit son Evangile avant la mort de Pierre, c'est-à-dire donc avant la ruine de Jérusalem, vécut encore une trentaine d'années depuis cette redoutable

(**Matthieu 28** : 16-20. **Marc 16** : 15-18. **I Corinthiens 15** : 6.)

catastrophe. De plus, il nous dit que les frères, ayant mal saisi la prophétie, croyaient généralement qu'il ne mourrait point. Pour lui, ce n'est pas ainsi qu'il la comprenait. Est-ce à dire qu'il en eût une claire intelligence? Il serait permis d'en douter, quand on voit qu'il se borne à la répéter textuellement, au lieu de l'expliquer. Mais peut-être fut-il conduit par le Saint-Esprit à donner ainsi l'exemple de la prudence ou, dirai-je, de la discrétion qu'il faut apporter dans l'interprétation des prophéties non accomplies. Souvent nous en sommes réduits à réfuter les faux sens qu'on leur assigne, sans que nous puissions dire avec assurance quel est le véritable. Toujours est-il qu'on ne sait ici ce qui est le plus digne d'admiration : la révélation que le Seigneur fait à ses deux disciples de leur avenir, ou la simplicité avec laquelle le Saint-Esprit raconte, par leur bouche, une circonstance sur laquelle il aurait été si naturel de les voir s'extasier!

## CCLXX. — Dernière apparition du Seigneur; ses derniers ordres et ses dernières promesses; son ascension.

3590. (M. **28** : 16-20; Mc. **16** : 15-18; 1 Cor. **15** : 6.) Il y eut, après ces choses, une nouvelle apparition de notre Seigneur. Ce fut, comme la précédente fois, en Galilée, non plus au bord du lac, mais sur la montagne qu'il avait désignée à ses disciples et où il leur fut facile de se rendre en grand nombre. Etait-ce celle qui avait entendu le discours célèbre rapporté par saint Matthieu (**5-7**), ou la montagne sur laquelle Pierre, Jacques et Jean avaient vu leur maître transfiguré, ou bien enfin quelque autre, c'est ce qu'on ignore. En tout cas il est probable que cette occasion fut celle où il se fit voir à plus de cinq cents frères, parmi lesquels bon nombre étaient encore vivants lorsque Paul écrivait sa première lettre aux fidèles de Corinthe. Il y en eut d'abord quelques-uns qui doutèrent, nous dit l'évangéliste; mais tous, bientôt, se joignirent dans un même acte d'adoration devant Celui qu'ils n'hésitaient plus à appeler, comme Thomas, leur Seigneur et leur Dieu.

3591. Alors, Jésus s'étant placé au milieu d'eux et s'adressant particulièrement aux onze, commença par déclarer solennellement que toute autorité lui était donnée dans le ciel et sur la terre. C'est en sa qualité de Christ qu'il parlait ainsi; car, en tant que Fils de Dieu, la puissance divine lui appartient, dès l'éternité, par un effet de son union d'essence avec le Père et avec le Saint-Esprit. Mais, devenu

(**Matthieu 28** : 16-20. **Marc 16** : 15-18.)

homme, il a pu et il a dû recevoir; or, ce qu'il a reçu, c'est ce qui lui avait été promis par le Père (Ps. **2** : 8), et ce qui nous est représenté comme le juste dédommagement de ses souffrances et de son ignominie. Voici maintenant l'usage qu'il va faire de l'autorité suprême qu'il exerce dans le ciel et sur la terre, c'est de donner le monde aux dépositaires de sa Parole. « Allez, leur dit-il, allez donc dans tout le monde; prêchez la bonne nouvelle à toute la création; faites de toutes les nations des disciples, les baptisant pour le nom (ou dans le nom) du Père, et du Fils et du Saint-Esprit, leur enseignant à observer toutes les choses que je vous ai commandées. Celui qui aura cru et qui aura été baptisé sera sauvé; mais celui qui n'aura pas cru sera condamné. Et voici, je suis avec vous tous les jours, jusqu'à l'achèvement du siècle. Or, tels seront les signes qui accompagneront ceux qui auront cru. En mon nom, ils chasseront des démons, ils parleront de nouvelles langues, ils saisiront des serpents, et quand ils auront bu quelque breuvage mortel il ne leur fera point de mal; ils poseront les mains sur les malades et ceux-ci seront guéris. » Telle fut, en réunissant Matthieu et Marc, la substance de cet important discours.

3592. Le sens de ces paroles n'est pas difficile à saisir, bien que les apôtres, ainsi que nous le verrons, n'en aient reçu que plus tard la vraie intelligence : je parle ici particulièrement de l'ordre d'évangéliser le monde. En s'exprimant comme il le fit, notre Seigneur voulait dire, non pas que ses premiers disciples amèneraient tous les hommes à la possession du salut, mais du moins qu'ils ne borneraient pas au pays de leurs pères le champ de leurs prédications. C'est le propre du royaume des cieux, ou de ce qu'on appelle le christianisme, d'aspirer à la conquête du globe entier. Si le judaïsme, économie de préparation, avait dû être le lot particulier d'un peuple, en sorte qu'on ne pouvait l'embrasser sans entrer, par le fait même, dans la nationalité juive, il ne devait pas en être ainsi de la nouvelle économie. Tout en laissant chaque fidèle, citoyen de son pays natal et sans vouloir fondre toutes les nations en une seule, la prédication de l'Evangile devait former un peuple nouveau, un peuple de disciples, pris parmi toutes les tribus de la terre.

3593. Comme signe d'introduction dans la société qui se grouperait autour de l'Evangile ou de la bonne nouvelle du salut, nous voyons paraître ici le baptême, pratique fort ancienne chez les Juifs et qui, après avoir été suivie par Jean et par les disciples de Jésus, dès le commencement de son ministère, reçut enfin du Seigneur une sanc-

(**Matthieu 28** : 16-20. **Marc 16** : 15-18.)

tion spéciale, tout en conservant au fond sa signification primitive. Le baptême est, avant tout, le signe du disciple. En recevant la mission de prêcher la bonne nouvelle, les apôtres recevaient celle d'amener des âmes à Jésus-Christ. Or, nous avons vu ailleurs que le nom de disciple était donné à tous ceux qui s'approchaient de lui et qui faisaient profession de croire ses paroles [2747]. En conséquence, les apôtres devraient envisager comme disciple quiconque accepterait leur doctrine ou se soumettrait à leur enseignement, et c'était là ceux qu'ils auraient à baptiser. Cette cérémonie était donc destinée à marquer les premiers pas dans la carrière, et non pas à être renvoyée tout à la fin, ou peu s'en faut, comme cela se fit quelquefois dans l'Eglise des premiers siècles.

3594. Mais, bien que simple cérémonie d'initiation, le baptême est d'une grande solennité, car la grâce de Dieu nous y est prêchée dans sa plénitude. Pour m'en tenir à ce qui ressort des paroles seules de l'institution et me réservant de compléter ce sujet quand la suite de nos Etudes m'y conduira, remarquez que si l'on traduit littéralement les paroles du Seigneur : « Les plongeant *dans* le nom du Père et du Fils et du Saint-Esprit, » rien n'est spirituel et sublime comme le sens du baptême. Ce qui caractérise le vrai disciple, c'est qu'il croit en Dieu : Père, Fils et Saint-Esprit. Il croit au Saint-Esprit par la puissance et la grâce duquel il a été fait une nouvelle créature; il croit au Fils, qui, devenu homme, a répandu son sang en rémission des péchés; il croit au Père, dont l'amour pour nous a été tel qu'il a donné son Fils unique, afin que quiconque croit en lui ne périsse point, mais qu'il ait la vie éternelle. Voilà déjà ce que proclame la formule du baptême. Puis, comme celui qui était baptisé entrait dans l'eau tel qu'il se trouvait, et en sortait lavé, le baptême *dans* le nom du Père et du Fils et du Saint-Esprit, nous dit que, par la foi, nous nous plongeons en Dieu, pour ainsi dire, et nous devenons participants de sa sainteté et de sa vie : nous en lui, comme lui en nous. — Que si l'on traduit : « *Pour* le nom du Père et du Fils et du Saint-Esprit, » au lieu de « dans le nom, » ainsi que cela se peut, le baptême se présente alors comme le signe de notre consécration à Dieu, et cette manière de l'entendre ramène à peu près le même résultat.

3595. La formule du baptême est digne d'une sérieuse attention, en ce qu'elle exprime pour la première fois, avec la plus grande netteté, le mystère de l'essence divine, commune au Père, au Fils et au Saint-Esprit, distincts l'un de l'autre et ne faisant toutefois qu'un seul

(**Matthieu 28** : 16-20. **Marc 16** : 15-18.)

NOM, ou un seul être. Sans reproduire ce que j'ai dit ailleurs [2690], voyez comme la lumière est allée croissant sur cet important sujet. C'est au baptême de notre Seigneur que la doctrine nous est apparue dans son ensemble, et voici le moment où elle se formule avec précision. Moment qui n'est pas sans analogie avec le précédent, puisqu'il s'agit encore du baptême, et moment non moins solennel, puisque Jésus va bientôt quitter ses apôtres. Ne convenait-il pas qu'il leur révélât auparavant le NOM de Dieu dans sa plénitude, comme il avait autrefois révélé la plénitude de ses perfections à son serviteur Moïse, lorsque celui-ci entrait dans sa mission? (Ex. 3 : 13-15). Mais encore, observez, je vous prie, de quelle manière les dogmes de la foi se présentent dans l'Evangile. Ce n'est jamais sous forme de pure théorie; au contraire, c'est toujours à un point de vue pratique. A quoi servirait-il en effet de retenir fermement comme principe théologique dogme de la sainte Trinité, si nous n'en faisions pas la vie et la substance de nos âmes? Il faut donc, je le répète, que, par une vraie foi, nous nous plongions dans le nom du Père et du Fils et du Saint-Esprit, selon le sens élevé du baptême.

3596. Avant de baptiser, avons-nous vu, les apôtres devaient prêcher. C'est par là qu'ils se feraient des disciples ou, plutôt, qu'ils acquerraient des disciples à Jésus-Christ. Or, dès que les personnes attirées par leur prédication demanderaient à être baptisées, en signe de leur adhésion aux vérités de la foi, ils devraient accéder à leur vœu. Mais, par cela même que le baptême n'est qu'une cérémonie d'initiation, tout n'est pas fini avec le baptême. Le disciple de Jésus-Christ est disciple jusqu'à la blanche vieillesse. Le baptême qui ne serait pas suivi de l'enseignement, ne serait pas le baptême chrétien. Et comme il introduit dans une société toute fondée sur une doctrine, il faut que plus le disciple avance dans la carrière, plus l'enseignement qu'on lui donne prenne d'extension; car le Seigneur a dit : « Les baptisant...., et leur enseignant à observer toutes les choses que je vous ai commandées. » Ces paroles expriment aussi que la vie à laquelle nous sommes appelés, en qualité de disciples, est une vie d'obéissance et non pas seulement d'étude. Plusieurs, hélas! parmi les docteurs surtout, approfondissent beaucoup la doctrine du Seigneur, mais font très peu et très mal sa volonté; il n'est que trop de personnes, d'autre part, qui ne sondent pas assez les Ecritures et qui, par suite, demeurent fort au-dessous du patron qu'elles nous tracent. On croit qu'après avoir fait un cours de religion dans sa jeunesse, il n'y a

(**Matthieu 28** : 16-20. **Marc 16** : 15-18.)

plus qu'à écouter de temps en temps quelque sermon. J'espère que mes lecteurs comprendront mieux leur devoir. Il faut qu'ils soient disciples *à vie*, et je me serais bien gardé d'écrire ces Etudes, si j'avais pu supposer que ceux qui les liront, cesseraient après cela d'étudier, par eux-mêmes et plus à fond, la sainte Parole de Dieu.

3597. Marc ne rapporte pas l'institution du baptême, mais il nous a conservé des paroles qui doivent avoir été prononcées d'abord après. Afin qu'on n'allât pas imaginer que le baptême possède en lui-même une vertu propre à purifier l'âme, à la régénérer, à la sanctifier, en un mot à la sauver, erreur qui n'a été et qui n'est encore que trop commune, le Seigneur distingue nettement ces deux choses : le baptême et la foi ; la foi, grâce intérieure de Dieu, principe, en nous, de toutes les autres grâces, et le baptême, signe et sceau de ces mêmes grâces, prédication du salut. En conséquence, il déclare que ceux qui auront été baptisés ne seront pas tous sauvés ; car c'est bien à cela que reviennent ses paroles : donc, ceux qui sont baptisés ne sont pas tous régénérés ; puisque les régénérés sont tous, par la foi, des enfants de Dieu (Jean 1 : 12, 13). En d'autres termes, il ne suffit pas, pour obtenir le salut, de recevoir le baptême : avant tout, il faut croire, et si l'on ne croit pas, on sera condamné. Il semble, d'un autre côté, que, le baptême étant un signe et un sceau de la grâce de Dieu, l'on ne devrait l'administrer qu'aux personnes qui ont été rendues participantes de cette grâce, qui croient aux promesses divines, qui sont vraiment converties. Mais être appelé de Dieu est déjà une grâce ; écouter cet appel, se ranger du côté des disciples du Christ, c'est faire un premier pas et un pas important dans la carrière : le baptême vient alors très naturellement. Il faut donc se garder ici de deux extrêmes, plus voisins l'un de l'autre qu'on ne pense. Dire que le baptême régénère, c'est donner à l'homme le pouvoir de régénérer, car l'homme baptise qui il veut et quand il veut ; dire, d'autre part, qu'on ne doit baptiser que les régénérés, c'est attribuer à l'homme la connaissance des cœurs ; c'est toujours mettre l'homme à la place de Dieu. Quant à ceux qui baptisent les petits enfants, ils justifient leur pratique, en voyant dans le baptême le signe et le sceau de la grâce à laquelle les enfants des chrétiens sont appelés par le fait de leur naissance. Il est vrai que le baptême ne leur est d'aucune utilité pour le salut, s'ils ne sont une fois baptisés du Saint-Esprit ; mais il en est de même à quelque âge qu'on soit baptisé. Au surplus, je ne crains pas de laisser indécise une question sur laquelle tant

(**Matthieu 28** : 16-20. **Marc 16** : 15-18.)

d'excellents chrétiens sont de vues différentes, et qui, dans tous les cas, n'a pas l'importance qu'on cherche quelquefois à lui donner.

3598. Les injonctions et les déclarations précédentes furent adressées surtout aux apôtres, mais non pas uniquement à eux, attendu qu'ils n'étaient pas seuls avec le Seigneur. Aussi verrons-nous qu'ils ne furent pas seuls non plus à enseigner et à baptiser, quand vint le moment de l'action. Bien plus, il est clair que, dans la pensée de Jésus, ceci était destiné à faire règle, même après que les apôtres auraient achevé leur trop courte carrière; car il n'était pas possible qu'ils annonçassent l'Evangile à chaque créature humaine ou seulement qu'ils le portassent à toutes les nations de la terre. Mais ce qu'ils n'ont pu faire personnellement, leurs écrits, traduits et expliqués par d'autres messagers de la bonne nouvelle, ont eu mission de le réaliser. Si l'on pouvait avoir des doutes sur l'intention du Seigneur à cet égard, il suffirait, pour les dissiper, de jeter les yeux sur cette magnifique promesse : « Et voici, je suis avec vous, tous les jours, jusqu'à l'achèvement du siècle, » ou comme on traduit d'ordinaire : « jusqu'à la fin du monde. » Nous avons décidément ici une promesse qui ne concerne pas uniquement les hommes qui l'entendirent, et c'est, en même temps, une promesse qui se lie de la façon la plus étroite aux ordres divins dont elle est le couronnement. Elle revient à dire que la nécessité et l'obligation d'évangéliser le monde dureraient autant que le monde lui-même, et que ceux qui s'emploieraient à cette œuvre, seraient en tout temps des ouvriers dans les mains du Seigneur. C'est par son commandement qu'ils parleront; aux secours de sa grâce qu'ils devront leurs succès.

3599. L'événement toutefois a prouvé qu'il y eut dans les paroles du Seigneur quelque chose qui ne concernait que les apôtres et les hommes de leur siècle ou à peu près. Il fallait que les témoins de Jésus-Christ et leurs successeurs immédiats, montrassent au monde, par des signes incontestables, que si le Seigneur n'était plus sur la terre, sa puissance et sa grâce y demeuraient comme incarnées dans les hommes qui parlaient de lui et en son nom. Lors donc que nous lirons le récit des miracles qui s'opérèrent à la voix, non-seulement des apôtres, mais aussi de leurs disciples, nous nous souviendrons de la promesse du Seigneur et nous en admirerons l'accomplissement; puis, en voyant que, de nos jours, ces mêmes signes n'accompagnent plus ceux qui croient, nous nous souviendrons de l'observation que nous venons de faire sur ce que cette promesse avait de spécial, et

(**Marc 16** : 19. **Luc 24** : 50-53. **Actes 1** : 2-11.)

nous n'en admirerons pas moins la puissance et la grâce du Seigneur, qui continue, sans l'emploi des dons surnaturels, l'œuvre merveilleuse de la conversion du monde.

3600. Cette entrevue de notre Sauveur avec ses disciples fut une des plus solennelles par le nombre des assistants et bien davantage encore par le caractère des paroles qui sortirent de sa bouche. Ce fut la huitième apparition de Jésus depuis son relèvement d'entre les morts, la huitième du moins dont les Evangiles fassent mention; car il est tout à fait probable qu'il y en eut d'autres sur lesquelles ils gardent le silence. C'est le cas, par exemple, de celle qui nous est rapportée incidemment par saint Paul (1 Cor. **15** : 7). Ce Jacques, auquel le Seigneur apparut en particulier, n'est, pense-t-on, ni le frère de Jean, ni le fils d'Alphée, mais le frère de Thaddée, appelé aussi Judas et Lebbée [2952]; il était donc frère de Jésus, nom sous lequel nous le verrons désigné plus tard. Jacques était destiné par le Seigneur à diriger, pendant de longues années, l'Eglise de Jérusalem; c'est pour cela, sans doute, encore plus que parce qu'il était son frère selon la chair, que Jésus le favorisa de cette révélation. Remarquez, du reste, combien peu les évangélistes se montrent soucieux d'accumuler les preuves du grand fait qui servit pourtant de base à leurs prédications et sans lequel leur foi eût été vaine. Non-seulement, c'est en réunissant leurs quatre récits qu'on obtient un certain nombre d'apparitions de notre Seigneur, mais encore le mot que Paul dit occasionnellement de l'une d'elles, nous atteste que les évangélistes n'ont pas eu l'intention de les raconter toutes. Il est vrai qu'en chose pareille, la multitude des preuves n'importe guère. N'eussent-ils revu leur Maître qu'une seule fois, les apôtres étaient parfaitement sûrs de sa résurrection. Si donc ils rapportent quelques-unes de ses apparitions, ce n'est pas tant pour rendre tout à fait indubitable son retour à la vie, que pour enregistrer les importantes instructions qu'ils reçurent de lui dans cette dernière portion de son ministère, moitié céleste et moitié terrestre. Il est difficile en effet de prononcer si, à cette époque, le Seigneur était un habitant du ciel ou de la terre. Pour mieux dire, il résulte du récit des Evangiles que, monté vers son Père et vers notre Père peu après son relèvement d'entre les morts, il sortait des demeures célestes pour se manifester aux siens, comme jadis aux patriarches et aux prophètes; puis, quand il leur avait parlé, il disparaissait de nouveau.

3601. (Mc. **16** : 19; L. **24** : 50-53; Actes **1** : 2-11.) Cependant la Fête

(**Luc 24** : 50-53. **Marc 16** : 19. **Actes 1** : 2-11.)

des semaines, la Pentecôte, approchant [910], et les disciples étant retournés à Jérusalem, le Seigneur voulut que, nouveaux Manoahs, ils le vissent définitivement passer de ce monde dans l'autre, à la manière d'Enoch et d'Elie ses glorieux types. Il voulut de plus que son entrée triomphale dans le ciel eût pour théâtre les lieux mêmes qui avaient été témoins de son agonie, notamment ce mont des Oliviers sur lequel avaient découlé les premières gouttes du sang de l'expiation. Lors donc qu'il les eut conduits à Béthanie, sur le revers oriental de la sainte montagne, il eut avec eux un dernier entretien, dont nous pèserons tous les termes quand nous commencerons l'étude du livre des Actes des apôtres; « puis, élevant ses mains, il les bénit; et, pendant qu'il les bénissait, il se sépara d'avec eux et il fut enlevé dans le ciel. » Quel moment solennel pour les disciples! de quelle sainte émotion ne durent-ils pas être pénétrés, les Elisées de cet Elie! et quelle grande scène pour nous pareillement, si, partageant leur foi, nous nous souvenons de ce que Jésus avait dit quarante jours auparavant : « Je vais vous préparer une place, et quand je serai allé et que je vous aurai préparé une place, je reviens et je vous prendrai auprès de moi, afin que là où je suis vous y soyez aussi! » (Jean **14** : 3.) Quant aux apôtres et à leurs alentours, le premier moment de stupeur passé, ils s'en retournèrent à Jérusalem avec une grande joie. Ce fut là qu'ils demeurèrent dix jours en attendant la Pentecôte. On pouvait les voir dans les cours et les parvis du temple, continuellement groupés entre eux, et ceux qui les approchaient n'entendaient sortir de leur bouche que des actions de grâces, bien qu'ils ne pussent pas dire encore tout ouvertement ce qui remplissait leur cœur de tant de joie. Quel bel exemple, mes chers lecteurs! Si Jésus est mort, s'il est ressuscité, s'il est monté au ciel, s'il doit en revenir, ce n'est pas moins pour nous que pour les disciples d'autrefois. Nous avons donc à nous réjouir comme eux et, comme eux, à passer notre vie en la présence du Seigneur et dans son service.

### CCLXXI. — Conclusion des Evangiles et coup d'œil en arrière.

3602. Nous venons de voir comment Luc termine son Evangile. C'est en racontant brièvement l'ascension de Jésus-Christ. Il se borne à retracer le fait, couronnement de l'œuvre personnelle du Seigneur sur la terre, et à décrire les premières impressions qu'il produisit sur ceux qui en furent les heureux témoins. L'évangéliste passe entière-

(**Matthieu 28** : 20. **Marc 16** : 20. **Jean 21** : 24, 25.)

ment sous silence les paroles que Jésus prononça dans cette occasion, et il ne fait aucune allusion aux événements subséquents. C'est qu'il devait ajouter à son Evangile un autre livre où il reprendrait le récit avec de plus amples détails. Ce livre a été intitulé les ACTES DES APÔTRES, et il fera, s'il plaît à Dieu, le sujet de nos prochaines Etudes. Mais avant de le lire à son tour, disons quelques mots de la manière dont se terminent les trois autres Evangiles.

3603. (M. **28** : 20; Mc. **16** : 20.) Il y a une grande ressemblance entre les dernières paroles de Matthieu et celles de Marc. L'un conclut en transcrivant la promesse que Jésus fit à ses disciples d'être tous les jours avec eux jusqu'à la fin du monde, promesse qui, nous l'avons vu, supposait nécessairement que l'Evangile serait prêché et ses prédicateurs assistés miraculeusement; l'autre, toujours concis et toujours détaillé néanmoins, nous montre les disciples dans leur activité missionnaire et la promesse du Seigneur s'accomplissant de point en point à leur égard. Le livre des Actes des apôtres, bien qu'il ait été écrit par un autre évangéliste, n'est que le développement du dernier verset de Marc et le récit circonstancié de la manière dont se réalisa la prédiction contenue dans le dernier verset de Matthieu.

3604. (Jean **21** : 24, 25.) L'apôtre saint Jean, qui eut pour mission spéciale de compléter les trois autres Evangiles et qui, de cette manière, leur appose indirectement le sceau de son autorité apostolique, de sa plus grande intimité avec le Seigneur et de sa longue expérience des grâces de Dieu, Jean finit en attestant la fidélité de sa relation, et il le fait de ce ton calme et ferme qui n'appartient qu'à la vérité. Bien plus, parlant de soi au nom de l'Eglise entière, il ajoute ces mots remarquables : « Et nous savons que son témoignage est vrai. » En cette forme aussi, c'est un appel qu'il adresse à vos consciences, mes chers lecteurs.

3605. Avouez effectivement que, si l'on étudie avec soin les Evangiles, il est impossible de ne pas être frappé du caractère de parfaite sincérité qu'ils présentent. C'est avec une naïveté sans égale que les auteurs de ces livres, pleins des plus délicats ménagements de la charité envers tous, confessent leurs nombreuses fautes et celles de leurs collègues : leur ignorance, leurs préjugés, leur incrédulité, leur orgueil, leur ingratitude, leur lâcheté, le reniement de l'un d'eux et la trahison d'un autre. Et ce n'est pas avec l'intention de relever d'autant ce que, dans un livre humain, l'on appellerait leur héros; car je ne me souviens pas qu'il leur arrive une seule fois d'établir un paral-

(**Jean 21** : 24, 25.)

lèle quelconque entre eux et lui. Ce n'est pas non plus uniquement parce qu'ils étaient des hommes véridiques, car l'homme le plus vrai n'est pas obligé de tout dire; mais c'est qu'ils ont raconté ce que le Saint-Esprit a voulu qu'ils racontassent, les choses mêmes qu'ils auraient eu, semble-t-il, le plus d'intérêt à cacher pour l'honneur de Celui qui les avait choisis, comme pour le succès de leur prédication devant le monde.

3606. L'inspiration divine des Evangiles brille surtout dans le compte qu'ils nous rendent des nombreux discours de notre Seigneur. Quand on pense que, non-seulement aucun de ces discours ne fut écrit à l'instant même; que plusieurs furent prononcés alors que les disciples, agités par toutes sortes de craintes, devaient avoir une peine extrême à prêter attention; qu'il n'y en a qu'un très petit nombre enfin qu'ils aient compris au moment où ils sortirent de la bouche du Seigneur, il est manifeste que, pour avoir pu les répéter devant leurs propres auditeurs, plusieurs années ou du moins plusieurs semaines après les avoir entendus ; pour avoir pu les écrire ensuite tels que nous les lisons dans les Evangiles, si admirables, si évidemment originaux, il faut de toute nécessité que le Seigneur ait accompli la promesse qu'il leur avait faite en ces termes : « Le Saint-Esprit vous remettra en mémoire les choses que je vous ai dites. » Oui, c'est le Saint-Esprit, l'Esprit que Christ envoie, c'est lui qui, répétant, traduisant, abrégeant peut-être, modifiant et groupant les paroles de Jésus, a parlé par la bouche des évangélistes.

3607. L'inspiration des Evangiles ne paraît pas moins dans le simple exposé des faits. Il en est plusieurs dont les apôtres ne furent nullement témoins, quelques-uns même qui n'étaient à la connaissance d'aucun homme, et que les évangélistes nous racontent toutefois du ton de la plus entière certitude. Je mentionnerai seulement la tentation de notre Seigneur, son agonie en Gethsémané, la manière dont il sortit du sépulcre, événements d'une grande importance; j'y ajoute, ce qui me paraît encore plus frappant, l'assurance avec laquelle ils décrivent les émotions les plus secrètes de Jésus et nous révèlent ses pensées les plus intimes. Après cela, n'avez-vous pas remarqué l'accord vraiment merveilleux des quatre Evangiles, malgré tant de dissemblances? C'est une harmonie comme celle qu'on admire dans toutes les œuvres de Dieu, œuvres si diverses au sein de la plus parfaite unité. Ou, si l'on veut, c'est comme une grande composition musicale, où l'on voit, par moments, une partie des musiciens poser

(**Jean 21** : 24, 25.)

leurs instruments ou les tenir immobiles sous leurs doigts, pour les reprendre à une note donnée, dans un grand morceau d'ensemble. Mais cet ensemble, comme chaque détail du concert, est l'œuvre d'un compositeur unique, dont l'esprit, on peut dire, préside encore à l'exécution. Matthieu, Marc, Luc et Jean ont eu, chacun, la tâche qui lui fut assignée par le maître; nul d'entre eux, à lui seul, n'est complet; mais leurs pensées et leur plume furent conduites par le Saint-Esprit, de manière que le quadruple récit s'harmonisât finalement et présentât aux siècles futurs tout ce qui doit produire et alimenter la foi des élus de Dieu. L'un d'eux, il est vrai (Matthieu), semble rompre cette harmonie en ce qu'il s'écarte fréquemment de l'ordre chronologique; mais, dans la manière même dont il groupe les faits, il y a une intention de Dieu souvent manifeste; et, quand on remet ces faits à leur place, on n'en est que plus frappé de la conformité de sa relation avec celle des trois autres. On dirait quelquefois que ses pages sont extraites littéralement, mais çà et là, d'un écrit préexistant; mais non, il n'y a pas eu d'autre histoire de notre Seigneur que celle qui, d'abord prêchée ou racontée de vive voix par les apôtres sous l'inspiration divine, fut plus tard écrite par les quatre évangélistes également inspirés. L'unité qui existe entre eux vient de ce qu'il n'y a eu dans le fond qu'un historien : le Saint-Esprit.

3608. Enfin, je dirai que l'inspiration des Evangiles se voit encore dans les choses mêmes sur lesquelles ils ont gardé le silence. Après avoir complété ses prédécesseurs, Jean déclare qu'il est loin d'avoir tout dit (25); non qu'il y eût rien à cacher, mais parce qu'il eût été impossible d'épuiser le sujet sans multiplier les volumes, au point d'en rendre la possession et l'étude inaccessibles à la généralité des hommes. Représentez-vous en effet ces trois années et demie du ministère de notre Seigneur, durant lesquelles il ne cessa pas un instant de faire les œuvres de son Père. Si toutes ses actions et toutes ses paroles nous avaient été rapportées en détail, il n'y aurait pas eu de fin aux livres qu'on en aurait écrits. L'apôtre exprime cette pensée en des termes qui ont paru exagérés; mais il ne faut pas oublier que son Evangile proclame plus que les autres l'éternelle divinité du Sauveur. Or, à ce point de vue, il est clair que le monde ne saurait contenir les livres où seraient écrites ses œuvres une à une. Après quoi, il est à remarquer que le mot traduit ici par « contenir, » signifie aussi « comprendre, » et certainement, le monde entier ferait effort pour comprendre et retenir de tels livres, s'ils existaient, qu'il ne saurait y

parvenir; car Dieu et ses œuvres, c'est la hauteur des cieux et la profondeur des abîmes.

3609. Parmi les choses que les Evangiles ont passées sous silence, il en est surtout qui auraient singulièrement satisfait notre curiosité naturelle et sur lesquelles les auteurs sacrés n'eussent pas manqué de dire ce qu'ils savaient ou présumaient, s'ils avaient été abandonnés à leurs propres pensées. Ce n'est pas qu'on puisse voir en eux des hommes qui dissimulent leur ignorance des faits sous le vague des expressions, car rien n'est plus explicite ni plus détaillé que leur récit, quand Dieu l'a jugé convenable; mais là où bien souvent nous aurions désiré qu'ils parlassent, ils se taisent absolument. Puis, quand on se demande quelle a pu être la cause de ce silence, on reconnaît que ce qui est omis n'était pas nécessaire, et même, la plupart du temps, qu'il valait beaucoup mieux que nous ne le connussions pas. Or, qui donc, si ce n'est l'Esprit de Dieu, a pu donner à ces quatre hommes le discernement de ce qu'il fallait taire et de ce qu'il fallait dire? D'où a pu leur venir cet accord dans le silence, accord qui ne saurait être prémédité, tant le témoignage de chacun d'eux est indépendant de celui des autres?

3610. L'harmonie des Evangiles est particulièrement admirable en ce qui concerne la personne du Sauveur. Aucun d'eux ne nous en trace le portrait, et néanmoins si l'on passe de l'un à l'autre, on y reconnaît partout le même Jésus, et, partout, un Etre tel qu'il ne s'en trouve pas un de pareil dans aucune histoire, ni dans aucune fiction. C'est qu'en effet personne, sur la terre, n'a réuni en soi, comme Jésus, l'idéal et le réel. Jésus est la perfection humaine jointe aux perfections divines; tellement homme que plusieurs ont nié sa divinité, et tellement Dieu que, dans les premiers temps de l'Eglise, plusieurs nièrent son humanité. Tout en lui forme un ensemble, parfait de vérité et pourtant indescriptible; en sorte que si les hommes qui parlèrent les premiers de Jésus, l'avaient fait selon leur propre esprit, ils n'eussent pas manqué de défigurer leur modèle dans la prétention de le reproduire. Et nous, maintenant, essayerons-nous d'esquisser tout au moins le caractère, à la fois humain et divin, du Seigneur Jésus? Il faudrait la plume d'un ange pour y réussir; aussi je ne sache pas qu'on l'ait souvent tenté. C'est comme les essais que la peinture et la sculpture se sont permis pour offrir aux yeux l'image de Celui en qui il n'y eut « ni beauté, ni éclat pour attirer les regards, ni apparence pour exciter les désirs » (Esaïe **53** : 2), et qui toutefois « surpassait en beauté les enfants des hommes » (Ps. **45** : 3). A défaut de portrait original et

même de tout renseignement certain sur l'extérieur de Jésus, sur cet extérieur qui ne présentait quoi que ce fût de saillant et qui pourtant devait avoir quelque chose d'inexprimable, il a fallu inventer; mais, malgré l'habileté des artistes, le chrétien préférera toujours aux plus belles images de Jésus-Christ, la simple idée que la foi et l'amour en ont gravée dans son cœur. C'est ce qui arriverait, et plus encore, à la description que nous voudrions faire de sa figure morale. Sans l'avoir proprement cherché, les évangélistes ont dit là-dessus tout ce qu'il fallait et comme il le fallait.

3611. Une entreprise moins difficile, c'est de grouper, dans leur ordre chronologique, les principaux traits de la vie de notre Sauveur et de signaler le caractère spécial de chacune des dix périodes qui embrassent sa carrière terrestre. Déjà dans la première, nous le voyons, dès l'âge de douze ans, occupé aux affaires de son Père; mais c'est à la seconde proprement qu'il se met à l'œuvre. Baptisé du Saint-Esprit, il est tenté par Satan; il appelle à lui trois ou quatre disciples et fait son premier miracle aux noces de Cana. Cela se passait dans l'hiver avant la première des quatre Pâques dont la supputation forme la chronologie de son ministère. Jusqu'ici, ce que Jésus est, et ce qu'il fera, n'est encore qu'indiqué.

3612. La troisième période renferme un an tout entier, et, bien que longue, ce n'est pas celle qui offre le plus d'événements importants. Ici, néanmoins, nous avons la première prophétie de Jésus sur sa résurrection, ses sérieux entretiens avec Nicodème et avec la Samaritaine, le sermon de la montagne, de nombreux miracles et la vocation des premiers apôtres. Ce fut au commencement de cette année que se termina le ministère préparatoire de Jean-Baptiste. A ce moment, Jésus avait peu de rapports avec Jérusalem et avec les hommes qui y dominaient : la Galilée était le principal théâtre de ses miséricordes et il ne se présentait pas encore à tous comme le Christ. Mais s'il ne disait pas ouvertement ce qu'il était, assez de choses lui rendaient témoignage auprès des Israélites pieux qui attendaient la consolation promise à leurs pères.

3613. Avec la quatrième période (intervalle de six mois environ), commencent les grandes luttes de notre Seigneur. Des pharisiens, venus de Jérusalem, l'attaquent au milieu de ses amis de Galilée, et, confondus par la force de ses discours, ils forment, à cette époque même, des projets homicides contre sa personne. Ceci est un temps de grandes choses : l'élection définitive des douze apôtres, la prison de Jean-Baptiste, les paraboles du royaume des cieux, sans parler de

divers miracles, entre lesquels il faut pourtant signaler la résurrection du fils de la veuve de Naïn et celle de la fille de Jaïrus, gages, en quelque sorte, de la propre résurrection de Jésus.

3614. D'une durée à peu près égale, la cinquième période, plus courte dans le récit des Evangiles, est d'une importance non moins grande. Cette fois, Jésus se rend à Jérusalem; il y fait un miracle dont toutes les circonstances étaient de nature à attirer fortement l'attention sur sa personne, et il part des attaques mêmes de ses ennemis pour proclamer hautement son éternelle divinité. Ici, nous avons la première mission des apôtres; à cette occasion, des prophéties dont l'accomplissement est de tous les jours; puis la mort de Jean-Baptiste, et, comme conséquence du miracle des pains, de solennelles instructions sur la foi.

3615. La sixième période est aussi d'à peu près six mois. Jésus étant retourné en Galilée, y est poursuivi par ses ennemis de Jérusalem. Pour se soustraire à leurs menaces, il porte ses pas dans la Phénicie, d'où il revient en Galilée, après un séjour à Césarée de Philippe. Ces voyages se firent pendant l'été de la dernière année de notre Seigneur. Le moment de sa mort approchait, c'est-à-dire le moment extrême de son humiliation; aussi fut-ce alors qu'il voulut donner à trois de ses disciples une idée de la gloire céleste qui lui était réservée ainsi qu'à eux. On comprend que je parle de sa transfiguration.

3616. Plus courte que les précédentes, la septième période ne compte que dix semaines; mais elle ne laisse pas d'être une des plus considérables par les enseignements qui sortirent de la bouche du Seigneur, et par les lieux où il les prononça. Ce fut essentiellement Jérusalem et la contrée voisine. A cette époque appartiennent de nouveaux discours de Jésus sur sa divinité et sur les fruits de sa mort prochaine; la mission de soixante et dix disciples; de nombreuses discussions avec les pharisiens; une première prophétie contre Jérusalem; enfin d'abondantes exhortations à la repentance, tantôt sous forme de paraboles, tantôt par enseignement direct. Je ne saurais entrer dans plus de détails sans m'allonger outre mesure. Il me suffira de rappeler qu'à ceci se rattachent à peu près quatre chapitres de saint Jean (**7-9**), huit à neuf de Luc (**10-18**), et les endroits correspondants de Marc et de Matthieu, y compris le chapitre **18** de ce dernier Evangile.

3617. Voici maintenant le dernier hiver; c'est notre huitième période : trois mois au plus. Elle s'ouvre à Jérusalem comme la précédente, et se ferme dans la ville obscure d'Ephraïm, après nous avoir montré Jésus presque exclusivement dans la Pérée, de l'autre côté du

Jourdain. Ce qui forme le trait le plus saillant de cette période, c'est le miracle particulièrement solennel de la résurrection de Lazare. Ce temps fut d'ailleurs à Jésus lui-même comme un temps d'arrêt, pendant lequel la sainte victime se préparait pour le sacrifice. Ce n'est pas que ses actes et ses discours y soient insignifiants; car c'est ici que nous avons l'histoire des petits enfants auxquels Jésus imposa les mains, celle du jeune magistrat, honnête mais plein de propre justice, celle enfin de Zachée; puis, les paraboles des ouvriers et des marcs, de grandes promesses faites aux fidèles, et une nouvelle prédiction fort explicite sur la catastrophe dont Jérusalem allait être le lugubre théâtre.

3618. C'est donc en cette ville que Jésus se rend pour la dernière fois, environ trois ans et demi après être entré dans son ministère. Cette période-ci, plus courte que toutes les autres, ne compte que sept jours; mais quelle semaine! Vous en avez le souvenir trop présent pour que j'y revienne. Quatre jours en font la principale importance : le dimanche, jour de l'entrée triomphale de Jésus dans la ville sainte; le mardi, jour des grandes paraboles et des grandes prophéties; le jeudi, jour de l'institution de la Cène, et le vendredi, jour des jours, puisqu'il entendit sonner l'heure pour laquelle Jésus est venu dans le monde.

3619. Ce fut, en somme, une vie fort simple que celle de Jésus-Christ. On y chercherait vainement ces incidents inattendus, ou cette complication d'événements qui répandent tant d'intérêt sur les histoires inventées par les hommes et qui se retrouvent même dans quelques récits véritables. Tout se développe comme il était facile de le prévoir, et les faits, bien que divers, y ont une grande uniformité. C'est toujours Jésus allant de lieu en lieu, faisant du bien, excitant une vive admiration parmi le peuple et une opposition non moins vive chez les chefs et chez les docteurs, saisissant toutes les occasions de répandre à grands flots la lumière, consolant, avertissant, censurant tour à tour, se préparant enfin lui-même et préparant les autres à l'inévitable issue vers laquelle il aspire sans cesse, bien qu'en la redoutant. Cette histoire toutefois a son merveilleux dans les nombreux prodiges dont Jésus-Christ fut l'auteur; mais on aurait tort de les envisager comme la partie essentielle de l'Evangile. J'en excepte ceux dont il fut lui-même l'objet; par où j'entends notamment son incarnation, l'effusion du Saint-Esprit sur sa personne lors de son baptême, sa transfiguration, surtout son relèvement d'entre les morts et son élévation dans la gloire. Avec sa résurrection commença pour

lui une nouvelle période de quarante jours, mais une période qui, se rattachant d'ailleurs à sa carrière terrestre, s'en distingue néanmoins d'une manière fort tranchée. C'est le Christ préparant son triomphe, donnant là-dessus des directions à ses disciples et leur distribuant ses grâces; c'est le Rédempteur des hommes s'occupant d'eux toujours, mais ne vivant plus au milieu d'eux; c'est le Seigneur annonçant et commençant l'œuvre que le Saint-Esprit, le Consolateur allait accomplir à la gloire de l'Eternel Dieu, Père, Fils et Saint-Esprit.

3620. Pour en revenir aux miracles de Jésus-Christ, ses contemporains eux-mêmes comprirent bien qu'ils avaient moins d'importance que sa doctrine. Amis et ennemis s'accordèrent à lui donner le nom de Rabbi, ou de docteur, ou de maître, en entendant par ce dernier mot un homme qui enseigne. De nos jours encore, ce que le monde se plaît surtout à voir dans l'Evangile, c'est une doctrine, et dans cette doctrine, une morale qu'on ne se lasse pas d'admirer. A le bien prendre cependant, le Seigneur n'est pas plus venu sur la terre dans le but essentiel d'y prêcher, que dans celui d'y faire des miracles. Il y est venu pour mourir et pour expier nos péchés par sa mort. Mais on peut dire aussi que ses paroles et ses actes, que son incarnation même et sa vie entière ici-bas, ont eu pour objet essentiel la révélation de sa personne, et, par elle, la pleine révélation du Père et du Saint-Esprit. Voilà ce qui me paraît constituer le fond de l'Evangile : tout le reste ne fait que s'y rattacher, et c'est ainsi que le Nouveau Testament complète l'Ancien. De cette révélation de Jésus-Christ sortent les dogmes de la foi et les principes de la morale; mais Jésus-Christ lui-même, et sa vie, et sa mort, et sa résurrection, sont des faits avant d'être une doctrine.

3621. Que si je voulais présenter un sommaire des dogmes qui résultent de ces grands faits et que Jésus lui-même a proclamés, je risquerais d'affaiblir ce qui a tant de force dans sa bouche et de ternir la lumière qui jaillit de ses moindres paroles. Pour m'en tenir aux impressions qu'ont dû nous laisser nos dernières Etudes, comment pourrions-nous maintenant douter de l'amour de Dieu, du besoin que nous avons de sa grâce et de la certitude du salut que Jésus s'est chargé de nous acquérir? Comment ne sentirions-nous pas la valeur infinie de nos âmes, la suprême importance de l'éternité et la nécessité de nous convertir pendant qu'il en est temps? Comment encore, si nous croyons ces choses, ne comprendrons-nous pas l'obligation de glorifier le Dieu de notre délivrance, en lui rendant le culte spirituel qui lui appartient, en nous humiliant et nous réjouissant tout

à la fois sous sa main puissante et pleine de pardon? Comment, enfin, le grand amour de Dieu répandu dans nos cœurs par le Saint-Esprit, ne nous enseignerait-il pas à aimer notre prochain comme nous-mêmes, et nos frères comme le Seigneur nous a aimés?

3622. Retracez à votre souvenir les enseignements et les miracles de Jésus; rappelez-vous ce qu'il fut lui-même, soit en sa vie, soit en sa mort; vous reconnaîtrez que tout revient à cela, et que cela même se réduit à croire en lui. D'un autre côté, si vous vous rendez bien compte de l'œuvre entière de notre Sauveur, vous verrez que, parfaite à un certain point de vue, elle avait pourtant besoin d'être complétée. Non-seulement, en la prenant à l'heure où Jésus mourut, il fallait que sa résurrection vînt sanctionner, consommer et couronner ses enseignements, ses souffrances et sa victoire sur Satan; mais encore il fallait qu'il fût prêché au monde et que, sur le fondement de ses humiliations et de son triomphe, ses disciples élevassent un nouveau temple à la gloire de Dieu, j'entends par ce temple l'assemblée des rachetés ou autrement l'Eglise. Mais cela, ils n'ont pu le faire sans dire et sans développer à fond ce que le Seigneur ne fit souvent qu'indiquer durant son ministère. Rien n'est plus évident, par exemple, que sa mort est le point central de toute son œuvre. Or, par la force même des choses, le Seigneur n'avait pu y faire que des allusions, non plus qu'à sa sortie de la tombe. Il était réservé aux témoins de ce double événement d'en exposer au monde toute la signification, et c'est pour cela même qu'ils devaient recevoir le Saint-Esprit.

3623. Voilà donc, mes chers lecteurs, ce qu'il nous reste à étudier de la bonne Parole de Dieu. C'est, j'ose le dire, l'essentiel; car Dieu lui-même a dit que « la fin d'une chose vaut mieux que son commencement » (Ecclés. 7 : 8). Dans la Loi et dans les Prophètes, nous avons vu le Sauveur annoncé; dans les Evangiles, nous le voyons s'abaissant et se dévouant pour nous, méprisé et maudit, succombant en quelque sorte sous les coups de l'Adversaire. Après avoir assisté à sa résurrection et à son ascension, nous allons contempler le merveilleux accomplissement de ses promesses, et nous admirerons comment la révélation qu'il nous a faite de sa personne et de son œuvre par l'organe des apôtres, a pu réellement surpasser à plusieurs égards celle qu'il en avait faite lui-même.

Que le Dieu et Père de notre Seigneur Jésus-Christ daigne nous accorder, par son Saint-Esprit, de poursuivre notre travail sous son regard, avec bénédiction pour nos âmes et à la gloire de sa miséricorde!

# ACTES DES APOTRES.

## CCLXXII. — Nouveaux détails sur le dernier entretien de Jésus avec ses disciples et sur son ascension; remplacement de Judas.

3624. (Actes 1 : 1.) Le livre des Actes, adressé à Théophile (Luc 1 : 3) n'est que la continuation de l'Evangile de Luc. C'est encore un récit des choses que Jésus a faites (Jean 21 : 25), mais qu'il a faites par le ministère de ses serviteurs. Il renferme une période de trente années seulement; il ne parle que du plus petit nombre des apôtres, et il est loin d'épuiser tout ce qu'il y aurait eu à dire sur ceux mêmes dont il s'occupe le plus. On peut cependant l'envisager comme l'histoire de la conversion du monde, en ce sens qu'on y voit l'Evangile prendre insensiblement possession des pays et des hommes les plus divers, s'établir d'abord dans la cité sainte où David et ses successeurs avaient eu leur trône, et passer de là dans la ville des Césars, capitale du quatrième empire prophétisé par Daniel. La fondation du royaume des cieux annoncé par les prophètes et par notre Seigneur Jésus-Christ, tel est donc le sujet du livre intitulé : LES ACTES DES APÔTRES.

3625. (2-5). C'est de ce royaume, nous dit Luc, que le Seigneur avait occupé ses disciples, dans les diverses entrevues qu'il eut avec eux durant quarante jours, depuis son relèvement d'entre les morts, instructions qui n'étaient pas entièrement nouvelles, mais qu'il accompagna, cette fois, d'ordres nouveaux [3591]. En même temps, une action particulière du Saint-Esprit commençait à leur faire comprendre comment les souffrances du Seigneur avaient dû être le point de départ de sa gloire et de son règne. Mais cet Esprit d'intelligence, que Jésus leur infusait tout en leur révélant de vive voix sa pensée, n'était que les arrhes de l'onction plus abondante qu'ils avaient à en recevoir bientôt, selon la parole du fils de Zacharie (Luc 24 : 49; Matth. 3 : 11) [5573].

3626. (6-8.) Après ce court résumé, Luc reprend le récit de la dernière apparition de notre Seigneur, pour raconter plus en détail les merveilles de son ascension et nous transmettre, du moins en partie, l'entretien qu'il eut alors avec ses disciples. Ceux-ci, pressentant l'heure de la séparation, demandèrent au Seigneur si le temps était venu « où il rétablirait le royaume pour Israël. » On a cru re-

trouver dans cette question l'esprit charnel des disciples, comme s'ils avaient pu méconnaître encore la nature spirituelle du royaume des cieux. Mais il se peut aussi que, faisant très bien la distinction qui existe entre le royaume des cieux proprement dit et le rétablissement d'Israël, ils s'informassent, et quoi de plus naturel ! s'ils verraient de leurs yeux la réalisation des prophéties relatives à ce rétablissement. Aussi le Seigneur ne leur reprocha-t-il point d'être dans l'erreur sur le fond même de la question. Oui, semble-t-il leur dire, « il y aura un rétablissement, un royaume pour Israël ; vous faites bien d'y croire et de l'espérer; mais quant au temps et aux moments, le Père se les est réservés, et puisqu'il ne les a pas révélés clairement dans sa Parole, vous devez consentir à les ignorer. » Ce n'était pas là, d'ailleurs, ce qui devait le plus préoccuper les apôtres. L'établissement du royaume des cieux, ou du nouvel ordre de choses fondé sur la mort du Sauveur, marchait avant le rétablissement d'Israël. Attester en tous lieux la résurrection de Jésus-Christ, et, à cet effet, recevoir du Saint-Esprit une puissance divine, voilà ce qui, pour l'heure, était l'essentiel.

3627. Cette réponse de notre Seigneur doit être prise en sérieuse considération par les chrétiens qui, de nos jours, s'enquièrent avec une nouvelle sollicitude des temps fixés, non-seulement pour la restauration d'Israël, mais encore pour l'accomplissement de toutes les prophéties qui s'y rattachent. Je suis loin de blâmer les recherches auxquelles des cœurs pieux se livrent sur ce sujet; mais ce qu'il me paraît nécessaire de rappeler, c'est, d'un côté, que, malgré les indications qui nous sont fournies là-dessus par les Ecritures, la chronologie des prophéties non accomplies ne saurait s'établir avec une parfaite certitude; et, d'un autre côté, que ces recherches ne doivent jamais nous détourner de notre devoir prochain, qui est, dans le cas actuel, de porter ou de faire porter l'Evangile par toute la terre. Car, pour le redire [3598], si les apôtres ont dû commencer l'évangélisation du monde, la pousser même jusqu'à un point étonnant, puisque Thomas, par exemple, paraît avoir prêché la bonne nouvelle dans les Indes et Paul en Espagne, « les extrémités de la terre » alors connue, il n'en est pas moins vrai qu'ils n'ont fait que commencer. L'œuvre est donc à poursuivre, dans l'intérêt même de l'accomplissement des prophéties, et à poursuivre aussi longtemps qu'il y aura quelque portion du globe recouverte des ténèbres de l'idolâtrie, ou que le Seigneur ne nous aura pas dit de quelque manière : C'est assez.

(**Actes 1** : 9-11; 12-14.)

3628. (9-11.) Il nous le dira, par le fait, lors de son retour sur la terre. Quand il fut monté au ciel, écrit l'historien sacré, et qu'une nuée l'eut dérobé aux yeux des disciples, ceux-ci furent longtemps sans pouvoir détourner leurs regards de la place où ils avaient vu Jésus disparaître. Pour les tirer de cette espèce d'extase, deux anges vinrent leur annoncer, comme une grande consolation, que Jésus descendrait un jour du ciel de la même manière qu'ils l'y avaient vu monter. C'est ce que le Seigneur leur avait dit et répété (Luc **17** : **22**; Jean **14** : 3); mais ce n'était pas trop de le redire encore à des hommes toujours si oublieux, ainsi que nous, des traits mêmes les plus essentiels de la révélation divine. Ainsi donc, Jésus-Christ est au ciel, mais il en reviendra; il en reviendra dans son humanité, mais dans son humanité glorieuse; telle est la promesse qui va faire désormais le fond des espérances des disciples de Jésus-Christ, promesse donnée par le ministère des anges, mais procédant bien réellement du Seigneur.

3629. De la montagne des Oliviers, dont le pied était à mille pas environ des murailles de Jérusalem (la plus grande distance que les rabbins permissent de franchir, un jour de sabbat), les disciples retournèrent à la sainte cité, d'où ils étaient sortis pour avoir à Béthanie, ou près de là, leur dernier entretien avec le Seigneur. Tous originaires de la Galilée, ils ne possédaient pas de maisons à Jérusalem, mais ils y avaient des amis, et c'est probablement chez l'un d'eux ou dans un caravansérail, que logeaient les onze apôtres. Leurs noms nous sont donnés ici comme dans l'Evangile; mais, pour les quatre premiers, avec un léger intervertissement d'ordre dont il est aisé de se rendre compte. Si le nom d'André avait été précédemment accolé à celui de son frère, maintenant ce sont les noms de Jacques et de Jean, parce qu'il avait plu au Seigneur de les choisir, avec Pierre, pour être ses principaux témoins, en trois circonstances importantes [3016, 3094, 3473]. Ils persévéraient tous dans la prière et dans la supplication, seul moyen qui leur restât pour demeurer avec le Seigneur; et, à leurs saints exercices se joignirent, outre bon nombre de frères sans doute, les femmes que nous avons vues souvent auprès de Jésus et Marie, sa mère. Celle-ci était là comme simple disciple, et non comme médiatrice entre les hommes et le Seigneur. Il ne serait pas nécessaire de le dire, sans les erreurs de la superstition romaine; mais le rôle de cette femme, d'ailleurs bienheureuse (Luc **1** : 48), fut si peu celui qu'un nouveau paganisme a voulu lui attribuer,

que, dès ce moment, il n'est plus fait d'elle aucune mention quelconque. Il est probable que Dieu lui accorda bientôt la grâce de mourir, et que l'apôtre Jean lui ferma les yeux (Jean **19** : 27); mais cela même ne nous est pas raconté. Quant à une prétendue assomption de la vierge, c'est une pure invention des prêtres romains.

3630. (15-26.) Dix jours se passèrent entre l'ascension de notre Seigneur et la Pentecôte. Ce fut dans cet intervalle que les apôtres conçurent le projet de combler le vide que le traître Judas avait laissé dans leurs rangs. Le Seigneur leur en avait-il donné l'ordre? ou bien faisaient-ils du nombre douze un nombre tellement sacramentel qu'il fallut le compléter avant de se mettre à l'œuvre? Ni l'un, ni l'autre, probablement. Qu'un des leurs, et même un des plus éminents, vienne bientôt à sceller de son sang la vérité de son témoignage et la sainteté de sa vie, ils ne songeront pas à le remplacer, heureux en quelque sorte d'avoir à se rappeler sans cesse, par son absence même, la gloire de son départ (**12** : 2). Mais la place alors inoccupée leur retraçait trop vivement le crime du malheureux Judas et sa fin déplorable; puis, il y avait là-dessus une prophétie. Si d'ailleurs nous voyons Pierre prendre l'initiative, nous ne l'attribuerons pas seulement à la vivacité et à la résolution de son caractère, nous ajouterons qu'il était probablement le plus âgé des apôtres, qu'il faut à toute assemblée un président, et que Pierre avait à la présidence une vocation spéciale du Seigneur (Luc **22** : 32). Toutefois, ce ne fut jamais en pape que Pierre parla au milieu de ses frères; puis, la position personnelle qu'il occupa parmi eux ne devait ni ne pouvait se transmettre à personne.

3631. Cent vingt individus, y compris les apôtres, se trouvaient réunis, lorsque Pierre prit la parole pour rappeler la prophétie relative à la trahison de Judas (Jean **13** : 18-20) et la fin lamentable de ce malheureux disciple. Puis, alléguant en faveur de l'avis qu'il allait ouvrir, deux passages extraits de deux psaumes messianiqnes (Ps. **69** : 25; **109** : 8), il proposa le remplacement de Judas et le mode de ce remplacement. A son invitation, l'assemblée présenta ou indiqua, nomma deux disciples, Joseph et Matthias; et quand ils eurent prié le Seigneur de désigner lui-même l'homme qu'il avait choisi, on jeta le sort sur eux, et Matthias fut ajouté aux onze envoyés ou apôtres.

3632. Il est à remarquer là-dessus comment, à défaut d'ordre formel du Seigneur, Pierre s'appuie sur les Ecritures pour légitimer sa

proposition. Le Seigneur lui avait dit, ainsi qu'à ses collègues, et dans leurs personnes, à l'Eglise future, que tout ce qu'ils lieraient sur la terre serait lié dans les cieux; mais voyez comme ils comprennent bien qu'il fallait toutefois, pour cela, que leurs décisions fussent en harmonie avec la Parole de l'Eternel. Remarquez ensuite quelle foi Pierre avait à l'inspiration des Ecritures : « Le Saint-Esprit a dit d'avance par la bouche de David..... » C'est du reste ce que le roi-prophète avait exprimé lui-même (2 Sam. 23 : 2), et ce qui est vrai de tous les prophètes, en sorte que nous avons dans leurs écrits la parole vraie du Saint-Esprit. Il ne faut pas, d'après cela, nous étonner si le langage des prophètes ne s'explique pas toujours exactement par les mêmes règles que le langage humain; si, par exemple, là où David ne semble parler que de lui et de ses ennemis, comme dans les deux passages cités par Pierre, il entend réellement parler de Jésus-Christ et des auteurs de sa mort, notamment de Judas. Admirez, en outre, de quel ton plein de calme et de modération Pierre entretient ses frères du disciple apostat : point d'épithètes injurieuses, point d'exclamations passionnées. Cela n'empêche pas que sa parole ne soit d'une grande force; car il parle du champ acheté au moyen des trente pièces d'argent, comme si Judas en avait fait lui-même l'acquisition. Oui, c'était son argent, un argent horriblement gagné qui avait été échangé contre le Champ du Sang. Quant à la description que fait ici de la catastrophe un homme qui n'en avait sûrement pas été témoin oculaire, mais qui devait être bien informé, quoique différente du récit de l'Evangile [3514], elle doit pouvoir se concilier avec celui-ci. On pense que Judas s'étant étranglé sur le bord d'un précipice, y tomba la face en terre et s'y creva par le milieu du corps : horrible fin, après un crime plus horrible encore!

3633. La manière dont on s'y prit pour remplacer Judas me paraît pleine de sagesse et de foi, l'une de ces dispositions n'excluant jamais l'autre. D'une part, il fallait un homme qui pût, comme les onze autres, se dire le témoin des grandes œuvres du Christ; il fallait, d'autre part, qu'il pût se présenter comme envoyé par le Seigneur lui-même. On obtint ce double résultat par le choix qu'on fit de deux disciples vraiment qualifiés, et par la prière qu'on offrit au Seigneur Jésus afin qu'il désignât, au moyen du sort, celui des deux qu'il avait choisi. Cela ne signifie pas que le sort soit toujours, ni même généralement, la manière la plus sûre de connaître la volonté de Dieu; il ne faut faire intervenir cet expédient qu'à défaut de toute lumière. Mais dans cette

occasion et après la prière si simple et si fervente de l'assemblée, il est impossible de ne pas tenir pour certain que sa marche fut approuvée de Dieu. Observons, au surplus, qu'il ne nous est plus reparlé de ce Matthias, le douzième apôtre ; en sorte que, si l'auteur sacré l'a introduit dans son histoire, ce n'est pas à cause du rôle qu'il joua plus tard et qu'on ignore, c'est tout simplement par l'intérêt que présente le seul fait de son élection. Je ne veux pas dire que Matthias ait été un serviteur inutile dans la vigne du Maître ; mais je fais seulement remarquer en passant, que le livre des Actes ne prétend pas nous raconter la part que chaque apôtre prit à l'avancement du règne de Dieu.

## CCLXXIII. — La Pentecôte. Effusion du Saint-Esprit; discours de Pierre.

3634. (2 : 1.) La Pentecôte, ou Fête des semaines [910], se célébrait cinquante jours après Pâques ; elle ne tombait donc pas constamment sur le même jour, et, cette année-là, elle dut avoir lieu le vendredi. C'était à la fois une fête d'actions de grâces pour les moissons, et l'anniversaire de la publication des dix commandements sur le mont de Sinaï. Comme pour la Pâque, un grand concours de peuple se pressait alors à Jérusalem. On conçoit, en conséquence, que le Seigneur ait voulu dater de ce jour la première prédication de l'Evangile par ses apôtres, et ce qu'on pourrait appeler l'avénement de l'Eglise ou la première moisson. Quant à l'année précise qui vit ce fait merveilleux, il n'est pas facile de la déterminer. C'était l'année de la mort de notre Seigneur ; et, s'il entra dans son ministère à l'âge de trente ans, c'est-à-dire l'an 31 dès sa naissance, ou 27 de l'ère chrétienne [2590] ; si, d'un autre côté, l'on donne trois ans et demi, au moins, à son ministère, comme la chronologie des Evangiles l'exige, il serait mort dans la 34e année de son âge, ou la 30e de l'ère chrétienne. Mais Luc, le seul des évangélistes qui donne quelque indication sur ce point, peu important au fond, se borne à dire que Jésus avait environ trente ans quand il fut baptisé. Or, diverses raisons, dans le détail desquelles je ne saurais entrer, font penser que notre Seigneur devait avoir alors trente-trois ans au moins ; d'où il résulterait que sa mort, et par conséquent la fondation de l'Eglise, sortie en quelque sorte de sa croix, eurent lieu l'an 33 de l'ère chrétienne. C'est l'opinion, je crois, la plus

(**Actes 2** : 1-4; 5-11.)

généralement admise, et la date que j'adopte pour point de départ des dates subséquentes.

3635. (1-4.) Le jour de la Pentecôte étant donc arrivé, l'assemblée que nous avons vue tout à l'heure occupée à remplacer Judas, s'était de nouveau réunie dans un même lieu et encore plus dans un même sentiment d'attente en la promesse du Seigneur (**1** : 4, 5). Tout à coup, il se fit, et avec grand éclat, une abondante effusion d'Esprit-Saint. Il y eut dans toute la maison, non pas un coup de vent, mais un bruit semblable à celui que ferait un vent véhément, signe de la présence et symbole de l'action du Saint-Esprit (Jean **3** : 8). Rendus attentifs par ce phénomène, ceux qui étaient assemblés virent se poser sur chacun d'eux de petites flammes, baptême de feu dont j'ai donné l'explication [2681]. Ces flammes d'ailleurs, par leur forme, ne ressemblaient pas mal à des langues et elles figuraient ainsi le miracle qui s'opérait à cet instant même dans la personne des disciples, miracle qui ne dépasse pas la puissance créatrice de Celui qui a doué l'homme de la parole et qui confondit les langues à la tour de Babel; miracle dont la nécessité ne saurait être contestée, puisque les apôtres étaient appelés à prêcher l'Evangile parmi toutes sortes de peuples; miracle enfin qui avait aussi pour but de convaincre les disciples eux-mêmes qu'ils n'étaient pas victimes d'une illusion, tout en attestant à la multitude la divine autorité de leur mandat. Voici donc en quoi consista le prodige; c'est que des idiomes qu'ils n'avaient jamais appris leur devinrent aussi familiers que leur langue maternelle, et toutefois (ce qui ne rend pas le prodige moins frappant), ils ne les parlaient que lorsque l'Esprit le voulait et seulement pour exprimer les choses que cet Esprit leur dictait; en sorte qu'on ne peut pas dire qu'ils sussent et possédassent ces idiomes, comme quelqu'un qui se les serait appropriés par l'étude.

3636. (5-11.) A chaque fête, la ville de Jérusalem voyait sa population plus que doublée par le grand nombre d'Israélites qui y accouraient de toutes parts. Les plus éloignés s'y rendaient au moins une fois en leur vie; les plus rapprochés presque à chaque fête. Il arrivait aussi fréquemment que des Israëlites pieux abandonnaient leurs établissements lointains, pour rentrer dans le pays de leurs pères et s'y fixer; d'où il résulte que, parmi les habitants de Jérusalem, on trouvait, en tout temps et surtout à l'époque des solennités, un grand nombre de Juifs qui, nés dans la dispersion, parlaient la langue de leur pays d'origine et en portaient le nom. C'est ainsi que, de nos

(**Actes 2** : 12, 13.)

jours, il y a des Juifs allemands, français, portugais, hollandais, etc. Or, les disciples de Jésus ayant quitté leur chambre haute, poussés par le Saint-Esprit, se virent bientôt entourés, soit au temple, soit dans les places publiques, d'une foule de gens que le bruit de ce qui venait d'arriver ne tarda pas à attirer. Dans cette foule, on comptait en grand nombre ces Juifs étrangers, généralement plus pieux que les habitants mêmes de Jérusalem. Pour comprendre la scène dont cette ville fut alors le théâtre et le tableau qu'en fait saint Luc, il faut se représenter une multitude de groupes se formant sur divers lieux; les apôtres, et probablement d'autres disciples, allant de l'un à l'autre et parlant à tous de la gloire du Seigneur dans la langue familière à chacun; puis, voilà leurs auditeurs qui se mêlent ou du moins se rencontrent, qui se font part les uns aux autres de la grande nouvelle, qui se racontent leur émotion et leur étonnement : ce sont les mille propos de ces gens, que l'historien sacré résume en un seul discours, où, selon sa coutume, se trouve, « par ordre » (Luc **1** : 3), l'énumération des divers peuples et des divers pays qui avaient là des représentants.

3637. (12, 13.) Ce qui dut remplir d'admiration les auditeurs des apôtres, ce ne fut pas seulement le don que ces Galiléens avaient reçu de parler à chacun sa langue, mais encore « les grandes choses de Dieu » qui faisaient le sujet de leurs discours. En sorte qu'ils se demandaient l'un à l'autre : Que veut dire ceci? Se pourrait-il en effet que leur Maître, Jésus de Nazareth, eût été le Messie promis à nos pères? Ainsi devaient parler les hommes sérieux. Mais il y avait dans cette foule un plus grand nombre de gens qui n'étaient pas mieux disposés pour la vérité, que cinquante jours auparavant. L'énorme crime dont ils s'étaient rendus coupables en crucifiant le Seigneur, était un nouveau poids sur leur conscience endurcie et un redoublement du voile qui couvrait leurs yeux. Plutôt que de s'accuser eux-mêmes, il fallait inventer quelque prétexte pour s'obstiner dans l'incrédulité. Profitant donc de ce qu'avait d'étrange cette scène, où diverses langues se mêlaient et s'entre-croisaient, non sans une sorte de confusion, ils imaginèrent (ressource fréquente des cœurs endurcis), de tourner en ridicule les prophètes de l'Eternel; car ils ne pouvaient sûrement croire eux-mêmes ce qu'ils leur imputaient. Telle était la situation, lorsque Pierre prit la parole, et, dans une langue propre à être comprise du plus grand nombre des Juifs étrangers, en grec probablement, il prononça un discours non moins remarquable que le miracle qui l'avait précédé.

(**Actes 2** : 14-36.)

3638. En voici d'abord une courte analyse. Après avoir repoussé l'absurde accusation des adversaires (14, 15), Pierre montre, par une citation du prophète Joël (2 : 28-32), que le merveilleux événement, objet de leurs dérisions, avait été annoncé comme un signe des temps du Messie (16-21). Or ce Messie, continue l'apôtre, c'est Jésus de Nazareth, déclaré tel par ses miracles, par la mort même qu'il a soufferte selon la prescience de Dieu et selon les prophéties, mais principalement par sa résurrection (22-31). C'est sur ce point en particulier que le prédicateur insiste, rappelant à ce sujet un oracle important du roi David (Ps. 16 : 8-11), et montrant qu'en cet endroit, David n'avait pu parler que du Christ et non de lui. Pour compléter ses preuves et revenir à l'idée qui avait été son point de départ, Pierre déclare que Jésus a été enlevé au ciel, qu'il a envoyé de là le Saint-Esprit pour reproduire les merveilles dont on avait le spectacle, et que cette gloire du Christ avait été pareillement prédite par le prophète David (32-35; Ps. 110 : 1). Conclusion de tout le discours : « Que toute la maison d'Israël sache donc avec certitude, que Dieu l'a fait Seigneur et Christ, ce Jésus que vous avez crucifié » (36).

3639. (14-36.) Quelle prédication que ce premier sermon prêché par le premier des apôtres, à la première fête des Juifs depuis la mort du Sauveur! S'il ne brille pas par l'éloquence des rhéteurs, rien assurément ne l'égale en simplicité, en force et en actualité. Voyez comme Pierre va droit au fait; voyez avec quelle noblesse et avec quelle réserve, en ce qui le concernait personnellement, il dit au sujet de ses collègues, l'impossibilité de les supposer ivres à une heure de la matinée où, selon l'usage des Juifs, tous se trouvaient encore à jeun de toute nourriture; voyez avec quel courage, avec quelle décision et de quel ton ferme et modéré tout à la fois, il accuse à son tour les habitants de Jérusalem d'avoir « tué » le Seigneur, de l'avoir cloué par des mains iniques, de l'avoir crucifié. On ne saurait unir à plus de courage plus de calme; et, quand nous nous souvenons de ce qu'était Pierre : bouillant, impétueux jusqu'à la témérité; quand nous nous rappelons également cette nuit douloureuse où il se montra si léger, si timide, ou du moins si prompt à oublier ses meilleures résolutions, contraste fréquent chez des hommes de ce caractère, nous ne pouvons méconnaître l'étonnant changement qui, par la puissance du Saint-Esprit, s'était opéré dans toute sa personne.

3640. On arrive au même résultat quand on observe la sagesse et l'ordre des idées qu'il développe. Jésus est le Christ : c'est ce que

prouvent ses miracles, les prophéties accomplies en sa mort, sa résurrection, son ascension, l'envoi du Saint-Esprit, l'action sensible et actuelle de cet Esprit sur les disciples. Puis, comme Pierre s'adressait à des Israélites, il fallait les convaincre que leurs prophètes avaient annoncé toutes ces choses, et c'est ce qu'il fait en citant trois oracles très frappants et très décisifs. Mais d'où est venu au pêcheur de Bethsaïda cet art à disposer les matériaux de son discours? Où a-t-il pris cette profonde intelligence des Ecritures, lui qui, l'autre jour encore, les comprenait si mal? (Jean **20** : 9.) Comme on voit ici l'accomplissement de ces promesses du Seigneur : « Je ne vous laisserai point orphelins, je viens à vous; » « voici, je suis avec vous tous les jours, jusqu'à la fin du monde, » et « le Saint-Esprit vous enseignera ce qu'il faut dire » (J. **14** : 18; M. **28** : 20; L. **12** : 12).

3641. Or, puisque c'est par l'inspiration divine que l'apôtre Pierre a parlé, de quel respect et de quelle confiance ne devons-nous pas honorer sa parole, notamment l'interprétation qu'il nous donne des textes de l'Ancien Testament? Après l'avoir entendu, tenons pour assuré que, dans Joël et ailleurs, « les derniers jours » signifient les temps du Messie, temps qui commencèrent à la naissance de Jésus-Christ et qui alors déjà s'annoncèrent par une effusion toute nouvelle d'Esprit-Saint [2626, 2629, 2648, 2653]; temps que marqua mieux encore l'effusion plus abondante de ce même Esprit, le jour de la Pentecôte; temps vers la fin desquels nous marchons de siècle en siècle, et qui, en la grande journée du Seigneur, doivent nous montrer des prodiges plus éclatants que tous les autres. Mais, quelle que soit la portion de cette période dans laquelle on vive, « quiconque invoquera le nom du Seigneur (Jéhovah) sera sauvé » (21). Or, qu'il s'agisse ici du Seigneur Jésus-Christ, c'est bien évident, puisque l'invocation du nom de Jéhovah n'empêcha pas la ruine des Juifs qui n'avaient pas cru au Fils unique de Dieu.

3642. Nous apprenons également de Pierre, et avec une parfaite certitude (28), que David, un des plus grands prophètes du Messie, patriarche en ce sens que de lui sortit la race royale et, de cette race, le Christ, exprima souvent dans ses cantiques la confiance et la joie, les souffrances et la gloire du Rédempteur, là même où il semblait d'abord ne parler que des siennes; bien plus, qu'il l'appelait son Seigneur, encore que Dieu lui eût prédit que le Roi-Messie descendrait de lui (Ps. **110**). Si je rappelle ces choses après les avoir exposées précédemment avec quelque détail, c'est pour montrer les services

que m'a rendus le Nouveau Testament dans l'explication de l'Ancien, et pour donner à mes lecteurs un avis d'une grande importance. Ils doivent repousser résolûment tout commentaire des Ecritures qui est en désaccord avec la parole des apôtres du Seigneur; car nul docteur assurément ne saurait comprendre la Bible, mieux que ne le firent ces hommes inspirés de Dieu.

### CCLXXIV. — Effets du discours de Pierre.

3643. (37-40.) Le discours de Pierre eut des résultats qui ne doivent pas nous étonner, bien que la prédication de l'Evangile n'en ait que rarement produit d'aussi considérables. Ses auditeurs se sentirent le cœur pénétré; pénétré de douleur, de crainte, d'espérance; pénétré de respect et de confiance pour ces hommes simples et francs, qui parlaient avec tant d'élévation par la bouche de l'un d'eux; et, comme il arrive toujours quand le cœur est vraiment touché, ils leur demandèrent ce qu'ils avaient donc à faire maintenant [2677]. Une seule chose, leur répond Pierre : « vous convertir et recevoir le baptême au nom de Jésus-Christ. De là dépend le pardon de vos péchés et le don du Saint-Esprit; car c'est à vous qu'appartient la promesse, à vous et à vos enfants, et à tous ceux qui sont loin, autant que le Seigneur en appellera. » Mais, ne se bornant pas à cette courte réponse, il insistait et exhortait de diverses manières, ses discours et ceux de ses collègues revenant toujours à ceci : « Sauvez-vous loin de cette génération perverse ! »

3644. Fidèles à leur mandat (Luc 24 : 49), les apôtres prêchent donc la conversion à ce peuple de Jérusalem qui avait crucifié Jésus, et ils se montrent prêts à recevoir dans leur société, par le baptême, tous ceux qui, d'un cœur touché, en manifesteraient le désir. Comme ils comprenaient bien, maintenant, la pensée de leur Maître. Ce n'est pas tout. Les hommes auxquels ils parlaient n'étaient pas des idolâtres, plusieurs même avaient une certaine piété (5); n'importe, tous doivent se convertir. Et, bien qu'ils aient tous été circoncis, la plupart peut-être baptisés du baptême des pharisiens ou de celui de Jean, il faut qu'ils reçoivent le propre baptême de Jésus-Christ; parce que c'est en Jésus seul, le Fils de Dieu, que des pécheurs peuvent posséder le Père et recevoir l'Esprit-Saint. Convertissez-vous ! C'est-à-dire reconnaissez vos péchés, tournez vos cœurs vers Dieu, croyez en Jésus; alors le baptême sera pour vous un signe et un gage de pardon

et de renouvellement. Tel est, en substance, le salut qui se trouve auprès du Seigneur. Deux grâces le composent essentiellement, deux grâces inséparables et qui, l'une et l'autre, découlent de la croix du Rédempteur, savoir le pardon des péchés et le don du Saint-Esprit. Les plus habiles théologiens n'ont jamais exposé plus nettement la doctrine qui nous sauve. De qui donc Pierre et ses collègues l'avaient-ils subitement apprise, si ce n'est de Dieu lui-même?

3645. Ces deux grâces se rattachent à une seule et même promesse, promesse aussi ancienne que le péché dans le monde, promesse renouvelée à Abraham, promesse mille fois reproduite dès lors, et, plus récemment encore proclamée et sanctionnée par le Fils de Dieu. Les enfants d'Israël y avaient les premiers droits, parce qu'il avait été dans le bon plaisir du Père de l'adresser avant tout à Abraham et à sa postérité; mais à côté de sa postérité selon la chair, Abraham en possède une selon l'esprit [314], et la promesse appartient également à cette postérité spirituelle. Tout dépend de l'appel de Dieu, dit l'apôtre. Or, il vous appelle maintenant, vous qui lisez ces lignes, comme il appela jadis vos pères, comme il appellera vos successeurs et tous ceux auxquels il fera porter sa Parole; car c'est dans la Parole de Dieu que sont les appels de sa grâce, et cette Parole fut de tout temps destinée à faire entendre au loin la voix du Saint-Esprit.

3646. Ceux qui sont loin! Cette expression est susceptible de plus d'un sens. On peut être loin de Dieu par son incrédulité et par ses mauvaises œuvres. Sous ce rapport, ceux mêmes d'entre nous qui croient de tout leur cœur étaient autrefois bien loin de Dieu, quoique nés de parents chrétiens et baptisés dans leur enfance. Au moment où l'apôtre parlait, personne n'était plus éloigné du salut que les pharisiens et les sadducéens de Jérusalem, eux qui avaient résisté jusqu'à la fin aux appels réitérés de Jésus-Christ. Mais il est une autre sorte d'éloignement de Dieu. Le nègre qui traîne une malheureuse existence dans les sables brûlants de l'Afrique, adorant ses indignes fétiches, n'a pas la grâce de Dieu aussi près de lui que l'habitant de nos contrées maintenant si privilégiées. Je dis maintenant; car du temps des apôtres, nos pères, peuples barbares et plongés dans les plus effroyables superstitions, habitaient des contrées fort éloignées de Jérusalem, et ils étaient encore plus loin de Dieu. J'ajouterai pour nous, chrétiens du dix-neuvième siècle, que nous étions loin encore, bien loin dans l'avenir, lorsque Pierre prononça cette parole prophétique : « A vous est la promesse, et à vos enfants, et à tous ceux qui sont loin, autant

que le Seigneur notre Dieu en appellera. » Il n'est pas sûr, nous le verrons, qu'il ait eu l'entière intelligence des mots qui sortirent de sa bouche. Par ceux qui étaient loin, il entendait probablement les Juifs dispersés; mais cette circonstance même atteste que c'est le Saint-Esprit, et non son propre esprit qui parlait.

3647. Quant à ce cri que les apôtres allaient répétant, avec l'accent d'une profonde charité : « Sauvez-vous loin de cette race tortue, » ou à voies obliques (40), il revient à dire : Convertissez-vous, puisque sans la conversion, tout homme est perdu (Luc 13 : 5.) Oh ! puisse-t-il aussi retentir dans vos âmes, mes chers lecteurs, ce cri de réveil et de salut ! La génération présente n'est pas meilleure que les générations des temps passés. Bien que le mal ne s'y manifeste pas en toutes choses de la même manière, nous avons nos pharisiens et nos sadducéens. D'ailleurs, l'amour de l'argent et de la domination, l'oubli de Dieu et de l'éternité, la soif du plaisir et les mauvaises mœurs, le manque de sincérité et de droiture, surtout dans les actes de la religion; tous ces vices ne caractérisent que trop la génération actuelle. Or, il est clair qu'on ne se sauve pas avec cela, et que, si vous voulez sauver votre âme, il faut vous séparer du présent siècle mauvais, pour vous donner à Dieu.

3648. (41.) Trois mille personnes se rendirent à l'appel des prédicateurs de la bonne nouvelle et furent baptisées en ce même jour. Pour le petit troupeau, c'était un accroissement considérable : c'était peu, relativement à la multitude qui avait ouï la voix de Dieu (Matth. 20 : 16). Ainsi s'accomplit ce que le Seigneur avait dit dans la parabole du semeur, et en même temps ce qu'il avait dit à Pierre sur la part qu'il prendrait à la fondation du règne de Dieu (Matth. 16 : 18). En cet instant, l'assemblée, ou, comme on dit plus ordinairement, l'Eglise fit plus que de sortir des langes : la voilà formée; et, dans son état d'adolescence, elle nous offre un sujet d'étude plein d'intérêt et d'instruction. D'abord, nous voyons ici de quelle manière la vraie Eglise se constitue et se recrute. C'est par la prédication de la Parole et sous l'onction du Saint-Esprit. De ces trois mille individus, plusieurs sans doute, au moment où les apôtres commencèrent à prêcher l'Evangile, n'étaient pas loin du royaume des cieux (Marc 12 : 34). Ils avaient pu voir et entendre notre Seigneur quelques semaines auparavant, et qui sait s'il n'en était pas parmi eux qui l'avaient suivi déjà quelque temps, mêlés avec les disciples? Dans cette supposition même, c'était la parole de Jésus qui les avait attirés et préparés, et ce

(Actes 2 : 42.)

qui les décide maintenant, c'est encore cette parole, rendue efficace par l'effusion du Saint-Esprit en leur âme. L'Eglise donc, j'entends la vraie, se forme et se recrute par la grâce et la puissance du Seigneur; toute autre manière, telle que le simple fait de la naissance, l'empire de la coutume et des mœurs, l'action des lois et l'influence des dépositaires de l'autorité, ne servent qu'à la dénaturer. Il faut que ceux qui se joignent à l'Eglise le fassent volontairement, de plein gré, avec plaisir, selon la prophétie dont Pierre avait cité les premiers mots (Psaume 110 : 3); or ce sont précisément les dispositions que produit le Saint-Esprit. Et, s'il se trouve dans l'Eglise des âmes qui feignent ces sentiments ou qui se fassent illusion sur leurs vrais motifs, il faut au moins que le crime en soit tout à elles, la responsabilité toute sur elles, ce qui ne saurait avoir lieu lorsqu'on y est introduit par une impulsion étrangère et par une sorte de contrainte.

3649. (42.) Librement devenus membres de l'Eglise, les frères de Jérusalem persévéraient dans *la doctrine* des envoyés de Jésus-Christ. La doctrine est ce qui fait l'essence et la vie de l'Eglise. Celle-ci est une société religieuse ou spirituelle qui n'est rien que par les dogmes qu'elle professe; et, pour avoir droit à s'appeler l'Eglise du Seigneur, il faut qu'elle retienne les dogmes prêchés par les apôtres, dogmes qui ont tous Jésus-Christ pour objet, et dont nous possédons une exposition sommaire dans le discours prononcé le jour de la Pentecôte (Jean 8 : 31). — De plus, les frères de Jérusalem persévéraient dans *la communion,* mot qui ne signifie pas, selon le langage ordinaire, la participation à la sainte Cène, mais qui doit s'entendre de l'union intime des membres de l'Eglise. La société chrétienne est une famille dont Dieu est le Père et Jésus-Christ le frère aîné, en même temps qu'il en est le chef, le docteur, le sauveur; famille au sein de laquelle le Saint-Esprit répand les plus tendres et les plus pures affections (Jean 13 : 35). — Ils persévéraient dans *la fraction du pain;* c'est-à-dire qu'ils aimaient à se retracer, par cet acte, le souvenir du dernier souper de leur Seigneur et le sacrifice qu'il avait accompli le lendemain. C'est ce souvenir qui retrempait leur foi, leur espérance et leur charité. La vue du pain rompu plaçait devant eux le Sauveur expirant sur la croix et leur était un gage de son prochain retour en sa chair glorifiée (Luc 22 : 19, 20). — Enfin, les frères de Jérusalem persévéraient dans *la prière;* car ils avaient reçu l'Esprit qui fait prier, l'Esprit qui leur remettait en mémoire les nombreuses exhortations de Jésus-Christ sur ce sujet. Eloignés pour un temps du Seigneur, il

(**Actes 2** : 43; 44, 45.)

leur était doux d'entretenir ainsi des relations avec lui, soit qu'ils invoquassent le Père en son nom, soit qu'ils l'invoquassent lui-même. Tel est le tableau que présentait alors l'Eglise; modèle à suivre dans tous les temps. Qu'est-ce donc qu'une Eglise? C'est une réunion d'hommes qui, professant la doctrine des apôtres et s'aimant les uns les autres, s'assemblent pour rompre le pain en mémoire du Sauveur et pour offrir à Dieu des prières communes; je ne pense pas qu'on en puisse donner une définition plus exacte.

3650. (43.) Tandis que les choses se passaient de la sorte parmi les frères, une certaine crainte agitait la multitude, et ses chefs non moins qu'elle, comme il arrive généralement dans les réveils religieux. Faudra-t-il donc se convertir? Mais comment se décider à mener la même vie que ces gens-là, et comment nier pourtant qu'ils n'y aient trouvé la paix? Si nous les écoutons, tout est perdu pour nous du côté du monde; mais en méprisant leurs paroles, à quels dangers peut-être ne nous exposons-nous pas de la part de Dieu? Cette dernière pensée surtout préoccupait les esprits, à raison des nombreux miracles qui se faisaient par les mains des envoyés du Seigneur; en sorte que, même des incrédules se prenaient à redouter leur puissance, bien qu'ils pussent voir que leurs miracles, semblables à ceux de leur Maître, n'avaient rien de malfaisant. Toujours est-il que la présence du Dieu fort au milieu d'eux était manifeste, et il n'en fallait pas davantage pour inspirer de la crainte à des pécheurs [2823].

3651. (44, 45.) Voyez au contraire les fruits que la foi portait au milieu des frères. Pressés par le besoin de se rapprocher les uns des autres, soit au temple, soit ailleurs, on les voyait habituellement réunis en dehors de la masse du peuple, moins encore pour ne pas se mêler avec la foule incrédule, que pour resserrer les liens de fraternité qui faisaient d'eux un seul corps. Puis ils ne souffraient pas qu'il y eût dans leur sein quelque nécessiteux. En place de la dîme que la loi de Moïse assignait aux veuves et aux orphelins, ils envisageaient tout ce qu'ils possédaient comme appartenant à tous; et, s'il le fallait, on les voyait vendre quelqu'une de leurs possessions pour en faire part à ceux qui étaient dans le besoin. C'est par là qu'ils montraient à la fois leur détachement des biens du monde, leur affection pour les frères de Jésus-Christ, et l'intelligence qui leur avait été donnée de ses enseignements sur le sujet important de l'aumône. Il ne s'agit pas de savoir si, peut-être, dans la pratique, quelques-uns ne poussèrent pas les choses au delà de ce qu'il fallait; l'esprit qui les faisait

(**Actes 2** : 46, 47.)

agir était bien certainement celui de l'Evangile, et cela doit nous suffire pour les admirer et pour que nous nous disions : « Va et fais de même » (Luc **10** : 37).

3652. En vous proposant cet exemple, et à cause des circonstances présentes, je dois pourtant vous faire observer combien la communauté chrétienne diffère du communisme socialiste qu'un monde impie ose prôner au nom de l'Evangile. Il est évident, en effet, que les frères de Jérusalem furent loin d'abolir la propriété privée pour réunir toutes les fortunes dans un fonds commun : il s'agissait uniquement de venir au secours des pauvres. Mais la principale différence, c'est que tout ce déploiement d'amour et de compassion était, comme l'entrée même dans l'Eglise, parfaitement volontaire ; tandis que les communistes de notre temps voudraient atteindre leur résultat par la force des lois. Hélas ! après tant de siècles durant lesquels les institutions civiles ont contraint les incrédules à professer le christianisme, il n'est pas étonnant qu'on veuille aujourd'hui contraindre les égoïstes à agir en chrétiens. Mais comme la contrainte sous sa première forme était un meurtre, le meurtre de la conscience ; la contrainte, sous cette nouvelle forme, est une spoliation, un vol manifeste, un renversement de l'ordre social tout fondé sur la propriété. Il n'y avait rien de pareil dans la communauté des frères ; car nous verrons bientôt qu'après avoir vendu leurs biens, ils demeuraient maîtres du produit de la vente ; sans compter que cet exercice particulier de la charité fut tellement spécial à l'Eglise de Jérusalem, que nous n'en retrouverons ailleurs nulle trace. Ceci donc n'est pas un des traits qui entrent nécessairement, comme ceux de tout à l'heure, dans la définition de l'Eglise.

3653. (46, 47.) Ce que l'Eglise de Jérusalem eut également de particulier, ce fut l'habitude qu'elle conserva de se joindre à tout le peuple dans le culte qui se célébrait au temple. Si les rachetés de Jésus-Christ n'offraient plus pour eux-mêmes de sacrifices, il ne leur répugnait point d'assister à l'immolation de victimes qui, depuis des siècles, figuraient la grande expiation maintenant accomplie par le Seigneur ; et lorsque, à l'heure de la prière, on faisait fumer le parfum, ils aimaient à porter leurs supplications devant le trône de la grâce. Le temple, et le culte qu'on y célébrait, avaient un tel caractère de sainteté divine, le Seigneur Jésus lui-même les avait tellement honorés de sa présence, que ses disciples, fils d'Abraham et des prophètes, ne songèrent point à s'en éloigner tant que Dieu ne le leur

interdirait pas; et la ruine du peuple juif arriva auparavant. Alors, tout fut dit. Jusque-là, l'Eglise de Jérusalem montra pour l'ancien culte le même respect qu'un Siméon, un Joseph, une Elisabeth, un Zacharie, sans pourtant y participer exactement de la même manière. Mais, à ce culte mitigé, ils ajoutèrent leurs assemblées particulières, rompant le pain, de maison en maison; et, par la circonstance que Luc ajoute, il est assez évident qu'ils le faisaient à chacun de leurs repas. Proprement, il n'y avait qu'un repas, vers le soir. Or, ils s'invitaient les uns chez les autres, selon l'antique coutume des Juifs quand ils offraient des sacrifices de prospérité, et, prenant leur nourriture avec une grande joie, ils commençaient ou terminaient par des actions de grâces et par la fraction du pain, en mémoire de Jésus. C'est ainsi qu'ils vivaient habituellement dans le sentiment de sa présence, le Seigneur les comblant de telles grâces que, malgré la crainte qu'inspiraient au peuple les miracles et la prédication des apôtres, ce même peuple ne pouvait s'empêcher d'admirer et d'aimer ceux qui avaient embrassé la nouvelle doctrine. Aussi, le Seigneur ajoutait-il chaque jour à l'assemblée, ceux qui, selon l'exhortation de Pierre et de ses collègues, se sauvaient du milieu de la génération perverse. Ah ! comment, après cela, ne pas demander à Dieu qu'il répande de nouveau sur l'Eglise une telle abondance de son Esprit, qu'elle en vienne à présenter au monde un spectacle pareil à celui de l'Eglise de Jérusalem, et qu'à ce spectacle, un grand nombre d'âmes se convertissent !

## CCLXXV. — Guérison d'un impotent; second discours de Pierre; première persécution.

3654. (3 : 1-5.) Ainsi se passaient les jours, peut-être les semaines. Le repos est chose si douce qu'il put arriver aux apôtres, dans ces premiers moments, d'oublier les persécutions que le Seigneur leur avait souvent prédites. Mais si les hommes influents avaient paru d'abord ne pas prendre garde aux disciples du Crucifié, il est évident que leur apparente indifférence ne pouvait durer longtemps.

3655. Pierre et Jean, deux disciples qui devaient aimer à se trouver ensemble (3551), montaient un jour au lieu sacré, vers trois heures de l'après-midi, heure de la prière et du sacrifice perpétuel, et en même temps de la mort du Seigneur. Il y avait là, sur leur chemin, un homme, impotent dès sa naissance, qu'on y déposait régu-

lièrement, pour le mettre à la portée des aumônes, usage fréquent encore dans certains pays. Le Seigneur devait avoir passé près de cet homme plus d'une fois, notamment dans ses dernières visites au temple; et, bien qu'il eût fait alors plusieurs guérisons miraculeuses, ce pauvre impotent était resté au nombre de ceux à qui le Seigneur n'avait pas jugé bon de rendre la santé. Il le réservait pour un autre temps; d'ailleurs il ne faisait pas état de guérir tous les malades. Les apôtres, à leur tour, l'avaient vu plus d'une fois depuis la Pentecôte, sans déployer en sa faveur leur pouvoir miraculeux. C'est pourquoi, renonçant probablement à tout espoir de guérison, il se contentait de leur demander l'aumône; non sans doute qu'il les crût riches, mais parce qu'il avait ouï parler de la bienfaisance des disciples de Jésus.

3656. (6, 7.) Si la communauté chrétienne avait consisté, comme quelques-uns le pensent, dans le partage des biens, Pierre n'aurait pas pu dire à l'impotent : « Je n'ai ni or, ni argent; » ou, en d'autres termes, je suis un pauvre aussi bien que toi. Destitués de toutes ressources pécuniaires, les apôtres étaient de ceux aux besoins desquels on pourvoyait par le moyen de la bourse commune; mais ce qu'ils avaient à donner valait plus que de l'or et de l'argent, plus encore que la guérison miraculeuse d'un mal incurable. Ils proclamaient le nom de Jésus, et, par ce nom, ils restauraient l'âme pour la vie éternelle. « Au nom de Jésus le Nazaréen! » Notre Seigneur avait agi au nom de son Père, et le plus souvent en son propre nom, ou de sa propre autorité, parce qu'il est le Fils de Dieu. C'est par cette raison même que nous voyons maintenant les apôtres agir au nom de Jésus. Ils proclamaient ainsi l'éternelle divinité de Celui qui est devenu le Fils de l'homme; ils rappelaient en même temps ses nombreux miracles et les paroles de miséricorde qui étaient sorties de sa bouche.

3657. (8-11.) Après cela, rien n'est touchant comme la joie du pauvre homme qui venait d'être guéri d'une manière si inattendue, et dans le cœur duquel l'Esprit de grâce vivifiait le beau nom que Pierre avait invoqué sur lui. Il marche et saute comme un petit enfant qui essaye ses forces naissantes, et il loue Dieu de sa délivrance avec des démonstrations si vives, que le peuple en était rempli d'étonnement; car cet homme était parfaitement connu de tous, et on ne l'avait vu que gisant sur la terre ou porté par des mains charitables. La foule et l'agitation s'accroissant par degré, les apôtres auraient dû, semble-t-il, se soustraire à une admiration qui avait pour objet leurs per-

sonnes, plus que la bonté et la puissance du Seigneur; mais l'homme qu'ils avaient si bien guéri les retenait avec force; en sorte que Pierre et Jean ne purent ni s'arracher de ses étreintes, ni éviter les transports de la multitude. Que faire donc? Profiter de l'occasion pour annoncer la bonne nouvelle; c'est ce que fit Pierre sans balancer.

3658. (12-26.) Rattachant toujours son enseignement aux pensées mêmes qui agitaient le peuple et au fait merveilleux qui leur avait donné naissance: « Vous vous étonnez, dit-il, comme si c'était nous, notre puissance ou notre piété, qui eût fait marcher cet homme. Non; c'est le Dieu d'Abraham, d'Isaac et de Jacob qui glorifie de la sorte son serviteur Jésus. Vous l'avez renié et mis à mort; mais Dieu l'a ressuscité, et c'est par la foi en lui que s'est opéré le miracle, objet de votre admiration. En le faisant mourir, vous n'avez pas compris ce que vous faisiez; mais vous n'en avez pas moins accompli de la sorte ce que Dieu avait annoncé d'avance par ses prophètes. Convertissez-vous donc, pour que vos péchés soient effacés, ce péché-là et tous les autres, et pour que vous soyez prêts à recevoir le Seigneur quand il reviendra dans sa gloire. C'est lui qui est le grand prophète annoncé par Moïse (Deut. **18** : 15-19); et c'est pour vous, tout premièrement, qu'il est venu. » Tel fut, en résumé, le second discours public de l'apôtre Pierre. Fort semblable au précédent pour le fond, il a des particularités qu'il importe de signaler.

3659. (13.) Remarquez d'abord les liens étroits qui unissent la nouvelle économie à l'ancienne. C'est le Dieu d'Abraham, d'Isaac et de Jacob qui a glorifié le Seigneur Jésus, après s'être révélé en lui et par lui. Bien plus, la prédication de la bonne nouvelle, le salut que Christ nous a conquis, est la conséquence du testament que Dieu avait fait en faveur des patriarches, dans la personne d'Abraham (25); et c'est en particulier pour cela que l'Evangile était annoncé aux Juifs avant de l'être à d'autres peuples.

3660. Remarquez ensuite les noms que le Saint-Esprit donne ici par la bouche de Pierre, au Médiateur de la nouvelle alliance. Il commence par l'appeler *Jésus le Nazaréen* (6), nom sous lequel il était universellement connu; mais à ce moment déjà nous l'entendons lui donner son titre de *Christ* et l'invoquer sous ce nom. Ensuite, selon le langage d'Esaïe, il l'appelle *le Serviteur* ou *l'Esclave* de l'Eternel (13-26), *le Saint* et *le Juste* (14), savoir le Saint d'Israël, le Juste par excellence; enfin, *le Prince de la vie* (15), celui qui marche en tête des vivants et qui est le principe de toute vie vé-

ritable (Jean 14 : 6). Méditez ces divers noms du Seigneur Jésus, vous y retrouverez tout ce par quoi nos âmes sont sauvées, consolées, sanctifiées; surtout si vous terminez cette méditation en pesant les dernières paroles de l'apôtre. Sacrificateur de la nouvelle alliance, Jésus a été envoyé pour *bénir* (Nombr. 6 : 22-27); non pas pour dire comme les anciens sacrificateurs : L'Eternel vous bénisse; mais pour bénir lui-même, en retirant les pécheurs de leurs iniquités, ou en les sanctifiant, ce qui est la bénédiction par excellence.

3661. Si du Maître vous passez au disciple, vous aurez également de quoi vous édifier. Vous serez frappés, en premier lieu, de la vivacité avec laquelle, lui, jadis si orgueilleux, il se défend des honneurs que la multitude semblait vouloir lui rendre, et vous ne le serez pas moins de l'entendre répéter un mot qui devait profondément l'humilier : « Vous avez *renié* le serviteur de l'Eternel, vous avez *renié* le Saint et le Juste! » Il est donc permis à un prédicateur de reprocher à autrui les crimes mêmes dont il a pu se rendre coupable, pourvu qu'il en ait du repentir et qu'il les ait portés au pied de la croix de Jésus. Bien plus, l'expérience qu'il a du péché ne le rendra que plus courageux à le signaler chez ses frères, parce qu'il en a senti toute l'amertume. Or, ce courage de la foi et de la charité, voyez comme il brille chez notre apôtre, voyez comme il reproche aux Juifs de s'être montrés moins justes que le païen Pilate, et de n'avoir pas rougi de préférer à Jésus un misérable meurtrier. Admirez, d'un autre côté, par quel ménagement il semble vouloir atténuer leur crime et celui des magistrats, en l'attribuant pour beaucoup à leur ignorance (17). Toujours est-il que ce péché, ajouté aux autres, leur imposait l'obligation de se convertir.

3662. Mais encore une fois, qu'est-ce que se convertir? Rapprochez l'une de l'autre deux paroles de ce discours, et vous aurez la réponse. Se convertir, c'est se *tourner* vers Dieu et *se détourner* de ses méchancetés (19, 26). On comprend, d'après cela, pourquoi le Seigneur invite à se convertir ceux mêmes qui appartiennent à son peuple (Luc : 13 : 5); pourquoi il y invite un fidèle, un homme déjà converti, mais qui, par quelque grave faute, s'est éloigné de Dieu (Luc 22 : 32). Ensuite, bien que l'apôtre ne le dise pas expressément, il est manifeste que, dans sa pensée, la conversion et la foi en Jésus-Christ sont liées l'une à l'autre. C'est par la foi en son nom que l'impotent a été guéri (16); c'est par elle aussi que les péchés sont effacés, effacés comme d'un livre (Es. 43 : 25); par elle que vient pour

les âmes un temps de rafraîchissement (19) après les ardeurs consumantes de la colère de Dieu (Ps. 32 : 4) ; par elle, enfin, et par elle seule qu'on est sanctifié (26). Ce Jésus, d'ailleurs, dont le nom produit de telles merveilles, paraîtra de nouveau sur la terre à l'époque du rétablissement de toutes choses, selon les anciennes prophéties (20, 21) ; mais, en attendant, il est au ciel, dans sa nature à la fois divine et humaine : c'est là, et nulle part ailleurs, que nous devons le chercher, vers lui que nous devons regarder pour avoir la vie.

3663. (4 : 1-3.) Après que Pierre eut achevé son discours, et comme il parlait au peuple, ainsi que Jean son fidèle collègue, ils virent arriver à eux des hommes qui, sans doute au nom de l'ordre public, mirent la main sur leurs personnes, et, pour première persécution, les privèrent de leur liberté. Il y avait d'abord le sacrificateur, par où il faut entendre probablement celui qui avait offert les parfums à l'heure de la prière ; hélas ! ce n'était pas un Zacharie ! puis le chef militaire du temple, autre sacrificateur, commandant le corps des lévites qui faisaient la garde du saint lieu ; enfin, des sadducéens, gens, vous le savez, qui ne croyaient à rien et qui étaient inquiets de ce que les apôtres annonçaient en Jésus « le relèvement, » non pas le relèvement de la nation, mais « celui d'entre les morts. » Ce fut donc l'impiété sadducéenne, le matérialisme des hommes au pouvoir, qui commença cette longue série de persécutions auxquelles l'Eglise de Jésus-Christ s'est vue exposée dans tous les temps, selon les prédictions de son divin Chef. Bientôt nous verrons le pharisaïsme prendre part à cette horrible lutte contre la vérité ; mais, pour le moment du moins, les pharisiens se tenaient à l'écart. Dans leur vieil antagonisme contre les disciples de Sadoc [2582], ils n'étaient pas fâchés d'entendre ces Galiléens parler de la résurrection des morts, doctrine qui les distinguait surtout de leurs adversaires. Cependant la Parole de Dieu produisait ses effets. Celui qui avait nourri des milliers d'hommes avec quelques pains et quelques poissons daigna bénir la prédication de Pierre ; et, malgré la persécution naissante, une foule considérable d'Israélites crurent en Jésus-Christ. Le nombre des nouveaux convertis fut d'environ cinq mille (4), sans compter les femmes et les enfants ; à moins qu'il ne faille entendre le texte sacré dans ce sens, que l'Eglise reçut en ce jour une augmentation qui accrut jusqu'à cinq mille le chiffre des frères, abstraction faite des enfants et même des femmes. Dans tous les cas, la Parole du Seigneur s'accom-

plissait doublement, et par les souffrances de ses serviteurs et par les succès de leurs travaux.

3664. (5-7.) Les apôtres ayant passé la nuit en prison ou sous bonne garde, ils furent conduits le lendemain devant le conseil des Juifs, assemblé, paraît-il, sous la présidence d'Anne, l'ancien souverain sacrificateur. Là se trouvaient, avec son gendre Caïphe, deux hommes dont les noms ne se lisent qu'ici, et une foule d'autres fils d'Aaron. Hélas! leurs pères avaient persécuté maints prophètes (rappelez-vous notamment Amos et Jérémie); eux-mêmes, ils avaient récemment fait mourir le Saint et le Juste : nous connaissons donc ces hommes et nous savons de quoi ils étaient capables. Leur haine ne s'était pas éteinte dans le sang de Jésus, et nous ne devons pas nous étonner du ton plein de mépris avec lequel ils interpellent maintenant les humbles disciples du Seigneur : « Par quelle puissance, leur disent-ils, ou en quel nom avez-vous fait cela, vous? » S'il le faut, pour satisfaire leur animosité, ils ne manqueront pas de prétendre encore que c'était par la puissance de Satan qu'ils guérissaient les malades.

3665. (8-12.) C'est pour de telles circonstances que le Seigneur avait expressément promis à ses disciples l'assistance particulière du Saint-Esprit; aussi sommes-nous bien sûrs que les apôtres avaient passé une nuit fort tranquille, attendant avec calme ce que leur réservait le lendemain. Ils ne furent pas trompés dans leur attente; car Pierre, rempli d'Esprit-Saint, prononça pour sa défense un discours tout pénétré de la grâce divine. Il n'est pas long, et il ne devait pas l'être. Respectueux et ferme tout à la fois, l'apôtre répond directement et simplement à la question; mais sans négliger la prédication claire et complète de la bonne nouvelle, fondée, comme toujours, sur la résurrection de Jésus, et consistant essentiellement dans la proclamation du salut par son nom et par son nom seul. Si les apôtres n'avaient pas été traînés à la barre du grand conseil des Juifs, appelé le sanhédrin, ils auraient pu s'éviter la douloureuse tâche de lui reprocher son crime ; mais puisqu'il avait voulu les entendre, ils étaient bien forcés de lui déclarer que Jésus, crucifié par ses ordres, était ressuscité des morts, et qu'il est la pierre angulaire dont avaient parlé David et Esaïe (Ps. **118** : 22; Es. **28**, 16). Cette fois, le prédicateur inspiré fait allusion à la prophétie, plutôt qu'il ne la cite textuellement; mais il parlait à des hommes qui connaissaient les Ecritures mieux que le gros du peuple, et d'ailleurs il n'y avait pas si long-

temps que le Seigneur leur avait fait l'application de ces mêmes prophéties, au moins de la première (Matth. 21 : 42). Quel courage cependant ne fallait-il pas à Pierre, pour réveiller en eux de tels souvenirs!

3666. (13-18.) Ses auditeurs eux-mêmes furent étonnés de ce discours; mais, à la manière des mondains, bien moins du fond que de la forme. Tant d'assurance chez des hommes du commun, hommes qu'ils reconnaissaient, il est vrai, pour avoir été avec Jésus, mais qui, jusqu'à sa mort, avaient si peu marqué; tant d'assurance, dis-je, jointe au miracle incontestable dont ils avaient la preuve vivante sous les yeux, leur paraissait un problème inexplicable, et peut-être auraient-ils cru dès ce moment à l'Evangile, si seulement ils avaient cru en Dieu et s'ils eussent pu croire sans se convertir (Jean 5 : 38). Au lieu de cela, ils ne songent qu'à mettre fin le plus tôt possible à toute cette affaire. Comme ils s'efforçaient d'étouffer la voix de leur conscience, ils vont s'efforcer pareillement d'étouffer celle des apôtres, et ils leur défendent avec grandes menaces de parler à qui que ce soit en ce nom-là. Remarquez comme ils évitent eux-mêmes de répéter un nom qui devait leur être, en effet, si pénible à prononcer. Or, non-seulement Pierre et Jean ne se laissèrent point effrayer par ces menaces, et se gardèrent bien de promettre plus de retenue à l'avenir; non-seulement ils se retirèrent, résolus à poursuivre l'œuvre qui leur avait été confiée par le Seigneur, mais encore ils ne voulurent pas que le magistrat pût ignorer leurs intentions et les accuser d'un manque de droiture : « Jugez s'il est juste, devant Dieu, de vous écouter plutôt que Dieu; car nous ne pouvons pas ne point parler des choses que nous avons vues et entendues. »

3667. (19-22.) Paroles sublimes! Quelque dégradés que soient ses juges, Pierre respecte en eux le caractère dont ils sont revêtus; il ne veut pas supposer qu'il n'y ait plus en eux aucun sentiment de justice, aucune conscience des droits de Dieu sur ses créatures, ni qu'ils aillent jusqu'à s'arroger une autorité supérieure à celle du Seigneur. Quant à Pierre et à ses collègues, ils ne peuvent pas ne point avoir vu et entendu les choses qu'ils ont vues et entendues, et il leur serait tout aussi impossible de les dissimuler [3193]. Qu'on leur ôte la vie, ils ne parleront plus; mais tant qu'ils vivront, le Saint et le Juste fera d'eux ses témoins fidèles et persévérants. C'est bien là ce que comprirent les hommes devant qui comparaissaient les apôtres; aussi, tout leur désir aurait été de les châtier de leur audace, mais le peuple

(**Actes 4** : 23-30; 31; 32-35.)

était dans un de ces moments d'enthousiasme qu'il n'est pas prudent de braver, et ils relâchèrent les deux prisonniers, après leur avoir fait de nouvelles menaces.

3668. (23-30.) Il est facile de se représenter avec quelle joie les frères virent revenir ceux d'entre eux qui avaient eu l'honneur de subir, les premiers, quelque persécution pour le nom de Jésus. Bien des prières isolées étaient sans doute montées au ciel en leur faveur; puis, quand ils furent de retour et qu'ils eurent tout raconté, les frères réunis élevèrent d'un commun accord leur voix à Dieu, pour lui rendre des actions de grâces et implorer son secours. Ici, nous les voyons donnant un bel exemple de la manière dont l'Eglise persécutée doit retremper ses forces, en s'élevant à la pensée de la souveraineté de Dieu et de son adorable prescience. Les opprobres qu'ils viennent d'essuyer dans la personne des deux apôtres, ne sont que la suite des souffrances et de l'humiliation de leur Maître, et celles-ci, Dieu les avait clairement prédites par la bouche de David (Ps. **2** : 1, 2). Or les esclaves ne sauraient s'attendre à être mieux traités que leur Seigneur. Loin donc de s'abattre, ils demandent à Dieu, non pas qu'il fasse descendre le feu du ciel sur Jérusalem (Luc **9** : 54); mais qu'il leur accorde d'annoncer sa parole avec toute assurance et qu'il glorifie le nom de Jésus par de nouveaux miracles. Ce n'est donc pas assez de souffrir patiemment les épreuves de la foi, il faut y puiser une nouvelle énergie, pour abonder de plus en plus dans les œuvres qu'elle inspire.

3669. (31.) Le Seigneur voulant donner aux siens un signe indubitable de son approbation et de l'exaucement de leurs prières, il se fit comme un tremblement de terre qui ébranla le lieu où ils étaient, et ils furent tous remplis d'Esprit-Saint. Ce fut une nouvelle effusion de la grâce de Dieu, moins sans doute pour augmenter leurs dons spirituels et miraculeux, que pour entretenir leurs âmes dans la paix du Seigneur et les affermir en sa sainte vérité. Aussi continuèrent-ils d'annoncer la Parole de Dieu avec une entière assurance, bénédiction inappréciable, et pour eux et pour bon nombre de leurs concitoyens, ainsi que nous le verrons bientôt.

### CCLXXVI. — Prospérité de l'Eglise de Jérusalem; Ananias et Sapphira; nouvelle persécution.

3670. (32-35.) Au moment où nous en sommes de l'histoire apostolique, l'Eglise de Jérusalem, et il n'y en avait pas d'autres, comptait

plus de huit mille personnes que la grâce de Dieu avait amenées aux pieds de Jésus par la prédication de ses disciples. Il est dit de cette multitude qu'elle avait cru, et pourtant, nous allons voir parmi ces croyants des hypocrites, de l'ivraie mêlée au bon grain, selon la parabole du Seigneur (Matth. 13). Ici donc le mot *croire* doit être entendu dans le sens large que nous lui avons vu ailleurs [2747]. La plupart sans doute des membres de cette Eglise étaient de vrais croyants; mais qu'il y eût des exceptions, c'est ce qui est incontestable. Tous du moins professaient la foi, une même foi, et ils la professaient volontairement, ce qui n'est pas le cas de certaines Eglises de nos jours.

3671. En conséquence, c'étaient les fidèles, et non les infidèles, qui donnaient le ton et l'impulsion à cette heureuse société. Il y avait entre ceux qui la composaient les liens d'une affection commune en Jésus-Christ, c'est la base de tout; puis un grand accord dans la manière d'envisager les choses. Et comme ils possédaient une même foi, une même espérance, un même Sauveur, un même Père, un même héritage au ciel, il ne leur entrait pas dans l'esprit qu'ils pussent posséder des biens de ce monde, sans en faire part à ceux de leurs frères qui en étaient dépourvus. Lorsque Josué partagea le pays, chaque famille avait eu son lot, et si la loi de Dieu avait toujours été observée, on n'aurait jamais vu en Israël, ni l'extrême misère, ni l'extrême opulence. Voilà ce qui tendait à se rétablir, mais volontairement, chez les disciples de Jésus, ce nouveau peuple de frères. Toutes choses étaient communes entre eux, dans le même sens qu'ils n'étaient qu'un seul cœur et qu'une seule âme. Plus les apôtres prêchaient la résurrection des morts par Jésus, plus la grâce de Dieu se répandait; et, par elle, se développaient et se nourrissaient les plus beaux fruits du renoncement et de la charité. En sorte qu'il n'y avait aucun indigent parmi les membres de l'Eglise. Il n'est pas dit, comme portent les anciennes traductions, que ceux qui avaient des terres et des maisons « les vendaient, » mais qu'ils « faisaient des ventes » et apportaient le prix aux pieds des apôtres, non pour le partager entre tous, mais pour le distribuer au fur et à mesure des besoins. Je le redis encore, il s'en faut bien que cette communauté d'affections, cette fraternité de sentiments et cette libéralité toute spontanée, fruits de la foi en Jésus-Christ, puissent être confondues avec les systèmes modernes de ce communisme haineux, fratricide et tyrannique, qu'on ose recommander au nom de l'Evangile et qui s'allie chez la plupart avec la plus grossière impiété. Il n'est pas douteux, après cela, que les chrétiens

(**Actes 4** : 36, 37. **5** : 1-11.)

de nos jours n'aient à demander instamment au Seigneur une abondante mesure de sa grâce, afin d'apprendre de lui à se dépouiller et à donner; car, au sein même de véritables Eglises, il est des gens dont l'avarice et l'égoïsme sont en grand scandale.

3672. (36, 37.) Entre ceux qui se signalèrent par leurs largesses, l'écrivain sacré mentionne un fils de Lévi, originaire de l'île de Chypre, où ses pères s'étaient établis autrefois. Il y possédait un champ qu'il vendit et dont il remit la valeur aux apôtres, pour en faire l'usage convenu. Cet homme s'appelait Joses, et fut surnommé par les apôtres *Fils de consolation*, en hébreu Barnabas. Il avait pour parent un jeune homme que nous ne tarderons pas à voir jouer un rôle dans l'évangélisation du monde, Jean surnommé Marc; Barnabas lui-même, occupa bientôt une place particulièrement honorable parmi les ministres du Seigneur, deux circonstances qui expliquent pourquoi son nom se trouve ici.

3673. (**5** : 1-11.) D'autres raisons, et de fort douloureuses, ont engagé le Saint-Esprit à nous faire connaître la terrible mort d'Ananias et de Sapphira. Lisez leur histoire; elle se résume en peu de mots. Ananias et Sapphira, gens à leur aise, n'étaient pas entrés dans la société nouvelle par intérêt, ce qui pouvait être le cas de bien des pauvres; mais ils tenaient peut-être l'un et l'autre à être comptés parmi les plus pieux, ou bien, poussés par les inquiétudes de leur conscience, ils avaient ambitionné le bonheur dont jouissaient manifestement les disciples de Jésus-Christ. Qui sait même s'ils ne se croyaient pas vraiment convertis, tandis que, semblables à Judas, une passion dominante remplissait leur cœur et les empêchait d'aller au delà d'une foi morte. Ils furent aussi de ceux qui vendirent, non pas tout ce qu'ils avaient, mais « une possession, » dit le texte sacré. Rien ne les y obligeait, comme Pierre le fait remarquer à Ananias; et, après avoir effectué la vente, ils étaient libres de garder le prix, en tout ou en partie; preuve décisive que la communauté d'alors n'était pas le communisme tel qu'on l'entend de nos jours. Mais non, cela n'aurait pas fait le compte des vendeurs. Ils voulaient tout à la fois garder une portion de leur argent et s'acquérir avec le reste un renom de piété et de bienfaisance. Or, ce n'était pas l'Eglise qu'ils trompaient ainsi, puisqu'elle n'avait pas le droit d'exiger de tels sacrifices; c'était Dieu lui-même, à qui Ananias faisait semblant de se dévouer, corps et biens : c'est au Saint-Esprit qu'il mentait, bien plus qu'aux hommes. Ce qu'il y avait d'horrible, c'est que le mari et la femme s'étaient

donné le mot dans cette odieuse supercherie. Ils ne pensaient donc pas que Dieu eût entendu leur complot; ils ne croyaient pas réellement en lui. Aussi Dieu lui-même, et non pas Pierre à coup sûr, fit tomber sur ces deux époux le plus effroyable des châtiments, un châtiment qui rappelle celui de Nadab et d'Abihu, celui de Coré et de ses complices [877, 956]. Selon l'usage des Juifs, usage que facilitaient la nature de leur climat et leur coutume d'enterrer dans des grottes ouvertes, les deux cadavres furent immédiatement enlevés de dessous les yeux de l'assemblée; mais quelle impression profonde cette scène ne dut-elle pas laisser dans le cœur des assistants?

3674. A considérer la patience inconcevable avec laquelle Dieu supporte tant d'impies et d'hypocrites, à considérer surtout le contraste que fait ce miracle effrayant, avec les autres miracles de Jésus et de ses envoyés, il est permis d'éprouver ici quelque étonnement et de se demander pourquoi ce coup de foudre au milieu d'un ciel si serein; pourquoi, dans le domaine de la grâce, un prodige qui a tant de rapports avec ceux de la loi? En voici, me semble-t-il, la vraie raison. Parmi les dangers qui menaçaient l'Eglise naissante, il n'y en avait pas de plus redoutables que l'hypocrisie, comme il n'y a pas de vice non plus que le Seigneur déteste davantage; rappelez-vous ses apostrophes aux pharisiens. Qu'on se représente ce que serait devenue l'Eglise, si les Ananias et les Sapphira avaient pu y abonder! Plus de confiance mutuelle, plus de ce concert des cœurs qui attire les bénédictions du Seigneur, plus aucun respect de la part du monde, toujours si clairvoyant en matière pareille. De nos jours, la plupart des Eglises ou de ce qu'on appelle de ce nom, sont pleines d'hypocrites sans grand dommage pour elles, par la raison même qu'elles semblent avoir combiné leurs institutions de manière à favoriser l'hypocrisie. Mais lorsque nul n'était contraint d'appartenir à l'Eglise, il est clair que la présence d'un seul hypocrite pouvait faire plus de mal que mille hypocrites en d'autres circonstances. Par Ananias et Sapphira, Satan voulait insinuer dans l'Eglise de Jésus-Christ un nouveau pharisaïsme et un pharisaïsme pire que l'ancien; or le Seigneur voulut, à son tour, inspirer une crainte salutaire à ceux qui seraient tentés de se joindre aux frères par des motifs charnels. Le but fut atteint; car, nous dit le livre des Actes, il y eut une grande crainte sur toute l'assemblée et sur tous ceux qui apprirent ces choses. Quant à nous, mes chers lecteurs, examinons sérieusement si nous sommes droits devant Dieu; si les motifs qui nous attachent à son Eglise sont dignes

de lui; si nous lui avons donné notre cœur, car c'est là ce qu'il veut; si, enfin, dans le service que nous lui rendons, il ne nous arrive pas souvent de le frauder, en retenant une partie de ce que nous prétendons lui avoir consacré?

3675. (12-16.) Cependant la force du Seigneur continuait à se manifester par le ministère des apôtres. Et comme il avait donné à son disciple Pierre une plus grande puissance de parole, c'était aussi par son ministère qu'il opérait le plus de prodiges. On vit alors s'accomplir ce que Jésus avait dit une fois : « Celui qui croit en moi fera les œuvres que je fais et il en fera de plus grandes, parce que je vais à mon Père » (Jean 14 : 12). Il y avait là de quoi entraîner bien des âmes, comme malgré elles; mais, sans parler de l'effroi qu'avait produit la mort d'Ananias et de Sapphira, on remarquait chez les apôtres et chez leurs disciples une sainteté, un sérieux qui imposait à la multitude. Si bien que, dans le temple même, où les frères avaient pris le portique de Salomon pour l'endroit de leurs réunions particulières, les autres n'osaient se joindre à eux, respectant la solitude qu'ils se faisaient au milieu de la foule. Mais ce qui était un obstacle pour beaucoup de gens, n'en fut pas un pour les âmes que le Père avait données à son Fils (Jean 6 : 37); aussi nous est-il dit que « la multitude de ceux qui croyaient, tant hommes que femmes, s'augmentait de plus en plus. »

3676. (17, 18.) Pendant ce temps, les ennemis du Seigneur semblaient avoir oublié leurs sinistres desseins contre ses envoyés. Au fait, ceux-ci étaient des gens exemplaires, qui continuaient, aussi bien que leurs disciples, à honorer le temple et le culte qu'on y célébrait; la plupart même de ceux qui ne se joignaient pas à leurs assemblées, professaient pour eux une grande vénération; puis, le Seigneur les gardait, et modérait par son bras puissant la haine des adversaires. Ces derniers, toutefois, et à leur tête le souverain sacrificateur, ne laissaient pas de surveiller avec inquiétude le mouvement des esprits; ils voyaient journellement de nouvelles conversions à l'Evangile et c'étaient autant d'âmes qui échappaient à leur influence. C'est pourquoi, poussés par la même jalousie qui les avait portés aux dernières extrémités contre le Seigneur, les voilà qui mettent un jour la main sur les apôtres et les font tous jeter en prison. C'étaient encore des sadducéens, sorte de gens assez indifférents d'habitude aux questions religieuses, mais qui deviennent les pires persécuteurs lorsque la voix de la vérité se met à inquiéter leur conscience, ou que

(**Actes 5** : 19-28.)

leurs intérêts matériels leur paraissent compromis par les progrès de la foi. Or, de nos jours, comme du temps des apôtres, ce n'est pas seulement parmi les hommes du siècle que le sadducéisme recrute ses sectateurs; il atteint les ministres mêmes de la religion.

3677. (19-28.) La persécution alla croissant, car il paraît que cette fois les douze furent tous enfermés; mais il plut au Seigneur de montrer comment il peut délivrer les siens, quand il lui plaît de le faire. Un messager de sa miséricorde ouvrit les portes de la prison pendant la nuit; à son invitation, les apôtres se rendirent de là dans les cours du temple et sous ses portiques, en sorte que, dès le matin, ils y purent recommencer leurs enseignements, faisant entendre à ceux qui arrivaient les paroles de la vie éternelle. De son côté, le souverain sacrificateur et ses acolytes avaient convoqué, pour le matin, de bonne heure, tout le conseil des Juifs; mais quand ils eurent envoyé des sergents avec mission de leur amener les détenus, il leur fut fait rapport que la prison était vide, sans que l'évasion des apôtres eût été aperçue et qu'elle eût laissé la moindre trace. Comme les membres du conseil étaient à se demander, au milieu d'une certaine agitation, ce que cela signifiait et ce que tout cela deviendrait, quelqu'un de leurs partisans leur annonça que les hommes incarcérés la veille, enseignaient tranquillement dans le lieu sacré. Il ne s'agissait donc plus que de les amener devant le sanhédrin, mais sans éclat, pour ne pas irriter un peuple dont la violence passait si vite d'un objet à l'autre; or, rien de plus facile, car les apôtres n'étaient pas de ceux qui repoussent la force par la force.

3678. Ce fut avec une sorte de douceur, ou plutôt avec une certaine crainte que le souverain sacrificateur leur adressa la parole. « Nous vous avions expressément défendu d'enseigner en ce nom-là, et voici, vous avez rempli Jérusalem de votre doctrine, et vous voulez faire venir sur nous le sang de cet homme! » *Ce nom! cet homme!* disent-ils, et ils continuent à n'oser, ni prononcer ce nom, ni dire qui est cet homme (4 : 17); mais c'est un homme dont le sang a été répandu par eux, et ils craignent que ce sang ne leur soit redemandé. De la part de qui? De la part de Dieu ou du peuple? Pas de la part de Dieu, semble-t-il, car croyaient-ils en Dieu, ces impies? Cependant, il est difficile que la conscience perde entièrement ses droits, et, à moins d'être parfaitement sûr qu'il n'y aura pas de rétribution finale, on ne saurait vivre dans le crime sans éprouver de temps en temps quelques appréhensions, surtout quand on a crié : « Que son sang soit sur nous

(**Actes 5** : 29-32.)

et sur nos enfants! » (Matth. **27** : 25.) En tout cas, c'était le peuple que ces hommes craignaient. S'exagérant par peur les succès des apôtres, et, sentant qu'en effet leur doctrine était de nature à être accueillie avec empressement, il leur semblait déjà que la ville de Jérusalem en était toute pénétrée. Méconnaissant d'un autre côté les sentiments de charité que la foi en Christ tend à produire, ils se figuraient que, si le peuple venait à croire en *ce nom-là*, il ne manquerait pas de leur demander compte du sang qu'ils avaient répandu. C'est pour cela qu'ils ressentaient si vivement l'insulte que les apôtres semblaient faire à leur autorité.

3679. (29-32.) Ce fut alors que Pierre répéta sa précédente déclaration, mais sous une forme sensiblement différente. Il en avait appelé jadis à leur propre jugement (**4** : 19); maintenant qu'ils ont jugé contre Dieu, il prononce avec l'autorité de la foi et du Saint-Esprit « qu'*il faut* obéir à Dieu plutôt qu'aux hommes; » vérité de toute évidence pour qui croit en Dieu. La difficulté, dans l'application, est de bien s'assurer quelle est la volonté du Seigneur, de peur qu'en croyant la faire plutôt que celle des hommes, nous ne fassions au fond notre propre volonté, par opposition à celle de Dieu. Quant aux apôtres, ils marchaient d'un pied sûr dans leur résistance aux ordres du magistrat; car ils tenaient leur commission de Celui que Dieu avait déclaré Prince et Sauveur en le réveillant d'entre les morts et en l'élevant au ciel; ils en avaient pour garants leurs propres yeux et le Saint-Esprit qui parlait et agissait en leurs personnes.

3680. Dans cette courte réponse, la prédication de l'Evangile prend un nouveau développement. Aux titres donnés précédemment à Jésus-Christ [3660], s'en joignent ici deux autres d'une grande importance. Comme *Prince*, son autorité est supérieure à toutes les autorités d'ici-bas; comme *Sauveur*, il est le refuge assuré des pécheurs, et ceux-ci lui ont trop d'obligations pour l'abandonner à la première menace. Ce n'est pas tout, si Pierre a proclamé précédemment la nécessité de se convertir à Jésus-Christ pour obtenir le pardon des péchés, complétant à cette heure la bonne nouvelle, il déclare que c'est ce même Jésus qui donne la conversion; qu'il est, non pas simplement le canal, mais encore la source de toutes les grâces du salut; en sorte que ceux qui, par la foi en Jésus, obéissent à Dieu, obéissent par l'influence de l'Esprit-Saint que Jésus leur a donné. Cette doctrine est pleine de consolation pour les cœurs humbles et repentants; mais les auditeurs de Pierre ne voulaient pas entendre parler de conversion. Méconnais-

sant le besoin qu'ils avaient du pardon de leurs péchés, ils ne savaient pas gré d'un Sauveur, et surtout ils ne voulaient pas que Jésus de Nazareth fût leur Prince (Luc 19 : 14). Et puis, comment souffrir que des hommes tels que Pierre et ses collègues se prétendissent inspirés, à l'égal des anciens prophètes, et qu'ils ne cessassent de les accuser d'avoir mis à mort le Messie!

3681. (33-39). Aussi nous est-il dit que les membres du conseil frémissaient de rage. En présence même des apôtres, ils délibéraient sur le sort qu'ils voulaient leur faire, et l'on parlait hautement de les tuer. Alors se leva un homme fort considéré de tous, qui ordonna de faire sortir les prévenus, et qui, par l'avis plein de sagesse qu'il ouvrit, fut l'instrument dont Dieu se servit cette fois pour détourner, ou du moins retarder l'orage qui grondait sur son peuple. Cet homme était pharisien et docteur de la loi; il se nommait Gamaliel, et nous verrons plus tard que si, à son école, on se pénétrait d'un pharisaïsme sincère et respectable à beaucoup d'égards, on n'y apprenait pas toutefois la tolérance. Gamaliel, infidèle en ce moment aux principes de sa secte, prit le parti des apôtres, non pour recommander leur doctrine assurément, ni pour leur concilier la bienveillance de leurs juges, puisqu'il les met, eux ou leur maître, sur la même ligne que deux séducteurs qui, une trentaine d'années auparavant, s'étaient dits le Christ et avaient misérablement péri, mais pour demander simplement qu'on ne s'occupât plus d'eux. La généralité du conseil pensait qu'il fallait étouffer dans le sang la nouvelle doctrine; Gamaliel, au contraire, comme beaucoup de philosophes après lui, estimait qu'elle n'avait d'importance que celle qui lui était donnée par ses adversaires.

3682. Quant au principal argument de Gamaliel, pris dans sa généralité, il manque certainement de justesse. Il n'est pas vrai que, dans ce monde de péché, tout ce qui réussit et qui dure soit nécessairement de Dieu, ni en religion, ni en politique, ni en aucune chose, témoin le paganisme et le mahométisme, sans parler de cette multitude d'erreurs qui défigurent depuis si longtemps une grande portion de ce qu'on appelle l'Eglise. Mais, dans le cas particulier, il faut convenir que Gamaliel voyait juste. Et Theudas, et Judas le Galiléen avaient, l'un et l'autre, pris les armes, ou tout au moins ému le peuple pour défendre leurs prétentions. Ici, rien de pareil. Voilà des hommes simples et pieux, des hommes sans appui terrestre, des hommes qui prêchent les choses les plus absurdes si elles ne sont pas vraies, et

des hommes qui ne possèdent rien de ce qui fait quelquefois triompher les absurdités. Laissez-les donc, dit Gamaliel; si cette œuvre n'est pas de Dieu, il est impossible, à la manière dont elle est conduite, qu'elle ne tombe pas : si, l'abandonnant à elle-même, elle prospère, alors, pour certain, elle est de Dieu, et songez à qui vous vous trouveriez avoir fait la guerre! Ce qui explique, au surplus, l'intérêt que mit Gamaliel à défendre les apôtres, c'est qu'il était pharisien et que leurs principaux accusateurs étaient de la secte des sadducéens. Bien souvent, dès lors, l'Eglise n'a dû sa tranquillité qu'à la division des partis qui auraient voulu sa perte; comme aussi quelquefois ces partis savent oublier leurs différends, pour se liguer contre le Seigneur.

3683. (40-42.) Quoi qu'il en soit, l'avis de Gamaliel prévalut; aussi bien le moment n'était-il pas favorable pour prendre des mesures extrêmes. Mais il fallait pourtant que l'arrestation des apôtres servît à quelque chose; on les fit donc battre de verges, en leur répétant la défense de parler au nom de Jésus, et quand on eut ainsi versé le premier sang depuis celui du Sauveur, on relâcha les victimes. On espérait sans doute que la souffrance les effrayerait plus que ne l'avaient fait les menaces; mais, au contraire, bien que sensibles aux outrages et aux mauvais traitements, comme nous le serions nous-mêmes, les apôtres se réjouirent de l'honneur qu'on leur faisait en les assimilant à leur Maître. Le Saint-Esprit leur remit en mémoire les prophéties du Seigneur relatives aux persécutions qu'ils essuyaient et au bonheur de souffrir quelque chose pour la justice (Matth. **10** : 17; **5** : 10); c'est pourquoi, loin d'être ébranlés, ils ne cessèrent d'annoncer, et en public et en particulier, que Jésus est le Christ. Tel fut, de tout temps, l'effet de la violence sur ceux qui, droits de cœur, n'ont autre chose en vue, dans la profession de leur foi et dans la prédication de l'Evangile, que la gloire de Dieu et le salut des âmes.

## CCLXXVII. — Légères taches dans l'Eglise de Jérusalem; institution des diacres; martyre d'Etienne.

3684. (**6, 7.**) Les faits qui nous sont rapportés dans ces deux chapitres semblent, au premier abord, s'être passés immédiatement après ceux dont nous venons de nous occuper. Mais dans l'usage de la Bible, l'expression : « En ces jours-là, » désigne le temps d'une manière assez peu précise (Matth. **3** : 1). Ici, elle signifie : « En ces

temps de progrès et de persécutions tout à la fois. » Bien qu'il y ait des personnes qui rapportent à l'an 33 tout ce qui est raconté dans les sept premiers chapitres des Actes, la plupart pensent, je crois, que l'emprisonnement des apôtres n'eut pas lieu l'année même de la mort du Seigneur, que l'institution des diacres se fit assez longtemps après cet emprisonnement, et qu'Etienne exerçait son ministère depuis plusieurs mois, lorsqu'il fut traduit devant le conseil des Juifs et lapidé. On rapporte en conséquence à l'an 37 de l'ère chrétienne ce dernier événement.

3685. (6 : 1.) Quoi qu'il en soit, l'Eglise de Jérusalem était encore de fondation récente. Or, malgré l'abondance de la grâce de Dieu et la présence des apôtres, et plus encore celle du Saint-Esprit; malgré la foi et la charité qui remplissaient les cœurs, on vit se manifester dans cette Eglise des murmures et du mécontentement, suite de fâcheuses partialités. Les Grecs, dont il est ici question, n'étaient pas des païens d'origine, mais plutôt des hellénistes, qu'il ne faut pas confondre avec les Hellènes ou Grecs proprement dits. Ceux-ci, constamment distingués d'avec le peuple d'Israël, sont appelés autrement les nations ou les gentils; tandis que les hellénistes étaient les Juifs dispersés qui, habitant des pays de langue grecque ou hellène, s'appelaient, par cette raison, hellénistes ou grécisants. Nous avons déjà vu qu'il leur arrivait souvent de se fixer de nouveau dans la Judée, et que la plupart d'entre eux faisaient de fréquents séjours à Jérusalem [3636]. Quant aux veuves à l'occasion desquelles s'éleva la difficulté, on s'est demandé comment il pouvait y avoir, dans l'Eglise, un si grand nombre de femmes privées de leurs maris, à une époque où la persécution, pour bien dire, n'avait pas encore éclaté. On l'explique en disant que les veuves, plus libres de leurs actions, pouvaient plus aisément se joindre à l'Eglise que les femmes mariées. On dit aussi qu'on appelait veuves celles que leurs maris non convertis avaient répudiées, ou qui avaient été renvoyées par ceux qui, avant leur conversion, possédaient plusieurs femmes. Du reste, c'est peut-être gratuitement qu'on suppose que ces veuves fussent en très grand nombre : il y en avait là comme partout, et leur position les recommandait particulièrement à la commisération de l'Eglise. Après cela, il paraît que, dans les repas journaliers qui se faisaient en commun, elles occupaient une place distincte, et, par une raison quelconque, mais qu'on ne saurait approuver, on faisait, dans les distributions, une différence entre les veuves des Juifs hébreux et celles des Juifs hellénistes.

**(Actes 6 : 2-4.)**

3686. (2-4.) La chose est d'autant plus étonnante que c'étaient alors les apôtres eux-mêmes qui avaient la surintendance des tables et de tous les soins matériels relatifs à ce service. Mais ces hommes d'élite, auxquels, par la grâce du Saint-Esprit, rien ne manquait pour rendre témoignage à la vérité, ces hommes dont la vie tout entière marchait en parfaite harmonie avec leur prédication, étaient des hommes, après tout : ils avaient aussi leurs faiblesses et notamment leur impossibilité de tout voir et de tout faire. C'est pourquoi, reconnaissant le mal dont on se plaignait et signalant indirectement ce qui en était la cause, ils demandèrent à être déchargés d'une fonction dont les détails allaient croissant, et qui pouvait être faite par d'autres aussi bien que par eux; de cette manière, dirent-ils, nous aurons plus de temps pour la prière et pour la prédication. Si donc ils refusaient de rendre à l'Eglise toutes sortes de services, ce n'était pas pour demeurer oisifs, mais pour lui rendre d'autant mieux le service qui leur était propre. Cet exemple me paraît digne d'imitation. Il ne faut pas que, dans les Eglises, un seul homme, ni même plusieurs, cumulent toutes les fonctions. Tel qui excelle à la prédication ne s'entend point à administrer, et réciproquement. Mais si le travail doit être divisé, ce n'est pas pour donner à personne des loisirs inoccupés; il est clair, de plus, qu'il faut, comme à Jérusalem, que le besoin s'en fasse sentir. Parce qu'il y eut sept diacres nommés à la fois dans cette Eglise, ce n'est pas une raison pour qu'il y en ait partout ce même nombre, ni même pour qu'il y ait des diacres partout. Cette institution ne se rattache pas à l'essence de l'Eglise; ce n'est pas pour elle une question d'existence, mais de convenance.

3687. Je viens d'écrire le mot de *diacre*, et vous pourrez observer cependant qu'il ne se trouve point dans le chapitre que nous étudions. Mais si ce mot, dont le sens est *serviteur* ou *ministre*, ne s'y rencontre pas, vous y lisez deux fois celui de *service*, en grec *diaconie* (versets 1 et 4); puis le texte porte au verset 2 le verbe *diaconeïn*, bien traduit par *servir*. Il y est donc parlé du *service* journalier des tables et du *service* de la Parole; et ce que les apôtres demandent, c'est qu'il y ait des *diacres* ou serviteurs et ministres des tables, tandis qu'ils continueront à être eux-mêmes *diacres* ou serviteurs et ministres de la Parole. Ce mot donc est très général; il se dit de toute espèce de ministère; seulement il est vrai qu'il est appliqué d'une façon plus spéciale aux fonctionnaires qui, sans s'interdire toute activité spiri-

tuelle, s'employaient essentiellement à l'administration des intérêts temporels de l'Eglise.

3688. (6 : 5, 6.) Les apôtres ayant donc convoqué la multitude des disciples, proposèrent de choisir sept hommes parmi les plus honorés, les mieux doués du Saint-Esprit et les plus aptes aux soins dont il s'agissait. L'assemblée approuva cet avis et l'on passa à l'élection; puis, les nouveaux serviteurs de l'Eglise furent placés devant les apôtres, qui prièrent et leur imposèrent les mains. Cette manière de procéder, sans être une règle à suivre dans tous les cas, se rattache cependant à des principes d'une grande importance. On y voit d'abord que l'autorité exercée par les apôtres dans l'Eglise était d'une nature bien différente de celle que se sont arrogée leurs prétendus successeurs. Il s'en fallait bien que, même de leur vivant, l'Eglise n'eût rien à dire en ses propres affaires, notamment dans le choix de ses ministres; elle intervint même directement, lorsqu'il fut question de remplacer un apôtre (1 : 15-23). On y voit ensuite avec quel soin une Eglise doit choisir ses fonctionnaires, quel que soit l'objet de leur office. Pour servir aux tables, comme pour toute autre fonction, il fallait des hommes animés de l'Esprit de Dieu. Nous y voyons enfin que tous les actes d'administration ecclésiastique doivent être accompagnés de la prière, parce que c'est Jésus qui est le chef de l'Eglise, et que c'est une manière de reconnaître et de confesser ce fait; sans parler du besoin si réel que nous avons de son assistance pour agir vraiment selon sa volonté. Quant à l'imposition des mains, si l'on ne voulait voir dans cette cérémonie que le signe de la transmission des dons extraordinaires du Saint-Esprit, on devrait la regarder maintenant comme dépourvue de tout sens; mais, bien que l'imposition des mains des apôtres fût fréquemment accompagnée d'une transmission des dons miraculeux, elle était aussi quelquefois une simple bénédiction au nom du Seigneur, et la consécration à une charge instituée ou approuvée par lui. Dans le cas particulier, l'imposition des mains exprimait qu'une partie de la charge apostolique passait aux sept frères élus, et qu'on appelait la grâce de Dieu sur leurs personnes [987].

3689. Il n'est pas sans intérêt de remarquer, après cela, que les noms des sept diacres sont des noms grecs, ce qui a fait penser qu'ils sortaient tous du milieu des hellénistes. Quelques-uns en ont conclu qu'avant eux il y avait déjà des diacres (ces jeunes gens qui enterrèrent Ananias et Sapphira), mais qu'ils avaient été, jusque-là, pris entre les Hébreux. Pour éviter de nouvelles plaintes, on leur aurait

(**Actes 6** : 7; 8-14.)

associé sept autres diacres, choisis parmi les plaignants. Pour moi, je me plais de préférence à considérer le résultat de cette élection comme un effet de l'amour et de la confiance qui n'avaient pas cessé d'animer les frères, malgré quelques nuages passagers. Les Hébreux avaient joint leurs voix à celles des hellénistes. De cette manière, ce qui avait d'abord été une sorte de scandale dans l'Eglise, tourna, par la grâce du Seigneur, à un resserrement des liens qui en unissaient les membres les uns aux autres.

3690. (7.) Telle ayant été l'issue de cet incident, nous ne devons pas nous étonner de ce qui est dit ensuite sur les progrès que la foi continuait à faire à Jérusalem. La Parole de Dieu y croissait comme la plante de moutarde sortie de sa petite semence; elle croissait en abondance de prédications, en clarté de doctrine et en efficace sur les cœurs. Le nombre des disciples se multipliait, et même des sacrificateurs en foule étaient comme contraints de se soumettre à la foi nouvelle. Beau triomphe en vérité! car ces sacrificateurs, en se convertissant, déposaient l'éphod pour se ranger parmi les humbles disciples des pêcheurs de la Galilée. Mais la foi est une puissance d'une grande énergie; quand elle commande, il faut que l'âme obéisse. Sainte violence, dont il n'est jamais arrivé à personne de se plaindre, après l'avoir subie.

3691. (8-14.) Parmi les diacres ou serviteurs de l'Eglise qui avaient été récemment élus, se trouvait un homme remarquable entre tous par la fermeté de sa foi et par la puissance miraculeuse dont le Saint-Esprit l'avait revêtu : c'était Etienne. Non content d'édifier l'Eglise par ses instructions et par sa vie, il portait l'Evangile dans les synagogues des hellénistes, helléniste lui-même; en sorte que ceux-ci se liguèrent contre lui, espérant de le confondre dans une dispute publique. Josèphe, historien et général juif, qui naquit à Jérusalem l'année même de la mort d'Etienne, ou une année après, nous dit qu'il existait alors dans la ville sainte quatre cent quatre-vingts synagogues ou congrégations distinctes, et que les Juifs de chaque contrée y avaient la leur. Celle des affranchis réunissait, pense-t-on, les Juifs de Rome qui, après avoir été esclaves, avaient recouvré leur liberté; celle des Cyrénéens, les Juifs habitant les côtes de l'Afrique connues sous le nom de Cyrénaïque; quant à la Cilicie et à l'Asie, c'étaient deux provinces de l'Asie Mineure. La première avait Tarse pour capitale, ville encore assez considérable maintenant, et près de laquelle Alexandre le Grand faillit périr en se baignant dans le Cyd-

(**Actes 6** : 15. **7** : 1; 2-54.)

nus. Là était né, quinze ans peut-être après Jésus-Christ, un homme dont les conquêtes ont été plus étendues et plus durables que celle du bouc de Javan, je veux dire ce disciple de Gamaliel, jeune pharisien fort rigide, dont nous aurons beaucoup à parler dans la suite, et qui va paraître sur la scène pour y jouer d'abord un rôle bien odieux. Il se trouvait apparemment parmi les hellénistes qui disputaient avec Etienne et qui, « ne pouvant résister à la sagesse et à l'Esprit par lequel il parlait » (Luc **21** : 15), ameutèrent le peuple contre lui et le traînèrent devant le conseil, l'accusant d'avoir mal parlé du temple et de la loi. Ils avaient avec eux des témoins menteurs : c'était tout comme dans le procès intenté contre Jésus-Christ.

3692. (15; **7** : 1.) On ne saurait douter qu'Etienne n'eût en effet parlé des institutions judaïques d'une manière qui avait d'autant plus offensé les oreilles, que c'était probablement un sujet dont les apôtres évitaient d'entretenir leurs auditeurs. Ils savaient bien que le temple devait être détruit, et que par conséquent le culte lévitique aurait une fin ; mais, soit que leur cœur israélite n'aimât pas à s'arrêter sur cette pensée, soit que le Saint-Esprit la retînt au fond de leur âme, afin qu'au moment voulu elle se fît jour par l'organe des hellénistes, il paraît qu'Etienne fut le premier à expliquer nettement le plan de Dieu sur ce point de majeure importance. Mais qu'il l'eût fait en termes blasphématoires, c'est ce qui était impossible. Rien qu'à le regarder, on aurait pu s'en convaincre; car ceux qui étaient dans le conseil ayant arrêté les yeux sur lui, virent son visage comme un visage d'ange. Au milieu de cette cohue, de ce mouvement, de ces passions agitées, on lisait sur ses traits tant de calme et de sérénité, tant de dignité et de douceur, une si parfaite innocence, une telle effusion de l'Esprit-Saint, qu'ils semblaient ne pas être ceux d'un homme. C'était presque comme Moïse redescendant de la sainte montagne (851).

3693. (**7** : 2-54.) Interrogé par le souverain sacrificateur (encore le malheureux Caïphe, à ce qu'on croit), Etienne prononça un discours qui, bien que le plus long de ceux que nous a conservés le livre des Actes, demeura cependant inachevé. Cette circonstance explique l'obscurité qui reste dans l'esprit, après avoir lu la portion de sa défense que ses ennemis consentirent à entendre. On ne voit pas bien où il en voulait venir, ni par conséquent l'utilité des développements dans lesquels il entra. Rappelons-nous toutefois de quoi il était accusé, et nous parviendrons à pénétrer sa pensée. Il devait s'être mon-

(**Actes 7 : 55-60.**)

tré Juif apostat, en blasphémant contre le temple et contre la loi. Pour détruire cette fausse inculpation, il fait un résumé de l'histoire de la nation d'Israël, en homme non-seulement qui s'honore d'appartenir à ce peuple, mais encore qui croit fermement que c'est l'Eternel lui-même qui avait appelé Abraham au pays de Canaan et Jacob en Egypte, qui avait délivré les fils d'Israël par le ministère de Moïse, ordonné l'érection du tabernacle dans le désert et confié plus tard à Salomon le soin de lui bâtir un temple. Comment penser qu'un homme qui parle ainsi ait pu blasphémer contre le temple et contre la loi!

3694. Puis, ce qu'Etienne avait pu dire sans blasphème et ce qu'il confirme, bien qu'en touchant la chose indirectement, c'est qu'avant le temple il y avait eu simplement une tente, et, avant la tente du désert, un Abraham, un Isaac, un Jacob, un Joseph, qui avaient adoré Dieu, qui avaient cru en ses promesses et s'étaient endormis dans sa paix, sans avoir eu ni le temple, ni le culte lévitique; c'est que le peuple de Dieu, par conséquent, pouvait de nouveau se voir sans temple et sous une autre loi que celle de Moïse. Ce qu'Etienne dit encore, et qu'il n'avait peut-être jamais exprimé d'une manière si forte, parce que l'occasion ne s'en était pas aussi clairement présentée, c'est que de tout temps le gros de la nation s'était montré hostile à l'Eternel et rebelle à sa voix. Ainsi les frères de Joseph, ainsi les Israélites en Egypte et dans le désert, ainsi encore les contemporains des prophètes qui annoncèrent le Messie. Or, les Juifs du temps d'Etienne, en crucifiant Jésus-Christ, en persécutant ses apôtres, en menaçant du regard celui qui, de sa part, leur adressait la parole à cette heure, manifestaient la même incrédulité et la même opposition au Saint-Esprit, que leurs pères, dans les plus mauvaises époques..... Voilà ce qu'ils appelaient blasphémer, et voilà ce qu'Etienne était à leur dire, lorsqu'il fut arrêté par les frémissements de leur rage et par leurs grincements de dents.

3695. (55-60.) A cet instant, le dernier qu'Etienne devait passer sur la terre, le Seigneur voulut réjouir le cœur de son disciple en se faisant voir à lui par une extase, effet de la puissance du Saint-Esprit. Etienne vit Jésus, le Fils de l'homme, Jésus dans cette chair qui souffrit pour nos péchés et en laquelle il habite le ciel jusqu'au rétablissement de toutes choses (3 : 21); et l'heureux martyr dit à haute voix ce qu'il contemplait et adorait. Mais ceux qui étaient là crièrent plus fort, afin qu'on ne l'entendît pas; ils se bouchèrent les oreilles; puis, se précipitant tous ensemble, ils l'entraînèrent tumultueuse-

ment hors de la ville, et, sans autres, ils le lapidèrent. Les témoins, aux termes de la loi (Deut. **17** : 7), jetèrent les premiers cailloux, tandis qu'un jeune homme, nommé Saul ou plutôt Saül, le disciple de Gamaliel, gardait leurs manteaux. Quant à Etienne, il avait eu le temps de prononcer cette courte et belle prière : « Seigneur Jésus, reçois mon esprit; » puis, continuant de regarder à Jésus (pour lui Dieu aussi bien qu'homme), il se mit à genoux tandis que les pierres pleuvaient sur sa tête. Il put encore crier à haute voix : « Seigneur, ne leur impute pas ce péché! » Ayant dit cela, il s'endormit sous le tas de pierres dont son corps fut bientôt recouvert.

3696. Telle fut la mort du premier martyr. Ce mot signifie *témoin*, et vous venez de voir, en effet, comment Etienne rendit témoignage à Jésus-Christ jusqu'à son dernier soupir, comment sa mort aussi rendit témoignage à la sincérité parfaite de sa foi et à la vérité de ses enseignements. « Il s'endormit; » car pour une âme ainsi préparée, la mort n'est pas autre chose qu'un doux et paisible repos dans le sein du Seigneur. Il s'endormit, après avoir proclamé la gloire de Jésus, Fils de l'homme, et en l'invoquant comme son Sauveur et son Dieu. Il s'endormit, le cœur plein d'amour et de compassion pour les malheureux qui le lapidaient! Rien de plus semblable à la mort de Jésus que celle d'Etienne, par la simple raison que l'Esprit de Christ habitait en lui. Et quel contraste avec la terrible fin de celui qui fut quelque temps au nombre des apôtres et qui n'y fut que pour trahir son Maître! C'est que Judas n'avait qu'une foi morte, et que celle d'Etienne était réelle et vivante par le Saint-Esprit. Comment ne pas dire après cela : « Que mon âme meure de la mort des justes et que ma fin soit semblable à la leur! » (Nombr. **23** : 10.)

3697. Ce fut donc l'an 36 ou l'an 37, qu'eut lieu l'événement mémorable qui vient de nous occuper, environ trois ou quatre ans après la mort de notre Seigneur. Or, ce fut en ce même temps, selon Josèphe, que Caïphe et Pilate se virent, l'un et l'autre, déposés de leur office par le pouvoir romain; non sans doute pour les punir du mal qu'ils avaient fait à Jésus et à ses disciples, mais à cause de leurs nombreuses malversations. Toujours est-il que ce dut être pour l'Eglise de Jérusalem une occasion solennelle d'adorer les voies de la Providence. Ces deux hommes, qui étaient entrés la même année, l'un dans la souveraine sacrificature, l'autre dans le gouvernement de la Judée, tombèrent ensemble, lorsque le sang de Christ venait, pour ainsi dire, de couler une seconde fois. Ce n'est pas que Pilate eût

(Actes 8 : 1, 2.)

concouru à ce dernier crime. Le conseil des Juifs n'avait pas eu besoin de son appui : il n'avait fait qu'user de l'autorité qui lui avait été laissée en matière religieuse [3497], et nous allons voir à quels excès il en porta l'exercice.

## CCLXXVIII. — Grande persécution ; l'Evangile prêché dans la Samarie ; baptême de l'Ethiopien.

3698. (8 : 1, 2.) Saul (ou Saül), ce jeune homme qui avait recueilli les manteaux des témoins, pendant qu'ils jetaient les premières pierres contre Etienne, avait assez prouvé par là qu'il consentait à ce forfait, et l'on peut bien supposer que, dans cette disposition d'esprit, il ne craignit pas de lever la main contre la victime. Zélé pharisien, il commençait, avec toute sa secte, à partager la haine violente des sadducéens contre les prédicateurs de l'Evangile. J'ai dit ailleurs [3663] ce qui avait pu, jusque-là, leur rendre le pharisaïsme moins hostile; mais maintenant que les pharisiens commençaient à voir où conduisait la nouvelle doctrine et à le comprendre plus nettement peut-être que beaucoup de disciples, car l'intérêt rend clairvoyant, ils jurèrent la perte de gens qui, quelques ménagements qu'ils y missent, ne pouvaient réussir sans modifier profondément le judaïsme, ou plutôt sans le mettre à néant. Aussi y eut-il, à cette époque, une persécution générale dont les précédentes n'avaient pu donner qu'une faible idée. Les disciples se virent obligés de quitter Jérusalem, ville trempée du sang de tant de prophètes (Luc 13 : 34); mais par une admirable direction de Dieu, les apôtres furent épargnés.

3699. En examinant attentivement les termes du récit, il semblerait que, le jour même du martyre d'Etienne, la population incrédule et formaliste de Jérusalem se jeta sur les disciples, les poursuivant partout, et que ces derniers, pour la plupart, ne purent que, par une prompte fuite, se soustraire aux violences de la populace. Mais, tandis que le grand nombre s'enfuyait dans les contrées voisines, les apôtres demeuraient à Jérusalem, cachés çà et là et se confiant en la protection du Seigneur. A cela près, la dispersion fut si complète, ce premier jour, qu'il n'y eut personne pour enterrer Etienne, si ce n'est quelques hommes pieux d'entre les Juifs non convertis; mais telle était la vénération qu'avait inspirée le saint martyr, et aussi l'impression laissée par ses derniers moments, que ces hommes mêmes honorèrent de leurs larmes son tombeau.

(**Actes 8** : 3, 4.)

3700. (3.) Cependant plusieurs disciples, hommes et femmes, avaient imité les apôtres, et parmi ceux qui s'étaient échappés de la ville au premier instant, beaucoup y rentrèrent peu après, s'offrant ainsi à la haine de leurs ennemis; car l'élan de la persécution avait été si fort, qu'elle ne pouvait s'arrêter de sitôt. Or, soit que Saul se fît remarquer dans l'accomplissement de cette œuvre d'iniquité, soit que l'historien sacré ait cru devoir le mentionner spécialement à raison du rôle qu'il joua plus tard, nous lisons ici les violences auxquelles ce malheureux jeune homme se laissait aller. Il avait pourtant entendu les paroles d'Etienne, mais son cœur n'était pas en état de les comprendre. Il n'y avait vu que de nouveaux blasphèmes; et, dévôt à sa manière, ces blasphèmes l'avaient fait frémir d'horreur; car Saul n'était pas un incrédule, et en lui se réalisait une des prophéties les plus remarquables de notre Seigneur (Jean **16** : 2). L'Eglise aussi tout entière put se convaincre alors que Jésus-Christ est bien venu, comme il le disait, apporter l'épée et le feu sur la terre. L'événement que nous avons sous les yeux est donc d'une haute importance, puisqu'il est à la fois l'accomplissement des prophéties de notre Sauveur sur les destinées de son Eglise, et le premier pas que fit celle-ci dans la carrière de souffrance qu'elle doit traverser d'âge en âge, avant de partager la gloire de son Rédempteur.

3701. (4.) Cet événement est encore important sous un autre point de vue; car ce fut la persécution dont le meurtre d'Etienne donna le signal, qui fit sortir de Jérusalem la prédication de l'Evangile. Ici, l'on ne saurait trop admirer la sagesse du Seigneur. Jérusalem était à une foule d'égards le sol le plus défavorable aux semailles évangéliques. Rappelez-vous la manière dont Jésus y fut reçu chaque fois qu'il s'y rendit; représentez-vous l'influence qu'y exerçaient les hommes sous les coups desquels il tomba! Il fallait certainement un grand miracle pour que l'Eglise pût s'y établir et y prospérer; mais, d'un autre côté, nulle part les apôtres ne pouvaient se trouver au sein d'une population plus nombreuse et plus variée, à raison des pèlerinages que les Israélites de tous les pays y faisaient sans interruption. Quelques-uns pensent que si, à l'époque de la mort d'Etienne, les apôtres étaient tous encore dans cette ville, cela venait d'un attachement excessif à leurs idées juives et d'une certaine répugnance à s'éloigner de la ville sainte dans laquelle ils auraient voulu concentrer tout le mouvement dont ils étaient les organes. La chose n'est pas impossible, car ces hommes avaient aussi leurs infirmités; mais je me per-

(**Actes 8** : 5-8; 9-13.)

suade que cela même entrait dans les plans de la sagesse éternelle. Avant que l'arbre jetât au loin ses semences, Dieu voulut qu'il creusât de ses racines et couvrît de ses branches le sol qui l'avait vu naître et qu'avait arrosé le sang du Seigneur. En tout cas, ce ne pouvait être que momentané, et, ce qui n'est pas moins admirable, c'est de voir la persécution qui naquit de cet ordre de choses, amener, selon les intentions du Seigneur, un ordre de choses tout nouveau. Les apôtres demeurent à Jérusalem, afin que le terrain ne soit pas reconquis par le pharisaïsme et le sadducéisme, mais pendant ce temps, les frères vont de lieu en lieu annonçant la bonne nouvelle du salut. Ainsi se formera bientôt un peuple chrétien, sans mélange de judaïsme. Il n'y a pas de fait d'ailleurs qui se soit plus souvent reproduit. Si la persécution est parvenue quelquefois à détruire en certains lieux la vérité, le plus souvent elle a eu pour résultat de l'y affermir, tout en fournissant à d'autres contrées des messagers de la bonne nouvelle. C'est l'histoire, par exemple, des Eglises si florissantes des Etats-Unis d'Amérique.

3702. (5-8.) Parmi ceux que le Seigneur envoya de cette manière annoncer l'Evangile, se trouvait Philippe, non l'apôtre, mais un collègue d'Etienne. Il prêchait le Christ, et accompagnait sa prédication de nombreux miracles. Or, il plut au Seigneur de bénir ses travaux au delà de ce qu'il espérait peut-être lui-même. La population entière d'une ville de la Samarie, entraînée par ce qu'elle voyait et entendait, s'attacha dès ce moment à Philippe, c'est-à-dire à sa doctrine, et ce fut l'occasion d'une grande joie. Ces pauvres Samaritains, si dégradés et encore plus méprisés! Quel bonheur d'apprendre que, si le Fils du Très-Haut avait subi la mort et repris la vie, c'était aussi pour eux, misérables excommuniés auxquels l'accès de Jérusalem était interdit, et qui voyaient arriver à eux, comme de soi-même, ce qu'ils ne seraient jamais allés chercher! Quelle grâce et quel privilége, car ils étaient des derniers, et les voilà parmi les premiers (Luc **13** : 30).

3703. (9-13.) Au moment où Philippe arriva dans cette ville, un homme du nom de Simon, y exerçait une influence pernicieuse, en pratiquant avec un triste succès les arts magiques. C'est une grande question que celle de la magie. Les ignorants veulent en voir partout, et pour d'autres elle n'est qu'une chimère, fruit de l'imposture et de la cupidité. Mais en présence de témoignages historiques irrécusables, en présence surtout des déclarations de l'Ecriture, il semble impos-

sible qu'il ne se soit passé jadis, à cet égard, des choses très extraordinaires et très réelles. Du reste, réels ou imaginaires, ces arts magiques ayant toujours pour effet de retenir les hommes dans le mal, on ne saurait y voir autre chose que l'action du prince des ténèbres. Simon, le Samaritain, était donc au milieu de ses concitoyens un vrai suppôt de Satan, le fauteur de la superstition et de l'impiété ; car on allait jusqu'à dire de lui, comme s'il eût été le Messie : « Celui-ci est la grande puissance de Dieu. » Mais quand les Samaritains eurent reçu dans leur cœur la bonne nouvelle du royaume des cieux, les choses changèrent tellement de face que Simon lui-même « crut, » c'est-à-dire qu'il embrassa la doctrine prêchée par Philippe; puis, il ne quittait pas le messager du Seigneur, tant il était étonné des miracles que Philippe opérait, miracles si différents de ses sortiléges.

3704. (14-17.) Les apôtres de Jérusalem ayant appris les merveilles de la grâce de Dieu dont la Samarie était l'objet, y envoyèrent Pierre et Jean, ces deux disciples qui marchaient toujours ensemble, depuis qu'ensemble ils avaient, les premiers, visité le sépulcre de leur Maître, après s'être rencontrés aussi, dans la cour de Caïphe, le matin du grand jour. Ils trouvèrent les choses comme on les leur avait dites. Beaucoup de Samaritains avaient embrassé la foi et reçu le baptême; mais ce qui accompagnait ordinairement à cette époque la conversion des âmes, une effusion de dons miraculeux, ne s'était pas encore manifesté parmi ces nouveaux frères. C'est bien de dons miraculeux qu'il s'agit dans notre texte; car la prédication de Philippe n'aurait pas obtenu de si beaux succès, si le Saint-Esprit avec ses dons ordinaires n'eût été répandu sur ses auditeurs, comme sur lui. Puis, en recevant la Parole de Dieu, les Samaritains avaient certainement reçu l'Esprit qui agit par le moyen de cette Parole ; mais ce qui leur manquait, je le répète, c'était le sceau extraordinaire que le Saint-Esprit mettait alors à son œuvre, selon la promesse du Seigneur (Marc **16** : 17, 18).

3705. Ne pensez pas, après cela, que les apôtres pussent, à volonté, communiquer par l'imposition des mains les dons miraculeux. Ce n'est pas à ce point que le Seigneur les avait faits dépositaires de son pouvoir. D'abord, il fallait que ceux à qui ils imposaient les mains eussent été préparés par la prédication de la Parole et par la foi en cette Parole. Puis, vous voyez Pierre et Jean prier pour les Samaritains, afin qu'ils reçussent les dons de l'Esprit. Ce fut donc le Seigneur lui-même qui, en réponse à leurs prières (Jean **15** : 7, 16) et par l'imposition de leurs mains, répandit sa grâce sur ces nouveaux disciples,

(**Actes 8** : 18-23; 24.)

de même qu'il l'avait répandue sur les apôtres. Quand on a voulu voir dans ce fait la confirmation épiscopale, c'est-à-dire la cérémonie par laquelle, dans certaines Eglises, les évêques ou de simples pasteurs font confirmer à des jeunes gens ce qu'on appelle le vœu de leur baptême, on oublie trois choses qui font ici une différence infinie : premièrement, que la plupart de ces Samaritains étaient sans aucun doute vraiment convertis ; secondement, que l'imposition des mains des apôtres fut suivie de dons miraculeux ; enfin, que les apôtres exercèrent à plusieurs égards et à celui-ci en particulier, un ministère spécial qui ne pouvait, ni ne devait se perpétuer.

3706. (18-23.) Simon, que les miracles de Philippe avaient rempli d'étonnement, fut tout hors de lui, en voyant les effets produits par les prières et par l'imposition des mains des apôtres. Je dis par les prières des apôtres, et peut-être ne prit-il pas garde à cette circonstance. Il pénétra si peu le fond de ce mystère, qu'il commit l'erreur de penser que les apôtres disposaient du Saint-Esprit quand et comme ils le voulaient. Persuadé sans doute que sa fortune serait faite s'il pouvait acheter et vendre à son tour une telle puissance, il offrit aux apôtres de l'argent pour qu'ils lui donnassent un pouvoir égal au leur. Le péché d'avarice, de trafic et de profanation dont Simon se rendit coupable, s'est dès lors appelé de son nom, une *simonie*. Il y a simonie à mettre aux choses saintes un prix vénal, comme ne le fait que trop l'Eglise romaine et, dans une certaine mesure, d'autres Eglises bien plus respectables d'ailleurs; il y a simonie, plus ou moins, chez tous ceux qui voient les charges ecclésiastiques sous leur côté lucratif, comme en général chez quiconque fait de la piété un moyen de gagner de l'argent. Or, en relisant la sévère apostrophe par laquelle Pierre repoussa l'odieuse proposition de Simon, vous sentirez combien est affreux le péché dont se rendent coupables les simoniaques, grands ou petits. Il parle même comme s'il n'était guère possible que ce péché-là fût pardonné : c'est que, effectivement, porté à un certain point, il met un obstacle presque insurmontable à la conversion et devient facilement le péché contre le Saint-Esprit.

3707. (24.) Et pourtant, ce malheureux Simon était du nombre de ceux qui avaient cru et qui avaient été baptisés (13) ; à ce moment même, nous l'entendons supplier les apôtres de prier afin qu'il fût préservé de la malédiction dénoncée par eux ! Conclurons-nous de là que sa faute fut une erreur momentanée, une de ces chutes possibles aux fidèles et dont la grâce de Dieu sait les relever? On voudrait le

penser; mais quand on considère que le mot « croire » signifie si souvent, et suivant les cas, faire une simple profession de la foi; quand on sait que beaucoup de gens qui se recommandent aux prières d'autrui, le font pour se dispenser de prier eux-mêmes, on n'est pas loin d'admettre la vérité de la tradition d'après laquelle Simon serait bientôt retourné à son premier train et à ses pratiques superstitieuses, nouvel exemple des impuretés qui souillèrent de si bonne heure l'Eglise de Jésus-Christ. Quant à Pierre, dont le nom primitif était Simon, vous vous le rappelez, quel sérieux retour il put faire sur lui-même! comme il dut sentir plus que jamais la grâce que le Seigneur lui avait accordée, lors de son reniement, en le relevant d'un péché non moins grave que la simonie.

3708. (25.) Que de souvenirs encore dut retracer à Pierre et à Jean cette Samarie qu'ils avaient traversée plus d'une fois avec leur cher Maître. C'était là que, six ans auparavant, ils avaient vu, dans la conversion des Sichariotes, les prémices de leur moisson actuelle, moisson que Philippe et les autres fugitifs avaient semée (Jean 4 : 37, 38); c'était aussi là que, peu de mois avant la mort du Sauveur, une bourgade tout entière leur ayant refusé l'hospitalité, Jean et son frère auraient voulu que Jésus fît descendre la foudre sur elle. Bien changés en leur cœur, avec quelle joie ne durent-ils pas voir les effets de la grâce de Dieu en ces contrées et concourir par leurs prédications à les gagner au Sauveur! C'est ainsi qu'ils faisaient descendre sur elles le feu du ciel; mais non le feu qui consume [3204]. Après donc qu'ils eurent ajouté leur témoignage à celui de Philippe et de ses compagnons d'œuvre, annonçant la bonne nouvelle en beaucoup de bourgades des Samaritains, ils retournèrent à Jérusalem.

3709. (26-31.) Philippe, cependant, continuait sa tournée d'évangélisation, et tandis qu'il ne songeait qu'à ses chers Samaritains, le Seigneur, de son côté, s'occupait, en ses grandes miséricordes, d'un homme, selon toute apparence encore plus étranger à la famille d'Abraham. C'était un Ethiopien, officier du palais et puissant seigneur de la reine Candace. Cet homme, entre les mains duquel Dieu avait fait tomber les livres de l'Ancien Testament [2569], y avait appris à connaître l'Eternel, et il avait voulu l'adorer dans la sainte ville de Jérusalem. Il était arrivé au fort de la persécution. Cette circonstance même avait dû le rendre attentif à tout ce qui se disait des Nazaréens et de leurs prétentions relativement au Christ promis par les prophètes. Mais, à ce moment, les disciples ne se réunissaient plus dans le

(**Actes 8** : 26-31.)

temple, et leurs assemblées particulières, plus ou moins secrètes, ne furent pas de facile accès pour l'Ethiopien. Il repartait donc sans avoir pu s'éclairer ; mais il ne lisait qu'avec d'autant plus d'intérêt les anciens oracles de l'Eternel, et, poussé par l'Esprit de vérité, il cherchait le Christ de tout son cœur ; or nous savons que celui qui cherche, trouve. En effet, un ange du Seigneur dit à Philippe de se rendre sur le chemin où cet homme devait passer.

3710. Deux routes, encore aujourd'hui, conduisent de Jérusalem à Gaza, et l'une des deux traverse une contrée assez déserte. Ce fut sur cette route, la moins fréquentée, que Philippe dut aller, sans savoir encore pourquoi. Mais bientôt il vit venir à lui un homme qui, assis sur son char, lisait avec une profonde attention. C'était le livre du prophète Esaïe que l'eunuque tenait en sa main, et il en était au chapitre **53**. Alors, et sans que nous sachions de quelle manière, le Saint-Esprit dit à Philippe de s'approcher de ce char, ce qu'il fit avec le plus grand empressement, et, entrant tout de suite en matière : « Comprends-tu ce que tu lis ? » dit-il à l'Ethiopien.

3711. Mes lecteurs peuvent savoir maintenant par expérience que, si la Bible présente des difficultés, comme tout livre ancien, comme tout livre écrit primitivement dans une langue fort différente de la nôtre, comme tout livre enfin qui traite des choses profondes de Dieu et de l'avenir, tant s'en faut cependant qu'il n'y ait en elle que mystères et obscurités. Toujours est-il que nous la comprenons difficilement, si quelqu'un ne nous l'explique. Or, le Saint-Esprit est, au fond, le seul interprète de la Parole qu'il a dictée aux prophètes et aux apôtres ; mais si le Saint-Esprit exerce sur nos sentiments une action immédiate qu'on ne saurait contester, et si par le cœur il agit sur l'intelligence, il n'en est pas moins vrai que, pour nous donner la compréhension des Ecritures, il emploie des moyens en rapport avec la nature des choses. D'abord, l'Ecriture s'explique elle-même, un prophète aidant à entendre un autre prophète, le Nouveau Testament donnant la clef de l'Ancien, et l'Ancien Testament facilitant la lecture du Nouveau. Puis, de tout temps, le Seigneur a eu dans son Eglise des docteurs qui, unissant la foi à la science (il faut ces deux conditions), ont jeté par leurs travaux un grand jour sur les Ecritures. Ce sont eux et leurs livres, mes chers lecteurs, qui m'ont aidé dans mon travail ; ils ont été mes Philippes ; et si, de mon côté, Dieu me fait la grâce d'être pour quelques-uns de vous un guide utile dans l'étude de la Bible, je serai pour eux ce que Philippe fut pour l'Ethiopien. Mais

(**Actes 8** : 32-35; 36-39.)

Philippe n'est pas le Seigneur, lequel envoie aux âmes ceux qui peuvent leur être utiles, ni le Saint-Esprit, qui leur ouvre le cœur et y fait pénétrer la vérité.

3712. (32-35.) Représentez-vous donc ces deux hommes, le riche Ethiopien et l'obscur Israélite, assis côte à côte dans un chariot découvert, au milieu d'une route silencieuse, les gens de l'étranger marchant sans doute à pied, devant lui. Ils ont un rouleau de parchemin déployé sur les genoux (c'était moins commode que nos livres), et ils lisent ensemble ce même prophète Esaïe que vous avez dû lire avec tant d'intérêt, et, je l'espère, avec quelque bénédiction pour vos âmes. L'Ethiopien savait le grec assurément, et il avait entre les mains la traduction qui avait été faite des Ecritures en cette langue. Il y cherchait des lumières sur le point qui préoccupait alors tant de gens. Si Jésus de Nazareth est le Messie, il faut que ses souffrances, aussi bien que sa gloire, aient été prédites, et l'eunuque voulait s'en assurer. Or, voyez comme il était bien conduit par le Seigneur, car il lisait justement une des prophéties les plus explicites sous ce double aspect. Aussi ne fut-il pas difficile à Philippe de partir de là pour lui annoncer tout ce qui concernait le Seigneur, savoir la bonne nouvelle de sa mort et de sa résurrection, source et gage de notre salut.

3713. (36-39.) Des voyageurs chrétiens ont récemment retrouvé sur la route qui conduit de Jérusalem à Gaza par le désert, une eau courante qui est très probablement celle près de laquelle l'eunuque et Philippe arrivèrent à cet instant, et où ils s'arrêtèrent sous quelque ombrage, peut-être, pour achever leur entretien. Mais une eau plus pure encore et plus salutaire avait rafraîchi l'âme de cet étranger. Le Saint-Esprit, qui avait mis en lui le désir de connaître la vérité; le Saint-Esprit, qui avait poussé Philippe près de lui; le Saint-Esprit, qui lui avait fait ouvrir le livre d'Esaïe et qui avait jadis inspiré ce prophète, le Saint-Esprit lui donna les choses qui sont à Jésus-Christ et glorifia le Sauveur dans ce pécheur engendré de nouveau (Jean **3** : 5, 6; **16** : 14). C'est de tout son cœur qu'il croit que Jésus-Christ est le Fils de Dieu et de tout son cœur qu'il manifeste le désir d'être baptisé. En conséquence, Philippe n'hésite pas à descendre dans l'eau avec lui et à mettre sur sa foi le divin sceau du baptême. Or tel était le bonheur de cet homme que, privé tout aussitôt de son docteur, du seul frère qu'il se connût, il ne laissa pas de continuer son chemin plein de joie. N'avait-il pas en effet ce qui console de toutes les peines de la vie : l'assurance de sa réconciliation avec l'Eternel; et, à défaut

du docteur qui lui était enlevé, ne possédait-il pas, par la grâce du Saint-Esprit, l'intelligence de la Parole de Dieu?

3714. (30.) L'officier de la reine Candace, de retour en Abyssinie (pays que les anciens renfermaient, avec la Nubie, sous le nom plus général d'Ethiopie), s'y montra, dit-on, zélé propagateur de la foi; car bien que, trois siècles après, des missionnaires aient trouvé ces contrées dans les ténèbres de l'idolâtrie, il ne s'ensuit pas nécessairement qu'une Eglise chrétienne n'ait pu y exister auparavant. Quant à Philippe, transporté miraculeusement par la puissance du Saint-Esprit, il se trouva dans Azot ou Asdod, ancienne ville des Philistins, sur les bords de la Méditerranée, à dix lieues environ de Gaza. De là il se rendit à Césarée, non la Césarée que nous avons vue ailleurs [3089], mais une Césarée qui, située sur la mer, au nord d'Azot et à vingt-cinq lieues environ de Jérusalem, s'appelait autrefois la Tour de Straton. Pendant tout ce voyage, Philippe ne cessa de prêcher l'Evangile, et nous aurons bientôt la preuve que ce ne fut pas sans succès.

## CCLXXIX. — **Conversion de Saul; commencement de son apostolat et de ses souffrances** (Evangile de Matthieu).

3715. (**9** : 1, 2.) Ici commence, à proprement parler, l'histoire de l'un des plus illustres serviteurs de Dieu. Au moment du supplice d'Etienne, époque où il en est fait mention pour la première fois, il était jeune encore, ce qui, dans le langage des Juifs, veut dire qu'il pouvait avoir à peine trente ans. Deux années au moins s'étaient écoulées dès lors. Sa haine pour l'Evangile, loin de s'épuiser, semblait plutôt s'accroître par les persécutions mêmes auxquelles il avait donné les mains dans la ville de Jérusalem, et il cherchait partout de nouvelles victimes. Damas, l'ancienne capitale du royaume de Syrie, ville toujours florissante, comptait parmi ses habitants un grand nombre de Juifs. Ils s'y étaient fixés dès le temps de la première captivité et même auparavant (2 Chron. **28** : 5), en sorte qu'il y existait plusieurs synagogues. Bien que l'Evangile n'y eût point encore été porté par les apôtres, il y était néanmoins parvenu, grâce aux relations fréquentes que les Israélites de tous les pays entretenaient avec la ville qu'illustrait et sanctifiait le temple de l'Eternel. C'est ce dont les pharisiens avaient eu vent, et Saul, poussé par son horrible zèle, sollicita du souverain sacrificateur des pouvoirs contre les Juifs de Damas qui

avaient pris « ce chemin, » comme porte le texte sacré, parce qu'en effet la foi en Jésus est, aussi bien que Jésus-Christ lui-même, le chemin de la vie éternelle (Jean 14 : 6). Saul se proposait de ne ménager personne. Hommes et femmes, tous devaient sentir sa colère, et ses ordres étaient de les amener liés à Jérusalem. Le Sanhédrin, ce même corps qui avait condamné Jésus, étendait, en matière religieuse, sa juridiction sur les Israélites dispersés en tous lieux, prérogative que les conquérants lui avaient constamment accordée.

3716. (3-5.) Mais tandis que Saul marchait du côté de Damas, le cœur plein de sinistres projets contre le Seigneur, dans la personne de ses disciples (Luc 10 : 16), le Seigneur, de son côté, se disposait à faire de lui le plus admirable monument de sa miséricorde. Le pharisien n'était plus qu'à une faible distance de la ville, lorsqu'une lumière éclatante, venant du ciel, resplendit autour de lui. Renversé comme par un coup de foudre, il entendit une voix qui, lui donnant son nom hébreu, ce nom qui rappelait celui du persécuteur de David, père et type du Messie, lui dit : « Saül, Saül, pourquoi me persécutes-tu? » C'était le Seigneur lui-même qui s'adressait à la conscience de Saul, et Saul ne put s'y méprendre; car, lorsque, se débattant sous la main puissante qui le retenait contre terre, il s'écria : « Qui es-tu Seigneur? » il eut pour réponse cette parole : « Je suis Jésus que tu persécutes. » Jésus était donc réellement ressuscité comme le disaient ses disciples; ce Jésus qu'on croyait mort était vivant à n'en pouvoir douter, et Saul a maintenant la plus entière démonstration que Jésus est le Messie, le Fils de Dieu! Mais la démonstration de la vérité ne suffit pas pour convertir une âme : il faut la préparation du Saint-Esprit. Cette préparation ne manquait pas au persécuteur des disciples de Jésus. Bien que Saul eût agi jusqu'à ce jour dans la sincérité de son zèle pharisaïque, et c'est par là qu'il différait de tant d'hypocrites qui, durant la vie de Jésus, avaient blasphémé contre le Saint-Esprit, il paraît cependant qu'il était quelquefois tourmenté par des doutes sur l'innocence de sa conduite. N'oublions pas qu'il avait été témoin de la mort d'Etienne, qu'il avait vu le visage d'ange du saint martyr, qu'il avait pu entendre son admirable prière, qu'il avait assisté au culte solennel rendu à Jésus par ses lèvres expirantes. Si tout cela put, au premier instant, lui paraître de nouveaux blasphèmes et l'exciter d'autant plus contre les disciples, il était impossible que ce spectacle ne se fût pas représenté à lui sous un aspect différent, et il pressait sur son âme comme « un aiguillon » qui le fai-

(**Actes 9** : 6-9; 10-16.)

sait souffrir, à proportion même de son obstination dans la mauvaise voie. Aussi, quand le Seigneur le sollicita de ne pas résister davantage, Saul se dégagea de cette terrible lutte, en disant : « Seigneur, que veux-tu que je fasse? »

3717. (6-9.) Nous retrouvons ici ce qui fut toujours le signe d'un vrai retour à Dieu : une sainte frayeur des dangers que fait courir l'incrédulité, et la ferme résolution d'entrer dans une voie nouvelle. Or, le Seigneur voulant tout à la fois laisser Saul quelque temps à ses réflexions et le mettre en rapport avec les disciples, ne jugea pas à propos de lui révéler dès ce premier moment toute sa volonté. S'il lui fit entendre quelques paroles qui ne sont pas racontées ici, mais que nous retrouverons ailleurs, il le renvoya surtout à ce qui lui serait dit, de sa part, dans la ville. En attendant, Saul fut frappé de cécité, symbole de l'aveuglement où il avait vécu jusque-là, et ceux qui l'accompagnaient le prirent par la main et le conduisirent à Damas, dont une faible distance les séparait sans doute. Quant à eux, ils avaient confusément entendu une voix, mais ils n'avaient pas vu de qui elle partait, ni entendu les paroles qu'elle avait prononcées. Trois jours se passèrent durant lesquels Saul demeura dans cet état, et tellement absorbé par ses pensées, comme peut-être par les révélations intérieures du Seigneur, qu'il ne mangea ni ne but pendant ce temps. Selon quelques-uns, cela signifierait simplement qu'il ne fit point de repas proprement dits; mais on sait que les abstinences prolongées ne sont pas rares dans les pays orientaux, et après ce qui s'était passé, on comprend ce long jeûne du nouveau converti.

3718. (10-16.) Cependant, le Seigneur n'oubliait pas la promesse qu'il avait faite à Saul. Se révélant personnellement à un disciple de Damas nommé Ananias, il lui donna l'ordre de se transporter auprès de Saul, et de lui rendre la vue en posant la main sur lui. Bien que le Seigneur désignât Saul par cette expression très générale : « un nommé Saul de Tarse, » il savait bien qu'Ananias comprendrait tout de suite de qui il s'agissait; aussi se hâte-t-il d'ajouter ces mots, propres à le rassurer : « Car voici, il prie. » Ah! certes, Saul avait souvent prié, mais de la prière du pharisien [3280]; aujourd'hui seulement commençait pour lui la véritable prière du péager. Combien cette bonne nouvelle n'aurait-elle pas dû réjouir le cœur pieux d'Ananias? Quel bonheur encore d'apprendre que Saul l'attendait, lui, Ananias, lui-même, ensuite d'une vision dont Saul aussi avait été favorisé; car tout se combine dans le conseil et dans les mains de Dieu pour l'accomplisse-

ment de sa grâce envers ses élus : il prépare à Saul un Ananias, et en même temps qu'il dit à Ananias d'aller auprès de Saul, il avertit Saul de la visite d'Ananias. Mais, bien que celui-ci eût répondu comme le père des croyants (Gen. **22** : 1), il hésitait à faire ce qui lui était ordonné. Sa frayeur se comprend. Un persécuteur tel que Saül! un homme qui avait ravagé l'Eglise de Jérusalem et que les nouvelles reçues depuis son départ annonçaient aux frères de Damas comme un lion qui venait se jeter dans leur bergerie! Il fallait une grande foi pour aller à lui et l'aborder en disant : « Saül, mon frère! » Mais bien qu'Ananias hésitât, le Seigneur ne laissa pas de lui parler comme à un croyant; car, pour le décider, il se contenta de lui prophétiser le plan de sa grâce au sujet du persécuteur. Instrument de choix, il prêchera le nom de Jésus-Christ après l'avoir insulté (Luc **12** : 10); sa vocation sera surtout de l'annoncer aux nations et à des rois de la terre, mais sans oublier les fils d'Israël; enfin, autant et plus que les autres messagers de la bonne Nouvelle, il aura beaucoup à souffrir pour le nom de Jésus. « Alors Ananias s'en alla et il entra dans la maison. »

3719. (17-19.) On ne sait ce qu'il faut admirer le plus en ce récit, de la grandeur du sujet, ou de la simplicité de la narration. Ananias croit à la parole du Seigneur; il entre auprès de Saul, toujours aveugle; il se fait connaître à lui; il pose les mains sur l'élève de Gamaliel, qu'il appelle son frère, et celui-ci, recevant le Saint-Esprit, recouvre en même temps la vue : il est baptisé, il se met à table, et Ananias ayant probablement rompu le pain au nom de Jésus, Saul se sentit fortifié. Ainsi fut élu, converti, guéri, éclairé et consacré, celui de tous les serviteurs de Dieu auquel le monde a le plus d'obligations. C'est, à coup sûr, une des plus belles œuvres du Tout-Puissant, et il est remarquable, entre autres choses, de voir comment il a voulu que les commencements du grand apôtre Paul fussent parfaitement humbles. Il aurait pu le convertir à Jérusalem et dans les cours du temple, aussi bien que sur le chemin de Damas; le faire baptiser et consacrer par le collége des apôtres et non par un fidèle d'ailleurs inconnu; mais, tandis que de cette manière l'orgueilleux Saül eût été mis promptement en évidence, ce que ne voulait pas le Seigneur, nous allons le voir retenu durant de longs jours à Damas, loin du centre d'activité des principaux prédicateurs de l'Evangile! Il y avait là une grande éducation pour l'âme du pharisien, et le développement que prit ensuite son activité, n'en est que plus remarquable.

(**Actes 9** : 19-22; 23-25.)

3720. (19-22.) Bien que le moment ne fût pas encore venu pour Saul de prendre la place qui lui était réservée au premier rang des apôtres, il ne laissa pas de commencer immédiatement l'exercice de son ministère. Après avoir passé quelques jours dans l'intimité des disciples, il parut au milieu des congrégations des Juifs, prêchant Jésus comme le Christ, le Fils de Dieu; car la divinité du Sauveur lui fut, dès sa conversion, pleinement révélée, et elle dut le frapper plus que les anciens disciples. On conçoit l'étonnement qu'excita ce langage, dans la bouche d'un homme qui avait jusque-là déployé tant de haine contre « ceux qui invoquaient ce nom; » c'est ainsi qu'on désignait les disciples de Jésus, comme nous l'avons vu déjà dans la bouche d'Ananias (14). Il n'est pas dit cependant qu'il se soit fait alors des conversions parmi les Juifs, et pourtant il semble que le miracle de la conversion de Saul aurait dû produire cet effet. Il est vrai que, dans la discussion, il fermait aisément la bouche des adversaires, en racontant ce qui lui était arrivé; mais de ce qu'on n'a plus rien à répondre, il ne s'ensuit pas qu'on soit convaincu : on peut même être convaincu, sans que la vérité ait réellement gagné le cœur. Bien plus, nous apprenons de ce fait à ne pas nous étonner quand nous voyons les âmes résister aux preuves les plus pénétrantes, telles par exemple que le témoignage rendu à la vérité par des hommes qui luttèrent longtemps contre elle.

3721. (23-25.) Ne soyons pas surpris non plus, si, en pareille circonstance, on voit l'animosité des adversaires croître avec le zèle et les triomphes des serviteurs de Dieu. Tout ce qu'il y avait de haine contre ceux qui invoquaient le nom de Jésus, se porta naturellement sur Saul, d'autant plus détesté qu'on avait attendu bien autre chose de lui. Aussi verrons-nous ailleurs qu'après un assez court séjour dans la capitale de la Syrie, il dut se réfugier quelque temps chez les descendants d'Ismaël. De là, il revint à Damas, et, un assez grand nombre de jours après sa conversion, dit l'auteur du livre des Actes (Paul lui-même nous apprendra plus tard que ce fut trois ans après), il dut s'évader furtivement d'une ville où il était venu muni d'un grand pouvoir pour faire le mal, et où il ne pouvait plus faire de bien, tant sa vie était sérieusement menacée par les Juifs. Entré de plein jour à Damas, mais aveugle, Paul en sort au milieu des ténèbres d'une nuit obscure; mais son âme était maintenant éclairée, et nul doute qu'il ne s'estimât heureux, lui aussi, d'avoir quelque chose à souffrir pour son Sauveur.

(**Actes 9** : 26-30; 31.)

3722. (26-30.) De Damas, Saul regagna Jérusalem avec l'intention de se joindre aux disciples; mais ceux-ci avaient encore un souvenir très vif de ses violences, et malgré ce qu'ils avaient pu apprendre de sa conversion, ils se refusaient à le reconnaître en qualité de disciple, comme s'il eût été impossible que le Seigneur lui eût fait une telle grâce. Ils trouvaient probablement étrange que Saul ne fût pas venu plus tôt à eux. Après avoir ouï dire qu'il était converti, ils avaient sans doute appris son départ pour l'Arabie et dès lors peut-être ils n'en avaient plus eu de nouvelles. Ainsi s'expliquerait leur conduite. Ce n'est pas la justifier; mais quand on a beaucoup souffert, on devient timide et défiant. Toujours est-il que ce dut être une grande épreuve pour la foi de Saul. Il est plus pénible d'être méconnu de ses frères, que de subir la haine du monde. Au surplus, l'erreur des disciples de Jérusalem, effet d'une première impression, ne fut que momentanée. Il plut au Seigneur de mettre Saul en relations avec Barnabas, ce lévite dont il a été fait mention précédemment [3672]. Celui-ci, convaincu de la parfaite droiture de l'ex-pharisien, le conduisit vers les douze, leur racontant toute l'histoire d'un frère dont personne, à coup sûr, ne prévoyait alors le grand avenir. Dès cet instant, il alla et vint avec eux dans Jérusalem, sans s'inquiéter des moqueries et des menaces des pharisiens, ses anciens affiliés; il parlait d'un ton ferme au nom du Seigneur Jésus, et c'était avec les hellénistes que, helléniste lui-même, il avait surtout affaire. Il voulait ainsi réparer le mal dont il s'était rendu coupable de concert avec eux, dans le temps d'Etienne, et peu s'en fallut qu'il ne subît le même sort. Mais on apprit ce qui se complotait contre lui, et les frères le firent partir pour Césarée, où nous avons laissé le diacre Philippe [3714], et d'où, quelque temps après, on le dirigea sur Tarse, en Cilicie, lieu de son origine.

3723. (31.) A cette époque cependant, les assemblées des frères répandues dans la Palestine jouissaient d'une paix qui devait leur être bien douce après toutes leurs tribulations. L'auteur sacré ne nous dit pas à qui elles en furent redevables, parce qu'il va sans dire que c'était au Seigneur lui-même et à sa grande bonté. Mais les moyens que Dieu emploie pour protéger les siens sont quelquefois bien admirables! Dans le temps à peu près de la conversion de Saul, un jeune prince, nommé Caïus Caligula, avait succédé à l'empereur Tibère, sous le règne duquel notre Seigneur fut crucifié. Ce Caligula, un des hommes les plus cruels et les plus insensés qui aient ceint le dia-

(Actes 9 : 31.)

dème, voulut être adoré partout comme Dieu, et il ordonna notamment que sa statue fût placée dans le temple de Jérusalem. L'historien Josèphe raconte fort au long la douleur qu'en éprouvèrent les Juifs et l'opposition qu'ils firent à l'ordre de César; comment ils se préparèrent à la guerre, et comment, Caligula étant mort sur ces entrefaites, ils furent délivrés de leurs craintes. Beaucoup de personnes attribuent à cette circonstance le repos dont les Eglises jouirent en Judée dans ce même temps, les esprits étant occupés ailleurs; et si Luc n'en dit rien, c'est que son histoire ne fait jamais aucune excursion dans la politique. Les événements du siècle pouvaient nous être transmis par une autre voie; tandis que si Dieu ne nous avait pas fait raconter ceux qui appartiennent à son règne, nous ne les aurions point connus, tant le monde a de tout temps affecté de s'y montrer indifférent.

3724. Quoi qu'il en soit, arrêtons quelques instants nos regards sur ces Eglises maintenant paisibles au dehors, comme elles l'étaient encore au dedans. Il est bon sans doute pour l'Eglise d'avoir ses temps d'épreuve; mais il ne l'est pas moins qu'elle ait aussi des temps de repos, et il ne faut pas croire que la persécution lui soit absolument nécessaire pour prospérer. La présence du Saint-Esprit et l'efficace de ses consolations lui sont assurées en toutes saisons; c'est là le secret de sa force. Je dirai même que les souffrances sont pour l'Eglise, comme pour chaque fidèle, un moyen de sanctification dont la nécessité résulte de ce qu'elle n'est pas ce qu'elle devrait être. Une Eglise où la foi et l'amour abonderaient n'aurait pas besoin que des châtiments vinssent la réveiller, la stimuler, la pousser à plus de zèle. C'est pourquoi l'Eglise la plus digne du saint nom d'épouse de Jésus-Christ, est celle qui, semblable aux Eglises de la Palestine à cette époque, porte comme elles, sans la dure discipline de l'épreuve, les fruits de sanctification qui, par un effet des faiblesses de notre foi, résultent plus ordinairement de la souffrance. En un mot, il est beau de voir les Eglises vivantes se multiplier malgré l'opposition parfois si furieuse des adversaires; mais il l'est plus encore de les voir, en des temps meilleurs, actives et fécondes, au lieu de se laisser endormir par la prospérité.

3725. C'est aussi à cette époque qu'on place communément la composition du premier Evangile, celui de Matthieu. Sans répéter ce que j'ai dit ailleurs sur ce sujet [2597, 2600], remarquez toutefois la sagesse du Seigneur dans le choix qu'il fit du moment où cet écrit

parut. Pour que la foi des chrétiens reposât sur un témoignage irrécusable, il a voulu que la bonne nouvelle fût, pendant plusieurs années, racontée de bouche en bouche par un grand nombre de témoins; mais, d'un autre côté, afin que maintes légendes ne vinssent pas bientôt se mêler à la vérité, il voulut que, sans trop de retard, cet Evangile fût écrit par un de ceux qui avaient reçu le Saint-Esprit le jour de la Pentecôte. Cette double circonstance explique très bien d'ailleurs la manière dont saint Matthieu a rédigé son livre. Il s'agissait bien moins de raconter par ordre l'histoire de Jésus-Christ, que de fixer les faits et les doctrines qui caractérisent l'Evangile, en les groupant de la manière la plus utile aux besoins du temps et de l'Eglise. On comprend aussi pourquoi le premier Evangile fut essentiellement écrit en vue des Juifs convertis : il n'y avait alors que des fils d'Abraham qui invoquassent le nom du Seigneur Jésus, sauf l'officier de la reine Candace et quelques autres peut-être.

## CCLXXX. — Prédications et miracles de Pierre; conversion et baptême du capitaine Corneille.

3726. Bien que plusieurs années déjà se fussent écoulées depuis la résurrection de notre Seigneur, l'Evangile n'avait pas encore été porté aux idolâtres, ou à ceux que les Juifs appelaient les *Goïm* (nations ou gentils). La suite nous montrera que Dieu avait essentiellement réservé cette tâche difficile à l'apôtre Paul. Il trouva bon néanmoins de la commencer par Pierre, afin de montrer que la conversion des gentils et celle des Juifs était une seule et même œuvre dans le fond. Il n'ignorait pas d'ailleurs les préjugés qu'il y aurait à vaincre chez les fils d'Abraham pour leur faire recevoir au milieu d'eux, simplement par le baptême et sans la circoncision, les hommes des nations, les Goïm. C'est pour cela qu'il voulut vaincre d'abord l'apôtre Pierre, prévenu lui-même autant que nul autre, et dont l'opinion, modifiée par les faits, ne pouvait qu'exercer une grande influence sur toute l'Eglise sortie de la synagogue.

3727. (32-35.) L'historien sacré nous montre donc ici, pour la seconde fois, cet apôtre sortant de Jérusalem [3704] et visitant tout le pays, mais ne s'occupant encore que des Juifs, particulièrement des membres de l'Eglise. Ceux-ci, appelés ailleurs les *frères* (10 : 23), les *disciples* (9 : 10), *ceux qui invoquent le nom de Jésus* (9 : 14), sont dé-

signés ici par un bien beau nom, celui de *Saints*. C'est déjà comme cela qu'Ananias les avait nommés, en parlant au Seigneur lui-même (13), et combien ne faut-il pas que la dégradation de l'Eglise soit grande, pour que ce nom soit tombé en désuétude comme il l'est! Les courses de Pierre l'ayant conduit à Lydde, ville située entre Jérusalem et Joppe, et voisine de Saron, dans la riche contrée qui portait ce nom, il opéra sur un paralytique une de ces guérisons destinées à prouver tout à la fois qu'il parlait de la part de Jésus, et que ce Jésus était réellement vivant, toujours revêtu de la même puissance. « Enée! Jésus, le Christ, te guérit; lève-toi, et arrange toi-même ton lit. » Aussitôt connue à Lydde et à Saron, cette merveille produisit une impression profonde. Ce ne furent pas seulement quelques individus qui « se tournèrent vers le Seigneur, » dit le texte sacré; mais il y eut un mouvement si considérable que tous furent entraînés, et l'on ne saurait douter que, par la grâce du Seigneur, il n'y ait eu au milieu de tout cela grand nombre de conversions réelles et durables. Partout donc s'accomplissait la parole dite à Simon : « Tu es Pierre, et sur cette pierre j'édifierai mon assemblée » (Matth. **16** : 18).

3728. (**9** : 36-43.) Pendant que Pierre était à Lydde, l'église de Joppe fit une perte qui plongea dans le deuil toute la congrégation. Ce n'était pas un docteur, un Philippe ou quelque autre frère éminent que Dieu venait de rappeler à lui. C'était une simple femme, une veuve, selon toute apparence, et rien n'indique qu'elle laissât après elle une famille d'orphelins. Mais Dorcas abondait en bonnes œuvres et en aumônes. Non contente de donner de son superflu, peut-être de son nécessaire, comme la veuve de l'Evangile (Luc **21** : 1-4), elle travaillait de ses mains pour procurer des vêtements à ceux qui en manquaient, fondatrice, en quelque sorte, de ces sociétés de travail communes parmi nous, sans qu'on puisse dire, hélas! que toutes les personnes qui en font partie soient, par leur foi et par leur charité, de véritables Dorcas. La douleur fut si profonde et si générale, que les frères de Joppe déléguèrent deux des leurs à Pierre, dans la pensée qu'il lui serait donné de rappeler Dorcas à la vie, ou simplement peut-être pour qu'il vînt les consoler. Or le Seigneur voulut que son disciple fît l'une et l'autre chose; ensuite de quoi il y eut à Joppe un grand nombre de conversions, et Pierre y demeura durant assez longtemps chez un corroyeur nommé Simon ou Siméon, comme lui. Du reste, ces deux miracles de Pierre ne sont là qu'épisodiquement et pour conduire au fait principal, fait de la plus haute impor-

tance, dont le chapitre dixième et les dix-huit premiers versets du chapitre suivant contiennent le récit.

3729. (10 : 1-8.) Dans cette ville de Césarée où nous avons vu que Philippe avait porté ses pas en quittant Azot, et où Saul lui-même parut quelques moments [3722], mais selon toute probabilité, après la visite de Pierre, le voyage de Saul ayant été raconté par anticipation; dans cette ville considérable, célèbre par son beau port, et assez souvent la résidence du gouverneur romain, se trouvait en garnison, à cette époque, un homme qui, par son nom, semble avoir appartenu à la célèbre famille Cornélia. C'est de la même famille qu'était sorti jadis ce L. Scipion, par qui la puissance romaine avait pénétré pour la première fois en Asie [2573]. Dans tous les cas, notre Cornélius n'était pas un personnage sans importance. Comme le centenier de Capernaüm, il avait acquis la connaissance de Dieu pendant son séjour en Judée, et, sans avoir embrassé le judaïsme, il adorait l'Eternel, montrait sa foi par ses bonnes œuvres, et sa maison tout entière ressentait l'influence de sa piété [2964]. C'était une âme que le Saint-Esprit préparait pour être les prémices de la grande moisson au milieu des païens, et, chose remarquable, il avait fallu à cet effet l'accomplissement de la grande prophétie de Daniel sur la quatrième monarchie. Peut-être Corneille avait-il ouï parler de Philippe et de ses prédications, mais il n'avait pas encore été mis en rapports directs avec les messagers de l'Evangile. C'est toutefois ce qu'il fallait pour le salut de son âme; c'est ce qu'il fallait aussi pour l'instruction même des messagers de la bonne nouvelle, et cela explique la vision céleste dont il fut favorisé. Un ange, mentionnant ses aumônes et ses prières comme un témoignage accepté de Dieu, lui signifia toutefois que cela ne suffisait pas, et qu'il eût à appeler le nommé Simon-Pierre, actuellement à Joppe, afin d'entendre de lui ce qu'il avait à faire. Soumis à la voix divine, Corneille dépêcha deux de ses domestiques et un soldat; et comme c'étaient des hommes qui partageaient ses convictions, il leur raconta tout ce qui s'était passé.

3730. (9-16.) Deux journées de marche séparaient Joppe de Césarée. Le lendemain du jour où Corneille avait eu sa vision et expédié ses gens, Pierre monta, vers l'heure de midi, sur la terrasse de la maison de son hôte, et ayant devant les yeux la vaste mer, si belle image de l'immensité, il se livrait à l'exercice de la prière, consolation et force de tout enfant de Dieu (6 : 4). A ce moment, l'apôtre eut faim, et, comme on lui apprêtait de la nourriture, il entra en ex-

tase et il eut une vision qui n'était pas sans rapport avec la faim qu'il éprouvait, mais qui avait trait surtout à l'événement auquel le Seigneur voulait le préparer. Il faut que mes lecteurs se rappellent ici l'opinion généralement répandue chez les Juifs à cette époque. Malgré le grand nombre de prophéties qui annonçaient la vocation des gentils, ils n'imaginaient rien de pareil à ce que la grâce de Dieu destinait aux nations idolâtres. Ils ne disaient pas qu'un païen ne pût parvenir d'aucune manière à l'héritage des promesses; mais il fallait pour cela, pensaient-ils, qu'il s'incorporât à la famille d'Abraham par la circoncision, et, de cette manière encore, le salut n'était que pour les Juifs. Les apôtres eux-mêmes n'entendaient pas la chose autrement, bien que le Seigneur leur eût assez nettement déclaré sa pensée (Jean 10 : 16; Matth. 28 : 19), et bien qu'ils eussent, de leur propre bouche, prophétisé dans ce même sens (2 : 39). L'inspiration ne leur donnait pas la connaissance de toutes choses, et ils ne devenaient infaillibles que là où il plaisait au Saint-Esprit de les éclairer. Or, ils étaient encore sur ce point dans une certaine ignorance, mais la lumière allait se faire.

3731. Pour comprendre le sens de la vision, il faut se rappeler en outre les prescriptions de la loi de Moïse au sujet des animaux qu'il n'était pas permis de manger, et qui, par cette raison, étaient tenus pour souillés ou impurs. Dans la vision, ces animaux sont l'image des nations idolâtres avec lesquelles un Israélite ne devait point entrer en relations, et qu'il envisageait comme souillées par le fait même qu'elles étaient étrangères à l'alliance. L'espèce de remontrance enfin que la voix du Seigneur fit entendre à l'apôtre signifiait que les païens étant appelés à recevoir, aussi bien que les Juifs, la grâce de l'Evangile, il n'y avait plus à tenir compte de la souillure que la loi leur avait imprimée (15).

3732. (17-24.) Pierre ne comprit pas d'abord le sens de la vision; mais il ne put être longtemps dans le doute. Pendant que les messagers de Corneille s'informent de lui à la porte de la maison, le Saint-Esprit lui-même, interrompant les méditations de Pierre, l'invite à descendre auprès d'eux et à les suivre sans hésitation. Mais où? C'est ce que l'apôtre apprend de leur bouche. Ils prononcent le nom de leur maître; ils racontent en deux mots ce qui s'est passé la veille à Césarée, et Pierre, qui commence à comprendre, Pierre, pour qui ce que Dieu a purifié ne saurait plus être souillé, fait entrer ces païens dans la maison de son hôte et les loge auprès de lui. Le lendemain, ils

partent ensemble et arrivent le surlendemain à Césarée, dans la société de quelques frères de Joppe; on voit plus loin que ceux-ci étaient au nombre de six (**11** : 12). Pierre savait-il au juste ce qu'il allait faire à Césarée? Il est permis d'en douter. Tout ce que les domestiques de Corneille avaient dit, c'est que leur maître attendait de lui « des paroles, » et l'Esprit lui-même ne l'avait pas informé plus clairement : « Va avec eux sans hésiter, parce que c'est moi qui les ai envoyés. » Mais ce dont Pierre est certain, c'est que le Seigneur le veut à Césarée, chez Corneille, au milieu de ces gentils; et quand on est appelé par le Seigneur, on marche avec assurance. Voilà donc cette petite troupe d'amis de Jésus entrant à Césarée, pour y tenir une assemblée qui ne fit pas de bruit dans le monde, et qui n'en a pas moins été, pour ce même monde, le commencement d'une ère religieuse toute nouvelle.

3733. (24-27.) Corneille, qui avait pu calculer les heures du voyage et qui ne mettait pas en doute la fidélité de Dieu, avait réuni sa famille et ses intimes amis, et il attendait avec eux le messager du Seigneur. Hélas! ce pauvre Corneille, païen naguère, adorateur d'hommes divinisés, ne vit pas plutôt Pierre que, frappé de son air vénérable, il se jeta à ses pieds pour l'adorer. Mouvement irréfléchi qui fit sortir de la bouche de Pierre, de celui dont les papes se prétendent les successeurs, la parole la plus foudroyante contre l'idolâtrie actuelle des catholiques-romains. Les papes se laissent adorer, ils se font adorer, ils frappent des médailles où l'on voit les cardinaux à genoux devant le souverain pontife, avec cette exergue : *Adorant quem creant;* « Ils adorent celui qu'ils créent; » tandis que Pierre, jaloux d'une gloire qui n'appartient qu'à Dieu et qu'il lui eût été si facile d'usurper, s'empressa de relever le Romain Corneille, en lui disant : « Et moi aussi, je suis un homme. » Le capitaine était allé au-devant de Pierre; il rentra dans la salle, conversant avec lui, et l'on conçoit quel moment plein d'intérêt ce dut être pour les personnes qui s'y trouvaient assemblées.

3734. (28-33.) Après s'être excusé de ce que, contrairement à tous les usages des Juifs, il entrait librement dans la maison d'un païen, expliquant de quelle manière Dieu l'y avait lui-même engagé, et comment, serviteur soumis, il avait obéi sans faire aucune objection, Pierre demanda qu'on lui dît aussi par quelle raison et dans quel but on l'avait appelé. Alors Corneille raconta ponctuellement ce qui lui était arrivé le quatrième jour avant celui où ils se trouvaient, et

(**Actes 10** : 34-43; 44-48.)

« maintenant, dit-il, nous sommes tous ici devant Dieu, pour entendre toutes les choses dont Dieu t'a donné charge. » C'est une belle et sérieuse parole que celle de ce brave soldat. Quel bonheur, si, dans nos assemblées, nous nous placions tous ainsi devant le Seigneur, prêts à recevoir en nos cœurs ce que Dieu daigne nous dire par la bouche de nos frères! Vous voyez que, par la grâce d'en haut, Corneille et les siens avaient toutes les dispositions qu'on peut désirer chez les pécheurs auxquels on annonce l'Evangile; ils priaient beaucoup, ils faisaient tout le bien en leur pouvoir, ils avaient faim de la Parole de Dieu, et ils se plaçaient devant lui pour écouter cette divine Parole. Aussi la vérité n'eut-elle pas de peine à se faire jour dans leur âme.

3735. (34-43.) Pierre leur en fit l'exposition avec sa manière à la fois simple et énergique. Au premier abord, ce nouveau discours semble entièrement calqué sur les précédents; mais un examen attentif y fait voir au contraire des différences considérables, et de ces différences qui constatent l'authenticité d'un récit. Il commence par exprimer ses convictions actuelles sur les intentions de la miséricorde divine envers les païens. Il lui est maintenant démontré, non pas qu'un honnête païen sera sauvé par son honnêteté tout en demeurant éloigné du Sauveur, mais que le moment était venu où le Seigneur voulait se former un peuple parmi les gentils, et il en voyait la preuve dans les saintes dispositions qu'il avait mises au cœur de Corneille, pour le préparer à recevoir Jésus-Christ. Si d'ailleurs les promesses ont été faites aux fils d'Israël en premier lieu, Jésus, Fils de Dieu, ne laisse pas d'être le Seigneur de tous.

3736. C'est de ce Jésus que Pierre devait entretenir son auditoire; mais, tandis qu'à Jérusalem il s'était borné à parler de sa résurrection et de sa seconde venue, le reste étant généralement connu, ici, nous le voyons reprendre en résumé toute l'histoire du Sauveur, depuis son baptême par Jean jusqu'à son relèvement d'entre les morts, n'oubliant pas d'annoncer son futur retour pour juger le monde, et proclamant surtout le pardon des péchés par la foi en son nom. C'était le point essentiel, alors comme aujourd'hui. Corneille et ses amis, encore que pieux et bienfaisants, avaient besoin d'être sauvés. Il en avait été ainsi de Zachée, du centenier de Capernaüm et de tant d'autres non moins bien disposés.

3737. (44-48.) Voilà sans doute ce que Pierre allait exprimer, lorsqu'il fut interrompu (**11** : 15) par un événement auquel nul d'entre

eux ne s'attendait. Après que le Saint-Esprit eut dit par la bouche de Pierre : « Tout homme qui croit en lui reçoit le pardon des péchés par son nom, » cet Esprit de grâce et de lumière descendit sur tous ceux qui écoutaient Dieu de si bon cœur. Il fut sur eux, comme il est encore de nos jours sur quiconque écoute avec sérieux une prédication fidèle; mais il y eut de plus l'effusion miraculeuse des dons surnaturels qu'obtenait, en ces premiers temps, la foi des élus. Cela se fit avant qu'ils fussent baptisés et sans que Pierre leur eût imposé les mains; par où Dieu voulut montrer clairement que le don de sa grâce n'est pas comme fatalement lié aux actes qui en sont les signes et quelquefois les sceaux. Il fallait d'ailleurs qu'on ne pût faire aucune objection contre l'introduction immédiate de ces étrangers dans l'Eglise du Seigneur. Pour cela, non-seulement il avait d'avance préparé leurs âmes, non-seulement deux visions étaient venues tracer la marche à suivre envers eux, mais encore le Saint-Esprit se les approprie de manière à lever tous les doutes. Aussi, Pierre répondant, semble-t-il, aux scrupules des frères de Joppe dont il s'était fait accompagner et qui éprouvaient un grand étonnement de ce qu'ils voyaient : « Quelqu'un, dit-il, peut-il refuser l'eau pour ceux-ci, qui ont reçu le Saint-Esprit aussi bien que nous ? » En effet, il y avait là une seconde Pentecôte, la Pentecôte des nations païennes, après celle de la nation juive à Jérusalem; et c'est du baptême administré ce jour même à Corneille et aux siens qu'est sorti, pour ainsi dire, le baptême administré dès lors à tant de millions de chrétiens d'entre la gentilité. Hélas! si nos pères et nous, nous avons été baptisés dans le nom de Jésus comme Corneille, pouvons-nous dire que tous aient été, comme lui, baptisés du Saint-Esprit, à ne parler que de ses dons ordinaires?

3738. (**11** : 1-18.) Après avoir passé quelques jours à Césarée auprès de l'heureux Corneille, Pierre remonta à Jérusalem, où il s'attendait bien que sa conduite rencontrerait des contradicteurs, car il prit avec lui les six frères qui l'avaient accompagné, et au témoignage desquels il voulait se référer (12). En effet, on ne manqua pas de lui faire un crime de ses relations avec des incirconcis, suivant le bruit qui en était venu jusqu'à eux. On ne parlait pas même du baptême qui leur avait été administré, soit qu'on le tînt pour nul, vu les circonstances, soit qu'on ne le crût pas capable d'effacer la souillure de l'incirconcision. Vous voyez combien l'esprit juif était tenace chez ces frères de Jérusalem, et quelles vues étroites cet esprit leur faisait apporter aux choses de l'Evangile. Pierre donc, naguère tout sem-

blable à eux, leur raconte de point en point ce qui s'était passé; il leur montre dans l'événement qui causait leur surprise l'accomplissement d'une des dernières paroles de Jésus (1 : 5); et il finit en leur représentant le péché dont il se serait rendu coupable, s'il avait refusé d'entrer dans les vues de Dieu. Ce nouveau discours ne fut pas moins béni que le précédent. Non-seulement les frères de Jérusalem prirent leur parti de ne plus posséder un droit exclusif à la grâce de Dieu, en tant que Juifs; mais encore ils se réjouirent de ce que Dieu donnait aussi la conversion aux gentils, pour qu'ils eussent la vie. Oui, c'est Dieu qui donne la conversion à ceux qu'il veut sauver, et comment ne pas le glorifier, lorsqu'il manifeste sa grâce envers les pécheurs, bien plus encore peut-être quand il s'agit de pécheurs que nous en jugeons indignes!

CCLXXXI. — **L'Eglise helléniste d'Antioche; second voyage de Saul à Jérusalem; supplice de Jacques, un des apôtres; nouvel emprisonnement de Pierre et mort soudaine d'Hérode-Agrippa.**

3739. (19-21.) L'historien sacré, reprenant son récit où il l'avait laissé (8 : 40), nous apprend que les disciples chassés de Jérusalem après la mort d'Etienne, ne s'étaient pas bornés à prêcher l'Evangile dans la Judée, la Samarie et la Galilée, mais qu'ils l'avaient porté jusque dans les contrées païennes de la Phénicie, au nord de Césarée, puis dans l'île de Chypre et à Antioche, ville considérable de Syrie (maintenant Antakiéh), près de la côte occidentale de la mer Méditerranée, en face à peu près de l'île de Chypre. Mais comme cela se passait avant la conversion de Corneille et des siens, ils n'avaient garde de s'adresser aux gentils; les Juifs seuls leur semblaient appelés au salut. Cependant, au nombre de ceux avec lesquels ils entrèrent en relations, parce qu'ils étaient d'origine juive, se trouvèrent un certain nombre de ces Israélites qu'on appelait hellénistes [3685]. Ce fut pour eux surtout que la bonne nouvelle du salut fut annoncée à Antioche. Située sur le fleuve Oronte, cette ville était à six ou sept lieues de la mer. Les Juifs y jouissaient de priviléges égaux à ceux des Grecs, et leur situation y était très florissante. Ce fut là que se fonda la première Eglise essentiellement composée de Juifs parlant le grec, intermédiaire préparé par le Seigneur entre les Eglises de la Judée et celles qui allaient bientôt se former chez les Grecs proprement dits, ou autrement chez les païens. « La main de Jésus fut

avec ceux qui y prêchèrent les premiers l'Evangile, Cypriens et Cyrénéens, en sorte qu'un grand nombre de Juifs hellénistes ayant cru, se tournèrent vers le Seigneur. » Ce furent donc des Juifs originaires des côtes de l'Afrique et d'une île fameuse par les impuretés de son idolâtrie, qui devinrent les fondateurs de l'une des plus illustres Eglises de l'antiquité! Les voies de Dieu sont vraiment admirables!

3740. (22-24.) Bien que les frères de Jérusalem ne se rendissent pas compte de l'immense portée du mouvement dont Antioche était le théâtre, ils montrèrent l'intérêt qu'ils y prenaient en y députant Barnabas. Barnabas, de l'île de Chypre et par conséquent helléniste (**4** : 36); Barnabas, « homme bon et rempli d'Esprit-Saint et de foi, » était qualifié plus que personne pour une telle mission. Quelle joie ne dut pas éprouver ce respectable serviteur de Dieu, en voyant les effets de la grâce divine sur ces nouveaux frères! Aussi ne cessait-il de les exhorter à « demeurer attachés au Seigneur avec décision de cœur. » Ce ne sont donc pas seulement les pécheurs non convertis qui ont besoin d'exhortations. Il semble qu'une fois au Seigneur, on ne devrait plus vouloir autre chose que sa grâce; mais Satan attaque les fidèles de tant de façons, qu'il est besoin de les solliciter à demeurer fidèles et à déployer une grande décision dans la profession de leur foi. C'est là-dessus que bien des gens, même pieux, ne sont que trop souvent en défaut; toutefois, dans l'œuvre de notre salut, et du commencement à la fin, rien n'est plus indispensable que la résolution, la fermeté, le courage (Matth. **11** : 12).

3741. (25, 26.) Barnabas, qui, en allant à Antioche, avait dû passer par Césarée, et qui peut-être avait été surpris de ne pas y trouver Saul (**9** : 30), poussa jusqu'à Tarse, capitale de la province limitrophe, d'où il ramena Saul à Antioche. Il sentait que la place de ce jeune docteur était dans cette jeune Eglise, et la suite prouva qu'il avait été réellement conduit par le Seigneur. Pendant tout une année, Barnabas et Saul firent partie de l'Eglise d'Antioche; leurs enseignements attirèrent beaucoup de monde et portèrent de grands fruits, non-seulement parmi les Juifs hellénistes, mais aussi probablement parmi les païens. Jusqu'à ce moment, les assemblées des disciples de Jésus n'avaient pas été distinguées par le public d'avec les synagogues des Juifs. Le monde, qui, autant qu'il le peut, demeure indifférent aux idées religieuses, ne put plus ignorer ce qui se passait. Une nouvelle doctrine était prêchée et se propageait; un nouveau peuple se formait. C'était assez semblable au judaïsme, mais il y avait évidem-

ment autre chose : à l'autorité de Moïse succédait celle de quelqu'un qu'on appelait le Christ. Alors, comme toujours, on s'empressa d'assigner un nom à cette nouveauté et, si ce ne fut pas celui de *christianisme*, on désigna du moins par le nom de « chrétiens » ceux qui s'y rattachaient. Quelques personnes pensent que ce furent les disciples qui se donnèrent ce titre; mais, sans entrer en discussion sur un point de peu d'importance au fond et qui pourra s'éclaircir dans la suite de ces Etudes, nous avons vu précédemment de quelle manière ils se désignaient. C'est sous le nom de « frères » qu'ils s'adressaient la parole, sous ceux de « disciples » et de « saints » qu'ils parlaient les uns des autres et que le Seigneur lui-même les nommait; quelquefois on disait : « Ceux qui croient, » ceux qui invoquent le nom du Seigneur, « ceux qui suivent le Chemin. » Quant au nom de « chrétiens, » ou de sectateurs du Christ, nom honorable maintenant, malgré l'abus qu'on en fait, il me paraît probable que, dans l'origine, ce fut un terme de mépris de la part du monde. Quoi qu'il en soit, il fut un temps où il suffisait de revendiquer ou d'accepter ce titre pour être envoyé au supplice, et ainsi s'accomplit une des prophéties les plus remarquables de notre Seigneur (Luc **6** : 22).

3742. (27-30.) Pendant que Barnabas et Saul multipliaient leurs travaux à Antioche, il y arriva de Jérusalem des prophètes, dont l'un, nommé Agabus, avait, paraît-il, pour mission de prédire une famine qui s'étendrait au loin. Or, soit parce que la disette se faisait toujours sentir en Canaan plus que nulle part, comme on peut s'en souvenir, soit parce que la générosité, peut-être excessive, des fidèles de Jérusalem envers leurs pauvres, avait appauvri la communauté tout entière, on pensa tout de suite à la détresse où se trouveraient les frères de Judée. La famine fut annoncée comme imminente, car les chrétiens d'Antioche s'empressèrent de faire une collecte, à laquelle chacun prit part selon ses facultés; ils en envoyèrent le produit par Barnabas et par Saul, et ceux-ci le remirent entre les mains des anciens de l'Eglise de Jérusalem, c'est-à-dire des frères qui dirigeaient cette Eglise et qui portaient le même nom que les chefs des synagogues juives. Ce fut le second voyage que Saul fit à Jérusalem depuis sa conversion. La famine prédite par Agabus eut lieu sous le règne de Claude César, qui, l'an 41, avait succédé à Caïus Caligula, lui-même successeur de Tibère, comme je l'ai dit ailleurs [2723]. Il suit de là, que, sans pouvoir assigner à ce second voyage de Saul une date certaine, il dut avoir lieu cinq ou six ans après sa conversion ;

donc, deux ou trois ans après son premier voyage. Mais ce qui est plus intéressant qu'une donnée chronologique, c'est la preuve que ce récit nous fournit de la fraternité qui existait entre tous les serviteurs de Jésus. Il est évident qu'ils s'envisageaient comme ne faisant qu'un seul et même corps, dont aucun membre ne peut souffrir, que le corps tout entier ne souffre ; bel exemple donné par « les chrétiens » d'Antioche aux chrétiens de tous les temps.

3743. (12 : 1, 2.) A la famine succédèrent de nouvelles persécutions contre les frères de Jérusalem. La Judée, qui, depuis Archélaüs, fils d'Hérode le Grand, avait cessé d'être sous le joug de l'odieuse famille des Hérode [2668], s'y était vue replacée par la volonté de l'empereur Claude. Aristobule, autre fils d'Hérode le Grand, père d'Hérodias, l'indigne épouse de ses deux oncles Philippe et Hérode Antipas [3050], Aristobule, dis-je, mis à mort par son père l'an 6 de l'ère chrétienne, n'était jamais monté sur le trône; mais il avait laissé, outre sa fille Hérodias, un fils nommé Hérode et surnommé Agrippa, qui passa sa jeunesse à Rome et s'y fit beaucoup d'amis en vivant dans le débordement. Après la mort de Tibère, Caligula nomma cet Hérode roi de quelques provinces voisines de la Judée, et, comme il se trouvait à Rome lors de l'avénement de Claude, celui-ci lui rendit l'administration royale des Etats de son grand-père. Mais ce petit-fils du cruel Hérode le Grand et neveu du voluptueux Hérode Antipas, ne jouit pas longtemps d'une autorité qu'il ne craignit pas de diriger contre les disciples de Jésus-Christ.

3744. L'an 44 de l'ère chrétienne (ici la date paraît assez positive, d'après l'historien Josèphe), Hérode Agrippa étant à Jérusalem, mit la main sur quelques membres de l'assemblée pour les maltraiter. S'il poussa la violence jusqu'à en faire mourir plusieurs, c'est ce qu'on ignore; ce qu'il y a de sûr, c'est qu'il fit décapiter Jacques, le frère de Jean. C'était lui que Jésus avait surtout honoré de sa confiance, avec son frère et avec Pierre [3473], lui qui avait fait à Jésus la demande ambitieuse qu'on n'a sans doute pas oubliée et à qui le Seigneur avait prophétisé le sort qui l'atteignait en ce moment (Matth. 20 : 23). Il le lui avait, dis-je, prophétisé, mais de telle sorte que nul n'aurait pu imaginer qu'il serait le premier en qui la prophétie se réaliserait, à moins qu'on ne se souvînt en même temps de la prédiction spéciale qui, prononcée plus tard, concernait son frère [3589]. Toujours est-il qu'il ne pouvait entrer dans les vues du Seigneur que les témoins de sa résurrection tombassent tous sous les premiers

coups de leurs ennemis, et l'on ne saurait trop admirer de quelle haute protection il les avait environnés jusque-là, comme il le fait aujourd'hui pour nos missionnaires. Mais il était bon, d'un autre côté, et utile à la gloire de Dieu, que l'un d'entre eux, au moins, scellât de son sang la fidélité de leur témoignage à tous, et que ce sang, devenant une menace sur la tête des autres, le monde vît clairement que ces hommes étaient parfaitement convaincus de la résurrection de leur Maître, convaincus jusqu'à donner leur vie, plutôt que de se rétracter. Or, ce fut Jacques qui eut l'insigne privilége d'ouvrir la liste des apôtres martyrs; il reçut ainsi le baptême dont son Maître avait été baptisé, et il acquit auprès de lui la place de distinction qu'il avait ambitionnée, mais en entendant d'abord la chose dans un tout autre sens.

3745. (3-5.) La manière dont Hérode était parvenu au pouvoir, lui imposait la nécessité de capter par tous les moyens possibles la faveur populaire. Cet homme sans conscience ne se demanda pas s'il agissait selon la justice ou non. La tête de Jacques, un des plus actifs et des plus zélés, était tombée aux applaudissements de la populace de Jérusalem, toujours la même; il n'en fallait pas davantage pour qu'Hérode cherchât quelque autre victime, et le tour de Pierre parut enfin venu. Hérode le fit mettre en prison sous forte garde, se réservant de donner au peuple le spectacle de son supplice quand la semaine des pains sans levain serait passée et la pâque entièrement achevée. Seize soldats répondaient de sa personne, et, après la fin lamentable de Jacques, comment espérer que Pierre pût échapper au sort qui l'attendait? Cependant, « une prière persévérante se faisait à Dieu pour lui, par l'assemblée, » moins peut-être en vue d'une délivrance impossible, que pour assurer au pauvre prisonnier les consolations et la force d'en haut. Ce n'étaient pas des prières nombreuses, mais « une prière persévérante : » les frères, pense-t-on, s'étaient entendus et organisés de manière qu'il y eût, à toute heure du jour et de la nuit, quelques personnes assemblées au nom de Jésus et réclamant l'effet de ses promesses (Jean 16 : 23).

3746. (6-11.) Le dernier jour des pains sans levain était expiré. Le soleil qui allait se lever, devait, selon l'ordre impie d'Hérode, voir couler le sang de celui qui avait dit, lorsqu'il était incapable d'un tel sacrifice : « Je donnerai ma vie pour toi, » et qui maintenant laissait avec tant de calme le moment fatal s'approcher. Lié à deux soldats par le moyen de deux chaînes, il dormait paisiblement dans la prison,

tandis que ses frères priaient, montrant leur foi par l'ardeur de leurs supplications, comme lui par la parfaite tranquillité de son âme. Tout à coup, la prison est merveilleusement éclairée, Pierre se sent frappé au côté, quelqu'un lui dit de se lever et de s'habiller, les chaînes qui liaient ses mains se détachent, on l'invite à sortir et il sort, les portes s'ouvrent les unes après les autres devant lui et devant son libérateur mystérieux, il arrive enfin dans la rue sans que rien de ce qui s'était passé eût été vu et entendu par les soldats. Pierre lui-même avait obéi machinalement et comme on le ferait dans un songe; aussi lui semblait-il que tout cela n'était qu'une vision. Ce fut seulement lorsqu'il sentit l'air extérieur lui rafraîchir le visage, et qu'abandonné par l'ange du Seigneur, il se vit bien réellement au milieu de la ville, qu'il comprit ce qui lui était arrivé. Lui-même peut-être ne l'avait pas cru possible, après la mort de Jacques, son cher collègue; d'ailleurs, il s'était probablement endormi avec le doux souvenir de la parole de son bon Maître : « Toi, suis-moi, » et il s'attendait à un tout autre réveil (Jean **21** : 22).

3747. (12-17.) Mais où ira-t-il, à cette heure avancée de la nuit? Après quelques instants de réflexion, Pierre se dirige vers la maison d'une nommée Marie, dont nous verrons bientôt le fils occupé à la prédication de l'Evangile, sainte femme, qui montrait son zèle pour le Seigneur en ouvrant sa demeure aux assemblées des frères. Sans que Pierre pût savoir qu'il y trouverait à ce moment une réunion de prières, il était sûr d'être bien accueilli par Marie et par Jean-Marc son fils. Voilà donc l'apôtre devant cette maison hospitalière, il heurte au vestibule, et une jeune fille appelée Rose (c'est la traduction de son nom grec) vient, timidement sans doute, s'informer qui fait ce bruit. « C'est moi, » dit Pierre, et la jeune fille reconnaît une voix qu'elle avait souvent entendue parlant des choses de Dieu. Dans le trouble que lui cause un bonheur si inespéré, elle rentre en courant sans avoir ouvert la porte, et vient annoncer à l'assemblée que Pierre est là, devant le vestibule. Insensée! lui dit-on; et comme elle insistait : « Non, ce ne peut être lui, » dirent quelques-uns; « c'est son ange. » Pierre, cependant, continuait à heurter, jusqu'à ce qu'on vînt enfin lui ouvrir. Or, même après l'avoir vu, ils ne revenaient pas de leur étonnement, si peu ils s'attendaient à quelque chose de pareil. L'agitation fut grande parmi les frères, et comme chacun sans doute adressait des questions à l'apôtre, il leur imposa silence par un signe de la main; puis il leur raconta comment sa délivrance s'était opérée,

(**Actes 12** : 12-17; 18-23.)

les priant d'en donner promptement avis aux frères et à Jacques avant tout. Ce Jacques était frère de notre Seigneur, un des principaux témoins de sa résurrection [3600], lequel, sans être apôtre, occupait une place éminente, on croit la première, parmi les anciens de l'Eglise de Jérusalem.

3748. On ne saurait lire le récit que je viens à la fois de résumer et de développer, sans être frappé de la simplicité naïve avec laquelle tous les faits y sont offerts à notre attention, même les plus simples, parce que tous ont leur importance. On y voit si bien, par exemple, que, dans ce temps de miracles, les fidèles ne réglaient pas plus leur conduite là-dessus, que nous ne devons le faire de nos jours. Nous y voyons aussi que, malgré les lumières extraordinaires répandues par le Seigneur sur son Eglise, il se retrouvait chez plusieurs des restes d'anciennes opinions, qui, pour n'être pas incompatibles avec la vraie foi, n'en étaient pas moins des erreurs. Quand les apôtres avaient revu Jésus après sa résurrection, ils avaient cru que c'était un esprit; cette fois, les amis de Pierre pensent que c'est son ange, et non pas lui, qui vient de frapper à la porte. Sans doute qu'il existe des anges au ciel et que ces anges ne demeurent pas étrangers à ce qui se fait sur la terre : toute la Bible nous l'atteste; mais que chacun de nous ait son ange gardien, comme le pensent quelques personnes, ou que chaque fidèle ait auprès de Dieu un ange qui lui ressemble, ce que paraissaient croire les Juifs, c'est ce qui ne peut s'établir par la Parole de Dieu, pas même par un passage dont nous avons dû nous occuper précédemment, et qui pourrait seul autoriser cette idée (Matth. **18** : 10).

3749. (**12** : 12-17.) Mais ce qu'il y a de plus remarquable dans l'histoire qui nous occupe, c'est la délivrance même de Pierre, non pas tant par ce qu'elle eut de miraculeux, que par le jour qu'elle jette sur les voies du Seigneur. Il voulut montrer que si Jacques avait succombé, ce n'était pas qu'il n'eût pu le délivrer aussi. Or, l'histoire de l'Eglise a, dans tous les siècles, présenté des événements analogues. Il est bon pour la gloire de Dieu que ses enfants souffrent et quelquefois même qu'ils succombent; mais il est nécessaire aussi pour l'affermissement des faibles et pour l'instruction du monde, que le divin chef de l'Eglise la protége avec éclat contre ses puissants ennemis; protection qui ne se borne pas toujours à la délivrance des fidèles, mais qui va jusqu'au châtiment de leurs persécuteurs, comme on le voit par l'histoire d'Hérode.

3750. (18-23.) Après que ce prince eut déchargé sur les gardes son

impuissante fureur, il quitta Jérusalem pour Césarée, ville de luxe et de plaisirs, dont le séjour devait lui plaire plus que celui de la cité sainte et sérieuse. D'ailleurs, il se rapprochait ainsi de la Phénicie, avec laquelle il était en différend. Sans rapporter ce fait et l'ambassade qui s'y rattache, Josèphe raconte néanmoins que, dans une assemblée publique, Hérode parut devant le peuple, vêtu d'une robe de drap d'argent, dont l'éclat, au soleil, était si vif qu'on ne pouvait le regarder. Il nous dit aussi que ses courtisans le proclamèrent dieu et que, frappé dans son orgueil, ce prince fut enlevé subitement par une maladie affreuse. Les détails dans lesquels entre l'écrivain sacré, plus précis que ceux de l'historien juif, sont certainement aussi plus exacts. Au surplus, qu'on prenne le récit où l'on voudra, il demeure vrai qu'Hérode, le meurtrier de Jacques, fut frappé par la main de Dieu, d'une manière tellement manifeste que nul ne put le méconnaître. Mais ce rapprochement entre la mort du roi et celle de l'apôtre, il est à remarquer que le Saint-Esprit ne le fait point lui-même. Hérode avait sans doute commis un horrible crime en décapitant un ministre du Seigneur; son crime toutefois, fut l'impiété, l'orgueil, la méchanceté de son âme et la corruption de ses mœurs. Sa haine pour les prédicateurs et les disciples de l'Evangile venait de là, et telle fut, en définitive, la cause de sa ruine. Or, envisagée de la sorte, son histoire n'est que trop, hélas! l'histoire de tous les persécuteurs.

**CCLXXXII. — Paul en Chypre et à Antioche de Pisidie. — Premier voyage missionnaire de cet apôtre; extension considérable du règne de Dieu.**

3751. (24.) Tandis que Dieu montrait, par la terrible mort d'Hérode, la vanité et le néant des grandeurs terrestres, sa Parole croissait et se multipliait, malgré l'opposition violente des adversaires : elle croissait en clarté, les événements de chaque jour venant confirmer les vérités qu'elle proclame ; elle acquérait une force toujours plus grande sur ceux qui la recevaient, et, par leur moyen, elle se multipliait en quelque sorte, chaque fidèle devenant un prédicateur de l'Evangile. « Les cieux et la terre passeront, avait dit notre Seigneur, mais mes paroles ne passeront point : » il avait dit aussi que les portes de l'enfer ne triompheraient pas de son assemblée.

3752. (25.) Est-ce que Barnabas et Saul, ces deux députés de l'Eglise d'Antioche (11 : 30), se trouvaient à Jérusalem à l'époque de la

mort de Jacques et de l'emprisonnement de Pierre? Dans ce cas, ces événements solennels durent être pour eux d'une grande instruction. Mais il se pourrait que les faits racontés dans le chapitre douzième se fussent passés avant leur arrivée. Quoi qu'il en soit, nous avons ici la suite du récit interrompu à la fin du chapitre précédent. Après avoir remis le produit de leur collecte, Barnabas et Saul repartirent de Jérusalem emmenant avec eux le disciple Jean, surnommé Marc. Cousin de Barnabas (Coloss. 4 : 10), il était, avons-nous dit, fils de cette Marie dans la maison de laquelle Pierre se réfugia, la nuit de sa délivrance. Marc, nom sous lequel il est le plus souvent désigné, Marc était donc habitant de Jérusalem. La tradition le désigne comme celui qui, le soir que notre Seigneur fut livré, s'élança de son lit et courut à la rue au moment où Jésus passait; elle prétend même qu'il faut voir en lui le jeune magistrat qui vint demander au Seigneur ce qu'il fallait faire pour hériter de la vie éternelle et que le Seigneur aima (3483, 3296]. En tout cas on ne saurait douter, sur le témoignage universel de l'Eglise, qu'il ne soit l'auteur de l'Evangile qui porte son nom, et il fallait bien qu'il fût remarquable par les dons du Saint-Esprit, pour que Barnabas et Saul en fissent leur collègue.

3753. (13 : 1-3.) Tout semble attester qu'à cette époque, l'Eglise d'Antioche était la plus considérable des Eglises, après celle de Jérusalem. Si celle-ci continuait à se voir favorisée de la présence des apôtres, l'Eglise d'Antioche comptait dans son sein plusieurs prophètes et docteurs dont l'historien sacré nous donne les noms. A leur tête était le vénérable Barnabas; parmi eux, un homme qui avait été camarade d'études du roi Hérode, et Saul, nommé le dernier. Ils servaient le Seigneur dans le ministère de la Parole, enseignant, exhortant, consolant, fortifiant l'Eglise par les discours que leur donnait le Saint-Esprit; puis, il nous est dit qu'ils jeûnaient, non du jeûne hypocrite des pharisiens, c'est bien clair, ni même du jeûne encore plus ou moins judaïque des disciples de Jean-Baptiste, mais du jeûne spirituel que notre Seigneur avait présenté à ses interlocuteurs comme l'acte de la piété la plus élevée [2874, 2936]. Il fallait qu'une grande idée les préoccupât, et c'était probablement celle du futur départ de quelques-uns d'entre eux. Ils sentaient que leur devoir était de ne pas demeurer enfermés à Antioche. Sous cette impression, qui leur venait d'en haut, ils priaient et jeûnaient, demandant sans doute au Seigneur de tracer leur chemin et de désigner ceux qu'il lui convenait d'envoyer parmi les nations. Comprenaient-ils alors qu'il entrait dans les

vues du Seigneur de ne pas remettre à l'un des douze cette mission, afin qu'on ne crût pas que l'évangélisation du monde ne pouvait se faire sans eux? c'est ce que nous ignorons. Quoi qu'il en soit, l'événement prouva qu'en effet, lorsque Jésus avait ordonné aux douze d'aller et d'enseigner toutes les nations, il n'entendait pas que nul autre ne pût remplir ce glorieux ministère, tout comme il est certain que ce ministère n'a pas cessé avec les temps apostoliques.

3754. Le Saint-Esprit fit donc connaître aux docteurs d'Antioche qu'il avait choisi pour cette œuvre Barnabas et Saul, le premier et le dernier de la liste des docteurs. Il voulut de plus qu'à leur mission divine proprement dite, s'ajoutât une mission de la part de leurs frères. Ceux-ci durent mettre à part Barnabas et Saul ou les désigner comme les élus du Seigneur, puis leur imposer les mains dans une réunion de prières et de jeûne; après quoi, ils leur donnèrent congé. Ce fut à cette heure, pour bien dire, que Saul fut appelé à l'apostolat; ce mot voulant dire mission, comme celui d'apôtre signifie envoyé. Appelé par le Seigneur Jésus lui-même, sur le chemin de Damas; compté dès lors au nombre des docteurs par les frères, comme il l'était auparavant par les pharisiens, il prend maintenant sa place définitive entre les apôtres, recevant pour la seconde fois l'imposition des mains, signe de sa vocation divine et de la transmission de sa nouvelle charge (9 : 17). Le Seigneur voulut donc que l'Eglise intervînt ici comme lorsqu'il s'était agi de remplacer Judas. Tout, dans l'Eglise, doit se faire par l'Eglise elle-même ou par ses représentants, selon le mandat que lui en a confié le Seigneur. Et ce n'est pas exclure le Saint-Esprit; car, au contraire, plus nous serons fidèles à ses propres institutions, plus nous serons sûrs que nos pensées sont conformes aux siennes. Cette participation de l'Eglise ou de ses conducteurs à des actes qui sembleraient devoir appartenir entièrement à Dieu, se retrouve déjà dans l'Ancien Testament [987]; et si, d'ailleurs, Dieu se sert d'instruments pour amener les âmes à sa connaissance, est-il bien étonnant qu'il s'en serve aussi pour les gouverner? C'est par le moyen de Barnabas et de Saul, que le Saint-Esprit allait convertir une foule de pécheurs; c'est aussi par le moyen des docteurs d'Antioche, que ce même Esprit les envoya porter au loin l'Evangile de sa grâce. Et de nos jours, un homme, tant pieux soit-il, qui va de son propre mouvement évangéliser un pays, est-il plus sûr d'obéir au Saint-Esprit, que si, après beaucoup de prières, il est envoyé par une Eglise fidèle?

3755. (4, 5.) Ainsi donc, missionnaires de par le Saint-Esprit, Bar-

(**Actes 13** : 6, 7; 8-12.)

nabas et Saul quittèrent leurs frères d'Antioche, et ils n'eurent pas besoin d'aller bien loin pour trouver de l'occupation. Des âmes à sauver! qui n'en a près de soi? D'abord, ils se rendirent à Séleucie, port de mer le plus rapproché d'Antioche, d'où ils gagnèrent l'île de Chypre, voisine de cette côte et patrie de Barnabas [3672]. Débarqués à Salamine, sur la côte orientale, en face de l'Asie, ils annoncèrent la Parole de Dieu aux Juifs de la localité, et Jean, c'est-à-dire Marc, les assistait dans leur ministère.

3756. (6, 7.) Par l'arrivée de Barnabas et de Saul dans l'île de Chypre, la prédication de l'Evangile attaquait de plus près les contrées où régnait le paganisme. La grande et belle île de Chypre était fameuse en particulier par le culte qu'on y rendait aux divinités à la fois si poétiques et si impures de la Grèce. Vénus y avait plusieurs temples, et aucune plume chrétienne ne saurait se résoudre à retracer les fêtes voluptueuses par lesquelles on honorait cette déesse. Les apôtres ayant traversé l'île d'orient en occident, arrivèrent à Paphos, non sans avoir eu mainte occasion de déplorer le spectacle d'une si grande corruption, sous un si beau ciel et au sein d'une si belle nature. Paphos était la résidence du proconsul ou gouverneur romain, Sergius Paulus. Il paraît que cet homme avait des besoins religieux, et c'est probablement pour cela qu'il recherchait la société d'un Juif qui, se donnant pour prophète, exerçait la magie à la manière de Simon le Samaritain. Ce fut par la même raison qu'il fit appeler Barnabas et Saul, désirant entendre de leur bouche la Parole de Dieu. Ceci, pour le dire en passant, prouve que la prédication des missionnaires avait porté quelques fruits, ou que du moins elle avait eu du retentissement.

3757. (8-12.) Mais Bar-Jésus, autrement dit Elymas, se mit en opposition directe avec les ministres du Dieu vivant. Plus le proconsul se montrait ébranlé, plus il s'efforçait de le détourner de la foi; et, comme il ne pouvait le faire sans blasphémer, le Saint-Esprit revêtit à cette heure même le plus jeune des apôtres d'une puissance de parole et d'œuvre qui devait confondre l'imposture et punir la méchanceté du magicien. C'est un terrible crime que de résister à Dieu; mais le crime est encore plus affreux lorsque, non content de repousser pour soi les appels de la vérité, on s'efforce d'empêcher les âmes de se convertir. Tel fut le péché d'Elymas, et l'on conçoit sans peine la sévérité de Dieu à son égard. Mais avec quelle émotion l'apôtre de Jésus-Christ ne dut-il pas prononcer une sentence qui lui rappelait si

vivement sa propre histoire. N'avait-il pas aussi fait la guerre à Dieu? N'avait-il pas été, lui aussi, frappé momentanément de cécité, en punition de son crime? Oh! comme il dut prier intérieurement, pour que le malheureux Bar-Jésus éprouvât, à son tour, les effets tout-puissants de la grâce du Seigneur!

3758. L'historien sacré ne nous disant pas ce que devint plus tard le méchant Elymas, il est à craindre, hélas! qu'il n'ait persisté dans son aveuglement moral, même après avoir été guéri de sa cécité. Mais le proconsul, témoin du miracle et frappé de la doctrine du Seigneur, y soumit son cœur, et ce fut une conquête importante pour l'Evangile. Ce n'est pas que l'âme d'un grand de la terre soit plus précieuse que celle du pauvre et du chétif, ni qu'à cette époque, les prédicateurs de l'Evangile eussent la malheureuse, pour ne pas dire la coupable pensée de s'appuyer sur le bras de l'autorité. Mais il demeure vrai que les gouverneurs des peuples sont fréquemment ceux chez qui la vérité pénètre avec le plus de peine, et il n'est pas indifférent pour les progrès du règne de Dieu qu'ils soient animés de bon vouloir envers le Seigneur. A ces deux égards la conversion de Serge-Paul fut un événement assez considérable pour que l'auteur sacré ait dû l'enregistrer dans son livre. D'autant plus que ce fut à cette occasion qu'il plut au Seigneur de révéler par des faits, et non plus seulement par des paroles, la grandeur future de son serviteur Saul, j'entends l'énergie qu'il déploierait dans son ministère et les succès dont son travail serait couronné. C'est aussi à partir de ce moment qu'il est parlé de lui plus que de tout autre, et que son nom est habituellement placé avant celui de Barnabas, tandis qu'auparavant c'était le contraire. On a remarqué en outre que, dès lors aussi, l'historien sacré ne l'appelle plus que Paul, au lieu de Saul. Quelques-uns pensent que l'apôtre prit ce nouveau nom en mémoire de la conversion du proconsul, comme s'il eût voulu s'en faire un trophée; mais le nom de Paul étant, dans la forme grecque, un mot tout semblable au nom hébreu Saul, il est plus probable que l'apôtre se désigna de la sorte, à raison simplement de ce que, dès ce jour, son ministère s'accomplit surtout parmi les païens et en des contrées où se parlait universellement la langue grecque.

3759. (13-15.) En partant de Paphos et en naviguant vers le nord, on atteint bientôt la portion du continent asiatique appelée maintenant la Natolie, autrefois l'Asie Mineure ou même simplement l'Asie. Là se trouvait, entre autres provinces, d'abord la Cilicie, patrie de

(**Actes 13** : 16-41.)

Paul, directement au nord de l'île de Chypre ; à l'ouest, la Pamphylie, et au nord de celle-ci la Pisidie ; la Lycaonie était encore plus au nord. De Paphos, où ils demeurèrent on ne sait combien de temps, et sans visiter toutefois la Cilicie, Paul, Barnabas et Marc passèrent en Pamphylie, dont Perge était une des principales villes. Après y avoir sans doute annoncé l'Evangile, ils en partirent pour la Pisidie où se trouvait une ville nommée Antioche, comme la ville plus importante de Syrie où ils avaient reçu leur mission. Cependant, Paul et Barnabas avaient perdu à Perge leur compagnon d'œuvre. Marc, cédant peut-être à quelque découragement, était retourné à Jérusalem. Ils n'en poursuivirent pas moins leur carrière avec une grande résolution. Dès le premier sabbat, ils se rendirent dans la congrégation des Juifs établis en cette ville païenne ; et, quand on eut achevé les lectures ordinaires de la Parole de Dieu, les chefs de la congrégation, anciens ou évêques, c'est ainsi qu'on les appelait, les firent inviter à prendre la parole, s'ils avaient quelques exhortations à adresser à l'assemblée. Soit que la réputation de Paul et de Barnabas les eût précédés, soit qu'on sût simplement que c'étaient des docteurs venus de Jérusalem, il était fort naturel qu'on désirât de les entendre. Ce fut alors que Paul prononça le premier de ses discours qui nous aient été conservés.

3760. (16-41.) Avant de l'étudier, je dois à mes lecteurs une explication sur la différence qui existe entre les données chronologiques que nous avons ici, et celles que la Bible nous a fournies ailleurs. Si l'on ajoute les dates indiquées par Paul : 40 ans dans le désert, 450 ans pour le temps des juges et 40 ans pour le règne de Saül, on obtient 530 ans depuis la sortie d'Egypte jusqu'à David, ce qui ferait environ 580 ans jusqu'à la construction du temple de Salomon ; tandis que cette période n'est que de 480 ans, sans compter que Saül ne régna réellement pas quarante ans. Or, même en faisant abstraction des lumières que Paul tenait du Saint-Esprit, il est manifeste que ce docteur, instruit avec soin dans la connaissance des Ecritures, devait savoir aussi bien que nous ce qui est dit au premier livre des Rois sur l'époque où Salomon consacra le temple qui faisait la gloire et, en quelque sorte, la religion des Juifs. Il est donc impossible qu'il se soit mis en contradiction avec le texte sacré, et il doit y avoir moyen de lever la difficulté. — Il est des personnes qui pensent que Paul, s'adressant à des Juifs de langue grecque, adopta la chronologie introduite au milieu d'eux par la version des Septante, bien que fau-

tive; et l'on conçoit en effet que ce n'était pas le lieu d'exciter une discussion sur un point d'une importance tellement secondaire. Mais il est une autre manière d'expliquer la chose. — Les mots : « pendant environ 450 ans, » du verset 20, peuvent n'être qu'une parenthèse, placée même par plusieurs manuscrits en tête du verset, le mot « pendant » pouvant d'ailleurs se supprimer. En sorte que ces 450 ans se rapporteraient, non à ce qui suit, mais à ce qui précède, et il y a effectivement 450 ans de la naissance d'Isaac, en qui Dieu élut les patriarches, jusqu'au partage du pays de Canaan. Il se pourrait aussi que ces 450 ans dussent s'entendre du temps qui s'écoula depuis la sortie d'Egypte jusqu'au moment où David fut reconnu roi par les douze tribus, intervalle qui est de 444 ans. Dans cette supposition, le « après cela » du verset 20 se rattacherait à la circonstance mentionnée dans les derniers mots du verset 17, point de départ des délivrances subséquentes et type fondamental du salut qui est en Jésus-Christ. — Quant aux « 40 ans » du verset 21, ils peuvent s'entendre du gouvernement de Saül, joint à celui de Samuel [de 1099 à 1056], temps de préparation, avant l'avénement de David, comme les 40 ans du désert furent un temps de préparation jusqu'à la conquête de Canaan. — Venons-en maintenant au discours même de Paul.

3761. (16-25.) Après avoir fait signe de la main, pour obtenir un silence de tout temps fort rare dans les synagogues, et s'adressant à la fois aux Israélites et aux hommes pieux d'entre les nations, qui, amenés à la connaissance de Dieu, lui rendaient un culte avec les Juifs, Paul commence à rappeler ce qui est à la base de tout dans la doctrine du salut, savoir l'élection de la grâce ou le choix que Dieu avait fait d'Abraham, d'Isaac et de Jacob pour se former un peuple particulier. Le séjour de ce peuple en Egypte, sa délivrance de l'esclavage, la conquête du pays de Canaan, la vocation de David au trône; tout cela était le fruit de l'élection divine. De ce David, de ce prophète-roi, de cet homme dont la mémoire était justement révérée, devait, selon la promesse, sortir l'Elu par excellence, Jésus-Christ, le Sauveur, à la grandeur duquel le fils de Zacharie, autre homme digne de toute vénération, avait rendu un éclatant témoignage dans le temps qu'il prêchait au peuple d'Israël un baptême de conversion.

3762. (26-41). C'est donc à Jésus-Christ qu'aboutit le plan de l'élection divine; en lui est le salut, et c'est ce salut que Paul était chargé d'annoncer à ses auditeurs. Les habitants de Jérusalem avaient rejeté le Christ, et, en le rejetant, ils n'en avaient accompli que plus

(**Actes 13** : 26-41.)

merveilleusement les prophéties. Bien qu'innocent, dit Paul, ils l'ont fait mourir par les mains de Pilate; on l'a descendu de la croix et mis dans un sépulcre, d'où il est sorti par la puissance de Dieu. Ses disciples particuliers ont attesté ce fait devant tout le peuple, et par là s'est réalisée la promesse que Dieu avait faite aux pères, depuis Adam jusqu'à Malachie. Voici donc en quoi consiste le salut : c'est que Jésus-Christ est mort sur la croix et qu'il a repris la vie; c'est qu'il est le Fils de Dieu, le Saint de l'Eternel; c'est qu'en lui toutes les saintes grâces de David sont accomplies; c'est que, par son moyen, le pardon des péchés est annoncé; c'est, enfin, que tout homme qui croit est justifié par lui de toutes les choses dont on ne saurait être justifié par la loi de Moïse. Cette œuvre de Dieu, ce grand salut, ne manque pas de contempteurs; mais, selon la parole d'un prophète, elle n'en est pas moins la grande merveille du Dieu fort. Malheur donc à qui la méprise! (Habac. **1** : 5.)

3763. Il n'y a dans ce discours rien de brillant, rien de ce que les hommes appellent éloquence. Qu'est-ce donc qui en fait la force? C'est qu'il est tout fondé sur les Ecritures; c'est qu'il proclame la vérité telle que Dieu l'a faite; c'est, en d'autres termes, qu'il s'appuie tout entier sur les promesses de Dieu et sur leur accomplissement; c'est enfin que le Saint-Esprit, parlant par la bouche de Paul, y découvre lui-même aux pécheurs les trésors de la grâce de Dieu. On peut s'étonner à première vue que l'apôtre n'y fasse aucune mention de sa conversion, fait éclatant qui prouvait autant que nul autre la réalité de la résurrection de Jésus-Christ; mais Paul n'était pas connu personnellement de ceux auxquels il s'adressait, et il convenait bien mieux qu'il s'effaçât, pour en appeler au témoignage des disciples qui avaient vécu avec Jésus. Du reste, vous avez pu remarquer combien sa prédication est d'accord avec celle de Pierre, non-seulement quant au fond des choses, mais encore quant à la manière de les présenter; accord d'autant plus digne d'attention que Paul n'avait point été à l'école des autres apôtres. C'est que l'Esprit qui inspirait Pierre inspira Paul également, non cependant sans confier à chacun sa mission spéciale. Remarquez notamment en quels termes il exprime par la bouche de l'ex-pharisien, et pour la première fois avec cette netteté et sous cette formule, la doctrine la plus antipharisaïque qu'on puisse imaginer. Déjà Moïse avait déclaré qu'Abraham crut à l'Eternel, et que sa foi lui fut imputée à justice (Gen. **15** : 6); déjà le prophète Habacuc avait dit : «Le juste par la foi vivra» (**2** : 4); déjà

notre Sauveur avait prononcé que le péager de la parabole s'en retourna justifié, bien que pécheur (Luc 18 : 14); déjà Pierre avait proclamé Jésus Prince et Sauveur, pour donner la conversion et le pardon des péchés (Act. 5 : 31); mais il appartenait à Paul de rassembler toutes ces données en disant : « Sachez, hommes frères, que, par le moyen de Jésus, le pardon des péchés vous est annoncé, et que quiconque croit est justifié par lui de toutes les choses dont vous n'avez pu être justifiés par la loi de Moïse. » C'est là ce qu'on appelle la justification par la foi, et j'attendrai pour exposer cette doctrine dans tout son jour, que la Parole de Dieu m'y conduise elle-même.

3764. (42, 43.) La prédication de Paul, comme il n'arrive que trop souvent, produisit moins d'effet sur ceux qui semblaient le plus près du royaume de Dieu, que sur les hommes qui, par leur naissance et leurs superstitions, en étaient le plus éloignés. Les païens d'origine, auditeurs de l'Apôtre, le supplièrent, lui et son collègue, de leur parler des mêmes choses le sabbat suivant; bon signe en vérité, quand on ne craint pas de s'entendre répéter, et que Jésus est mort te qu'il est ressuscité, pour expier nos fautes et nous justifier devant Dieu. Cependant, il y eut beaucoup de Juifs et de prosélytes qui, mus par une foi naissante, suivirent, dès ce moment, Paul et Barnabas. Or, à sa naissance comme plus tard, la foi consiste toujours à saisir la grâce de Dieu, et c'est dans cette grâce que les apôtres exhortaient leurs nouveaux disciples à persévérer. O vous donc, mes lecteurs, croyez en la grâce du Seigneur; et si vous y croyez déjà, tenez-vous-y fortement attachés; c'est, en deux mots, tout l'Evangile.

## CCLXXXIII. — Suite du premier voyage missionnaire. — Paul à Iconie, à Lystre, à Derbe, et retour.

3765. (44-47.) On doit bien penser que, pendant toute la semaine, il ne fut bruit à Antioche que de ce qui s'était passé le précédent sabbat; les apôtres, d'ailleurs, ne pouvaient être demeurés oisifs; en sorte que, le sabbat suivant, une grande foule de païens s'assembla pour entendre la Parole de Dieu. Le monde eut alors sous les yeux un bien triste spectacle. Ces malheureux Juifs, toujours et partout les mêmes, au lieu de se réjouir des succès de l'Evangile, s'indignèrent à la pensée que les païens étaient appelés à partager avec eux les grâces du Seigneur, preuve qu'ils n'en sentaient pas le besoin pour eux-mê-

mes [3237]. Ils se mirent donc à contredire Paul et Barnabas. Dans leur fureur, ils allèrent jusqu'à des blasphèmes, et, en se comportant de la sorte, ils montrèrent clairement aux apôtres la marche qu'ils avaient à suivre dorénavant (Matth. 7 : 6). C'était bien devant eux que Paul et Barnabas avaient dû commencer leurs prédications (A. 3 : 26); mais puisqu'ils repoussaient la Parole de Dieu, s'excluant ainsi volontairement de la vie éternelle, les ministres de Jésus-Christ n'avaient pas autre chose à faire qu'à se tourner vers les nations étrangères, estimées par les Juifs si fort au-dessous d'eux. C'était d'ailleurs ce qu'Esaïe avait prophétisé (Es. 49 : 6); et voilà comment les ennemis de la vérité contribuent souvent à la mettre en lumière!

3766. (48, 49.) Mais tandis que les fils d'Abraham selon la chair « annulaient contre eux-mêmes le conseil de Dieu » (Luc 7 : 30), des hommes, jusque-là séparés de la république d'Israël, se réjouissaient de la bonne nouvelle; ils admiraient l'excellence de la Parole sainte; ils la glorifiaient en se convertissant au Seigneur : « Tous ceux, dit l'auteur sacré, qui étaient ordonnés pour la vie éternelle; » car, selon la déclaration précise de Jésus-Christ, « nul ne va au Fils que le Père ne l'attire » (Jean 6 : 44). C'est pourquoi la Parole du Seigneur se répandait dans toute la contrée, nonobstant l'opposition des Juifs; car leur incrédulité ne pouvait assurément empêcher que cette Parole ne parvînt aux âmes dont l'Eternel voulait le salut.

3767. (50-52.) Les adversaires de la vérité commencent d'ordinaire par lui opposer leurs sophismes et leurs invectives; c'est ce qu'avaient fait les Juifs d'Antioche de Pisidie. Après cela, quand ils voient qu'en dépit de leurs efforts la cause de l'Evangile ne laisse pas de triompher, ils persécutent ceux qui le prêchent, sauf à exercer plus tard leur colère contre les personnes qui l'embrassent; c'est ce qu'on vit encore à Antioche. Jouissant d'une faible influence sur le peuple, les Juifs excitèrent contre les apôtres quelques dévotes et certaines femmes de haut rang; puis, par elles peut-être, les principaux de la ville, et il en résulta que Paul et Barnabas furent chassés de ce lieu. Selon l'ordre de leur Maître, ordre qu'ils n'avaient pas reçu personnellement, mais qui ne les concernait pas moins, ils secouèrent la poussière de leurs pieds en témoignage contre ceux qui les rejetaient [3038], et, se dirigeant à l'est, ils arrivèrent à Iconie. Cependant, ils avaient fait à Antioche une œuvre stable. Les disciples qu'ils y laissèrent, tristes sans doute de cette séparation et des violences qui l'avaient amenée, n'en demeurèrent pas moins dans la joie que donne

le Saint-Esprit. Ils eurent donc la preuve en eux-mêmes que leur foi et leurs espérances ne reposaient pas sur des paroles d'hommes, ni sur la présence des ministres de Jésus, mais sur l'action même de son Esprit de grâce et de vérité.

3768. (14 : 1-7.) Le séjour des apôtres à Iconie fut de longue durée et porta des fruits de salut pour beaucoup d'âmes, tant parmi les Juifs que parmi les païens, malgré l'opposition constante des défenseurs de la synagogue qui, à Iconie comme à Antioche, commirent l'indignité d'exaspérer contre les disciples les esprits des païens, plus disposés qu'eux à la tolérance. Beaucoup de miracles se faisaient par les mains des apôtres, les conversions se multipliaient; en sorte qu'il y eut bientôt un soulèvement général de tous ceux qui n'avaient pas cru. Grecs et Juifs, les magistrats à leur tête, formèrent le projet de lapider Paul et Barnabas; mais ceux-ci, comprenant que leur œuvre dans cette ville était achevée, la quittèrent spontanément et se transportèrent à Lystre, puis à Derbe, villes de Lycaonie, au sud-est d'Iconie. Ce n'était pas pour se soustraire à de nouvelles persécutions par un coupable silence; car au contraire, il y annoncèrent l'Evangile, comme ils l'avaient fait en Chypre, en Pamphylie et en Pisidie, au mépris des mêmes périls.

3769. (8-10.) Un des premiers fruits de la prédication des apôtres dans la ville de Lystre, paraît avoir été la conversion d'un homme qui, dès sa naissance, était privé de l'usage de ses jambes. Le Seigneur, voulant faire de ce pauvre infirme un monument de sa puissance et tout à la fois de sa grâce, lui donna, par le ministère de Paul, la faculté de marcher. Or, il lui arriva, comme à l'impotent guéri par Pierre [3657], que, non-seulement la vie se mit à circuler dans ses jambes, jusqu'à présent frappées de mort, mais encore que, dès le premier moment, il put en user non à la manière d'un malade, qui, après un long séjour au lit, doit rapprendre à marcher, ni à la manière du petit enfant qui s'exerce longtemps avant de pouvoir poser et diriger ses pieds avec assurance; mais il allait sautant et marchant, comme s'il eût toujours eu la pleine possession de ses forces : œuvre du Dieu créateur, s'il en fût jamais, et touchante image de la vie spirituelle dont la grâce du Seigneur anime, en les régénérant, des âmes mortes jusque-là dans leurs fautes et dans leurs péchés.

3770. (11-15.) Les habitants de Lystre, plus adonnés peut-être à l'idolâtrie que ceux d'Iconie et d'Antioche, par la raison, semble-t-il, qu'il n'y avait pas de synagogue juive au milieu d'eux, ne virent dans

(**Actes 14** : 15-18.)

ce miracle qu'une seule chose : la puissance infinie qui s'y était déployée; et comme ils ne connaissaient pas Celui qui a créé les cieux et la terre, comme d'un autre côté leur bon sens se refusait à penser que de simples mortels pussent jouir d'un tel pouvoir, ils s'arrêtèrent à l'idée que deux de leurs dieux, ayant revêtu la forme humaine, selon leurs fables, étaient descendus parmi eux. Barnabas étant le plus âgé, ils jugèrent à son aspect vénérable qu'il n'était autre que Jupiter, le roi de l'Olympe grec, et de Paul ils firent Mercure, le dieu de l'éloquence. C'est pourquoi, le sacrificateur de service auprès d'une statue de Jupiter, érigée à l'entrée de la ville comme pour la garder, s'empressa d'amener devant les apôtres des taureaux ornés de couronnes de fleurs, selon les usages des sacrifices païens, et, de concert avec le peuple, il s'apprêtait à les immoler en leur honneur. Mais Barnabas et Paul ayant appris ce qui se préparait, déchirèrent leurs vêtements et se précipitèrent dans la foule, en poussant des cris qui attestaient en même temps leur confusion et leur zèle pour Dieu. Voici donc la seconde fois que nous voyons combien il eût été facile aux apôtres d'exploiter, dans leur intérêt particulier, l'enthousiasme qu'excitait leur puissance; la seconde fois aussi que nous voyons combien l'homme est naturellement enclin à détourner de Dieu la gloire qui lui est due [3733]. Mais Celui qui donnait à ses envoyés le pouvoir d'opérer des miracles, les gardait par son Saint-Esprit, et ce fut par ce même Esprit qu'ils prononcèrent le discours plein d'énergie que nous lisons en cet endroit.

3771. (**14** : 15-18.) Si l'on s'étonnait que les apôtres n'aient pas profité de l'occasion pour annoncer Jésus-Christ à ces pauvres Lycaoniens, il faudrait se rappeler les circonstances où ils se trouvaient. C'était au milieu d'une foule confuse dont il s'agissait de comprimer le coupable élan, et à laquelle il n'était pas possible de faire entendre de longs discours. Paul donc, allant au plus pressé, se contente d'abord de protester contre leur idolâtrie, partant pour cela des honneurs mêmes qu'ils voulaient leur décerner, à eux qui n'étaient que des hommes, sujets à toutes les infirmités humaines. Cependant, ce que les apôtres leur prêchèrent ne laissait pas d'être une bonne nouvelle, selon le mot que porte le texte; car ils leur parlèrent de la patience et de la bienveillance du Dieu tout-puissant; ils leur dirent que c'est lui qui remplit les cœurs de nourriture et de joie. D'ailleurs, inviter les pécheurs à se tourner vers Dieu, n'est-ce pas leur annoncer la bonne nouvelle que Dieu voudra bien les recevoir? Ce discours at-

teignit en partie son but; mais ce ne fut pas sans peine que ces aveugles consentirent à ne pas adorer Paul et Barnabas.

3772. (19, 20.) Après avoir été traités comme des dieux par les païens de Lystre, les apôtres furent, bientôt après, traités comme des malfaiteurs par les Juifs d'Antioche et d'Iconie. Ceux-ci, poursuivant de leur haine les messagers de la bonne nouvelle, vinrent exciter contre eux les Lycaoniens, secrètement irrités d'avoir été contrariés dans leurs superstitions; et, de leur consentement, ils lapidèrent Paul. Ce fut Paul et non Barnabas, qui tomba sous leurs coups, ou parce que Paul, plus ardent, ne craignit pas d'y demeurer exposé, tandis que Barnabas se tenait sagement à l'écart, ou parce que Paul, portant plus habituellement la parole, avait eu particulièrement l'honneur de s'attirer leur haine. Quand ils l'eurent assommé à coups de pierres, ils le traînèrent hors de la ville, le laissant pour mort. Mais, soit que le Seigneur l'eût préservé merveilleusement de toute atteinte mortelle, soit qu'il le rappelât à la vie par une résurrection, Paul, entouré des disciples, se leva et rentra courageusement dans la ville. Cependant, le lendemain même, il partit pour Derbe avec Barnabas. L'Evangile était maintenant planté à Lystre dans le cœur de l'impotent et de plusieurs autres : il n'était donc pas nécessaire que les apôtres y demeurassent plus longtemps.

3773. (21, 22.) Derbe, autre ville de la Lycaonie, fut, selon toute apparence, le point extrême du premier voyage missionnaire de Paul. La prédication de l'Evangile n'y rencontra pas les mêmes obstacles que dans les localités précédentes; les apôtres purent y faire un assez long séjour; ce qu'il y a de certain, c'est qu'ils y formèrent bon nombre de disciples. Le moment du départ étant arrivé, Paul et Barnabas jugèrent convenable de rentrer en Syrie, non point par la Cilicie, ce qui eût été le plus court chemin, mais par Lystre, Iconie et Antioche de Pisidie, malgré les persécutions qui les en avaient chassés. Ils refirent donc, par une marche rétrograde, absolument le même voyage jusqu'en Pamphylie, s'employant surtout à affermir les âmes des disciples, afin qu'ils persévérassent dans la foi sans se laisser ébranler par la persécution. Ils leur disaient même, selon la parole de Jésus, que la souffrance est, dans ce monde, la condition naturelle de ceux qui s'attachent à la vérité.

3774. (23.) En s'éloignant des villes où ils avaient prêché l'Evangile, les apôtres n'emportaient avec eux ni la Parole de Dieu, ni le Saint-Esprit; aussi, malgré leur absence, les frères de Lystre, d'Iconie et

(**Actes 14 : 23.**)

d'Antioche avaient sûrement fait des progrès dans la foi, et leur nombre avait dû s'accroître par l'effet de la grâce de Dieu. A leur retour dans chacune de ces villes, Paul et Barnabas trouvèrent donc des assemblées ou des Eglises qu'il s'agissait d'organiser; car c'est le propre de toutes les œuvres de Dieu, que chacune ait sa forme particulière, et l'Eglise, en tant que société, ne saurait se passer d'une administration quelconque. Mais si le Seigneur, même sous l'Ancien Testament, avait laissé une assez grande latitude en ce qui concernait certains détails [738], à plus forte raison n'a-t-il rien prescrit de très positif quant à l'organisation proprement dite de son Eglise. Nous voyons ce que firent les apôtres, et autant que possible il sera bien de les imiter; mais il n'existe pas de commandement formel qui impose l'obligation de les copier dans tous les temps et quelles que soient les circonstances. On ne saurait méconnaître néanmoins certains principes qui leur servirent de direction et que nous devons prendre nous-mêmes pour règle invariable. En tout premier lieu, il faut de l'ordre dans les Eglises et des hommes spécialement chargés de l'y maintenir. Les Juifs avaient, pour leurs synagogues ou congrégations, des anciens, aussi nommés ministres, c'est-à-dire serviteurs, inspecteurs ou évêques, c'est-à-dire surveillants. Nous avons déjà vu que l'Eglise de Jérusalem avait emprunté de la synagogue cet ordre de fonctionnaires (11 : 30); Paul et Barnabas ne firent autre chose que de transporter l'institution aux nouvelles Eglises que le Saint-Esprit avait fondées par leur ministère. Il y eut donc en chaque ville, non pas un ancien (ou évêque), mais des anciens; et nous pouvons conclure de là, d'une manière générale, qu'il n'est pas bon qu'une Eglise soit sous la direction d'un seul homme, quelque bien qualifié qu'on le suppose.

3775. Après cela, quoique la chose ne soit pas dite expressément, il est probable que les assemblées désignèrent aux apôtres ceux qu'elles estimaient propres à ce ministère, car on ne verrait pas pourquoi l'on n'aurait pas suivi la même marche qu'en d'autres circonstances pareilles [3631, 3688]; mais, ce qui est plus important, remarquez de quelles saintes précautions on doit s'entourer dans le choix des anciens. Les Eglises de Lystre, d'Iconie et d'Antioche accompagnèrent de prières et de jeûnes cet acte solennel, et il y a vraiment lieu de s'affliger quand on voit, de nos jours, avec quelle légèreté tant d'Eglises y procèdent. Enfin, observation non moins sérieuse, lorsque les apôtres quittèrent ces Eglises pour ne pas les revoir peut-être, il les remirent, non point à la garde proprement de leurs anciens,

mais à celle du Seigneur en qui elles avaient cru. C'est-à-dire que, dans tous les cas, c'est le Seigneur qui est le conducteur, le chef, le seul pasteur du peuple qu'il s'est acquis par ses souffrances; que, quelles que soient la foi, la piété, les lumières des anciens d'une Eglise, c'est toujours en Jésus-Christ que les fidèles doivent chercher leur force et leurs consolations; que les anciens enfin ne sont pas les représentants de Jésus-Christ sur la terre, mais de simples ministres de ses volontés, des instruments, et des instruments d'autant plus utiles qu'ils chercheront moins à s'échapper de la main qui les dirige.

3776. (24-28.) Trois années avaient pu s'écouler depuis que Barnabas et Saul étaient partis d'Antioche de Syrie. Les y voilà maintenant de retour, mais sans avoir repassé par l'île de Chypre; car de Perge ils étaient descendus à Attalie, ville considérable, sur un promontoire de la côte de Pamphylie, et, d'Attalie, ils avaient mis directement à la voile pour Antioche. Quelle ne dut pas être la joie de Niger, de Lucius, de Manahem, de tous les frères et de toutes les sœurs, en revoyant ces premiers messagers de la bonne nouvelle au milieu des païens! L'Eglise pouvait avoir appris les graves périls qu'ils avaient courus plus d'une fois. Maintenant, ils sont là sains et saufs, et quelles merveilles n'ont-ils pas à raconter! Dieu n'a cessé d'être avec eux! Dieu lui-même a agi par eux! Il a ouvert aux nations la porte de la foi, et le nom de Christ est invoqué par un grand nombre de personnes qui ne connaissaient auparavant d'autre Dieu que Jupiter et Mercure, et Vénus et cette foule de divinités impures qu'adoraient les païens, même les plus instruits. Ce que Paul et Barnabas firent alors, en racontant les succès de leurs prédications, c'est ce que font encore, de nos jours, les missionnaires qui reviennent des pays idolâtres ou qui nous écrivent de ces contrées lointaines. Or, nous savons tous combien il y a d'édification dans leurs récits; en sorte que, par la conversion des peuples, le Seigneur fait deux biens à la fois : il sauve de l'enfer des âmes qui s'y précipitaient, et il affermit celles qui apprennent les merveilles de sa grâee. Mais de toutes les missions, il n'en fut jamais de plus importante que celle dont Paul et Barnabas venaient de s'acquitter; car, après celle d'Antioche de Syrie, ce fut la première mission prolongée en pays idolâtre.

(**Actes 15** : 1, 2; 3, 4.)

## CCLXXXIV. — Conférence des apôtres à Jérusalem. — Troisième voyage de Paul dans cette ville depuis sa conversion.

3777. (**15** : 1, 2.) On voit par les derniers mots du chapitre précédent que Paul et Barnabas firent à Antioche un séjour assez prolongé, en sorte qu'on ne peut savoir au juste à quelle époque eut lieu le grand événement qui nous est raconté dans ce chapitre-ci. Il n'est pas probable toutefois qu'il faille le placer fort longtemps après le retour des apôtres. Le bruit de leurs triomphes sur le paganisme ne tarda pas à gagner Jérusalem. Or, en apprenant que tous ces païens étaient passés à Jésus-Christ sans s'être auparavant affiliés à la race d'Abraham par la circoncision, il dut y avoir une certaine rumeur parmi les chrétiens de Jérusalem, tous d'origine juive et pratiquant les ordonnances de Moïse, ainsi que nous l'avons vu précédemment [3653]. Quelques-uns d'entre eux, sans en avoir reçu mission de personne, descendirent à Antioche et se mirent à y prêcher que les païens ne pouvaient être sauvés par Jésus-Christ, si au préalable ils ne se faisaient circoncire, selon la coutume de Moïse. Ce fut à cette prétention, ainsi formulée, que Paul et Barnabas firent la plus vive opposition, non-seulement pour justifier leur conduite, mais encore pour maintenir la sainte et consolante doctrine du salut gratuit parfaitement accompli en Jésus-Christ. Comme les frères venus de Jérusalem s'obstinaient, il fut résolu que Paul, Barnabas et quelques autres avec eux monteraient en cette ville, où se trouvaient encore la plupart des premiers envoyés du Seigneur, afin de les entendre sur cette question, eux et les anciens d'une Eglise qui était comme la mère de toutes les autres. Ce n'était pas que Paul et Barnabas pussent avoir des doutes sur la véritable solution de la difficulté, ni qu'ils entendissent faire de l'Eglise de Jérusalem la maîtresse des Eglises du Seigneur; mais, persuadés en leur cœur que l'Esprit qui les avait dirigés conduisait également leurs frères aînés dans l'apostolat, ils étaient heureux de montrer l'accord parfait qui régnait entre eux tous sur la voie du salut.

3778. (3, 4.) D'Antioche à Jérusalem ils durent traverser la Phénicie et la Samarie. La Phénicie, théâtre jadis de la plus horrible idolâtrie, et la Samarie, dont les habitants étaient naguère si opposés à tout ce qui venait des Juifs. Partout les députés d'Antioche rencontrèrent des personnes converties auxquelles ils racontaient en détail

comment les nations jusque-là les plus étrangères à la connaissance du Seigneur, se tournaient maintenant vers la parole de sa grâce; et leurs récits étaient accueillis, non avec l'esprit jaloux qui dévorait les Juifs, mais avec une grande allégresse. Pouvait-il en être autrement, puisque ces choses font la joie même des anges dans le ciel? (Luc 15.) Arrivés à Jérusalem, Paul, Barnabas et leurs compagnons de route reçurent le meilleur accueil de la part de l'assemblée et de ses conducteurs, les apôtres et les anciens. Sur ce dernier mot, je fais remarquer en passant que là même où les apôtres résidaient, ils avaient été conduits par l'Esprit du Seigneur à établir des anciens pour la direction de l'Eglise, tandis qu'ils demeuraient eux-mêmes spécialement chargés du ministère de la Parole et du témoignage qu'ils devaient rendre à la résurrection de Jésus-Christ.

3779. (4-6.) A Jérusalem, comme partout sur leur passage, Paul et Barnabas s'empressèrent de raconter les choses que Dieu avait opérées « avec eux » parmi les païens. C'était non-seulement pour affermir l'Eglise et la réjouir, mais pour prouver par des faits que les grâces du salut se rattachent toutes à la foi en Jésus-Christ, sans qu'il y ait besoin d'y ajouter l'observation des ordonnances de la loi, telle que la circoncision. Mais, parmi les fidèles sortis de la secte des pharisiens comme Paul, il s'en trouva qui, trop imbus de leurs anciennes opinions pour se laisser éclairer par les faits même les plus évidents (et tous les jours ce phénomène moral se renouvelle), prétendiren qu'il fallait absolument circoncire les païens et les soumettre à la loi de Moïse, sans quoi, c'était bien leur pensée, ils jugeaient impossible que les païens fussent sauvés. Alors eut lieu ce qu'on appelle le concile ou le synode de Jérusalem, mot impropre, à mon avis, puisqu'on entend ordinairement par là une assemblée régulièrement composée de délégués d'un certain nombre d'Eglises, et qu'il n'y avait là que l'Eglise de Jérusalem et quelques représentants de celle d'Antioche. Ce ne fut donc, à bien dire, qu'une conférence entre les fidèles des deux localités où la question des païens avait pris naissance; mais quand on considère la qualité des personnages qui y figurèrent, il est tout simple qu'on ait donné une grande valeur à cette assemblée.

3780. (7-11.) La discussion fut très vive, comme on pouvait naturellement s'y attendre; car il s'agissait de savoir si le christianisme revêtirait la forme légale du judaïsme ou non; si le salut se trouve tout entier ou non dans la croix de Jésus. Plusieurs déjà s'étaient exprimés là-dessus avec une grande chaleur, lorsque Pierre, qui avait

(**Actes 15** : 7-11.)

dû avoir quelque peine à se contenir, et qui, par son âge comme par le ministère que le Seigneur lui avait confié, méritait une attention particulière, se leva au milieu de l'assemblée et prononça peu de paroles, mais des paroles pleines de ce sens et de cette logique que donne l'Esprit de Dieu. Après avoir rappelé que, dès les jours anciens, c'est-à-dire avant que l'Evangile eût été prêché parmi les idolâtres de l'Asie Mineure et même d'Antioche, Dieu l'avait choisi entre les douze pour l'annoncer le premier, dans la maison de Corneille, à une assemblée toute de païens, il montra comment le Seigneur, en appelant à lui ces hommes, les avait mis au niveau des Juifs qui avaient cru; car il leur avait donné, à eux aussi, le Saint-Esprit, et il avait « purifié leur cœur par la foi. » A cette considération l'apôtre en ajoute une seconde : c'est que ni eux, Juifs, ni leurs pères n'avaient pu être sauvés par la loi de Moïse, joug sous lequel ils auraient succombé s'ils n'avaient espéré en la miséricorde de Dieu. Même à ce moment, où les chrétiens de Jérusalem continuaient d'observer les ordonnances de Moïse, ce n'était nullement par là qu'ils comptaient être sauvés, mais par la pure grâce du Seigneur Jésus-Christ; si bien que, sous ce rapport encore, il n'y avait point de différence entre eux et les païens. L'argument de Pierre avait donc un double aspect, et sous les deux faces il était sans réplique; d'un côté, dit-il, les gentils, bien que non-observateurs de la loi, ont part aux mêmes priviléges que nous: et nous, bien qu'observateurs de la loi, nous estimons n'être sauvés que par la grâce qui leur a été faite ainsi qu'à nous; pourquoi donc vouloir les astreindre aux observances légales?

3781. Dans ce discours, comme dans tout ce qui est sorti de la bouche et de la plume des apôtres, outre le fond de l'argumentation et l'expression générale des pensées, il y a des mots qu'il importe de remarquer, à raison des traits de lumière qui en jaillissent. Ceci, par exemple : « Dieu n'a point mis de différence entre nous et eux, ayant purifié leur cœur par la foi, » doctrine importante et trop oubliée. « Bienheureux ceux qui ont le cœur pur, » avait dit Jésus-Christ; maintenant il nous fait savoir par son apôtre ce qui purifie le cœur. Ce n'est donc pas seulement le pardon des péchés qui se trouve en Jésus, mais encore la sainteté, et Pierre avait déjà proclamé cette vérité d'une autre manière (**3** : 26). Voyez ensuite avec quelle force d'expression il montre le péché qu'il y aurait à exiger des païens l'observation de la loi pour être sauvés. Il ne se contente pas de dire que personne ne fut jamais sauvé par ce moyen, que la loi ne saurait

relever l'âme, puisqu'elle n'est qu'un joug écrasant; mais encore il déclare que ce serait tenter Dieu, lui demander ce qu'il n'avait jamais fait, ce qu'il n'avait point promis de faire, ce qu'il ne pouvait faire sans se démentir. Vous voulez que Dieu leur donne la vie par une chose qui n'est qu'un instrument de mort! vous voulez les mettre dans une condition qui ne peut que multiplier le péché, et vous prétendez que cette surabondance de péché les sauvera! Mais c'est en quelque sorte vouloir faire Dieu pécheur; c'est le tenter.

3782. (12-21.) Le discours de Pierre produisit une telle impression que toute la multitude garda le silence pendant un certain temps : il paraît que la délibération avait lieu devant l'Eglise. C'était le moment pour Barnabas et pour Saul (Barnabas le premier, parce qu'à Jérusalem il reprenait naturellement son ancien rang), de raconter les faits dont ils avaient été les instruments et les témoins, et qui venaient à l'appui de l'argumentation de Pierre. Ces récits mirent fin à la discussion, et il n'y avait plus qu'à résumer un avis qui, par l'action du Saint-Esprit, était devenu celui de tous. C'est ce que fit le président de l'assemblée, ce même Jacques que nous avons vu l'objet de la déférence particulière du plus éminent des apôtres (**12** : 17), et dont la sainteté fut en honneur parmi les Juifs comme parmi les fidèles. Pour confirmer d'une autre manière encore le discours de Pierre, Jacques en appelle aux prophéties de l'Ancien Testament sur la vocation des gentils, citant celle d'Amos (**9** : 11, 12), où l'on voit que l'Eternel ferait simultanément deux choses : d'abord il réédifierait la tente de David, puis, de cette tente redressée, il se ferait rechercher par les nations sur lesquelles son nom serait invoqué. Ainsi, relèvement d'Israël en Jésus, fils de David, et appels de grâce aux peuples étrangers : voilà ce qui devait arriver, selon la parole de ce « Dieu qui, de tout temps, connaît toutes ses œuvres. » La conversion des païens d'Antioche et d'Asie était donc l'œuvre de Dieu aussi bien que celle des Juifs; en conséquence, il n'y avait pas à les inquiéter au sujet de leur salut. Ils appartenaient au Seigneur par la foi, et ils n'avaient besoin d'aucun autre mode d'agrégation au peuple de Dieu. Cependant, afin de n'être pas en scandale aux Juifs de la dispersion, notamment dans les villes où ils avaient des synagogues, il importait que les disciples s'y abstinssent de certaines pratiques tellement odieuses aux fils d'Israël, que des chrétiens ne pouvaient se les permettre sans porter un grand préjudice à la prédication de l'Evangile. D'abord toute participation à l'idolâtrie et aux fêtes licencieuses des païens. Il ne semblait

pas nécessaire de mentionner cet objet; mais Jacques savait l'entraînement des fêtes populaires, l'empire des coutumes nationales, la fragilité de la chair, et l'on comprend d'après cela qu'il ait fait entrer cet article dans sa proposition. Quant à manger des viandes étouffées et du sang, choses qui ne sont pas criminelles en soi, mais qui, d'un autre côté, ne sont nullement indispensables, il fallait s'en abstenir par ménagement pour les Juifs. C'était une manière frappante et sans cesse renouvelée de prouver que, tout incirconcis qu'on était, on avait réellement abandonné le culte et les mœurs des païens. Ce n'était pas dire : « Nous sommes devenus Juifs, » mais « nous nous sommes séparés du monde. »

3783. (22-29.) Ce que Jacques proposa reçut l'assentiment des apôtres, celui des anciens et de l'Eglise tout entière. Judas, surnommé Barsabas, et Silas, hommes considérés entre les frères, furent choisis « par l'assemblée » pour reconduire Paul et Barnabas à Antioche, et pour y porter une lettre remarquable à plus d'un titre. Ecrite au nom des apôtres, des anciens et des frères, et non point au nom seulement de Jacques ou de Pierre, elle ne fut pas adressée à toutes les Eglises, mais seulement à celle d'Antioche et aux Eglises voisines de Syrie et de Cilicie; car, en ce moment, ces Eglises seules avaient été agitées par la question qu'on venait de résoudre. « Il nous a semblé bon, dit l'épître, de vous députer, avec Barnabas et Paul, deux de nos frères. » Barnabas et Paul méritaient toute confiance, vu que c'étaient des hommes qui avaient exposé leur vie pour le nom du Seigneur Jésus-Christ; il était bon toutefois qu'on vît avec eux quelques collaborateurs des premiers apôtres, afin de rendre sensible le parfait accord qui régnait entre tous. Quant au principal, la lettre des apôtres, des anciens et des frères, porte que ce point a été résolu par eux sous l'assistance, si ce n'est par une voix du Saint-Esprit. « Il a semblé bon au Saint-Esprit et à nous, » dirent-ils. Cette formule exprime nettement le mystère de l'inspiration, phénomène miraculeux dans lequel il y a comme une infusion de la pensée divine dans la pensée humaine, en sorte que l'expression de cette pensée est tout à a fois de Dieu et de l'homme. Et voyez le ton calme et modéré de ces hommes vraiment inspirés de Dieu! Au lieu de menaces, ils se bornent à dire en terminant leur lettre : « Si vous vous gardez de cela, vous ferez bien. » Quel contraste avec les anathèmes fulminés par tant de conciles qui ont prétendu n'être que la continuation de celui de Jérusalem, et où les hommes les plus violents, les plus étran-

gers à la vérité et aux bonnes mœurs, ont osé faire précéder leurs décrets de cette formule, si indignement profanée : « Il a semblé bon au Saint-Esprit et à nous ! » Remarquez enfin la simplicité parfaite des salutations qui ouvrent et ferment cette lettre. Jamais écrit n'eut un plus grand caractère de vérité; jamais hommes ne se montrèrent plus éloignés de toute exaltation. On s'étonne même de ne pas trouver quelque chose de plus solennel dans un manifeste de cette importance. Nous ne l'eussions pas fait ainsi; mais c'est ainsi que, sous l'inspiration divine et dans la simplicité de leur foi, le rédigèrent les apôtres, les anciens et les frères de Jérusalem, par la plume de Jacques, selon toute apparence. Ces hommes disaient la vérité purement et simplement; ils faisaient l'œuvre de Dieu telle qu'elle leur était présentée, sans songer à l'embellir, ou, dirai-je, à la travestir en y mettant du leur.

3784. (30-35.) Le retour de Paul et de Barnabas fut pour les disciples d'Antioche le sujet d'une grande joie. Ils s'estimèrent heureux du résultat obtenu, bien que leur liberté fût en quelque chose diminuée. Judas et Silas, prophètes du Seigneur, leur adressèrent de nombreuses exhortations, ou, comme nous dirions, prêchèrent plusieurs fois à Antioche; après quoi, il leur fut permis de repartir pour Jérusalem, emportant les vœux et les bénédictions de l'Eglise. Cependant, Silas préféra demeurer, et nous allons voir que le Seigneur le destinait à devenir le compagnon des travaux de Paul, au lieu de Barnabas. En attendant, sa présence à Antioche y accrut le nombre, déjà considérable, des docteurs et des prophètes qui illustraient cette Eglise, ou, pour mieux dire, qui l'édifiaient par leurs prédications et y faisaient faire constamment de nouveaux progrès au règne de Dieu.

## CCLXXXV. — Second voyage missionnaire de Paul, en Asie Mineure, puis en Macédoine.

3785. (36-40.) Deux ans s'étaient écoulés, pense-t-on, depuis que Paul et Barnabas avaient achevé leur première mission, lorsqu'ils formèrent le projet de retourner dans les mêmes lieux pour visiter les frères et voir « comment ils allaient, » dit l'historien sacré. Jean-Marc se trouvait alors à Antioche, et Barnabas, son cousin, désirait qu'il fût du voyage. Mais Paul pensa, non sans raison, qu'il n'était pas à propos de prendre avec eux un frère qui, la précédente fois,

(**Actes 15** : 41. **16** : 1-5.)

les avait quittés dès le commencement de la mission. De là un débat assez vif entre ces deux grands serviteurs de Dieu, Paul et Barnabas; mais, hélas! c'étaient des hommes sujets aux mêmes infirmités que nous, comme ils l'avaient dit aux païens de Lystre, et si nous ne pouvons approuver leur conduite dans cette circonstance, nous admirerons de nouveau la fidélité avec laquelle le Saint-Esprit raconte les faiblesses et les fautes des hommes qu'il a le plus honorés. Nous n'admirerons pas moins comment Dieu sait faire concorder avec ses plans les péchés de ses serviteurs. Il résulta de cette altercation qu'il y eut deux missions au lieu d'une : Barnabas et Marc mirent à la voile pour l'île de Chypre, tandis que Paul partait avec Silas, après avoir été confiés à la grâce de Dieu par les frères.

3786. (**41** ; **16** : 1-5.) En faisant son voyage par terre, Paul eut à traverser deux provinces où sa prédication n'était pas nouvelle. Dans tous les cas, il s'y trouvait des Eglises à visiter, puisque c'était à elles que la lettre du concile de Jérusalem avait été adressée. Puis remarquez que Paul était escorté de Silas, un des porteurs de cette lettre. Toutefois, et encore que Paul eût bien des raisons pour séjourner en Cicilie, d'où il était originaire, il ne fit qu'y passer, et l'historien sacré nous transporte immédiatement à Derbe et à Lystre, soit qu'il supprime les noms des lieux intermédiaires, Attalie, Perge et Antioche de Pisidie, soit plutôt que les apôtres aient gagné Derbe directement. Quoi qu'il en soit, l'occupation principale de Paul, dans ce second voyage, fut d'affermir des Eglises qui, jeunes encore et entourées de dangers, devaient avoir grand besoin des encouragements de la Parole de Dieu. D'ailleurs, il en est des Eglises comme de chacun de ceux qui les composent : ce n'est que par une action constante de la grâce du Seigneur qu'elles peuvent s'affermir dans la foi et dans la sainteté.

3787. (**16** : 1-5.) Ce fut ici que Dieu fit à Paul un vrai présent, en lui donnant pour disciple un très jeune homme qui compta dès lors parmi les plus fidèles et les plus utiles collaborateurs de l'apôtre. Il était de Derbe, et s'appelait Timothée. Fils d'un païen, mais d'une femme juive, il avait reçu de bonne heure les semences de la vérité par les soins de sa mère et de sa grand'mère, ainsi que nous le verrons plus tard. Ces deux femmes, Israélites pieuses, avaient été probablement converties à Jésus-Christ lors du premier voyage de Paul. Le jeune Timothée datait de cette époque le commencement de sa vraie vie, et tous les frères de la contrée, jusqu'à Iconie, rendaient témoignage à la sincérité de sa foi. Il fut donné à Paul de discerner

en lui le futur évangéliste, et il résolut de s'en faire accompagner. Mais comme Timothée n'avait pas été circoncis, l'Apôtre voulut que, Juif par sa mère, il pût avoir un libre accès dans les synagogues, et, par cette raison, il le circoncit. Ce n'était pas se mettre en contradiction avec ses propres principes, ni avec ceux de la conférence de Jérusalem; d'abord, parce que Timothée appartenait au judaïsme par sa mère, et que la question traitée, soit à Jérusalem, soit à Antioche, concernait les fidèles sortis du paganisme; ensuite, parce que Paul ne fit point circoncire Timothée pour qu'il pût être sauvé, mais pour qu'il pût s'adresser aux Juifs comme un des leurs. En cela donc, Paul fut conduit par la sagesse même de Dieu. Il avait si peu la pensée de se mettre en désaccord avec les résolutions prises par les apôtres et les anciens de Jérusalem que, dans toutes les villes, il les faisait connaître aux disciples et leur en recommandait l'observation. Il ne se bornait pas à cela sans doute. C'étaient toujours les grandes vérités du salut qui faisaient le fond de ses prédications; en sorte que les Eglises de ces contrées s'affermissaient par la foi et croissaient en nombre chaque jour. Voilà le secret de la force, de la durée et de la fécondité des Eglises : c'est la foi en Jésus-Christ, l'attachement du cœur à la saine doctrine du salut.

3788. (6-8.) Cependant, Paul, Silas et leur nouveau collègue Timothée, ne se bornèrent pas à évangéliser les localités qui avaient ouï précédemment la bonne nouvelle. Au nord de la Lycaonie se trouvait la Phrygie, et plus au nord encore la Galatie [2568], deux provinces que nos trois missionnaires parcoururent, non sans y annoncer l'Evangile, bien que Paul fût alors sous le poids de graves infirmités, comme nous le verrons par la suite. De là ils auraient voulu passer en Asie, par où il faut entendre les provinces à l'extrémité occidentale de l'Asie Mineure et notamment celle dont Ephèse était la capitale. Mais le moment où le Saint-Esprit voulait y faire resplendir sa lumière n'était pas encore venu. Les apôtres remontèrent donc des confins de l'Asie propre, vers la Mysie, pour passer en Bithynie, qui était à l'est de la Mysie et au nord-ouest de la Galatie; mais, cette fois encore, l'Esprit de Jésus ne le leur permit pas. Ils avaient, semble-t-il, une secrète répugnance à s'approcher de l'Europe, comme si le champ qui se serait ouvert de la sorte devant eux, leur eût paru trop vaste, trop difficile, trop périlleux, que sais-je? Mais les pensées du Dieu des miséricordes se portaient au contraire vers la terre de Japhet, appelée à de si grandes destinées [234]. C'est pourquoi Paul

(**Actes 16** : 9; 10.)

et ses compagnons revinrent de nouveau sur leurs pas, et, laissant de côté ou traversant la Mysie (on peut entendre le passage de ces deux manières), ils arrivèrent enfin à Troas, où le Seigneur les voulait et où il est évident, par la rapidité du récit, que l'historien sacré avait hâte de les conduire. Troas, un des points extrêmes du continent asiatique du côté de l'Europe, était séparé de la Macédoine par une mer peu large et toute semée d'îles plus ou moins considérables.

3789. (9.) Il ne paraît pas, cependant, que Paul eût songé à franchir la faible distance qui le séparait de la Macédoine, si le Seigneur ne l'y eût déterminé, comme il avait déterminé Pierre à se rendre près de Corneille. Plusieurs jours peut-être s'étaient écoulés, lorsqu'il vit, pendant la nuit, un homme macédonien qui lui dit de la part de Dieu : « Passe en Macédoine et viens nous secourir. » Par là, non-seulement le Seigneur révélait à l'Apôtre le chemin qu'il devait suivre, mais encore il lui annonçait, pour son encouragement, qu'il y avait en Macédoine bien des âmes que le Saint-Esprit avait préparées à recevoir l'Evangile. Au surplus, préparés ou non, il existait là des pécheurs qui périssaient faute de connaître la voie du salut, et il s'agissait d'aller à leur secours. Maintenant encore, mes chers lecteurs, il y a dans cette même Macédoine, pays aujourd'hui mahométan, il y a en Asie, en Afrique et dans toutes les parties du globe, des millions d'âmes qui n'ont pas moins besoin de l'Evangile que les Macédoniens du temps de saint Paul. Leur misère nous crie d'avoir pitié d'eux. Que ce soit donc du fond de nos cœurs que nous disions tous les jours à Dieu : Ton règne vienne! Puis, demandons-nous s'il ne nous serait pas possible d'ajouter l'action à la prière, soit en portant nous-mêmes du secours à ceux qui périssent, soit en assistant de nos biens ceux qui y consacrent leur vie.

3790. (10.) Eclairé par cette vision, Paul n'hésita pas un moment sur ce qu'il avait à faire, et aussitôt il chercha quelque moyen de transport pour la Macédoine. Remarquez ici que l'historien sacré, qui, jusqu'à ce moment, avait raconté des faits auxquels il n'avait point pris part, change brusquement la forme de son discours, et au lieu de dire : « Il chercha aussitôt à partir pour la Macédoine, » il dit : « *Nous* cherchâmes aussitôt à partir pour la Macédoine, concluant que le Seigneur *nous* appelait à leur annoncer la bonne nouvelle. » Celui qui parle ainsi était donc un des collègues de Paul, mais depuis peu. Malgré la modestie avec laquelle il s'introduit dans son propre récit, on sait qu'il s'appelait Luc et qu'il était médecin. Peut-être devait-il

à sa profession d'avoir été rapproché de Paul, sérieusement malade à cette époque, ce que nous apprendront ses propres lettres. On pense d'ailleurs que Luc était de Troas ou de quelqu'une des villes que les apôtres avaient traversées depuis leur séjour en Galatie. Quoi qu'il en soit, il est sûr que, de païen il était devenu chrétien, ou, comme on disait, disciple de Jésus-Christ. Conduit par l'Esprit de Dieu, il se joignit à Paul et à ses deux collègues. Sous l'inspiration de ce même Esprit, il écrivit plus tard le livre que nous étudions, après l'avoir fait précéder de l'Evangile qui porte son nom, Evangile qui nous a si fort servi pour la chronologie et pour l'harmonie de la vie de notre Sauveur. On peut donc l'envisager comme l'historien principal du Nouveau Testament ; et n'est-ce pas quelque chose d'admirable, de voir le Seigneur prendre à plus de deux cents lieues de Jérusalem, quinze ans peut-être après sa résurrection et parmi les peuples idolâtres, l'homme qu'il destinait spécialement à dresser les annales de l'inauguration de son règne ?

3791. (11, 12.) Voilà donc maintenant quatre messagers de la bonne nouvelle qui font voile vers l'Europe. C'était peu pour évangéliser tout un monde, monde savant, riche, fier de sa force, entêté de ses dieux si poétiques, livré sans retenue aux passions les plus honteuses. Paul, Silas, Timothée et Luc, quatre ministres de la Parole pour des millions d'âmes ! C'est comme les missionnaires qui, dans le présent siècle, attaquent les superstitions de la Chine et de l'Inde. Avec quel intérêt n'allons-nous pas suivre les travaux de ces hommes à qui notre Europe doit, après Dieu, tout ce qu'elle possède de vraies lumières et de supériorité sur les autres peuples de la terre, et qui, en tout cas, y ont jeté les premières semences de la vérité par laquelle nous espérons être sauvés ! De Troas, ils se dirigèrent droit sur Samothrace, île européenne de l'Archipel, aujourd'hui *Semendraki;* le lendemain, sur Néapolis, près de la mer, mais sans s'y arrêter, paraît-il. Enfin les voilà dans Philippes, ville importante de Macédoine ; non pas la plus considérable de la province, mais la première qu'on y rencontrât en venant d'Asie. C'était une antique cité, restaurée et fortifiée par Philippe, le père d'Alexandre le Grand. Près d'elle avait eu lieu la grande bataille qui donna l'empire à Auguste, et les Romains y avaient fondé une colonie militaire : c'était comme un camp placé aux portes de l'Asie. Par cette raison peut-être, elle comptait peu de Juifs, ou du moins ils y étaient trop peu nombreux pour avoir une synagogue. Arrivé de la sorte en pays complétement païen, Paul com-

prit que ce devait être sa première station et il fit ses dispositions pour y demeurer quelque temps.

3792. (13, 14.) Il est naturel de supposer que, durant la semaine, les missionnaires eurent de fréquents entretiens avec les personnes qu'ils rencontrèrent, et l'on se figure aisément sur quels sujets ils durent les diriger. Mais le Seigneur veut que son Evangile soit prêché devant des assemblées (Luc 12 : 3). C'est pourquoi, le sabbat étant venu, les apôtres se rendirent hors de la ville, près d'une rivière : ils avaient annoncé qu'il s'y ferait une prière, ou, comme nous dirions, une réunion de culte. Il est possible aussi que ce fût l'endroit où se donnaient habituellement rendez-vous les Juifs clair-semés de la ville et le petit nombre de personnes qui, à Philippes, avaient obtenu par eux quelque connaissance de l'Eternel. Quoi qu'il en soit, l'assemblée se trouva composée essentiellement de femmes, si ce n'est exclusivement. Cela ne prouverait pas que les entretiens des messagers du salut n'eussent fait d'impression que sur elles; mais, comme il arrive souvent, les femmes montrèrent plus d'empressement et de courage. Tels furent donc les premiers auditeurs de l'Evangile en Europe, et encore fut-ce à un enfant de l'Asie que la prédication profita le plus. Lydie, veuve apparemment et marchande de pourpre, étoffe dont se vêtaient les principaux chefs militaires; Lydie, qui, originaire de Thyatire en Asie Mineure, habitait à Philippes pour son commerce, Lydie, une de ces âmes que Dieu avait préparées, comme Corneille, pour en faire les prémices de sa moisson, Lydie écoutait nous dit Luc, présent à cette scène touchante. Elle écoutait, et combien de gens, hélas! qui assistent à des prédications sans écouter! « Elle écoutait, et le Seigneur lui ouvrit le cœur pour qu'elle fût attentive aux choses que Paul disait; » car c'était Paul surtout qui parlait. Quand il s'agit des choses de la vie et de choses d'ailleurs intelligibles, il suffit d'écouter pour comprendre et pour accepter; mais dans les choses de Dieu, il faut de plus que le Seigneur lui-même nous rende attentifs à sa Parole et à celle de ses serviteurs, raison péremptoire pour lui demander instamment son Saint-Esprit, lorsque nous nous disposons à écouter.

3793. (15.) Heureuse Lydie! elle demanda et obtint sans peine d'être baptisée; sa maison le fut après elle, ou parce qu'elle partagea sa foi, ou simplement parce qu'il était naturel qu'elle partageât la nouvelle position du chef de la famille, je ne le décide point; puis Lydie supplia Paul et ses collègues de loger sous son toit, ce qu'elle

réclamait comme un témoignage de la réalité de sa conversion. Or, soit qu'ils répugnassent à recevoir l'hospitalité chez une femme, pour éviter tout mauvais bruit, soit qu'ils craignissent qu'on ne les suspectât de faire des prosélytes pour vivre à leurs dépens (Matth. **23** : 14), il fallut que Lydie les forçât, en quelque sorte, à accepter l'invitation de sa charité. Tout cela ne se passa pas nécessairement à l'heure de la réunion, ni peut-être dans le cours de la journée; mais il se peut aussi que ces événements se soient succédé avec rapidité; car si la grâce de Dieu use quelquefois de lenteurs, elle sait aussi, quand il lui plaît, hâter la délivrance.

3794. (16-18.) Comme Paul et ses amis se rendaient à la prière, ce jour même ou peut-être une autre fois, ils se virent suivis par une pauvre esclave qui, faisant le métier de devineresse au moyen de la nécromancie [1454], procurait beaucoup d'argent à ses maîtres. Ce n'était donc pas une esclave inutile quant aux choses du monde [3269]; mais quelle triste utilité que celle qui a pour limites cette terre et qui est peu soucieuse des moyens. Cette malheureuse fille, nous dit Luc, était sous la puissance de l'esprit malin, et celui-ci, pensant probablement décrier Paul et ses collègues en les protégeant, ou poussé, comme au temps de Jésus, par une force plus grande que la sienne, faisait crier à sa victime : « Ces hommes sont des esclaves du Dieu très haut, qui nous annoncent un chemin de salut. » Cette scène pénible s'étant renouvelée à plusieurs reprises, Paul enjoignit à l'esprit de sortir de cette pauvre créature, et celle-ci, délivrée à l'instant, laissa les apôtres tranquilles; mais, dès ce jour aussi, elle cessa son coupable métier.

3795. (19-24.) On ne saurait croire combien il est de gens qui sont hostiles à l'Evangile par des motifs d'intérêt pécuniaire, soit qu'ils exercent un état incompatible avec la foi, soit qu'ils doivent une partie de leurs profits au mal qui règne dans le monde. Les maîtres de la pythonisse, désespérés de la perte que leur occasionnait sa délivrance, s'en prirent à Paul et à Silas, ceux des quatre missionnaires qui étaient le plus en vue, et ils les traînèrent devant l'autorité municipale qui, à raison de leur qualité d'étrangers, les renvoya, paraît-il, aux chefs militaires. Les dénonciateurs, comme il arrive en pareil cas, se gardèrent bien d'articuler leurs véritables griefs; mais, usant de moyens plus sûrs, ils commencent par jeter de la défaveur sur la personne des accusés en les signalant comme étant de ces Juifs que les Romains méprisaient et détestaient tout à la fois; puis, ils les dé-

noncent comme troublant leur ville, accusation grave aux yeux de guerriers qui plaçaient la discipline avant tout; enfin, ce qui était plus sérieux et plus vrai au fond, ils veulent établir, dirent-ils, des coutumes incompatibles avec les lois de Rome. A l'ouïe de ces paroles, grande agitation parmi ce peuple, zélé pour le nom romain. Sans autre enquête, les commandants de la place font subir aux apôtres l'horrible supplice de la flagellation; et, le corps déchiré de plaies, on les conduit vers la prison, où le geôlier reçoit l'ordre de les garder sûrement. Cet homme, vieux soldat sans doute, dur et sans pitié, n'exécuta que trop bien son mandat : il les jette dans la prison intérieure, quelque cachot obscur, et leur serre les jambes dans des pièces de bois. Ce fut un sang précieux, que ce sang qui teignit alors la place publique de la ville de Philippes, le premier que les témoins de Jésus-Christ donnèrent à leur Maître en faveur de l'Europe païenne, mais non pas le dernier qui ait coulé dans cette même Europe, païenne encore longtemps, puis devenue chrétienne de nom!

3796. (25.) Représentez-vous donc une lourde pièce de bois, fendue par le milieu et trouée de manière à y serrer les jambes après que les deux pièces ont été rapprochées et solidement jointes l'une à l'autre. Dans cette position, le patient ne peut ni se courber, ni s'asseoir; il ne saurait que s'appuyer à la muraille s'il en est proche, et il n'a pas même la faculté de soulever tantôt l'une de ses jambes, tantôt l'autre, afin de se donner quelque repos. De tout ce que Paul avait enduré précédemment, il n'y avait rien eu qui portât davantage tous les caractères du supplice. Alors s'accomplit ce qu'il avait dit lui-même à ses disciples persécutés, et ce que le Seigneur avait annoncé à Ananias (Actes 14 : 22; 9 : 16). Alors aussi, il put avoir le douloureux et consolant souvenir des souffrances de Jésus, dont le corps avait été pareillement déchiré par les verges des soldats, et qui avait vu ses mains et ses pieds attachés au bois, mais d'une manière bien plus affreuse. Admirons donc, quoique sans étonnement, l'effet que produisirent sur Paul et sur Silas les tortures qui leur étaient infligées. Ils priaient, ces saints et fidèles serviteurs de Jésus, ils priaient et chantaient des hymnes à Dieu, tant leur âme était pleine des consolations du Saint-Esprit.

3797. (25-30.) Le milieu de la nuit étant arrivé, il se fit un miracle pour la délivrance des pieux martyrs. Un tremblement de terre n'est pas un miracle sans doute; mais toutes ces portes ouvertes à la fois, les liens des prisonniers se relâchant en même temps et tombant de

(Actes 16 : 31-34.)

leurs mains et de leurs pieds, c'est une œuvre de la puissance de Dieu, non moins que si un mort brise les barrières du sépulcre, ou que si une âme coupable secoue les chaînes du péché. Le geôlier, réveillé en sursaut et ne discernant autre chose dans les ténèbres, sinon que partout où se dirigeaient ses pas il trouvait les portes ouvertes, le geôlier pensa que ses prisonniers s'étaient tous évadés, et, se croyant un homme perdu, il tira son épée et il allait s'en frapper..... Mais Paul qui se trouvait en ce moment près de lui, Paul à qui ni la frayeur, ni le sommeil ne troublaient les sens, comprit aux cris de cet homme, non moins qu'à ses gestes, l'acte de désespoir auquel il allait s'abandonner et il l'arrêta court en lui disant : « Nous sommes tous ici. » Alors revenant à lui, le geôlier demande de la lumière, il entre précipitamment et, tout tremblant, il se prosterne devant Paul et Silas. Sa conscience, déjà remuée peut-être par les cantiques de ses saintes victimes, est fortement émue de la scène qu'il a maintenant sous les yeux; il désire avoir un entretien particulier avec les apôtres, et, les tirant de leur cachot, il leur demande ce qu'il faut qu'il fasse pour être sauvé. Question toute différente de questions en apparence analogues [3168, 3296] et que le Saint-Esprit seul avait pu mettre dans le cœur de ce pauvre païen. Le sentiment du crime qu'il avait été sur le point de commettre contre lui-même et qui put réveiller le sentiment de tous ses péchés; la voix charitable de ces hommes qu'il avait si indignement traités et qui se vengent en lui criant : « Ne te fais point de mal; » tel fut sans doute le double moyen dont le Saint-Esprit se servit pour attirer son âme, à la fois par la crainte et par l'espérance. Alors sortit de son cœur cette question importante, importante pour vous comme pour lui, mes chers lecteurs : « Que faut-il que je fasse pour être sauvé? »

3798. (31-34.) A qui fait cette question par le Saint-Esprit, le Saint-Esprit répond par la bouche des apôtres : « Crois au Seigneur Jésus et tu seras sauvé, toi et ta maison » (Jean 16 : 8, 14), appel qui sert de point de départ à d'ultérieures instructions de la Parole de Dieu. C'est ce qui eut lieu du moins pour le geôlier. Et voyez la puissance transformatrice de cette divine parole! A peine cet homme, tout à l'heure impitoyable, en a-t-il reçu les premières atteintes, qu'il se montre plein de compassion pour les souffrances des prisonniers; il reçoit le baptême avec tous les siens; puis il conduit les apôtres dans son appartement, fait dresser une table devant eux, et son âme est remplie de la joie qu'inspire la foi. Oh! que de merveilles qui s'accom-

plirent en cette nuit! Et toutes ces merveilles, remarquez-le, eurent leur source dans la grande merveille de la rédemption opérée par Jésus-Christ. C'est par le souvenir de ses souffrances que Paul et Silas sont soutenus et consolés dans leur épreuve; si leurs fers tombent, c'est qu'ils sont des rachetés de Jésus; et comment se fait-il qu'un misérable pécheur tel que le geôlier puisse, dans un instant, passer de la mort à la vie? c'est que Jésus est mort pour nos péchés, c'est que celui qui croit en lui est justifié, c'est qu'il nous a procuré un salut gratuit. Le geôlier est sauvé, comme le brigand sur la croix, parce qu'il a cru, et sa foi se montre aussitôt par ses œuvres. Oh! vous, qui lisez ces lignes et qui ne savez pas ce que deviendrait votre âme si elle vous était redemandée, croyez en Jésus, croyez maintenant; et, à cette heure même, vous serez sauvés.

3799. (35-37.) Cependant, les chefs militaires de Philippes n'avaient pas eu l'intention de condamner ces deux étrangers à une longue détention, et peut-être quelques amis étaient-ils intervenus en leur faveur. Dès qu'il fut jour, ils envoyèrent leurs licteurs ou sergents d'armes, ordonner au geôlier de les relâcher; car ils ignoraient les événements dont la prison seule avait été le théâtre. Le geôlier ne doutant pas que les apôtres ne profitassent aussitôt de leur liberté, se hâta de les congédier avec une bénédiction qui partait sûrement du cœur. Mais non; il se trouvait que Paul et Silas étaient citoyens romains bien que Juifs (nous verrons plus tard comment); or, il était sévèrement interdit par la loi de battre de verges un citoyen de Rome, et non-seulement on avait infligé publiquement ce supplice aux apôtres, mais encore on les avait jetés en prison sans jugement. Ils déclarèrent donc qu'ils ne sortiraient pas de prison, à moins que les chefs militaires eux-mêmes ne vinssent les en tirer. Cette détermination de Paul, preuve de l'énergie de son caractère, pourrait être envisagée aussi comme un reste d'orgueil, si l'on ne considérait pas qu'il est généralement permis de repousser les flétrissures imméritées, que cela même peut devenir quelquefois un devoir. Il faut qu'à l'occasion le chrétien sache se laisser traiter comme un malfaiteur, sans se plaindre, ainsi que l'a fait Jésus; mais à son exemple aussi, il est des cas où l'on ne doit pas dédaigner de mettre au jour son innocence. Or il importait, pour le bien des âmes auxquelles Paul avait annoncé l'Evangile à Philippes, qu'aucune tache ne demeurât sur sa personne, s'il se pouvait. C'est pourquoi, dans cette ville romaine, Paul et Silas, Romains l'un et l'autre, crurent pouvoir ré-

clamer le bénéfice de leurs droits civils, et le pouvant, disons qu'ils le devaient.

3800. (38-40.) Quand les chefs apprirent que Paul et Silas étaient Romains (Luc dit *sont*, et l'emploi du présent montre clairement que le livre des Actes fut écrit du vivant de Paul et de Silas), ils sentirent le mauvais pas dans lequel ils s'étaient engagés. Se transportant à la prison, ils se recommandèrent à la générosité des prisonniers et ils les élargirent de leurs propres mains. Toutefois ils les prièrent de quitter la ville. C'est ce que firent les apôtres, mais non sans être retournés chez Lydie et sans avoir vu les frères, pour leur adresser quelques paroles d'encouragement. Par leur retraite, en quelque sorte volontaire, ils montrèrent que s'ils avaient protesté, ce n'était pas par orgueil ou entêtement. Du reste, Paul comprit sans doute, par ce qui venait de se passer, que le Seigneur l'appelait à porter l'Evangile en d'autres lieux, vu que nul devoir ne l'astreignait à tout braver pour demeurer dans Philippes. L'Evangile y était introduit; une Eglise s'y trouvait fondée, c'est tout ce qu'il fallait pour le présent; la foi implantée dans les cœurs par le Saint-Esprit allait s'y affermir et gagner du terrain. Nous verrons plus tard que, malgré l'absence de Paul, cette Eglise devint bientôt considérable, ayant ses évêques et ses diacres, et ce qui vaut mieux encore, remarquable entre toutes par les fruits de sa charité.

## CCLXXXVI. — Suite du second voyage missionnaire : Paul en Macédoine et en Grèce.

3801. (**17** : 1-4.) Une belle route militaire passant par Amphipolis et par Apollonie, conduisait, en quatre jours, de Philippes à Thessalonique, chef-lieu de la province, où les Juifs de la contrée avaient leur synagogue. Ce fut là que Paul se rendit, ayant toujours avec lui Silas et Timothée; quant à Luc, il paraît être resté à Philippes ou avoir repris le chemin de Troas, car il ne parle plus à la première personne du pluriel; mais nous le retrouverons plus tard dans la société de Paul. Celui-ci et ses deux collègues traversèrent-ils Amphipolis et Apollonie sans y jeter quelques grains de la bonne semence? c'est peu probable. Rappelons-nous toutefois que Dieu est le maître de ses dons, et que l'élection de sa grâce n'est pas moins visible relativement aux peuples qu'aux individus. Il valait mieux d'ailleurs que l'Evangile s'établît d'abord à Thessalonique, sauf à rayonner de là dans les villes voisines; de plus, cette marche semblait indiquée par

(**Actes 17** : 5-9.)

le fait même de l'existence d'une synagogue à Thessalonique; or, nous savons qu'en général le Seigneur agit par les voies les plus simples et les plus naturelles.

3802. Nous savons aussi que ses œuvres sont d'une admirable variété. Tandis qu'à Philippes la prédication des apôtres n'avait d'abord réuni qu'un petit nombre de femmes, nous la voyons au contraire accueillie ici, de très bonne heure, par « une grande multitude de Grecs craignant Dieu, avec quelques Juifs et des femmes de premier rang en nombre assez considérable. » Selon leur coutume, les apôtres se présentèrent dès le premier sabbat dans la synagogue; et, durant trois sabbats, ils les entretinrent de Jésus-Christ d'après les Ecritures, leur montrant, comme Jésus l'avait fait aux disciples d'Emmaüs (Luc **24** : 44-46), que le Christ devait souffrir, puis entrer dans sa gloire, et lui appliquant ces prophéties. Il plut donc au Seigneur de répandre son Esprit sur des hommes « de toute chair, » dans cette heureuse ville de Thessalonique, et, si la patience des apôtres avait été fort éprouvée à Philippes, ils pouvaient maintenant se réjouir de la manière dont s'accomplissait la vision de Troas : « Passe en Macédoine, et viens nous secourir. »

3803. (5-9.) Mais Satan ne laisse pas entamer son empire sans émouvoir les siens contre les ministres de la miséricorde céleste. Si quelques Juifs avaient été persuadés, la plupart (histoire de tous les temps) furent rebelles à la Parole. Jaloux des succès que remportaient les apôtres, plus jaloux encore de voir tant de Grecs baptisés sans avoir été circoncis, et ces catéchumènes de la loi les devancer dans le royaume de la grâce, les Juifs incrédules n'eurent pas honte d'ameuter contre Paul et ses disciples la plus vile portion de la populace. Au milieu de cette agitation, ils assaillirent la maison de Jason, un des Grecs sans doute qui avaient cru, Jason, l'hôte des apôtres et probablement de l'assemblée des frères. Ils avaient compté trouver chez lui Paul et Silas, qu'ils voulaient livrer au peuple. Dans leur dépit, ils s'emparent de Jason et de quelques autres, les traînent devant le magistrat, accusent les apôtres d'avoir bouleversé toute la terre et Jason de les avoir accueillis dans sa maison. Puis, comme il fallait pourtant expliquer l'origine des troubles qu'ils imputaient à ces nouveaux venus, ils imaginèrent de dire, eux, Juifs, eux peu soucieux au fond des droits et de l'autorité de l'empereur, que ces hommes agissaient tous contre les ordonnances de César (ce qui était faux, puisqu'il n'y avait point encore d'édits contre les chrétiens), et

qu'ils proclamaient un autre roi dans la personne de Jésus, assertion vraie, mais non avec le sens qu'il leur plaisait d'y mettre. Ainsi, vous le voyez, toujours le même système d'accusation ou plutôt de calomnie contre les serviteurs de Dieu : ils sont des fauteurs de troubles, ils méprisent l'autorité, ils sont mus par des intérêts politiques. Quelque fausses et absurdes que soient de telles inculpations, elles sont toutefois de nature à jeter l'inquiétude dans les masses et dans l'esprit des gouvernants. C'est ce qui eut lieu à Thessalonique. Il fallut que Jason et ses coaccusés donnassent certaines garanties pour l'avenir, après quoi ils furent relâchés.

3804. (10-12.) En voyant l'irritation générale des esprits, les frères de Thessalonique, et Paul le premier sans doute, comprirent que le moment était venu de se séparer. Ils firent donc partir Paul et Silas pendant la nuit, gardant près d'eux le jeune Timothée. Mais ce n'était pas pour retourner sur leurs pas que les apôtres quittaient Thessalonique; au contraire, les voilà s'avançant plus à l'intérieur dans la Macédoine, et, preuve qu'ils ne fuient pas timidement le danger, ils s'arrêtent à Bérée, petite ville près de Thessalonique, afin d'y livrer une nouvelle bataille au prince des ténèbres, et y remporter des victoires encore plus éclatantes que dans le chef-lieu de la province. Les Juifs de Bérée se montrèrent en effet d'un plus noble caractère que ceux de Thessalonique. Ils reçurent la parole des apôtres avec un extrême empressement, ne se lassant pas de lire et de relire dans la loi et dans les prophètes les oracles que Paul leur signalait comme ayant été accomplis en Jésus-Christ. C'est une manière de procéder qui est toujours accompagnée de bénédictions, et je ne saurais trop la recommander à mes lecteurs. Il faut que, désireux de connaître à fond les Ecritures et d'avoir Dieu seul pour docteur, ils examinent attentivement le texte même, sans se borner aux explications qu'on leur en donne; puis, quand on les renvoie, ainsi que je le fais souvent, à quelque endroit, soit de l'Ancien Testament, soit des Evangiles, il faut qu'ils y recourent réellement, pour s'assurer que les explications qu'on leur présente sont conformes aux Ecritures. En ajoutant à cela beaucoup de prières, il est impossible que leurs études de la Parole ne produisent pas sur eux le même effet qu'un travail semblable produisit sur les Juifs de Bérée. Ainsi donc, l'Evangile acquit rapidement en cette ville, comme à Thessalonique, de nombreux disciples; mais avec cette différence, que la prédication des apôtres n'y excitait aucune opposition, ni de la part des Juifs, ni de la part des Grecs.

(Actes 17 : 13-15; 16, 17.)

3805. (13-15.) Cependant, Bérée était trop rapprochée de Thessalonique, pour qu'on n'apprît pas bientôt dans cette dernière ville les magnifiques effets de la prédication des apôtres. Grande joie chez les frères, cela va sans dire; mais grande colère aussi chez les ennemis du Seigneur. Ceux-ci, poussés par leur impiété, se portèrent sur Bérée, et ils parvinrent à y exciter de l'agitation parmi le peuple, chose toujours facile, car le cœur humain ne se laisse que trop aisément entraîner à prendre parti contre Dieu. Or, plutôt que d'occasionner des troubles violents par la prolongation d'un séjour qui offrait désormais moins d'utilité que de danger, Paul partit pour Athènes. Les frères l'escortèrent par la route qui conduisait à la mer, et il s'en alla seul, laissant à Bérée son cher Timothée, qui l'y avait rejoint, et Silas, compagnon de ses travaux depuis Antioche. Il continua son chemin avec quelques amis de Bérée. Ceux-ci le quittèrent à leur tour, mais non sans avoir reçu l'ordre de lui renvoyer le plus tôt possible ses deux collègues.

3806. (16, 17.) C'est une grande épreuve de patience et de foi que l'isolement forcé, et nulle part on n'est plus seul que dans la foule d'une grande ville. Jusqu'à ce moment, Paul avait toujours eu quelque frère avec lui, et il dut éprouver alors, comme dit l'Ecriture, « que deux valent mieux qu'un » (Eccl. 4 : 9); il dut comprendre aussi pourquoi le Seigneur avait toujours réuni ses envoyés deux à deux (Mc. 6 : 7; L. 10 : 1). Représentez-vous donc ce grand apôtre, l'esprit et le cœur tout remplis des souvenirs de Bérée, de Thessalonique et de Philippes, sans parler des Eglises d'Asie qu'il avait fortifiées ou fondées dans ce voyage. Quel contraste avec le spectacle que lui présentent les lieux où le Seigneur a maintenant conduit ses pas! Athènes, une des plus illustres villes de la Grèce et de l'antiquité; Athènes, célèbre par son ancienne puissance, par ses grands généraux, ses philosophes, ses orateurs, ses poëtes, ses historiens, ses artistes, ne l'était pas moins par son idolâtrie et son extrême légèreté. Partout on vantait l'exquise urbanité des Athéniens et leur civilisation si avancée; mais cela même ne faisait que mettre d'autant plus en relief leur dégradation morale. Aussi Paul, en se promenant dans les rues de cette grande ville, en y voyant les monuments superbes qu'y avait érigés la plus absurde superstition, éprouvait un malaise intérieur dont il ne pouvait se rendre maître. Jaloux de la gloire de Dieu, plein d'un ardent amour pour ses semblables, en face, pour ainsi dire, du prince des ténèbres, le grand fauteur de l'idolâtrie, son

(**Actes 17** : 18-22; 22-32.)

esprit s'aigrissait en lui-même, nous dit l'historien sacré. Ce n'est pas qu'il fût près du découragement; car, au contraire, il déployait à Athènes, comme ailleurs, son activité habituelle. Non-seulement il cherchait à éclairer les Juifs de la synagogue et leurs prosélytes, mais encore il s'entretenait, chaque jour, dans la place publique avec ceux qui s'y rencontraient. C'était le rendez-vous général des étrangers et des Athéniens inoccupés; c'est-à-dire de tout le monde hors les esclaves.

3807. (18-22.) Parmi ces gens oisifs, qui mettaient leur orgueil à ne faire aucun ouvrage manuel, il y en avait qui passaient leur vie à philosopher, s'efforçant d'approfondir la nature des choses et leur raison d'être. Ils arrivaient de cette manière à s'informer aussi de l'origine du monde, de la destinée future de l'homme, de ses devoirs ici-bas. C'est ce qu'ils appelaient la sagesse, et ceux qui se plaisaient à ces recherches, on les appelait philosophes, ou amis de la sagesse. Mais cette sagesse, hélas ! n'avait pas détourné les peuples de l'idolâtrie et des mauvaises mœurs, parce que c'était, en définitive, une sagesse d'homme, et que, depuis la chute, l'homme est séparé de Dieu et de la vérité. Deux sectes philosophiques se partageaient essentiellement les esprits chez les païens de la Grèce et de Rome, sectes qui personnifiaient la double tendance du cœur humain, représentée chez les Juifs par les sadducéens et les pharisiens : c'étaient les épicuriens et les stoïciens; ceux-là plus accommodants et ceux-ci plus austères dans leur morale, mais ne rendant gloire ni les uns ni les autres au grand Dieu de l'univers. Frappés des discours de Paul, les uns se moquaient de lui, le traitant de babillard, d'autres pensaient qu'il leur annonçait de nouveaux dieux, Jésus et Anastasie; car le relèvement ou la résurrection, c'est, en grec, *anastasis*. Or, il faut savoir que les Athéniens poussaient l'urbanité jusqu'à offrir des autels aux dieux de tous les peuples, à mesure qu'ils en entendaient parler; et, pour des gens qui ne s'occupaient qu'à dire ou à écouter les nouvelles, c'était une grande affaire que les noms de deux divinités étrangères et inconnues jusque-là. On conduisit donc Paul au Champ de Mars, l'Aréopage, place publique où siégeait d'ordinaire le grand tribunal d'Athènes, et là, il fut invité à s'expliquer sur la nouvelle doctrine qu'il professait.

3808. (22-32.) Le cœur dut battre à Paul; car il ne s'était jamais trouvé devant une assemblée de gens aussi cultivés, aussi bien parlant, aussi spirituels et aussi moqueurs, quoique avec politesse. Ce

(**Actes 17** : 22-32.)

ne sont plus les grossiers Lycaoniens, ni même les Grecs asiatiques d'Antioche de Pisidie, ni les rudes Macédoniens de Thessalonique. Il n'avait aucune violence à craindre de leur part; mais l'Evangile était bien sérieux pour de tels hommes, et la grande difficulté était de captiver leur attention? Or voyez quelle parfaite direction le Saint-Esprit sut donner aux pensées de Paul, et de quelle juste mesure il revêtit ses paroles! On ne saurait être plus saintement habile et poli que ne le fut l'apôtre dans cette circonstance délicate. Ses premiers mots sont juste ce qu'il fallait pour lui concilier la bienveillance de ses auditeurs; car il commence par faire une sorte d'éloge de leur grande dévotion. « Vous avez, leur dit-il, une telle crainte des dieux, que, pour ne pas risquer d'en oublier un seul, vous avez érigé dans votre ville un autel au Dieu inconnu! Eh bien, c'est ce Dieu que je vous annonce, le Dieu qui a créé le monde et toutes les choses qui y sont, qui a fait d'un seul sang tout le genre humain, qui, de cet ensemble, a formé les diverses nationalités, qui nous conserve et nous nourrit, qui invite toute âme à la conversion, et qui jugera la terre avec justice par l'homme qu'il a désigné pour cela en le ressuscitant..... » Il est probable que de là Paul aurait passé à parler plus amplement de Jésus et du salut, que même il en manifesta l'intention; car s'il fut interrompu par les railleries de quelques-uns, lorsqu'il eut fait mention du relèvement des morts, d'autres lui dirent : « Nous t'entendrons de nouveau là-dessus. »

3809. De ce qu'il y eut des moqueurs qui arrêtèrent Paul au moment où il venait de faire allusion à la résurrection, il ne faudrait pas conclure que ces païens n'eussent aucune notion de la vie à venir : c'est une idée que l'homme ne chasse pas si facilement de son cœur. Ils faisaient profession de croire à l'existence d'un *Adès* [3254], d'un séjour des morts, divisé en deux parts : les champs Elysées pour les bons et le Tartare pour les méchants; mais ils n'avaient pas l'idée de la fin du monde, du jugement universel, encore moins celle du relèvement de tous les morts au dernier jour. Et puis, la plupart d'entre eux étaient incrédules, même à leur mythologie, en sorte que ce qui aurait pu les détourner de certains crimes, sinon de tout péché, ne produisait aucun effet sur eux. C'est comme de nos jours, où beaucoup de gens qui ne croient pas à la résurrection, disent croire toutefois à l'immortalité de l'âme; mais quand on les serre de près, on voit qu'ils ne croient pas même à cela. Ainsi leurs objections contre les doctrines particulières de la Bible sur les destinées futures de

(Actes 17 : 33, 34. 18 : 1-4.)

l'homme, proviennent d'une incrédulité beaucoup plus profonde qu'il ne le semble au premier abord.

3810. Dans le résumé que j'ai fait tout à l'heure du discours de Paul, j'ai dû omettre quelques pensées de détail qu'il importe toutefois de considérer, car c'est là surtout qu'on voit l'impression qu'il cherchait à produire sur ses auditeurs. Le Dieu du ciel et de la terre n'habite pas en des temples érigés par la main des hommes (1 Rois 8 : 27) ; il n'a que faire de la chair des victimes (Ps. 50 : 12, 13) ; il est près de chacun de nous, bien que nous ne sachions pas le voir ; il est le même en puissance et en bienfaits pour tous les peuples ; et, puisque nous sommes la race de ce grand Dieu, comme l'avait dit le poëte astronome Aratus, il est clair que Dieu n'est pas semblable à l'or, à l'argent ou au marbre dont les païens faisaient les statues auxquelles ils encensaient. Penser autrement, c'est être dans une grande ignorance ; et voilà ce que Paul n'hésite pas à déclarer aux Athéniens, fiers de leur culture intellectuelle. Mais quels ne sont pas les ménagements avec lesquels il leur dit une vérité qui devait leur être si dure. C'est après cela que, toujours dans la forme indirecte, la moins offensante de toutes, il leur prêche la conversion et le jugement de Dieu par Jésus-Christ.

3811. (33, 34.) Quelles que soient les précautions oratoires dont s'entourent les ministres du Dieu vivant, ils ne laissent pas d'irriter les pécheurs obstinés ; tout comme, d'un autre côté, il est impossible que l'Evangile soit prêché fidèlement, sans qu'il porte des fruits selon qu'il plaît à Dieu. Si le plus grand nombre des auditeurs de Paul se détournèrent de lui pour toujours, quelques-uns embrassèrent sa doctrine ; entre autres un des juges de l'Aréopage, nommé Denys, et une femme du nom de Damaris. Mais d'Eglise proprement, il n'y en eut pas de fondée à Athènes en ce temps-là ; du moins le Nouveau Testament n'en fait aucune mention. Cette grâce était réservée à une autre ville de la Grèce, ville non moins illustre bien que sous d'autres rapports ; c'est là que nous devons suivre maintenant notre laborieux missionnaire.

3812. (18 : 1-4.) Corinthe, ville autrefois considérable et florissante, enrichie par son commerce et par ses colonies, mais non moins fameuse par l'horrible corruption de ses mœurs, fut saccagée lorsque les Romains envahirent la Grèce, puis relevée de ses ruines sous l'empereur Auguste. A l'époque où Paul y arriva, cette ville, devenue le chef-lieu de la province d'Achaïe (la Morée), était la résidence d'un

(Actes 18 : 1-4.)

proconsul et reprenait son antique célébrité. Nulle part assurément la Parole de Dieu n'était plus nécessaire que dans cette ville si adonnée au mal, et nulle part non plus elle ne pouvait trouver autant d'occasions de se faire entendre à toutes sortes de gens. Placée sur l'isthme qui porte son nom, Corinthe se trouvait située entre les deux mers qui mettaient en communication les principales provinces du vaste empire romain. Dès son arrivée, Paul sentit toute l'étendue et toute la difficulté de la tâche; les lettres que nous lirons de lui en font foi. La triste expérience qu'il venait de faire à Athènes du scepticisme et de la légèreté des populations de la Grèce n'était guère propre à l'encourager; mais Dieu eut pitié de son serviteur, arrivant tout seul au milieu de ce monde païen absorbé par les affaires et par les plaisirs. Non-seulement il y avait à Corinthe des Juifs en assez grand nombre auprès desquels il put, selon sa coutume, commencer l'œuvre de son ministère, mais encore il y rencontra un Juif d'Asie, nommé Aquilas, faiseur de tentes, qui, avec sa femme Priscille, avait dû quitter Rome en ce temps-là, par l'effet d'une persécution que l'empereur Claude avait dirigée contre les Juifs habitant la capitale.

3813. Claude avait succédé l'an 41 de Jésus-Christ à l'empereur Caligula, et il mourut l'an 54. L'histoire profane parle de son édit contre les Juifs, mais la date n'en est pas certaine; en sorte qu'on ne saurait d'après ce seul fait déterminer l'époque précise de l'arrivée de Paul à Corinthe. Ce qui demeure sûr, c'est qu'elle doit avoir précédé l'an 54, mais pas de beaucoup; car depuis le voyage de Paul à Jérusalem, avec Barnabas, vers l'an 44 (11 : 30), que de choses qui s'étaient passées et qui avaient dû employer plusieurs années de la vie de notre apôtre : son premier voyage missionnaire, puis son long séjour à Antioche, enfin le voyage non moins long qu'il venait de faire pour arriver d'Antioche à Corinthe. Quant à Aquilas et à Priscille, qui, de l'Asie, avaient porté leur industrie à Rome et l'exerçaient maintenant à Corinthe, on ignore s'ils avaient déjà quelque connaissance de l'Evangile, ou s'ils l'entendirent alors pour la première fois de la bouche de Paul. C'étaient, dans tous les cas, des gens pieux avec qui l'Apôtre fut bientôt en d'étroites relations. Selon l'usage infiniment respectable des Israélites, il était à même de gagner sa vie par le travail de ses mains. Or, prévoyant sans doute qu'il aurait à faire un long séjour dans la ville de Corinthe et ne voulant y être à charge à personne, il fut heureux de trouver de l'ouvrage et du pain chez Aquilas. Pendant la semaine, il tissait et cousait les tentures de laine dont on

(**Actes 18** : 5, 6; 7-11; 12-17.)

recouvrait les tentes des voyageurs ou celles des *verandahs*, et le samedi, il se rendait à la synagogue, adressant aux Juifs et aux Grecs des paroles pleines d'entraînement.

3814. (5, 6.) Cependant il fallut, semble-t-il, l'arrivée de Silas et de Timothée pour que le ministère de Paul prît toute son activité. Sans prétendre que, jusqu'à ce moment, il eût été délaissé par le Saint-Esprit, ou que, dissimulant sa foi, il eût mis de la nonchalance à son œuvre, il paraîtrait que sa prédication avait eu quelque chose de plus contenu. Il importait d'ailleurs qu'il ne fût pas seul à rendre témoignage au Seigneur; c'est pourquoi, lorsque Silas et Timothée furent revenus de la Macédoine, l'Esprit poussa Paul à se poser décidément devant les Juifs, en témoin de Jésus-Christ. Alors aussi se manifesta l'opposition de ces malheureux fils d'Abraham; alors vinrent leurs blasphèmes, comme à Thessalonique et comme jadis à Jérusalem. Aussi Paul, secouant ses vêtements et rejetant sur eux toute responsabilité, leur déclara que, dès cet instant, il les abandonnait pour annoncer le salut aux païens.

3815. (7-11.) Ce fut là ce qui donna naissance à l'Eglise de Corinthe. Un nommé Justus, païen d'origine, mais amené, comme Corneille et tant d'autres, à la connaissance du Dieu de la Bible par ses relations avec des Israélites, Justus, un de ces derniers que la grâce de Dieu se plaisait à placer parmi les premiers, recueillit les apôtres dans sa maison, et là, tout à côté de la synagogue, s'assemblèrent les Corinthiens désireux de suivre leurs prédications. Parmi eux se trouvèrent encore quelques Juifs, entre autres un des chefs ou anciens de la synagogue, qui crut au Seigneur avec toute sa famille. Les nouveaux convertis recevaient le baptême selon l'ordre du Seigneur, et c'est ainsi que l'idolâtre et voluptueuse Corinthe vit se former dans son sein un petit peuple de fidèles; petit encore et bien menacé, mais dont l'avenir était grand, parce que telle était la volonté du Seigneur. C'est ce qu'une vision vint révéler à l'Apôtre, dans un moment où il y a lieu de croire qu'il était saisi de diverses craintes. Encouragé par le Seigneur, il poursuivit son œuvre avec plus de courage, et ainsi s'écoulèrent dix-huit mois depuis son arrivée à Corinthe.

3816. (12-17.) Les Juifs de cette ville, toujours plus irrités, firent, à cette époque, une tentative de persécution qui ne leur réussit pas comme ils l'auraient voulu, grâce à la dédaigneuse indifférence du proconsul, et peut-être à leur maladresse. Ce proconsul se nommait

(**Actes 18** : 18.)

Gallion. Il était frère de Sénèque, célèbre philosophe stoïcien, précepteur d'un prince qui, en ce temps même ou à peu près, succédait à Claude et fut l'empereur Néron. Quand Gallion, philosophe lui-même, eut entendu que les Juifs accusaient Paul de recommander un culte contraire à leur loi, il ne voulut pas seulement entendre la défense de l'accusé, déclarant que de telles questions n'étaient pas de son ressort. Il les chassa donc du tribunal. Or, en voyant de quelle manière le magistrat romain traitait les accusateurs, ces misérables Juifs objets partout de la haine publique, les assistants se jetèrent sur Sosthènes, chef de la synagogue, et ils le frappèrent sous les yeux mêmes de Gallion, sans que celui-ci songeât le moins du monde à le protéger. Conduite peu honorable chez un homme qui était établi pour maintenir l'ordre! Ce fut ainsi toutefois que l'Eglise naissante se vit délivrée des seuls ennemis publics qu'elle eût à craindre; car à Corinthe, l'Evangile avait affaire avec une population généralement tolérante, comme c'est l'ordinaire dans les villes qui vivent de leur commerce avec toutes les nations.

3817. (18.) Paul put donc demeurer encore un grand nombre de jours à Corinthe, une année peut-être; puis, il partit librement pour aller où le Seigneur le rappelait. Il prit congé des frères et se dirigea de nouveau vers la Syrie, ayant avec lui, outre Silas et Timothée, ses deux collègues ordinaires, Priscille et Aquilas, âmes d'élite décidément acquises à l'Evangile. Avant de s'embarquer à Cenchrée, port oriental de Corinthe, il se fit raser la tête, pour marquer l'expiration d'un vœu sous lequel il avait été un certain temps. Ce devait être le nazaréat ou quelque chose de semblable [925]. Cette circonstance est d'un intérêt particulier. Elle nous atteste que si Paul avait montré tant de résolution contre les Juifs qui estimaient le salut impossible sans la circoncision [3777], il n'en était pas moins demeuré personnellement très fidèle aux observances judaïques, pour autant qu'elles pouvaient se concilier avec le salut par la pure grâce de Dieu; nous avons eu déjà une preuve de ce fait [3787]. Paul donc, à l'exemple d'un grand nombre d'hommes pieux, et selon l'institution de Moïse, s'était consacré solennellement au Seigneur par un vœu spécial et temporaire. Par là, il n'avait sûrement pas eu l'idée d'ajouter quoi que ce fût à l'expiation accomplie par Jésus-Christ; ce n'était pas dans un esprit de propre justice qu'il avait fait ce vœu; il n'imposait d'ailleurs à personne l'obligation d'agir comme lui, et il ne se croyait pas, pour cela, supérieur à ses collègues; mais nous apprendrons

(**Actes 18** : 18.)

nientôt que, si son ministère à Corinthe avait été plus respecté qu'autre part, il avait eu de grandes luttes et de grandes souffrances intérieures, et il vit probablement dans le vœu auquel il se soumit, un moyen de triompher avec plus de succès des infirmités de sa chair. Après quoi, si quelqu'un pensait que, dans cette occasion, Paul *judaïsa* plus que ne le comportaient ses propres principes, nous dirions que ce qui doit nous servir de règle, c'est la doctrine qu'il prêcha par l'inspiration divine, plutôt que sa conduite, dans laquelle rien ne garantit qu'il ait été divinement préservé de toute faute. Une seule vie est demeurée sans tache; une seule nous est présentée par les Ecritures comme un modèle parfait.

3818. Corinthe fut le point extrême du second voyage missionnaire de Paul. De là, comme nous venons de le dire, il reprit le chemin de l'Asie. Mais avant de l'y suivre, nous devons étudier deux lettres qu'il écrivit pendant qu'il était en Achaïe : ce sont les deux Epîtres aux Thessaloniciens.

# TABLE DES ÉTUDES

## CONTENUES DANS CE TROISIÈME VOLUME


CXCVIII. Les Evangiles. Introduction.. 1

*De la vision de Zacharie, jusqu'au ministère de Jean.*

CXCIX. La naissance de Jean-Baptiste est annoncée à Zacharie. . . . . 5
CC. La naissance de Jésus-Christ annoncée à Marie.. . . . . 8
CCI. Naissance de Jean.. . . . . 13
CCII. Naissance de Jésus. . . . . 15
CCIII. Siméon, Anne la prophétesse, les Mages d'Orient. . . . . 20
CCIV. Fuite en Egypte. Jésus à l'âge de douze ans. . . . . 25

*De Jean à la première Pâque après le baptême de Jésus.*

CCV. Ministère de Jean. . . . . 28
CCVI. Baptême de notre Seigneur; sa double généalogie; déclaration de sa divinité. . . . . 34
CCVII. La tentation. . . . . 39
CCVIII. Suite du ministère de Jean; premiers disciples de Jésus. . . . . 44
CCIX. Les noces de Cana. . . . . 49

*De la première Pâque à la seconde.*

CCX. Première Pâque; purification du temple; première prophétie; la foi. . 53
CCXI. Jésus et Nicodème. . . . . 56
CCXII. Nouveaux traits de la prédication de Jean. . . . . 60
CCXIII. Jésus et la Samaritaine. . . . . 63
CCXIV. Second miracle à Cana; prédication à Nazareth. . . . . 68
CCXV. Divers miracles; Pierre, André, Jacques et Jean. . . . . 74
CCXVI. Le sermon de la montagne. . . 79
CCXVII. Le sermon de la montagne (suite). . . . . 86
CCXVIII. Le sermon de la montagne (suite). . . . . 93
CCXIX. Le sermon de la montagne (suite). . . . . 96
CCXX. Le sermon de la montagne (suite). . . . . 103
CCXXI. Le sermon de la montagne (fin). 106
CCXXII. Guérison d'un lépreux et d'un paralytique; vocation de Matthieu; le jeûne chrétien.. . . . . 113

*De la seconde Pâque à la fête mentionnée en saint Jean* V, 1.

CCXXIII. Seconde Pâque; le Sabbat; Jésus voué à la mort; élection des douze. 119
CCXXIV. Discours de la plaine; le capitaine de Capernaüm; le jeune homme de Naïn.. . . . . 125
CCXXV. Jean-Baptiste en prison. . . . 130
CCXXVI. La pécheresse; les saintes femmes; le blasphème contre le Saint-Esprit; la famille de Jésus. . . . . 134
CCXXVII. Parabole du royaume des cieux. . . . . 140
CCXXVIII. Miracles. Jésus à Gadara; retour à Nazareth. . . . . 146

*De la fête susdite à la troisième Pâque.*

CCXXIX. Béthesda; divinité de J.-C. . . 152
CCXXX. Première mission des apôtres; prophéties. . . . . 157
CCXXXI. Mort de Jean-Baptiste. . . . . 162
CCXXXII. Multiplication des pains; une tempête; la foi. . . . . 166

*De la troisième Pâque à la fête des Tabernacles.*

CCXXXIII. Le formalisme et les traditions; ce qui souille; la Cananéenne; miracles et discussions. . . . . 172
CCXXXIV. Jésus à Césarée de Philippe; la transfiguration. . . . . 178
CCXXXV. La foi; les didrachmes; l'humilité; la tolérance; 3e voyage à Jérusalem.. . . . . 183

*De la fête des Tabernacles à celle de la Dédicace.*

CCXXXVI. Jésus à la fête des Tabernacles; Nicodème. . . . . 190
CCXXXVII. La femme adultère; discussions avec les Juifs; divinité du Christ. 194
CCXXXVIII. L'aveugle-né; le bon Berger. 199
CCXXXIX. Les soixante-dix disciples; un docteur; la seule chose nécessaire. . . 205
CCXL. La prière; si Satan peut chasser Satan; Jonas et Salomon; malheur aux pharisiens . . . . . 210
CCXLI. L'hypocrisie; l'avarice; la vigilance. . . . . 216
CCXLII. Les signes des temps; la conversion; prophétie contre Jérusalem. . . 221
CCXLIII. Diverses paraboles. . . . . 226
CCXLIV. La brebis, la drachme et le fils, perdus et retrouvés. . . . . 230
CCXLV. L'économe infidèle. . . . . 235
CCXLVI. Le mauvais riche. . . . . 241
CCXLVII. Le scandale; le pardon des in-

jures; le non-mérite des œuvres.. . . 244
CCXLVIII. Les dix lépreux; une prophétie; le juge inique; le pharisien et le péager. . . . . 249

*De la Dédicace à la Semaine sainte.*

CCXLIX. Nouvelles déclarations de Jésus sur sa personne; Jésus dans la Pérée; le divorce; les petits enfants; Lazare. 254
CCL. Départ pour Béthanie; le jeune magistrat; grandes promesses; parabole des ouvriers. . . . . 259
CCLI. Jésus prédit de nouveau ses souffrances; les fils de Zébédée; l'aveugle de Jéricho; Zachée; parabole des mares. . . . . 262
CCLII. Guérison de deux aveugles; résurrection de Lazare; prophétie de Caïphe; retraite à Ephraïm.. . . . . 268

*La Semaine sainte.*

CCLIII. *Le samedi.* Marie embaume Jésus. *Le dimanche.* Entrée à Jérusalem; glorification anticipée. *Le lundi.* Le figuier; nouvelle purification du temple; guérisons; acclamations des enfants; dernières proclamations. . . . 272
CCLIV. *Le mardi.* La prière de la foi; le père et ses deux fils; les vignerons et le festin des noces; questions captieuses. . . . . 280
CCLV. Apostrophe aux pharisiens; la pite de la veuve; prophétie. . . . . 287
CCLVI. Paraboles des vierges, des talents, des brebis et des boucs. . . . . 293
CCLVII. *Le mercredi.* Conseil tenu par les Juifs; souper à Béthanie; Jésus lave les pieds de ses disciples; il annonce la trahison de Judas et le reniement de Pierre. . . . . 298
CCLVIII. *Le jeudi.* Judas; préparation de la Pâque; consolations et exhortations. . . . . 307
CCLIX. Célébration de la Pâque; institution de la Cène. . . . . 312
CCLX. Judas; derniers entretiens.. . . 318
CCLXI. La prière sacerdotale, . . . . . 327
CCLXII. Jésus en Gethsémané . . . . . 331
CCLXIII. *Le vendredi.* Jésus chez Caïphe; reniement de Pierre. . . . . 336
CCLXIV. Jésus devant Pilate et Hérode. 343
CCLXV. Désespoir de Judas; Jésus à Golgotha. . . . . 350
CCLXVI. Les sept paroles; merveilles a la mort de Jésus; sa sépulture. *Le samedi.* . . . . . 359

*De la Résurrection de Jésus à son Ascension.*

CCLXVII. Résurrection de Jésus. Il se montre aux femmes. . . . . 366
CCLXVIII. Il se montre plus d'une fois à ses disciples.. . . . . 374
CCLXIX. Nouvelles apparitions; seconde pêche; réintégration de Pierre; prophéties sur Pierre et Jean. . . . . 382
CCLXX. Dernières apparitions, derniers ordres et dernières promesses; l'ascension. . . . . 389
CCLXXI. Conclusion des Evangiles et coup d'œil en arrière. . . . . 396

CCLXXII. Actes des Apôtres. Dernier entretien de Jésus; remplacement de Judas. . . . . 406
CCLXXIII. Effusion du Saint-Esprit; discours de Pierre. . . . . 411
CCLXXIV. Effet de ce discours. . . . . 416
CCLXXV. L'impotent; 2e discours de Pierre; persécution. . . . . 422
CCLXXVI. Prospérité de l'Eglise; Ananias et Sapphira; nouvelle persécution. 429
CCLXXVII. Taches dans l'Eglise; les diacres; Etienne. . . . . 437
CCLXXVIII. Grande persécution; l'Evangile en Samarie; l'Ethiopien . . . . . 445
CCLXXIX. Conversion de Saul; il commence à prêcher et à souffrir (Evangile de Matthieu). . . . . 453
CCLXXX. Prédication et miracles de Pierre; conversion de Corneille. . . . . 460
CCLXXXI. L'Eglise d'Antioche; second voyage de Paul à Jérusalem; supplice de Jacques; emprisonnement de Pierre; mort d'Hérode. . . . . 467
CCLXXXII. Paul en Chypre et à Antioche de Pisidie; son premier voyage missionnaire; extension du règne de Dieu. 474
CCLXXXIII. Paul à Iconie, à Lystre, à Derbe, et retour.. . . . . 482
CCLXXXIV. Conférence de Jérusalem; troisième voyage de Paul dans cette ville. . . . . 489
CCLXXXV. Second voyage de Paul en Asie, puis en Macédoine. . . . . 494
CCLXXXVI. Paul en Macédoine, et en Grèce. . . . . 504

---

## FAUTES A CORRIGER

Page 76, 7e ligne d'en bas, *au lieu de* cœur, *lisez* cours.
» 179, 18e ligne, *au lieu de* ovations des, *lisez* ovations que des.

Imp. typ. de Meyrueis et Cie rue des Grès 11.

Gravé par Kauts, 62 rue Bonaparte, Paris.

BS2343 .B966 v.1
Etudes elementaires et progressives de
Princeton Theological Seminary-Speer Library
1 1012 00055 1673